हमारी नाट्य परम्परा

•

श्रीकृष्ण दास

साहित्यकार-संसद्
प्रयाग

मुख्य वितरक

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली इलाहाबाद बम्बई

पटना मद्रास

प्रथम संस्करण

●

१९५६

मुद्रक

रामआसरे कक्कड़

हिन्दी साहित्य प्रेस

इलाहाबाद

मूल्य १०)

बहिन महादेवी को—

'विविधग्रंथविचारविनिर्मिता ,

कलितनाट्यविभूतिरियं मम।

अयि! सरस्वतिजे! नवदेवते!

तव करे हि मयाद्य समर्प्यते॥'

—श्रीकृष्ण दास

दो शब्द

जीवन की प्रत्यक्ष और मुखर प्रतिच्छवि होने के कारण नाट्य-कला जीवन के विकास क्रम की निरन्तर संगिनी रही है।

एक धरातल पर सबको सामान्य अनुभूति देने की विशेषता के कारण उसे हर संस्कृति अपने श्लेषहीन सन्देश का वाहक बनाती रही है।

हमारे सास्कृतिक दृष्टि से पुरातन और समृद्ध देश ने इस कला को इतना महत्व दिया है कि वह शास्त्रों की पंक्ति में आसीन हो सकी है। भरत का नाट्य शास्त्र, प्रयोग की स्थूलता से लेकर भाव के सूक्ष्म पक्ष तक विस्तृत होकर रंगमंच और नाट्य साहित्य की महत्ता ही घोषित करता है। परन्तु साहित्य और कला के अन्य अंगों के समान नाट्य कला को भी अनेक अन्धकारमय युग पार करने पड़े हैं। आश्चर्य्य नहीं कि उसकी परम्परा में अनेक कड़ियाँ खो गई हैं।

स्वतन्त्र होने के उपरान्त हमारे राष्ट्र का ध्यान, जीवन की इस चिरन्तन संगिनी की ओर जाना स्वाभाविक था। परन्तु नाट्यकला को जीवन में पुनः यथास्थान प्रतिष्ठित करने के लिए उसकी खोई कड़ियों का ज्ञान आवश्यक है। केवल शास्त्रीय ज्ञान हमें दिशा दे सकता है,गति की परम्परा नहीं। गंगोत्री की गंगा को आसमुद्र गति देने वाली वे अनेक धारायें हैं जो विकास क्रम में मिलती हैं।

भाई श्रीकृष्ण दास जी हिन्दी जगत के परिचित लेखक हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने भारतीय नाट्यकला का ऐसा परिचय उपस्थित किया है जिसमें हम इस कला की विविधता में व्याप्त तत्वगत एकता पाते हैं। विश्वास है उनका अध्यवसाय दूसरों को इस दिशा में अधिक खोज की प्रेरणा देने में भी समर्थ होगा।

प्रयाग
२८-९-५६

महादेवी
प्र० मंत्री साहित्यकार संसद

अपनी बात

प्रसिद्ध महाराष्ट्रीय नाट्यकार और कलाकार मामा वरेरकर ने गत सितम्बर १९५५ ई० में प्रयाग में आयोजित भारतेंदु हरिश्चन्द्र के जन्मोत्सव के शुभ-अवसर पर जब कि 'युगावतार' नामक भारतेंदु के जीवन से सम्बन्धित अत्यन्त सफल नाटक भी रंगमञ्च पर प्रस्तुत किया गया था, 'रङ्गवाणी' संस्था की प्रतिष्ठापना करते हुए कहा था—"रङ्गमञ्च लोक शिक्षा का अति प्रभावशाली माध्यम है। रङ्गमञ्च से देश की प्रगति का अनुमान किया जा सकता है। वह देश के उत्कर्ष का प्रतीक है। रङ्गमञ्च की प्रगति में साहित्य के साथ कला का भी आविष्कार नजर आता है। इस पर से किसी भी देश की प्रगति का अन्दाज किया जा सकता है। रङ्गमञ्च उन्नत होगा तो देश भी उन्नत माना जाएगा। जो स्वतंत्र हैं या स्वतन्त्र हुए हैं उन राष्ट्रों का यही अनुभव है। रङ्गमञ्च को संसार का चित्र कहा जाता है। उसका यही कारण है। भारत स्वतंत्र हो चुका है। वह अपना शासन स्वयं चलाने लगा है। भारत के स्वतंत्रता संग्राम में रङ्गमञ्च का एक भारी हिस्सा था। इस बात को भारत ने अभी तक स्वीकार नहीं किया है, ऐसा प्रतीत होता है।"

मामा वरेरकर ने "स्वतन्त्रता संग्राम में रङ्गमञ्च का एक भारी हिस्सा था" कह कर एक स्वयंसिद्ध तथ्य को उभार कर सामने रखा है। रङ्गमञ्च केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि राष्ट्रीय पुनर्जागरण और अभ्युत्थान का महत्वपूर्ण माध्यम है। परन्तु हमारे सामाजिक जीवन में रङ्गमञ्च की ऐसी प्रतिष्ठा अभी नहीं हो पाई है। इसके अनेक कारण हैं। फलतः रङ्गमञ्च के निर्माण के सम्बन्ध में जो उत्साह

हमारे मन में होना चाहिये उसकी भी कमी है। समाज में हमारे नाट्यकारों की जितनी अधिक प्रतिष्ठा होनी चाहिये वह भी नहीं है। अभी उन्हें जीविकोपार्जन के लिये नाट्य-साहित्य और रङ्गमञ्च के अतिरिक्त अन्य साधनों का सहारा लेना पड़ता है। सोवियत रूस, इङ्गलैण्ड, अमेरिका आदि स्वतन्त्र देशों में वहाँ के नाट्यकारों और कलाकारों को सम्मान, स्नेह और श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है और उनके भरण-पोषण का भी समुचित प्रबन्ध राज्य, सार्वजनिक संस्थाओं और नाट्य-प्रेमी जनता द्वारा होता है। वे निजी समस्याओं से मुक्त होकर नाट्य-साहित्य का सृजन करते हैं और नाट्य-कला तथा रङ्गमञ्च की सेवा करते हैं। हमारे देश में स्थिति बिलकुल इसके विपरीत है। फलतः हमारे नाटककारों और कलाकारों को 'चना चबेना गंगजल' के ही सहारे अभी भी अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। और, समाज में भी उनकी वह प्रतिष्ठा नहीं है जो कि होनी चाहिये। इसलिये वे अपने कार्य में पूरे उत्साह, आस्था और आत्मविश्वास के साथ नहीं लग पाते। यह चिन्तनीय बात है। समाज के हित चिन्तकों और कर्णधारों को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

आज हमारे देश में चारों तरफ से राष्ट्रीय रङ्गमञ्च के निर्माण की माग उठ रही है। साथ ही प्रादेशिक स्तर पर भी रङ्गमञ्चों की माग बलवती होती जा रही है। हम इस नवीन चेतना का स्वागत करते हैं। हमारी नाट्य-परम्परा अत्यन्त प्राचीन और महिमा-मण्डित है। इस विशाल देश के हर कोने में किसी न किसी युग में अत्यन्त समृद्ध रङ्गमञ्च रहा है और वहाँ का नाट्य साहित्य भी उच्चकोटि क रहा है। परम्परागत रूप से प्राप्त इस राष्ट्रीय उत्तराधिकार की रक्षा ही हमें नहीं करनी है बल्कि उसे अधिकाधिक सम्पन्न और समृद्ध भी बनाना है। इस महायज्ञ मे 'हमारी नाट्य-परम्परा' से यदि कुछ भी योग मिल सका तो मैं अपना सारा परिश्रम सफल समझूगा। इसी

आशा और विश्वास के साथ मैं प्रस्तुत ग्रंथ अपने सहृदय पाठकों को भेंट कर रहा हूँ।

'हमारी नाट्य-परम्परा' आपके हाथ में है। इस ग्रन्थ की रचना की मूल प्रेरणा रंगमंच से सम्बन्धित अपने निजी अनुभवों से मिली है। जन नाट्य संघ तथा रंगमच के अध्यक्ष की हैसियत से मुझे अनेक छोटे बड़े, एकांकी तथा पूर्ण नाटकों के अभिनय की व्यवस्था करने का मौका मिला है। कभी-कभी छोटी मोटी भूमिका करने के लिए भी मुझे स्वयं रंगमच पर आना पड़ा है। इन अवसरों पर जो अनुभव मुझे प्राप्त हुए वे उत्साहवर्द्धक नहीं हैं। सबसे बड़ी तथा सबसे अधिक चिन्तनीय बात जो देखने में आई वह यह कि रंगमंच पर अभिनय करने वाले कलाकारों के हृदय में न अपनी कला के प्रति सच्चा प्रेम है और न कलाकार की हैसियत से अपने कर्तव्य और उत्तर-दायित्व के प्रति सजगता। अच्छे कलाकारों में भी निजी महत्वाकाक्षा, अनुदारता और कठमुल्लापन देखकर मुझे विस्मय और क्षोभ दोनो हुआ। इन कलाकारों में समाज के प्रति जिस उत्तरदायित्व, जिस आस्था और जिस गर्व को हम स्वभावतः देखना चाहते हैं उसकी बड़ी कमी इन लोगों के अन्दर दिखाई दी। फलतः इस क्षेत्र में जिस नेतृत्व और प्रेरणापूर्ण मार्ग दर्शन की आशा इन कलाकारों से हम करते हैं वह पूरी नहीं होती। दूसरी बात जो देखने मे आई वह यह कि इन कलाकारों का कोई भी सम्बन्ध नाटककारों से नहीं है। ऐसा लगता है कि नाटककार और नाट्य अभिनेता दोनों दो अलग संसार के प्राणी हैं और उनमें कोई सम्बन्ध नहीं है। यह भी देखने को मिला कि हमारे नाटककार स्वनिर्मित भ्रम-जाल में कुछ इस तरह फँस गए हैं कि उसके बाहर निकल पाना और रंगमंच की आवश्यकताओं की ओर दृष्टिपात कर पाना उनके लिए सम्भव नहीं। इसका कारण शायद यह है कि नाट्य-साहित्य के अधिकतर रचयिताओं को नाटक लिखते समय रगमंच की आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रहता, बल्कि उनका

ध्यान इस ओर रहता है कि किस प्रकार उनके नाटक पाठ्यक्रम में स्वीकृत हों और स्कूलों तथा कालेजों में पढ़ाये जायं। इसे मैं हिन्दी साहित्य का दुर्भाग्य समझता हूँ। प्रश्न यह है कि हमारे नाटककारों के हृदय में रंगमंच की आवश्यकताओं के प्रति यह अनास्था, अरुचि तथा उदासीनता के भाव क्यों रहते हैं? इसकी कहानी पुरानी है। सन् १८६२ में राजा लक्ष्मण सिंह के 'शकुन्तला' का अनुवाद श्री पिनकाट की कृपा से आई० सी० एस० के पाठ्यक्रम में लग गया। राजा साहब की स्वीकारोक्ति है कि, "मुझे आशा न थी कि मेरा किया हुआ 'शकुन्तला' का अनुवाद कुछ भी बड़ाई पावेगा। परन्तु प्रथम बार के छापे से कई बरस पीछे जब विद्या विभाग के अधिकारी राजा शिवप्रसाद जी ने अपने गुटके (संग्रह) में रखकर इसे प्रकाशित किया तो जाना गया कि हिन्दी जानने वालों में उसका आदर हुआ। फिर कुछ काल पीछे अर्थात् १८७६ ई० में इस बोली के परम रसिक अतिगुणज्ञ प्रतिष्ठित विद्वान फ्रेडरिक पिनकाट महाशय ने इंगलिस्तान में इसे कुछ शोध करके छपवाया और अपनी भूमिका में उसकी भाषा की इतनी प्रशंसा की जितनी की कदाचित वह योग्य न थी। और इंगलिस्तान के हिन्दी जानने वालों ने उनके साथ सम्मति की। निदान इस पुस्तक को इंगलैण्ड में यहाँ तक आदर मिला कि हिन्दुस्तान की सिविल सरविस के परीक्षा ग्रंथों में नियत हो गयी।" इसके बाद जब भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद किया तो राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की कृपा से वह भी पाठ्यक्रम में रख दिया गया। फिर तो अच्छे नाटकों को पाठ्यक्रम में रखने की प्रथा चल गयी। नाटकों के पाठ्यक्रम में रखे जाने का एक कारण यह भी था कि अंग्रेजी साहित्य के पाठ्यक्रम में शेक्सपीयर आदि के सम्पूर्ण अथवा अंश-नाटक अवश्य रखे जाते थे। उसकी देखा देखी हिन्दी में भी यह प्रथा चल निकली। उधर पारसी थियेटरों की ओर से अश्लील और सस्ते नाटकों का प्रदर्शन देश भर

में हो रहा था। इन थियेटरों के लिये हिन्दी के भी कुछ नाटककार नाटक लिखा करते थे। परन्तु उनकी गणना साहित्यिक नाटककारों में नहीं होती थी। इस तरह यद्यपि खेलने के लिये नाटक लिखने की प्रथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने आरम्भ की, परन्तु यह प्रथा चल न सकी। नाटककार दिनों-दिन रंगमंच की ओर से उदासीन होते गये और उनके नाटक पढ़ने योग्य तो रह गये, परन्तु वे रगमच के योग्य न हो सके। फलतः नाटककारों और कलाकारों के बीच की खाई चौड़ी होती गयी। धीरे-धीरे ऐसे नाटकों को 'साहित्यिक' नाटक कहा जाने लगा। परन्तु यह बात परम्परागत नहीं है। सस्कृत के नाटक केवल बुद्धि-विलास के लिये अथवा पढ़कर आनन्द लेने के लिये नहीं लिखे जाते थे। वे 'दृश्यकाव्य' कहे जाते थे क्योंकि वे रगमच पर प्रस्तुत करने के लिये ही लिखे जाते थे। वे मनको तृप्त, शान्त और सतुष्ट करने के लिये, विकारों को दूर करने के लिये और सच्चा आनन्द प्रदान करने के लिये ही लिखे और रगमच पर प्रस्तुत किये जाते थे। नाटकों की मूलशक्ति का पता उन्हें पढकर या सुनकर नहीं चल सकता। उसका पता तो तभी चल सकता है जब वे रगमच पर प्रस्तुत किये जायँ। रंगमंच के निर्मित होने, विकसित होने और उन्नति करने की पहिली शर्त यह है कि उस पर प्रस्तुत किये जाने वाले नाटक में अभिनीत होने की सम्भावना हो। जब नाटक में यह विशेषता होगी तभी कलाकार भी अपनी कला, योग्यता और कौशल का पूरा परिचय दे सकेंगे। दृश्य-दृश्यावलियों की रचना, प्रकाश का प्रबन्ध, ध्वनि विस्तार की व्यवस्था, यवनिका तथा अन्य पर्दों आदि की सहायता से नाटक को रगमच पर सफलतापूर्वक समुपस्थित किया जाता है। परन्तु यदि नाटक में ऐसे गुण ही मूल रूप से न हों जिनके कारण वे रंगमंच पर प्रस्तुत किये जा सकें तो सारे प्रबन्ध और सारी व्यवस्था बेकार हो जायेगी। हमारे देश में, विशेषतया हिन्दी प्रदेश में नाटकों

चली आई है। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त वाल्मीकीय रामायण, महाभारत और बौद्ध तथा जैन साहित्य में रंगमच, कलाकारों और नाटकों के संबन्ध में प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। जैसा कि डा० विन्टरनित्ज तथा अन्य विद्वानों का कथन है—इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि अश्वघोष का अपना एक दल था और वह अयोध्या, काशी तथा पाटलिपुत्र में घूम-घूम कर काव्यपाठ और अभिनय किया करते थे। कौशाम्बी के सम्राट् उदयन का उदयनवन प्रसिद्ध ही है। छोटा नागपुर में आज भी वे गुफाएँ मौजूद हैं, जो लगभग अशोक के काल में, या उसके कुछ ही बाद नृत्यशाला और प्रेक्षागृह के रूप में इस्तेमाल होती थीं। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान डा० टी० ब्लाख ने इन गुफाओं का पता लगाकर और इनमें मिली शिलालिपियों की व्याख्या करके समृद्ध भारतीय रंगमञ्च की परपरा को ईसा के ३०० वर्ष पहले तक पहुँचा दिया है। भरत नाट्य-शास्त्र में रङ्गशाला और रङ्गमञ्च के निर्माण के सम्बन्ध में जो विवरण प्राप्त है, उससे भी हमारे उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। मथुरा में एक प्राचीन शिलालेख मिला है, जिसमें 'लेणशौभिका' शब्द आया है; इसका तात्पर्य उस अभिनेत्री से है, जो कि गुफाओं में रहती थी। इस प्रकार की गुफा का चर्चा कालिदास के कुमारसंभव में भी आया है। मेघदूत में भी इसका प्रमाण मिलता है। भरत नाट्यशास्त्र के निम्नाङ्कित श्लोक के अनुसार ही रामगढ के प्रेक्षागृहों का निर्माण हुआ था। वह श्लोक है—

स्तंभानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृतिपीठकम्।
इष्टकादरुभिः कार्यं प्रेक्षकानां निवेशनम्॥

यह एक विचित्र बात है कि इस प्रेक्षागृह के संबंध में पिछले वर्षों में इतना विवाद हुआ और कुछ विदेशी विद्वानों के अतिरिक्त अधिकतर भारतीय विद्वानों ने इस प्रेक्षागृह के सबन्ध में सन्देह प्रकट किया। इस संबध में समस्त प्राप्त साहित्य के अध्ययन के बाद हम तो

प्राप्त रहा। अशोक ने यद्यपि ऐसे 'समज्जा' (समाज) का विरोध किया जिसमें लोग शराब पीते थे, मास खाते थे और अश्लील व्यवहार करते थे, परन्तु प्रियदर्शी अशोक ने अन्य प्रकार के 'समज्जा' का जिसमें धार्मिक और सामाजिक आयोजन हुआ करते थे विरोध नहीं किया। बौद्ध परम्परा में साधारणतया नाटकों या अन्य प्रकार के मनोरंजनों को प्रश्रय नहीं दिया गया, परन्तु ऐसी कथाएँ मिलती हैं जिन पर विश्वास करने से यह माना जा सकता है कि स्वयं भगवान् गौतम बुद्ध के युग में राजगृह में नाटक खेले जाते थे। इसी प्रकार कणवेर जातक में श्यामा नाम की वेश्या की प्रेमकथा मिलती है। उस कथा में नटों द्वारा घूम-घूम कर नाटक करने का भी एक स्थल आता है। उस नाटक में नटों ने सब से पहले यह गीत सुनाया था—

"यन्तं वसन्तसमये कणवेरेसु भानुसु,
सामं बाहाय पीलेसि सा तं आरोग्यमब्रवि ॥

(तूने वसन्त समय में लाल लाल कनेर के वृक्षों के बीच मे जिस सामा को हाथों से दबाया था, वह तुझे अपने आरोग्य की सूचना देती है।)

जैन परम्परा में भी सूर्याभदेव के सामने नाटक खेलने का प्रसंग आता है। इस प्रकार वैदिक साहित्य, हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य, बौद्ध और जैन साहित्य सब में किसी न किसी रूप में रंगमंच के होने और उन पर नाटकों के खेलने की परम्परा पायी जाती है। अश्वघोष और भास के युग से राजशेखर के युग तक इस प्रकार अत्यन्त समृद्ध नाट्य-साहित्य और रगमंच का ऐतिहासिक दृष्टि से कम से कम चौदह सौ वर्षों का क्रमबद्ध गौरवशाली इतिहास मिलता है। यदि इतने लम्बे युग को न मानें और कुछ पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों के मत के अनुसार इस सम्पूर्ण अवधि को एक ही हजार वर्ष मान लें तो भी यह गर्व और गौरव की बात है कि भारतवर्ष में

इसी नतीजे पर पहुँचे हैं कि 'सीताबेंगा' और 'जोगीमारा' गुफाओं को रङ्गशाला, नाट्यशाला, नृत्यशाला और चित्रशाला मानना ही पड़ेगा। हमने इस प्रेक्षागृह के संबंध में 'आर्कियालाजिकल सर्वे आव् इण्डिया' १६०३-४ के अङ्क से डा० टी० ब्लाख के सचित्र लेख के आवश्यक अंशों को उद्धृत कर दिया है। इसके बाद इस संबध में अधिक कुछ कहना शेष नहीं रह जाता।

इसके अतिरिक्त भास, शूद्रक, कालिदास, भवभूति आदि ने जो नाटक लिखे यदि उनका अध्ययन ध्यान पूर्वक किया जाय तो हम निस्संदेह इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि इन नाटकों को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करने की परंपरा थी और इनकी रचना करते समय इन सभी महान् कवियों और नाटककारों ने रङ्गमञ्च की आवश्यकताओं का ध्यान विवरण सहित रक्खा। इस बात के भी पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि एक एक पात्र के अभिनय, रूपसज्जा आदि के संबंध में छोटी से छोटी बातों का ध्यान इन नाटककारों को रहता था। तभी तो इन नाटकों को कालिदास ने 'शान्तः चाक्षुष यज्ञ' कहा है और शास्त्रीय दृष्टि से भी नाटकों को दृश्य-काव्य के अन्तर्गत माना गया है। जिस देश और युग में भरत नाट्य-शास्त्र जैसा ग्रन्थ सर्व प्रतिष्ठित रहा हो उस देश के और उस युग के रंगमंच की समृद्धि के बारे में किसको सन्देह हो सकता है? भरतनाट्य-शास्त्र में रंग-शाला अथवा प्रेक्षागृह या रंगमंच, रंगशीर्ष, रंगपीठ, मत्तवारिणी आदि के सम्बन्ध में जो विवरण प्राप्त हैं वे तत्कालीन भारतीय रंगमंच के अत्यन्त लोकप्रिय और समृद्धशाली होने के अन्यतम प्रमाण हैं। भरतनाट्य-शास्त्र की टीकाएँ और भाष्य तथा नाटक, रंगमंच और अभिनय से सम्बन्धित इतना पुष्कल साहित्य प्राप्त है कि उसके सहारे हम पूरे युग के नाट्य-साहित्य और रंगमंच के विकास क्रम का सम्यक दर्शन कर सकते हैं। हमारे देश में रंगमंच को सदैव राज्याश्रय

प्राप्त रहा। अशोक ने यद्यपि ऐसे 'समज्जा' (समाज) का विरोध किया जिसमें लोग शराब पीते थे, मांस खाते थे और अश्लील व्यवहार करते थे, परन्तु प्रियदर्शी अशोक ने अन्य प्रकार के 'समज्जा' का जिसमें धार्मिक और सामाजिक आयोजन हुआ करते थे विरोध नहीं किया। बौद्ध परम्परा में साधारणतया नाटकों या अन्य प्रकार के मनोरंजनों को प्रश्रय नहीं दिया गया, परन्तु ऐसी कथाएँ मिलती हैं जिन पर विश्वास करने से यह माना जा सकता है कि स्वयं भगवान् गौतम बुद्ध के युग में राजगृह में नाटक खेले जाते थे। इसी प्रकार कणवेर जातक में श्यामा नाम की वेश्या की प्रेमकथा मिलती है। उस कथा में नटों द्वारा घूम-घूम कर नाटक करने का भी एक स्थल आता है। उस नाटक में नटों ने सब से पहले यह गीत सुनाया था—

"यन्तं वसन्तसमये कणवेरेसु भानुसु,
सामं बाहाय पीलेसि सा तं आरोग्यमब्रवि ॥

(तूने वसन्त समय में लाल लाल कनेर के वृक्षों के बीच में जिस सामा को हाथों से दबाया था, वह तुझे अपने आरोग्य की सूचना देती है।)

जैन परम्परा में भी सूर्याभदेव के सामने नाटक खेलने का प्रसग आता है। इस प्रकार वैदिक साहित्य, हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य, बौद्ध और जैन साहित्य सब में किसी न किसी रूप में रगमंच के होने और उन पर नाटकों के खेलने की परम्परा पायी जाती है। अश्वघोष और भास के युग से राजशेखर के युग तक इस प्रकार अत्यन्त समृद्ध नाट्य-साहित्य और रंगमंच का ऐतिहासिक दृष्टि से कम से कम चौदह सौ वर्षों का क्रमबद्ध गौरवशाली इतिहास मिलता है। यदि इतने लम्बे युग को न मानें और कुछ पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों के मत के अनुसार इस सम्पूर्ण अवधि को एक ही हजार वर्ष मान लें तो भी यह गर्व और गौरव की बात है कि भारतवर्ष में

प्रायः सार्वदेशिक रूप में रंगमच और नाट्य परम्परा इतनी समृद्ध और उन्नतिशील रही।

जैसा कि डा० एस० एन० दास गुप्त तथा अन्य विद्वानों ने बार बार कहा है राज्याश्रित नाटकों और रगमंचों के अतिरिक्त लोक-नाट्य और लोक-रगमंच की परम्परा भी हमारे देश में सदैव रही है और वह शिष्ट रगमच और शिष्ट नाट्य-साहित्य की समानुवर्तिनी होकर चलती रही है। लोक रगमच के कुछ ऐसे रूप रहे हैं जो अत्यन्त प्रभावशाली और चमत्कारपूर्ण थे। दस रूपकों और अठारह उपरूपकों का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लोक नाट्य और लोक रंगमंच ने नाट्य-शास्त्रियों और नाटककारों को प्रभावित किया था। पालि, प्राकृति और अपभ्रश में लोक-नाट्य के विभिन्न रूपों का चर्चा यदा कदा मिल जाता है। उत्तराखण्ड में यात्राओं और रास नाटकों की भी परम्परा मिलती है। दक्षिण में भी लोक-नाट्य के विभिन्न लोकप्रिय रूप रहे। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत रंगमंच के साथ लोक रगमच भी चलता रहा है। परिष्कार की दृष्टि से उसमें चाहे जो भी कमी रही हो परन्तु सहस्रों वर्ष तक उसका क्रमिक विकास होता रहा और सस्कृत रंगमच के पराभव के बाद भी यह क्रम टूटा नहीं—यह एक बहुत बड़ी बात है। अपभ्रंश काल के बाद जब आधुनिक भाषाओं और बोलियों का उद्भव और विकास हुआ तो उसके साथ नाट्य-साहित्य का भी विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार से विकास होता रहा। इस समय यदि मुस्लिम आक्रमण न हुआ होता और सांस्कृतिक क्षेत्र में इस्लामी प्रभाव न फैला होता तो निश्चित रूप से इन क्षेत्रों में नाट्य-साहित्य और रंगमंच का विकास अधिक द्रुत गति से होता और वे समृद्ध भी शीघ्र ही होते। परन्तु ऐसा न हुआ। फलतः इसमें व्यतिक्रम आ गया। कई क्षेत्रों में तो रंगमच का सर्वनाश ही हो गया। अन्य क्षेत्रों में भी इसका ह्रास और पतन धीरे धीरे हो गया। यदि यात्रा, रास, कृष्ण-

लीला, राम-लीला, गरबा, पवाड़ा, बुर्रा कथा, हरि-कथा, कोलाटम् तथा कुट्टु आदि कोड़ियों लोक नाट्य के रूपों ने हमारी सांस्कृतिक विकास धारा को अबाध और अटूट न बनाया होता तो आज जिस रंगमंच के विकास का स्वप्न हम देख रहे हैं वह पूरा न होता। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही पाश्चात्य प्रभाव के अन्तर्गत बंगाल में रंगमंच का विकास क्रम शुरू हुआ। रूसी कलाकार लेवेदफ ने बहुत पहले ही अपने ढंग से यह कार्य शुरू कर दिया था। उसके बाद प्रोफेसर विल्सन ने इस काम को आगे बढ़ाया। सच यह है कि बंगाल का आधुनिक रंगमंच सन् १७७६ ई० में स्थापित कलकत्ता थियेटर से ही आरम्भ हो गया और कलकत्ते में ही १५ अक्टूबर १७८६ ई० को अभिज्ञान-शाकुन्तल का अँगरेजी अनुवाद खेला गया था। आरम्भ में कलकत्ते में केवल अँगरेजी नाटकों के खेलने की परम्परा थी। बाद में बंगाल के तरुणों ने बंगला में नाटक लिखना और खेलना आरम्भ किया। धीरे धीरे इन नाटकों और रंगमंच की लोक-प्रियता बढ़ती गई। इसी प्रकार दक्षिणी क्षेत्रों में और महाराष्ट्र, गुजरात आदि में भी रंगमंच का विकास नये सिरे से आरम्भ हुआ। जहाँ तक उत्तर-प्रदेश का सम्बन्ध है यहाँ के आधुनिक रंगमंच का विकास दूसरे ही ढंग से हुआ। यद्यपि उत्तरप्रदेश में लोक-नाट्य के विभिन्न रूपों का प्रचलन था परन्तु संस्कृत रंगमंच तो समाप्त ही हो गया था। नवाब वाजिदअली शाह के जमाने में 'रहस' का उत्कर्ष हुआ और उसी समय अमानत ने भी 'इन्दर-सभा' लिखी। 'इन्दर-सभा' की रचना कुछ ऐसी हुई थी कि शीघ्र ही उसने लोक-प्रियता प्राप्त कर ली और पारसी थियेटरों ने उसे अपना लिया। धीरे-धीरे चार-पाँच 'इन्दर-सभाएँ' लिखी गईं और पारसी थियेटरों के लिये सस्ते और किसी हद तक अश्लील नाटकों के निर्माण की परम्परा चल पड़ी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कला के नाम पर होने वाली इस सार्वजनिक सामूहिक अश्लीलता को बर्दाश्त नहीं कर सके और उन्होंने 'इन्दर-सभा' के

विरोध में 'बन्दर-सभा' लिखी। साथ ही रंगमंच पर खेलने योग्य नाटक भी लिखते रहे। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि भारतेन्दु के पहले भी नाटकों की रचना होती थी। महाराज यशवन्त सिंह (१६२६-७८) ने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का अनुवाद १६४३ ई० में किया था। उनके बाद मुंशी कनवासी दास ने भी इसका अनुवाद किया। यह अनुवाद फारसी में था और इसका नाम 'गुलजारेहाल' था। नेवाज ने शकुन्तला का अनुवाद १६८० ई० में किया था और रघुराम नागर ने 'सभासार' नाटक की रचना १७०७ ई० में की थी। बनारसीदास जैन ने भी 'समयसार' नाटक की रचना अकबर के शासन काल के अन्त में की थी। रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह (१६६१-४७) ने 'आनन्द-रघुनन्दन' और 'गीता-रघुनन्दन' नाटकों की रचना की। श्रीमती डा० शारदा देवी वेदालङ्कार ने मुझे एक पत्र में बताया है कि उन्हें 'श्रीकृष्ण चरित्रोपाख्यान' नाम का एक नाटक लन्दन लाइब्रेरी में मिला था जिसकी माइक्रोफिल्म प्रति उनके पास मौजूद है। यह नाटक काठमाण्डू में १ सितम्बर १८३५ से प्रायः ८ दिनों तक खेला गया था। सन् १८४१ में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता श्री गोपाल चन्द्र ने 'नहुष' नाटक लिखा। १८६२ ई० में राजा लक्ष्मण सिंह ने अभिज्ञान-शाकुन्तल का अनुवाद शुद्ध खड़ी बोली हिन्दी में किया। शकुन्तला की भूमिका में राजा लक्ष्मण सिंह लिखते हैं—"सन् १८६१ ई० में जब कि मेरी स्थिति इटावे जिले में थी, मैंने शकुन्तला नाटक की विलक्षण कविता और अति मनोहर कथा देखकर विचार किया कि यदि महाकवि कालिदास का यह उत्तम ग्रन्थ साधारण हिन्दी बोली में उल्था हो जाय तो इसे लोग बहुत आनन्द से पढ़ेंगे और इससे हिन्दी भाषा की वृद्धि में सहायता पहुँचेगी। ऐसा समझकर मैंने अपने थोड़े समय को जो सरकारी कामों से बचता था, इस विषय में लगाया और डेढ़ बरस के भीतर अनुवाद पूरा करके सन् १८६२ ई० में छपवा दिया।"

इसके आगे राजा साहब लिखते हैं, "जिस समय शकुन्तला का प्रथम अनुवाद हिन्दी में हुआ था 'प्रबोध चन्द्रोदय' को छोड़ कोई नाटक इस भाषा में न था। परन्तु अब मैं बड़े आनन्द से देखता हूँ कि इस २५ वर्ष के भीतर शकुन्तला ही की रीति पर कई नाटक संस्कृत से हिन्दी में हो गए हैं और होते जाते हैं।"

भारतेंदु हरिश्चन्द्र भी 'नाटक' नामक अपने प्रसिद्ध लेख मे लिखते हैं, "हिन्दी भाषा में वास्तविक नाटक के आकार में ग्रन्थ की सृष्टि हुए पचीस वर्ष से विशेष नहीं हुए। यद्यपि नेवाज कवि का शकुन्तला नाटक, वेदान्त विषयक भाषा ग्रन्थ 'समयसार' नाटक, ब्रजवासी दास के 'प्रबोध चन्द्रोदय' प्रभृति नाटक के भाषा अनुवाद नाटक नाम से अभिहित हैं किन्तु इन सबों की रचना काव्य की भाँति है। अर्थात् नाटक रीत्यानुसार पात्र प्रवेश इत्यादि कुछ नहीं हैं। भाषा कविकुल मुकुट माणिक्य 'देव' कवि का 'देवमाया प्रपच नाटक' और श्री महाराज विश्वनाथ सिंह रीवां का 'आनन्द-रघुनन्दन' नाटक तथा श्री महाराज काशिराज की आज्ञा से बना हुआ 'प्रभावती' नाटक यद्यपि नाटक रीति से बने हैं किन्तु नाटकीय यावत नियमों का प्रतिपालन इनमें नहीं है और ये छद प्रधान ग्रंथ हैं। विशुद्ध नाटक रीति से पात्र प्रवेशादि नियम रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्य चरण श्री कविवर गिरिधरदास (वास्तविक नाम बाबू गोपालचन्द्र जी) का है।...... . ... हिन्दी भाषा में दूसरा ग्रन्थ वास्तविक नाटककार राजा लक्ष्मणसिंह का 'शकुन्तला' नाटक है। भाषा के माधुर्य आदि गुणों से यह नाटक उत्तम ग्रन्थों की गिनती में है। तीसरा नाटक हमारा 'विद्यासुन्दर' है। चौथे के स्थान में हमारे मित्र लाला श्री निवासदास का 'तपती सवरण', पचम हमारा 'वैदिकी हिंसा,' षष्ट प्रिय मित्र बाबू तोताराम का 'केटोकृतांत' और फिर तो और भी दो चार कृतविद्य लेखकों के लिखे हुए अनेक हिन्दी नाटक हैं।"

इस प्रकार हिन्दी में भारतेन्दु के पहले भी नाटकों के खेलने और रचने की परम्परा थी। भारतेन्दु के समय मे यह परम्परा खूब पुष्ट हुई। अब तक जो नाट्य परम्परा एक-एक कर पतली धाराओं में बहती थी अब उसने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के भगीरथ प्रयत्न से एक महाधारा का रूप ले लिया। इस सम्बन्ध में भारतेन्दु बाबू का निम्नाकित कथन ध्यान देने योग्य है। "यद्यपि हिन्दी भाषा में दस-बीस नाटक बन गए हैं किन्तु हम यही कहेंगे कि अभी इस भाषा में नाटकों का बहुत ही अभाव है। आशा है कि काल की क्रमोन्नति के साथ ग्रथ भी बनते जायेंगे और अपनी सम्पत्ति शालिनी ज्ञान वृद्धा बडी बहन बगभाषा के अक्षय रत्नभाण्डार की सहायता से हिन्दी भाषा उन्नति करेगी।

"यहाँ पर यह बात प्रकाश करने में भी हमको अतीव आनन्द होता है कि लन्डन नगरस्थ श्रीयुत फ्रेडरिक पिनकाट साहब ने भी शकुन्तला का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया है। वह अपने २० मार्च के पत्र में हिन्दी में मुझको लिखते हैं, " उस पर भी मैंने हिन्दी भाषा के सिखलाने के लिये कई एक पोथियाँ बनाई हैं। उनमें से हिन्दी भाषा में शकुन्तला एक नाटक है।"

जिस शकुन्तला नाटक का यहाँ चर्चा किया गया है वह राजा लक्ष्मण सिंह कृत शकुन्तला ही है। पिनकाट महोदय ने उसमें कुछ संशोधन और सुधार किये हैं। भारतेन्दु बाबू नाटक लिखने के अतिरिक्त उन्हें रगमच पर प्रस्तुत करने के लिये भी अधिक चिन्तित रहते थे। उन्होंने स्वय नाटक मण्डली बनाई थी। बलिया में इनका हरिश्चन्द्र नाटक खेला गया था। डुमरांव में भी इनका यही नाटक खेला गया था। काशी में जब कभी कोई नाटक खेला जाता तो भारतेन्दु बाबू उसे अवश्य देखते। परन्तु भोंडे अनुवादों और भद्दे अश्लील अभिनय को देखकर उन्हें बड़ी पीड़ा होती थी। एक

बार काशी में नाचघर में 'रत्नावली' का अभिनय हुआ। उसे देखकर भारतेन्दु बाबू ने लिखा, "सर विलियम म्योर साहब के काल मे अनेक ग्रंथ बने हैं क्योंकि वे ग्रन्थ बनाने वालों को पारितोषिक देते थे। इसी से 'रत्नावली' भी हिन्दी में बनी और छपी है। किन्तु इसकी ठीक वही दशा है जो पारसी नाटकों की है। काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में जब 'शकुन्तला' नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यत खेमटे वालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक मटक कर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डाक्टर थिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान यह कह कर उठ आए कि 'अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।' यही दशा बुरे अनुवादों की भी होती है। बिना पूर्व कवि के हृदय से हृदय मिलाए अनुवाद करना शुद्ध झख मारना ही नहीं, कवि की लोकातर स्थित आत्मा को नरक कष्ट देना है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक हिन्दी रगमंच के आदि-काल से ही पेशेवर और गैर पेशेवर नाटककारों और कलाकारों का विरोध आरम्भ हो गया। दोनों की शैली, टेकनीक, कथावस्तु, आदर्श, उद्देश्य और दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर था। पारसी थियेटरों और अन्य व्यवसायी नाटक कम्पनियों के सामने गैर पेशेवर रंगमंच का टिका रहना सम्भव न हो सका। न उसे सजग और सचेष्ट जन-मत का समर्थन प्राप्त हो सका और न विदेशी सरकार ने उसे संरक्षण प्रदान किया। इसी का फल था कि यद्यपि हिन्दी को उत्तराधिकार में संस्कृत नाटकों की तथा अन्य लोकनाट्यो की शानदार परम्परा मिली परन्तु उससे समुचित लाभ नहीं उठाया जा सका और हिन्दी रंगमंच भी अधिक समृद्ध न हो सका। आज यदि हिन्दी रंगमंच को समृद्ध होना है तो सरकार, जनता, नाटककारों और कलाकारों को मिलकर उद्योग करना होगा।

इस सम्बन्ध में कुछ बातें और भी सोचने की हैं। पहली बात यह

है कि यद्यपि अँगरेजी रंगमंच का प्रभाव भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रीय रंगमचों पर किसी न किसी मात्रा में आरम्भिक काल में अवश्य पड़ा, परन्तु विद्वानों और विशेषज्ञों ने सर्व सम्मति से यह बात स्वीकार की है कि इस प्रभाव के बावजूद क्षेत्रीय रंगमचों और नाट्य-साहित्य का विकास मूल रूप से स्थानीय परम्पराओं के गर्भ से ही हुआ। इस अर्थ में भारतीय रगमच का विकास निस्सन्देह स्व-देशी, स्वतन्त्र और स्वस्थ वातावरण में हुआ। बंगाली रंगमच हो या मराठी, गुजराती रगमंच हो या हिन्दी, या फिर दक्षिण भारतीय रगमञ्च ही क्यों न हो यह बात सर्वत्र लागू है। दूसरी बात यह है कि जिस समय इन रंगमञ्चों का विकास हुआ हमारा देश राष्ट्रीय पुनरोज्जीवन के काल से होकर गुजर रहा था। फलतः प्रायः सर्वत्र परम्पराओं का ध्यान रखा गया और भारतीय सस्कृति की अक्षुण्णता को बनाये रखने का सजग प्रयत्न किया गया। अतः अँगरेजी के कुछ नाटकों का अनुवाद होते होते प्रायः सबका ध्यान संस्कृत के नाटकों की ओर गया और उनके अनुवाद हुए। कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त, भवभूति आदि प्रायः सभी महत्वपूर्ण नाटककारों के नाटक क्षेत्रीय भाषाओं में अनूदित और रूपांतरित हुये। यह प्रक्रिया भी प्रायः सारे देश में एक साथ ही चली। बगला, गुजराती, मराठी, तेलुगु, हिन्दी आदि में हरिश्चन्द्र नाटक की रचना 'चन्डकौशिक' के आधार पर प्रायः एक ही समय में हुई। इसके साथ एक क्षेत्र की भाषा में दूसरे क्षेत्र की भाषा के नाटकों का अनुवाद भी होता रहा। भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'ज्ञान वृद्धा बड़ी बहन वंगभाषा के अक्षय-रत्न-भाण्डार' की सहायता से हिन्दी भाषा की बड़ी उन्नति की आशा प्रकट की थी और उनकी यह आशा फलवती भी हुई। जिस प्रकार अन्य भाषाओं के नाटककार दूसरी भाषाओं के नाट्य-साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करते थे उसी तरह हिन्दी के नाटककार भी।

राष्ट्रीय रंगमंच की कल्पना—हमारे महान देश के विभिन्न क्षेत्रों में कम या अधिक रंगमंचों का विकास हो चुका है। यह सही है कि इस विकास में कभी शिथिलता आई है और कभी यह विकास अधिक तेजी के साथ हुआ है। द्वितीय महायुद्ध के पहले सिनेमा ने इन रंग-मचों को वहुत गहरा धक्का पहुँचाया था। कुछ काल तक तो ऐसा लगा कि लोगों की रुचि ऐसी हो गई है कि वे अब न पेशेवर रंगमंच की ओर आकृष्ट होंगे न गैरपेशेवर रंगमंच की ओर। युद्धकाल में हमारे देश में अनेक सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन हुए। बगाल के अकाल और देश व्यापी साम्प्रदायिक दंगों ने जन-मानस को और उसके कलाकारों को झंझोड़ दिया। फलतः भारतीय जन-नाट्य-सघ का जन्म हुआ और बंगाल की दुरवस्था का चित्रण उसके द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत नाटकों में किया जाने लगा। ठीक इसी समय बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र आदि प्रदेशों में रंगमंच से सम्बन्धित एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। बंगाल के शिशिर कुमार भादुड़ी, महाराष्ट्र के मामा वरेरकर और अहमदाबाद के जय सुन्दर सुन्दरी आदि रंगमंच के महान अधिनायक हैं। अपने क्षेत्रों में तो ये लोग काम कर ही रहे थे, इनकी प्रेरणा से और नई सामाजिक चेतना के फलस्वरूप एक जन-आन्दोलन के रूप में रगमंच से सम्बन्धित यह सर्वथा नवीन आन्दोलन चारो तरफ चलने लगा। इधर उदयशंकर और पृथ्वीराज कपूर जैसे महान कलाकारों ने भी ध्यान दिया। पृथ्वी थियेटर्स ने 'दीवार', 'पठान,' 'गद्दार,' 'कला-कार' आदि नाटकों का अभिनय देश भर में घूम-घूम कर किया। 'नवान्न' के अभिनय ने बंगाल में तूफ़ान मचा दिया। फलत, चारों ओर से एक नये रंगमंच की माँग उठने लगी। पिछले दस बारह वर्षों में लगभग सारे देश में रंगमंच के प्रति एक नई आस्था लोगों में जाग्रत हुई है। एकांकी और पूर्ण नाटकों के साथ ही लोक नाट्य के विभिन्न रूपों को भी रंगमच पर प्रस्तुत किया गया और उनकी शक्ति

तथा सम्भावनाओं का भी अनुभव हुआ। स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद जब राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का चतुर्मुखी और व्यापक अभियान आरम्भ हुआ तो केन्द्रीय सरकार का भी ध्यान इधर गया और 'नाटक अकेडमी' की स्थापना हुई। इस अकेडमी में इस क्षेत्र के अनेक महान व्यक्ति हैं और इसके द्वारा देश भर में नाट्य-कला और रंगमंच के सम्वर्द्धन के सम्बन्ध में प्रयत्न हो रहा है। विभिन्न प्रदेशों में भी सरकार की ओर से इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ प्रयत्न किया जा रहा है। स्वय नाटककारों और कलाकारों में नवीन चेतना, जाग्रति और आत्म-विश्वास के भाव पैदा हो रहे हैं। समय की आवश्यकता यह है कि सरकार, नाटककार और अभिनेता आपस में सहयोग करके देश में राष्ट्रीय रंगमच के निर्माण-कार्य में हाथ लगावें। हमारे संविधान के अनुसार चौदह राष्ट्रीय भाषाएँ हैं। विभिन्न राज्यों की भी सीमाएँ बन चुकी हैं। इसलिये भाषा की दृष्टि से तथा विभिन्न राज्यों की दृष्टि से भी प्रादेशिक रंगमंचों के निर्माण की व्यवस्था तुरंत होनी चाहिये। इधर मामा वरेरकर तथा पृथ्वीराज आदि ने इस सम्बन्ध में काफी आन्दोलन किया है। आशा है कि निकट भविष्य में ही रंगमच के ये नेता अपनी मांग पूरी कराने में सफल भी होंगे।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना में हमने इस बात का ध्यान रखा है कि वैदिक काल से आधुनिक काल तक विभिन्न भाषाओं और क्षेत्रों के रंगमच तथा नाट्य साहित्य के विकास-क्रम का अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। आशा है कि पाठकों को इस पुस्तक में देश की विभिन्न प्रमुख भाषाओं के नाट्य-साहित्य के उद्भव और विकास का क्रमिक वर्णन मिलेगा। साथ ही वे विभिन्न रंगमचों की एक झाकी भी इसमें पा सकेंगे।

साल भर पहले मैंने इस पुस्तक की रचना का कार्य आरम्भ किया था। उस समय कार्य की गम्भीरता का अनुमान मुझे न था

और यदि श्रीमती महादेवी वर्मा, डा० शारदादेवी वेदालंकार, महापण्डित राहुल सकृत्यायन, डा० मोती चंद, डा० भगवत शरण उपाध्याय, डा० उदय नारायण तिवारी, डा० सतीशचन्द्र काला, डा० एजाज़ हुसेन, श्री नामवर सिंह, श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी आदि स्नेही मित्रों का सक्रिय सहयोग न प्राप्त हुआ होता तो मैं इस महार्णव को न पार कर सकता और मेरी नैया शायद बीच ही में डूब गई होती। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० रामकुमार वर्मा और डा० जगदीश चन्द्र जैन जैसे समर्थ साहित्यकारों की विभिन्न पुस्तकों और लेखों से मैंने अत्यधिक लाभ उठाया है। डा० नगेन्द्र, डा० जयकान्त मिश्र, डा० दशरथ ओझा, डा० सोमनाथ गुप्त, डा० चन्द्रभानु गुप्त, डा० नन्द दुलारे वाजपेयी, श्री ब्रजरत्नदास, श्री तारिणीशंकर चक्रवर्ती आदि विद्वानों के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। पाठक उनकी रचनाओं और ग्रन्थों की प्रतिच्छाया प्रस्तुत पुस्तक में स्थान स्थान पर देख सकते हैं। प्रयाग-संग्रहालय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन संग्रहालय तथा इलाहाबाद पब्लिक लाइब्रेरी के पुस्तकाध्यक्षों और कर्मचारियों के प्रति भी मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। यदि इनका सक्रिय सहयोग प्राप्त न हुआ होता तो हमें वे अलभ्य ग्रन्थ न मिल पाते जिनकी सहायता लिये बिना प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन असम्भव था। प्रस्तुत पुस्तक को देखकर भाई पृथ्वीराज कपूर, ख्वाजा अहमद अब्बास, मामा वरेरकर, शम्भु मित्र, डा० महादेव साहा जैसे हितैषी और स्नेही अवश्य ही सन्तुष्ट होंगे। आयुष्मती प्रभा और पुष्पा, चिरजीव गणेश प्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, कमलेश, महावीर, कृष्ण बिहारी, महबूब, गुलाम अली, जगदीश, मुरली और परमानन्द को धन्यवाद देकर मैं इतने सहज ही में इनसे उऋण होना नहीं चाहता। प्रूफ संशोधन में श्री श्याम नारायण वर्मा ने अत्यधिक परिश्रम किया है। मैं उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ। श्री शिवकुमार सहाय, सहायक व्यवस्थापक हिन्दी साहित्य प्रेस ने

प्रस्तुत ग्र थ के प्रकाशन में जो परिश्रम किया है उसके लिए मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

मैंने जिन ग्रन्थों तथा अन्य साहित्य से सहायता ली है उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :—

१. कीथ —दी सस्कृत ड्रामा

२. के० आर० पिशरोती —(१) दी एन्शियेंट थियेटर (२) दी साउथ इडियन थियेटर

२. मनमोहन घोष —हिन्दू थियेटर

४. मुल्कराज आनन्द —दी इण्डियन थियेटर

५ आर० के० याज्ञिक —दी इण्डियन थियेटर

६ वी० राघवन —हिन्दू थियेटर

७. विलसन —थियेटर ऑव दी हिन्दूज

८. विन्टरनित्ज़ —सम प्राब्लेम्स ऑव इण्डियन लिटरेचर

६. टी० ब्लॉख —'आकियालॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया' १६०३-४ में प्रकाशित "केव्ज एण्ड इन्सक्रिप्शन्स इन रामगढ हिल्स" नामक लेख

१०. पी० गुहा ठाकुर्ता —दी बगाली ड्रामा

११. हेमेन्द्र नाथ दास गुप्त —दी इण्डियन स्टेज भाग १ और २

१२. एस० एन० दास गुप्त —हिस्ट्री ऑव सस्कृत लिटरेचर

१३. चन्द्रभानु गुप्त —दी इण्डियन थियेटर

१४. धीरेन्द्र चन्द्र सेन —हिस्ट्री ऑव बंगाली लिटरेचर

१५. कन्हैयालाल माणिक लाल मुशी —गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर

१६. जयकान्त मिश्र —हिस्ट्री आव मैथिली लिटरेचर

१७ विल्सन, राघवन, पिशरोती, चकवर्ती—दी हिन्दू थियेटर
१८. भगवत शरण उपाध्याय —इण्डिया इन कालिदास
१९. श्री मद्वाल्मीकीय रामायण
२०. भरत-नाट्य-शास्त्र
२१. सीताराम चतुर्वेदी—(१) अभिनव नाट्य-शास्त्रम्
(२) कालिदास ग्रन्थावली
२२. सोमनाथ गुप्त—हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास
२३. नगेन्द्र—आधुनिक हिन्दी नाटक
२४. ब्रजरत्न दास—भारतेंदु नाटकावली, भाग १ और २
२५. नामवर सिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग
२६. दशरथ ओझा—हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास
२७. उदय नारायण तिवारी—वीरकाव्य
२८. हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य का आदि काल
हिन्दी साहित्य की भूमिका
विचार और वितर्क
२९. रामनरेश त्रिपाठी—कविता कौमुदी—प्रथम भाग
३० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास
३१. नन्द दुलारे वाजपेयी—जयशकर 'प्रसाद'
३२. नूर इलाही—नाटक सागर
३३. मसीहुज्जमां—तावीर, तशरीह, तनक़ीद
३४ मसूद हसन रिजवी—इन्दर सभा, आदि।

इनके अतिरिक्त अनेक अन्य ग्रंथों की भी सहायता मैंने ली है। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'मार्ग', 'बिहार थियेटर' 'सम्मेलन पत्रिका', 'नया पथ', 'अभिनय' तथा अन्य पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों से भी मैंने सहायता ली है। इन ग्रन्थों तथा लेखों के विद्वान रचयिताओं के प्रति मैं कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ।

२। डी, मिण्टो रोड
इलाहाबाद

—श्रीकृष्ण दास

विषय-सूची

हमारी नाट्य परम्परा

अध्याय १

नाट्य साहित्य का आदिकाल

भरत के नाट्य शास्त्र के अनुसार नाट्य ही पांचवा वेद है। इसका रस और आनन्द सभी जातियों और वर्गों के लोग प्राप्त कर सकते थे। इसके मूलतत्व भी चार वेदो से ही संगृहीत हुए थे। नाट्य के प्रयोग करने के लिए भरत को ही अधिकार दिया गया था। उन्हीं के लिए विश्वकर्मा ने नाट्य गृह का निर्माण किया था। पहिले नाट्य कला का प्रयोग स्वर्ग में होता था। शिव, पार्वती और विष्णु सभी इस प्रयोग में सहायता देते थे। भरत के माध्यम से ही यह कला इस धरती पर अवतरित हुई।

कालिदास ने नाटक को 'शान्तःचाक्षुप यज्ञ' कहकर अपने पहिले की परम्परा का निर्वाह किया है। भरत ने नाट्यशास्त्र के आरम्भ में ही कहा है—

> जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
> यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

'ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर ब्रह्मा ने पाँचवे वेद की रचना की।' इस पचम वेद के सम्बन्ध में एक रोचक कथा है। इस वेद की रचना प्रधानतः स्त्री, शूद्रादिकों के मनोरंजन के लिये ही हुई (उन्हें वेदों को पढ़ने का अधिकार जो नहीं था!) ब्रह्मा ने इस वेद की रचना की। इसके प्रयोग का काम भरत मुनि को दिया गया। चूंकि इसमें स्त्री पात्रों का होना जरूरी था इसलिए ब्रह्मा ने मंजुकेशी, सुकेशी आदि अप्सराओं को अभिनय के लिये भेजा। नारदादि गन्धर्व भी भरत मुनि के पास भेजे गए। इन्द्र ने विश्वकर्मा को एक नाट्यशाला (रंगमंच) तैयार

उर्वशी-पुरूरवा

अध्याय १

नाट्य साहित्य का आदिकाल

भरत के नाट्य शास्त्र के अनुसार नाट्य ही पांचवा वेद है। इसका रस और आनन्द सभी जातियों और वर्गों के लोग प्राप्त कर सकते थे। इसके मूलतत्व भी चार वेदो से ही संगृहीत हुए थे। नाट्य के प्रयोग करने के लिए भरत को ही अधिकार दिया गया था। उन्हीं के लिए विश्वकर्मा ने नाट्य गृह का निर्माण किया था। पहिले नाट्य कला का प्रयोग स्वर्ग में होता था। शिव, पार्वती और विष्णु सभी इस प्रयोग में सहायता देते थे। भरत के माध्यम से ही यह कला इस धरती पर अवतरित हुई।

कालिदास ने नाटक को 'शान्तःचाक्षुष यज्ञ' कहकर अपने पहिले की परम्परा का निर्वाह किया है। भरत ने नाट्यशास्त्र के आरम्भ में ही कहा है—

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥

'ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर ब्रह्मा ने पाँचवे वेद की रचना की।' इस पचम वेद के सम्बन्ध में एक रोचक कथा है। इस वेद की रचना प्रधानतः स्त्री, शूद्रादिकों के मनोरंजन के लिये ही हुई (उन्हें वेदों को पढने का अधिकार जो नहीं था!) ब्रह्मा ने इस वेद की रचना की। इसके प्रयोग का काम भरत मुनि को दिया गया। चूंकि इसमें स्त्री पात्रों का होना जरूरी था इसलिए ब्रह्मा ने मंजुकेशी, सुकेशी आदि अप्सराओं को अभिनय के लिये भेजा। नारदादि गन्धर्व भी भरत मुनि के पास भेजे गए। इन्द्र ने विश्वकर्मा को एक नाट्यशाला (रंगमंच) तैयार

करने का आदेश दिया। विश्वकर्मा ने अपना काम तुरन्त पूरा कर दिया और नाटकों के प्रदर्शन का कार्य आरम्भ हो गया। जिस प्रकार के नाटक खेले गए उनमें 'अमृत मन्थन' (समवकार) और 'त्रिपुरदाह' (डिम) मुख्य थे। कालिदास ने इसी परम्परा का अनुगमन किया। 'ललिताभिनय' (नाट्यशास्त्र) और 'अष्टाश्रय' भरत मुनि की परम्परा की विशेषताएं थीं।

'विक्रमोर्वशीय' में कालिदास ने इसी का उद्‌घोष इस प्रकार किया—

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो
भवतीष्वष्ट रसाश्रयो निबद्धः।
ललिताभिनय तमद्यभर्ता
मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥ (२-१६)

'भरत मुनि ने तुम लोगों के लिए जो आठों रसों से भरा हुआ नाटक लिख रखा है उसी का सुन्दर अभिनय भगवान इन्द्र तथा लोकपाल देखना चाहते हैं।'

भरत मुनि ने इस नाट्य शास्त्र की रचना कब की इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। परन्तु भरत मुनि कालिदास के बहुत पहिले हुए थे। यदि ऐसा न होता तो कालिदास ने इतनी श्रद्धा से उनका चर्चा न किया होता। कालिदास ने भास, सौमिल्ल और कवि पुत्र का भी चर्चा किया जो इस बात का प्रमाण है कि अपने समय में ये नाटककार अत्यन्त प्रसिद्ध थे। कालिदास के समय में भी इनकी प्रसिद्धि बहुत काफी थी और इनके बाद के नाटककार इनके प्रभाव से अछूते नहीं रह सके थे। मगर भरत को कालिदास ने 'मुनि' कहकर याद किया है जो इस बात का द्योतक है कि भरत की प्रतिष्ठा सर्वाधिक थी और महाकवि कालिदास उनके प्रति सबसे अधिक श्रद्धा रखते थे। यह भी स्पष्ट है कि भरत मुनि उपर्युक्त सभी नाटककारों से पहिले हुए थे। अश्वघोष और भास के पहिले ही इस नाट्य शास्त्र का प्रणयन हो चुका था। अतः उन्हें

ईसा से बहुत पहिले का मान लेने में किसी को एतराज न होना चाहिए। भरत के नाट्य शास्त्र में परिवर्द्धन और परिवर्तन भी होते रहे हैं।

नाट्य शास्त्र का निर्माण नाट्य रचना के पहिले नहीं हो सकता। रचनाओं की परम्परा होने पर ही, रचनाओं को परिष्कृत तथा निर्दोष बनाने के लिए ही, नाट्य शास्त्र का निर्माण किया गया होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि अश्वघोष, भास आदि की अत्यन्त साफ सुथरी परिष्कृत रचनाओं के पहिले नाट्य रचना की परम्परा थी तथा 'नाट्य शास्त्र' के निर्माण के पहिले भी यह परम्परा थी।

यह मान्यता और 'भरत नाट्य शास्त्र' की पवित्रता की यह परम्परा सहस्त्रों वर्षों तक अक्षुण्ण और अविच्छिन्न रही। संस्कृत के महान नाटककारों ने खुले रूप में, स्थान-स्थान पर भरत के 'नाट्य-शास्त्र' का चर्चा किया है और उसका ऋण स्वीकार किया है। नाट्य शास्त्रकी रचना के ही कारण भरत 'मुनि' के पद पर प्रतिष्ठित किए गए।

वैदिक साहित्य में नाटकों का पता नहीं चलता। परन्तु वेदों मे कथोपकथन के अनेक स्थल आते हैं। यम और यमी, पुरुरुवा और उर्वशी, नेमा भार्गव और इन्द्र, अगस्त्य, लोपामुद्रा तथा उनका पुत्र, इन्द्र और इन्द्राणी आदि के वार्तालाप तथा विवाद अनेक स्थलो पर मिलते हैं। ये स्थल दो व्यक्तियों को बात-चीत का आदि रूप हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। वार्तालाप के अतिरिक्त गान, नृत्य आदि के भी पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वेदों में नाटक के विकास के प्राथमिक चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे थे। परन्तु इन्हें नाटक का आरम्भिक तत्व मान लेना अनुचित होगा।

वेदो में 'नट' अथवा 'नाटक' शब्द का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है। 'शैलूष' शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है। मगर यह शब्द अभिनेता अथवा नट के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, इसका कोई प्रमाण

नहीं है। सम्भवतः यह शब्द सगीतज्ञ अथवा गायक के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। हाँ, बाद के साहित्य में इसका प्रयोग अवश्य ही 'नट' के अर्थ में हुआ है।

सामवेद के मन्त्रों के गाए जाने तथा उनके नृत्य के भी होने के प्रमाण मिलते हैं। 'महाव्रत' के अवसर पर स्त्रियाँ अग्नि के चारों ओर नाचती थीं और अपने नृत्य से वर्षा का स्वागत करती थीं। विवाह के अवसर पर मगल मनाने के लिए सोहागिन स्त्रियाँ नृत्य किया करती थीं। मृत्यु के बाद चिता के पास भी नृत्य करने की प्रथा थी। इस समय सगीत का कार्यक्रम भी होता था। इन बातों को देखकर हम यह कल्पना आसानी के साथ कर सकते हैं कि वैदिक समाज में एक ऐसा वातावरण निर्मित होने लगा था जिसमें नाटकों का जन्म सम्भव था। इन गीतों तथा नृत्यों के साथ मुद्रा और भाव भगिमा प्रदर्शित करने की प्रथा भी चल पड़ी थी। गद्य पद्य को मिलाकर किसी कथा के आधार पर एक प्रकार का गीत-नाट्य तैयार कर लिया जाता था। यह परिपाटी चलने लगी थी और नाटकों के जन्म के लिए समुचित वातावरण तैयार होने लगा था।

कालान्तर में महाकाव्यों और उनके विभिन्न कथा भागों से प्रेरणा ग्रहण करके, गीत और नृत्य के साथ उनको मिलाकर एक नये प्रकार का साहित्य धीरे धीरे तैयार होने लगा था। नाटकों की उत्पत्ति में इन गीतों और नृत्यों का बहुत बड़ा हाथ था। भरत के अनुसार गीत, नृत्य, संगीत, अभिनय के आधार पर ही हम साधारण काव्य तथा नाटकों में अन्तर कर सकते हैं। दशरूपकों में नाटक को 'अवस्थानुकृति' कहा गया है।

पाणिनि के दो सूत्र हैं 'पराशर्या शीलालिभ्याम्' तथा 'कर्मान्दा कृशाश्वादिनि'। पाणिनि का समय चौथी पांचवीं शताब्दी ई० पू० है। 'शीलालिन' का प्रयोग यदि पाणिनि के यहाँ 'नट' के अर्थ में हुआ है तो यह प्रश्न उठता है कि 'नट' का अर्थ क्या है—

नर्तक अथवा अभिनेता ? यदि 'नट' का अर्थ अभिनेता है तो फिर यह मानना ही पड़ेगा कि पाणिनि के समय में किसी न किसी प्रकार के नाटक अवश्य थे ।

मनुस्मृति में भी यह शब्द आया है । मनुस्मृति का रचना काल दूसरी सदी ई० पू० माना जाता है । मनुस्मृति और पतजलि के 'महाभाष्य' को प्रायः समकालीन माना जाता है । पतञ्जलि ने 'शौभिकों' की चर्चा की है । 'शौभिक' वे शिक्षक थे जो अभिनेताओं को बताते थे कि मच पर कस के वध का प्रदर्शन कैसे करना चाहिए । ये शिक्षक स्वयं मरते हुए कस का अभिनय करके नटों को बताया करते थे । यह प्रदर्शन जन-साधारण के सामने होता था ।

कंस वध का चित्रण करने वाले दृश्यों को अकित करने की भी शिक्षा दी जाती थी ।

पाणिनि ने कस के सम्बन्ध में वर्तमान, भूत और भविष्यत का आभास देने वाले तीन उद्धरण भी दिए हैं । पता चलता है कि उन्हें अपने समय के किसी नाटक से ही उन्होंने लिया है । उद्धरण है, 'गच्छ हन्यते कसः' 'गच्छ घानिष्यते कसः', और 'किं गतेन हत. कसः ।'

कैयटने शौभिक का अर्थ यों बताया है, 'कसानुकारिणां नटाना व्याख्यानोपाध्यायः, कसानुकारी नटाः सामाजिकैः कसाबुध्या परिग्रहीताः कसो भाष्ये विवाक्षिताः' अर्थात् 'शौभिक' वे गुरु हैं जो अपने 'नट' शिष्यों को कंस का अनुकरण करना सिखाते थे । 'नट' ही कंस का अभिनय करते थे । वही दर्शकों द्वारा कंस समझे जाते थे । भाष्य मे इसी कंस का चर्चा आया है । जो नट वासुदेव की भूमिका में आता था उसे वासुदेव की सच्ची अनुकृति करनी पड़ती थी ।

जहाँ तक हम समझते हैं 'शीलालिन' और 'कृशाश्व' की नृत्य और अभिनय की दो अलग प्रणालियाँ थीं । नाटकों के सम्बन्ध में शिक्षा देने वाली अलग संस्थाएं थीं जहाँ शिक्षक नर शिष्यों को

अभिनय तथा नृत्य की अलग अलग शिक्षाएँ देते थे। इन शिक्षकों को 'शौभिक' कहा जाता था। नृत्य अवसर अपनी स्पष्ट मुद्राओं के कारण अभिनय के अत्यन्त निकट पहुँच जाया करते थे। मुद्राएँ, शरीर के विभिन्न अंगों के संचालन, उठने बैठने, चलने की कला, ये सब नृत्य के अन्दर ही आ जाती थीं।

नाट्य को दशरुपकों के अन्दर 'अवस्थानुकृति' कहा गया है। स्थिति अथवा अवस्थाओं का अनुकरण मौन भी हो सकता था। 'नाट्य' को रूपक इसलिए कहा जाता था कि अभिनेता अपने व्यक्तित्व को भूलकर पात्र के व्यक्तित्व को अपना लेता था। कभी-कभी तो ऐसी भी स्थिति आती थी जब कि नृत्य और विशेष भावना को व्यक्त करने वाले गीतों से ही नाटक का काम पूरा हो जाता था।

'ग्रन्थिका' का अर्थ नगेश के अनुसार है 'पूरी कथा का वर्णन।' कंस-वध की कथा ही ले लें। कंस का जन्म, कंस का वैभव-विलास तथा अत्याचार और फिर कंस का वध सबका पूर्ण विवरण 'ग्रन्थिका' के माध्यम से, ऐसा सजीव चित्र उपस्थित कर देता था मानो कंस और वासुदेव सचमुच सामने आ गये हों। भाष्य के अनुसार कंस वध में 'ग्रन्थिका' वर्णन के साथ साथ काले और लाल रंग में रंगे लोग, कंस और कृष्ण के दल के बनकर, मंच पर अभिनय करते थे। इससे 'ग्रन्थिका' वर्णन की रोचकता बढ़ जाती थी और उसमें सजीवता आ जाती थी।

"नटस्य शृणोति" वाक्य का प्रयोग यह प्रमाणित करता है कि नट जो कुछ कहता था उसे लोग सुनते थे। लोग रङ्गशाला में नटों और ग्रन्थिकाओं की बात सुनने के लिए ही जाते थे। इससे स्पष्ट है कि जब नट और ग्रन्थिका का अभिनय होता था तो वे बोलते भी थे, वक्तृता भी देते थे। वे क्या कहते थे इसका उदाहरण हम ऊपर दे चुके हैं।

फिर संस्कृत रंग मंच का आरम्भ कब से और कैसे हुआ? चार

प्रकार की बातें इस सम्बन्ध में कही जाती हैं (१) नाटक का आरम्भ विष्णु पूजा के आधार पर हुआ (२) नाटकों का आरम्भ तब से हुआ जब यूनानी लोग भारत मे आए और शहरों में उनका सम्बन्ध यहाँ के लोगों से हुआ। यूनानी रग मच व्यवस्था के आधार पर ही भारतीय (सस्कृत) रंग मच का निर्माण हुआ। (३) इसका मूल वेदों मे ही पाया जाता है और वेद सबसे पुराने हैं। इनसे पहले का साहित्य प्राप्त ही नहीं (४) सूत्रधार तथा पुत्तलिका के नृत्य से भी नाटकों तथा रंग मच का उद्भव और विकास का सम्बन्ध लोग जोड़ते हैं। हम इस सम्बन्ध मे कोई भी निश्चित मत नहीं दे सकते। यह अब भी खोज और अनुसधान का विषय है और विद्वानों को इधर फिर से ध्यान देना चाहिए। इस सम्बन्ध मे दो बातो पर सबसे अधिक जोर दिया जाता है।

युनानियो का यहाँ के नगरो में आकर बसना और नागरिको से हिलना मिलना युनानी रग मच के स्थापित होने का एक महत्वपूर्ण कारण अवश्य बन सकता था। इस सम्भावना की ओर से आँखें नहीं बन्द कर सकते। रंगमच पर पर्दों का प्रयोग तथा 'यवनिका' शब्द का प्रयोग इस मत की पुष्टि करता है। विद्वानों का दूसरा दल इस तर्क को अस्वीकार करता है।

सबसे अधिक जोर इस बात पर दिया जाता है कि नाटकों का आरम्भ पुतली के नाच से हुआ। निश्चय ही यह नाच अति प्राचीन काल मे आरम्भ हुआ। कठपुतली को नचाने वाला 'सूत्रधार' कहलाता था। उसका सहकारी 'स्थापक' कहलाता था। नाटको मे इन दोनो शब्दो का प्रयोग इसी अर्थ मे हुआ। राजशेखर ने सीता की बोलती, नाट्य करती पुत्तलिका का वर्णन किया है। इस प्रकार नाटको का आरम्भ पुतलियों के नाच से मानने का सबल आधार मिलता है। परन्तु इस आधार को ही अन्तिम रूप से स्वीकार कर लेना अनुचित होगा। इन सभी आधारो को नाटकों को जन्म देने

का श्रेय मिलना चाहिए। जब तक कोई विद्वान सर्वमान्य फैसला नहीं दे देता हमें इसी बात को स्वीकार करना पड़ेगा।

जो हो, यह बात सप्रमाण सिद्ध हो जाती है कि ईसा से तीन या चार सौ वर्ष पहले ही भारत में रंग मंच का निर्माण भलीभाँति हो चुका था। रङ्गशालाओं में नट पौराणिक नायकों का अभिनय किया करते थे। ये नट गद्य में भी बोला करते थे। यदि हम यह स्वीकार कर लें तो हम यह भी स्वीकार कर लेंगे कि पाणिनि ने 'शीलालिन' और 'कृशाश्व' के नट सूत्रों की चर्चा करके यह प्रमाणित कर दिया है कि उस समय तक नटों का अभिनय अत्यन्त लोक प्रिय हो चुका था और चूंकि उस समय 'नटसूत्र' थे इसलिये नटो को शिक्षा देनेवाले 'शौभिक' अवश्य रहे होंगे जो इन कलाकारों को अभिनय कला में दक्ष बनाते रहे होगे। इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि ईसा से पाँच छ सौ वर्ष पहिले ही हमारे देश में किसी न किसी रूप में नाटक रचे और खेले जाते थे।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने काव्य को दो भागों में विभक्त किया है—दृश्य तथा श्रव्य। साहित्य में दोनों का अत्यन्त महत्व पूर्ण स्थान है। पर श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य को अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। श्रव्य काव्य केवल कानों द्वारा हमारे भीतर रसोद्रेक कर पाता है जबकि दृश्य काव्य कानों और आँखों के सहारे यही कार्य करता है। "काव्येषु नाटकम् रम्यम्" कहकर हमारे आचार्यों ने दृश्य काव्य की महत्ता को स्वीकार किया है। नृत्य, गायन, वादन और अभिनय ने मिलकर ही नाटक का पूरा रूप खड़ा किया। अभिनेता अपनी वेषभूषा, कथोपकथन, भाव प्रदर्शन, क्रिया कलाप आदि के सहारे उस व्यक्ति का पूरा रूप सामने खड़ा करता है जिसकी भूमिका में वह रंगमंच पर उतरता है। भरत मुनि का कथन है कि—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न सायोगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते॥

'ऐसा कोई ज्ञान नहीं, कोई शिल्प नहीं, कोई विद्या नहीं, कोई कला नहीं, कोई योग नहीं, कोई कर्म नहीं, जो नाटक में न हो।'

भारतीय शास्त्रकारों ने नाटक को 'रूपक' के नाम से अभिहित किया है। रूपक दो भागों में विभक्त हैं—रूपक तथा उपरूपक। रूपक के भेद हैं नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन। उपरूपकों के भेद हैं नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्य रासक, प्रस्थान, काव्य, संलापक, रासक, प्रेंखण, उल्लाप्य, श्रीगदित, शिल्पक, दुर्मल्लिका, विलसिका, प्रकरिणी, हल्लीश और भाणिका। एकांकियों के निकट रूपक के भाण, व्यायोग, अंक, वीथी, प्रहसन तथा उपरूपक के गोष्ठी, नाट्य रासक, काव्य आदि आते हैं।

यदि हम संस्कृत साहित्य के नाटकों को रूपक तथा उप रूपक के विभिन्न वर्गों में बांटना चाहें तो यों बांट सकते हैं—

रूपक

१. नाटक : अभिज्ञान शाकुन्तल (कालिदास)
२. प्रकरण : मालती माधव (भवभूति)
३. भाण : कर्पूर चरित (वत्सराज)
४. व्यायोग : मध्यम व्यायोग (भास)
५. समवकार : समुद्रमथन (वत्सराज)
६. डिम : त्रिपुर दाह (वत्सराज)
७. ईहामृग : रुक्मिणी हरण (वत्सराज)
८. अक या उत्सृष्टिकाङ्क : शर्मिष्ठाययाति
९. वीथी : मालविका
१०. प्रहसन : मत्तविलास (महेन्द्र विक्रम वर्मन)

उपरूपक

१. नाटिका : रत्नावली (हर्ष)
२. त्रोटक : विक्रमोर्वशी (कालिदास)

३. गोष्ठी : रैवत मदनिका
४. सट्टक : कर्पूर मजरी (राजशेखर)
५. नाट्य रासक : विलासवती
६. प्रस्थान : शृंगारतिलक
७. उल्लाप्य : देवी महादेव
८. काव्य : यादवोदय
९. प्रेंखण : बालिवध
१० रासक : मेनका हित
११. सलापक : माया कापालिक
१२. श्रीगदित · क्रीड़ा रसातल
१३ शिल्पक : कनकावती माधव
१४. विलसिका (उदाहरण अप्राप्य)
१५ दुर्मल्लिका · विन्दुमती
१६. प्रकरणिका (उदाहरण अप्राप्य)
१७ हल्लीश : केलिरैवनक
१८. भाणिका · कामदत्ता

यदि हम किसी भी प्रकार की काल्पनिकता का आश्रय न लें और केवल सर्वमान्य तिथियों और तथ्यों को ही स्वीकार करें तो भी हम देखेंगे कि प्रायः चौदह सौ वर्षों तक (ईसा की पहली शताब्दी से चौदवीं शताब्दी तक) सस्कृत के अनेक समर्थ, मेधावी नाटककारों ने सस्कृत के सबसे महत्त्वपूर्ण और ख्याति प्राप्त नाटकों की रचना की। चौदह सौ वर्षों की यह लम्बी अवधि नाट्य रचना की कला के विकास और प्रसार का काल रही है। अश्वघोष ने 'सारि पुत्त प्रकरण', भास ने 'स्वप्नवासवदत्ता', 'प्रतिज्ञा योगन्धरायण' आदि, शूद्रक ने 'मृच्छकटिक', कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'विक्रमोर्वशी' तथा 'मालविकाग्निमित्र', विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस', हर्ष ने 'रत्नावली', 'नागानन्द' और 'प्रिय दर्शिका',

महेन्द्र विक्रम वर्मन ने 'मत्त विलास', भवभूति ने 'उत्तर रामचरित', 'महावीर चरित' और 'मालती-माधव', भट्टनारायण ने 'वेणी संहार', मुरारि ने 'अनर्घराघव', राजशेखर ने 'बाल रामायण' 'बाल भारत', 'कर्पूरमञ्जरी' और विद्धशाल भञ्जिका', क्षेमेश्वर ने 'चण्ड कौशिक' दामोदर मिश्र ने 'हनुमन्नाटक' और कृष्ण मिश्र ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नामक नाटक लिखे।

ये केवल थोड़े से नाम हैं। चौदहवीं सदी के बाद भी नाटकों की रचना होती रही। इनमें से अनेक नाटक उपलब्ध भी हैं। इस प्रकार हिन्दी के उदय और विकास काल में संस्कृत नाटकों की परम्परा जीवित थी। यदि तत्कालीन शासकों और उनके समर्थकों ने नाट्य कला का सक्रिय विरोध और दमन न किया होता तो इसका उत्तरोत्तर विकास होता रहता।

जैसा कि हम अगले अध्यायों में देखेंगे ये नाटक मूलतः अभिनीत होने के लिये लिखे गये थे और इनके अभिनय के लिये पूरा प्रबन्ध किया जाता था। 'सारिपुत्र प्रकरण' से 'प्रबोध चन्द्रोदय' तक नाटकों की जो परम्परा रही है उसका यदि विवेचन किया जाय तो यह जान-कर विस्मय होगा कि हर नाटक में उस समय के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन की सच्ची झाँकी मिल जायेगी। भारतीय समाज अपने विकास क्रम के किस स्तर पर कब था, इसका पता भी इन नाटकों द्वारा अच्छी तरह लग जाता है।

हमने भारतीय नाट्य साहित्य के आदिकाल के सम्बन्ध में जो तथ्य यहाँ दिये हैं वे उसकी परम्परा की प्राचीनता को प्रमाणित कर देने के लिये काफी हैं। परन्तु अनुसन्धान करने वाले विद्वानों को इससे ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। वेदों से लेकर महाभारत तक और जैन तथा बौद्ध साहित्य में भी पुष्कल सामग्री है जिसकी छानबीन करके हम अपने नाट्य साहित्य की प्राचीनता के सम्बन्ध

मे पूरी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं और उसके उद्‌भव तथा विकास की प्रत्येक कड़ी को पहिचान सकते हैं।

'रगमच और रगशाला' वाले अध्याय में हम छोटा नागपूर स्थित 'सीता बेंगा' और 'जोगी मारा' गुफाओ का विवरण प्रस्तुत करेंगे। प्रायः सभी विद्वान एकमत हैं कि ईसा से प्रायः तीन सौ वर्ष पहिले यहाँ की रगशाला बनी थी और उसमें नृत्य होता था, कविता पाठ होता और नाटक खेले जाते थे। इन गुफाओ में जो शिलालेख मिलते हैं उनकी भाषा अशोक के शिलालेखों की भाषा से बिल्कुल मिलती जुलती है। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अशोक स्वय नाच रग के समर्थक नहीं रह गये थे। जीवन मे सादगी और आध्यात्मिकता अधिकाधिक मात्रा में आवे, इधर सम्राट अशोक का ध्यान अधिक था। इसलिये उनके समय में नाट्यकला को अधिक प्रश्रय न मिल सका होगा। फिर भी इसी युग में प्रेक्षागृह निर्मित हुये। उनमें से एक अब भी, बाईस सौ वर्षों के बाद भी, मौजूद है। यह तत्कालीन नाट्य साहित्य और रगमच के विकास और समृद्धि का ही प्रमाण है। इसी समृद्ध उत्तराधिकार को लेकर कालिदास और भवभूति ने नाट्य परम्परा को आगे बढाया था।

अध्याय २

संस्कृत नाटकों के स्रोत

अक्सर कहा जाता है कि हमारे अधिकतर सस्कृत नाटकों के स्रोत धार्मिक रहे हैं। पश्चिम के विद्वान अक्सर इस बात पर जोर देते हैं। परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यह आरोप सत्य न उतरेगा। यह सही है कि धार्मिक और पौराणिक कथाओं का बहुत गहरा प्रभाव भारतीयों के मस्तिष्क पर सदैव पड़ता रहा। मगर केवल इसी बात के आधार पर सस्कृत नाटकों का मूल स्रोत धार्मिक मान लेना गलत होगा। भास के 'चारुदत्त' और 'स्वप्न वासवदत्ता' नाटक, शूद्रक का 'मृच्छकटिक' नाटक, कालिदास के 'विक्रमोर्वशी' 'मालविकाग्नि मित्र' और 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटकों का आधार रूढ़िगत धार्मिक विश्वास मान लेना और उनके सामाजिक आधार को न देख पाना असगत है, उचित नहीं।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। वैसे तो इस नाटक में दुष्यन्त और शकुन्तला, एक प्रतापी सम्राट तथा वन वासिनी अप्सरा—कन्या के संयोग-वियोग-सयोग की कहानी कही गयी है। साथ ही इस जगत प्रसिद्ध नाटक मे मनोविज्ञान, स्नेह, करुणा आदि की भावनाओं का, प्राकृतिक तत्वों का, राजदरबार तथा नगर व्यवस्था आदि का, बड़ा सफल चित्रण किया गया है। परन्तु अधिक ध्यान पूर्वक पढ़ने पर तत्कालीन सामाजिक स्थिति का पूरा ज्ञान हमें इस नाटक द्वारा हो जाता है। मेनका तथा विश्वामित्र का स्नेह सम्बन्ध, कण्व ऋषि के आश्रम मे तपस्विनी की तरह रहते हुए भी मेनका की पुत्री शकुन्तला का एक सर्वथा अपरिचित अतिथि के साथ सम्बन्ध स्थापित करना, कण्व ऋषि के मन मे क्रोध न उत्पन्न होकर

करुणा उत्पन्न होना और माया मोह मुक्त होते हुए भी समाज में रहने वाले साधारण पिता की भांति शकुन्तला की विदाई के समय उनका यह कहना—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया ।
कण्ठः स्तम्भित वाष्प वृत्ति कलुषश्चिन्ताजड़ दर्शनं ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः ।
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनया विश्लेषदुखैर्नवैः ॥

'आज शकुन्तला चली जायगी, यह सोचकर दिल बैठा जा रहा है। आँसुओं को रोकने से गला इतना रुध गया है कि मुह से शब्द नहीं निकल रहे हैं और इसी चिन्ता में मेरी आँखे भी धुँधली पड गयी हैं। जब मुझ जैसे बनवासी की ऐसी दशा है तब उन बेचारे गृहस्थों को कितना कष्ट होता होगा जो पहिले पहिल अपनी कन्या को विदा करते होंगे,' तथा अपनी सखियों प्रियम्वदा आदि को साथ ले जाने की जिद करने पर शकुन्तला को कण्व का यह उत्तर, 'वत्से-इमे अपि प्रदेये। नयुक्त मनयोस्तत्रा गन्तुम्'—'बेटी ये अभी कुमारी है। इनका अभी विवाह करना है। इसलिये इनका वहाँ नगर अथवा राजदरबार मे जाना ठीक नहीं है।' और अन्त में शकुन्तला के चले जाने के उपरान्त दिल हल्का होने पर उनका फिर यह कहना—

अर्थोहि कन्यापरकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः ।
जातो ममाय विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥

'कन्या सचमुच पराया धन होती है। आज उसे पति के घर भेजकर मेरा मन वैसे ही निश्चिन्त हो गया है जैसे किसी की धरोहर लौटा दी हो'—यह सब तत्कालीन सामाजिक सत्यों के प्रति कवि कुल गुरु कालिदास की अपूर्व सजगता का ही प्रमाण है।

'अभिज्ञान शकुन्तल' के इस महान रचयिता ने शकुन्तला को सम्राट दुष्यन्त द्वारा इसी लिए अपमानित करवाया कि उसने

क्षणिक यौवनोन्माद के वशीभूत होकर आश्रम के पवित्र नियमों को तोड़ा था। शकुन्तला के इस उदाहरण से कण्व महर्षि सजग हो गए थे और उन्होंने शकुन्तला के साथ प्रियम्वदा आदि कुमारी कन्याओं को नगर और राजदरबार में जाने से रोक दिया था। जिस व्यक्ति के लिए शकुन्तला ने आश्रम के नियमों की उपेक्षा की थी उसी के द्वारा भरे दरबार में अपमानित होने पर शकुन्तला के मन की ग्लानि का अनुमान किया जा सकता है। 'अभिज्ञान शकुन्तल' के पाँचवें अंक का वह भाग जहाँ शकुन्तला अपने सम्बन्धों की याद बराबर दुष्यन्त को दिलाती है परन्तु दुष्यन्त कठोरता पूर्वक उसका निरादर करता है और उसकी बातों पर अविश्वास करता है, प्रत्येक ऐसी तरुणी के लिए चेतावनी है जो क्षणिक कामातुरता के वशीभूत होकर अपनी कुल मर्यादा को खो देने के लिए तैयार हो जाती है, क्योंकि उसे भी इस क्षणिक सुख के बाद उसी निरन्तर अपमान, आत्मग्लानि और दुख का अनुभव करना पड़ता है जो कि शकुन्तला को करना पड़ा था। शकुन्तला की ही भाँति पिता के अकस्मात मिलने के बाद अपने बेटे से भी उसके यह पूछने पर कि "अज्जुए को एसो।(ये कौन हैं मां?)" उसे भी कहना पड़ेगा "वच्छदे भाअहेआइ पुच्छेहि। (बेटा, अपने भाग्य से पूछ!)"।

शकुन्तला को जो भुगतना पड़ा वह तो एक बात हुई। स्वयं दुष्यन्त को भी पाश्चात्ताप के सागर में गोते लगाना पड़ा था। जो भी पुरुष दुष्यन्त के पथ का अनुसरण करेगा उसे अभ्यागता, स्नेहाकांक्षिणी प्रेमिका को, अपनी गर्भवती स्त्री को, अकारण अपमानित और उपेक्षित करने का फल भुगतना पड़ेगा। दुष्यन्त के समान उसे भी कहना पड़ेगा—

> वयस्य ! कथमेवमविश्रान्त दुःखमनुभवामि ?
> प्रजागरात्खिली भूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः।
> वाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि॥

'वयस्य। जानते हो, इस समय मेरे हृदय पर क्या बीत रही है? नींद न लगने के कारण मैं उससे स्वप्न में नहीं मिल सकता और सदा बहते रहने वाले ये आँसू उसे चित्र में भी नहीं देखने देते!'

'अभिज्ञान शाकुन्तल' में ऐसे स्थल यहाँ से वहाँ तक भरे पड़े हैं।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' के छठवें अंक के उस स्थल को देखिए जहाँ मछुए द्वारा प्राप्त अंगूठी पा जाने के कारण दुष्यन्त का भ्रम दूर हो जाता है और उस मछुए को चोरी के आरोप से मुक्त ही नहीं किया जाता, बल्कि राजा की ओर से उसे पुरस्कृत भी किया जाता है—

श्याल : सूअअ मुन्चेदु एसो जालोअजीवी। उववण्णो क्खु अंगुलीअअस्स आअमो (सूचक, छोड़ दो इस मछुए को। अंगूठी मिलने का ठीक पता चल गया)।

सूचक : जह आवुत्ते भणादि (जैसी स्वामी की आज्ञा)।

द्वितीय : एशे जमशदण पविशिअ पडिणिवुत्ते (अरे, यह तो यमराज के घर पहुँच कर लौट आया)।

पुरुष : (श्याल प्रणम्य) भट्ट अह कीलिशे मे आजीवे। (कहिए, मालिक, मेरा काम कैसा निकला)?

श्याल : एशो भट्टिणा अगुलीअअ मुल्लसम्मिदो पसादो विदाविदो (ले, महाराज ने इस अगूठी के मोल के बराबर धन भी तुझे दान मे दिया है)।

पुरुप : भट्टा अणुग्गहीदम्हि (बड़ी दया है आपकी, मालिक)।

सूचक : एशे णाम अनुग्गहे जे शुलादो अवदालिअ हत्थिक्खन्धे पडिट्ठाविदे (सचमुच दया तो इसी का नाम है कि सूली से उतार कर हाथी की पीठ पर बैठा दिया)।

मछुआ प्रसन्न है। वह कृतज्ञ होकर श्याल से कहता है—भट्टा-

त्तक इदो अद्धं तुम्हाणं शुमणोमुल्ल होदु (स्वामी, इसमें से आधा आप अपने पान फूल के लिए ले लें)।

जानुक: एत्तके जुज्जई (यह तो इनका पद ही है)।

श्याल . धीवर महत्तरो तुमं पिअव अस्सओ दाणिंमेसवत्तो। कादम्बरी सक्खिअ अम्हाण पठम सोहिद इच्छी अदि। ता सोण्डि आपण एव्व गच्छामो (मछुए भाई, आज से तुम हमारे बड़े प्यारे मित्र हो गये। चलो हम तुम चलें और मदिरा के आगे अपनी दोस्ती पक्की कर लें। चलो मदिरालय चला जाय)।

इस उदाहरण से कालिदास के समय के राजकर्मचारियो के कार्यों तथा व्यवहारों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। कालिदास ने अपने तीनो नाटकों और काव्य ग्रन्थों मे तत्कालीन सामाजिक जीवन के प्राय: सभी अङ्गों पर प्रकाश डाला है।

आदर्श का प्रश्न

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शकुन्तला के इस प्रकार के विवाह पर अपना विचार प्रकट करते हुए कहा है कि कालिदास स्वय इसे उचित नहीं समझते थे। इसीलिए शकुन्तला को अपने इस प्रेम सम्बन्ध को पवित्र बनाने के लिए तपस्या करनी पड़ी थी।

'मालविकाग्निमित्र' तथा 'विक्रमोर्वशी' में कालिदास ने इस विचार पर बल नहीं दिया, यद्यपि 'कुमार सम्भव' मे पार्वती की तपस्या पर ही अधिक बल दिया है। लगता है कि कालिदास की यह धारणा थी कि बिना तपस्या और साधना के भरत अथवा कार्तिकेय जैसे प्रतापी कुमारों का जन्म सम्भव नहीं था। इस बात को लेकर विद्वानो में अच्छा खासा विवाद हो चुका है। कालिदास आदर्शवादी नाटककार थे अथवा सत्यवादी, इसका अन्तिम निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। शायद उनके यहां इन दोनो धाराओ का समन्वय ही अधिक मात्रा में दिखायी देता है। साथ ही यह भी सच है कि यद्यपि कालिदास तथा संस्कृत के अन्य नाटककार सामाजिक सच्चाइयो मे

मुँह नही मोड़ते थे परन्तु तत्कालीन समाज पर स्मृतियो का प्रभाव इतना गहरा था कि वे उससे बच नहीं सकते थे। कालिदास के समय के समाज का यदि विश्लेषण किया जाय तो हम देखेंगे कि उस काल के प्रगतिशील तत्व दब से रहे थे। फलत. उनके नाटकों में गतिशालता नही स्थिरता अधिक है। साथ ही, नए आदर्शों की स्थापना और नयी मान्यताओं की सृष्टि के स्थान पर हम कालिदास के नाटकों मे प्राचीन मर्यादाओ, मान्यताओं और आदर्शों का समर्थन ही देखते हैं।

सस्कृत नाटको को सुखान्त क्यों रखा गया, इस पर भी अनेक मत हैं। उनकी दार्शनिक पृष्ठ भूमि आदर्शवादी ही थी। आज हम यह चाहते हैं कि नाटकों मे जीवन की क्रिया प्रतिक्रिया के सघर्ष की अभिव्यक्ति प्रदर्शित करें। परन्तु संस्कृत नाटककारो की दृष्टि ऐसी नहीं थी। वे आदर्शवादी दृष्टि रखते थे। ब्रह्मा ने संसार की रचना की। इस संसार के सारे नियम उपनियम स्थिर और अपरिवर्तनशील हैं। विधि का लेख मिटाया नहीं जा सकता। ब्रह्म ही सत्य है। जगत असत्य है, माया है, क्षणभगुर है, अस्थायी है। मनुष्य को इस माया मोह के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करनी है। मोक्ष, निर्वाण ही उसके जीवन का चरम लक्ष्य है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति मे सतत प्रयत्नशील रहना ही मनुष्य का एक मात्र कर्तव्य है। संस्कृत के नाटककार इसी जीवन दर्शन से प्रेरित होकर, ससारिक जीवन के प्रति ऐसा ही रुख अपनाकर, नाट्य रचना किया करते थे।

इन नाटकारो की दृष्टि मे भारतीय सस्कृति का यही मूल आधार था। इसलिए वे अपने नाटको का आतंककारी, भयोत्पादक, नत्रस्त करने वाला, निराशा उत्पन्न करने वाला और अकर्मण्य बनाने वाला अन्त नही होने थे। उनके नाटको का अंत सयोग, मिलन, हर्ष, सुख और उल्लास के साथ होता था। उनके आशावाद और विश्वासवाद की प्रेरणा यह रहती थी कि आत्मा अमर है, इस

संसार में क्षणभर विश्राम करने के बाद, वहां के सुख दुख का अनुभव करने के बाद उसे परमात्मा में जा मिलना है। इसी लिए, भारतीय संस्कृति के इस आदर्श को स्वीकार करने वाले नाटककारों ने अपने नाटकों को सुखान्त बनाया, दुखान्त नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो 'उत्तर रामचरित' नाटक जैसे करुण रस से सराबोर नाटक का अन्त भी सुखान्त न होता। 'मृच्छकटिक' तथा 'मुद्राराक्षस' जैसे नाटकों को हम इस सम्बन्ध में अपवाद के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। ये नाटक हमारे नाटक सम्बन्धी आधुनिक आदर्शों के अधिक निकट पड़ते हैं।

संस्कृत के नाटककारों ने रामायण, महाभारत, पुराण तथा बृहत् कथा आदि से अपने कथानक तथा पात्र चुने। यह चुनाव करने के बाद उन्होंने इन कथानकों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन, परिवर्द्धन किया, उन पर रंग चढाया। उन्होंने पात्रों को भी अपनी सुविधा तथा आदर्शों के अनुरूप ढाला, उनमें नए ढंग से प्राण प्रतिष्ठा की। यह सब करते समय उन्होंने गम्भीर सामाजिक चेतना और व्यापक दृष्टि का परिचय दिया। वे जानते थे कि साहित्य केवल कल्पना की कलाबाजी नहीं, उसमें जीवन की क्रूर-कोमल, कुवड-सुन्दर सच्चाइयों की अभिव्यक्ति होती है। यदि ऐसा न हो तो साहित्य समाज का दर्पण न बन सके। उसे मानव समाज के विकास क्रम का सूचक न स्वीकार किया जा सके। हम यहाँ जो कुछ कह रहे हैं मम्मट का 'काव्य प्रकाश' इसका साक्षी है।

इसीलिए संस्कृत के प्राय. सभी नाटककारों में हम एक प्रकार की ईमानदारी, सच्चाई और ताजगी पाते हैं। महाकवि कालिदास में यह गुण सबसे अधिक है। अपने इन्हीं गुणों के कारण वे केवल संस्कृत साहित्य के ही नहीं, अन्य साहित्यों के कवियों और नाटककारों से बहुत आगे बढ़ जाते हैं। उनके नाटकों के स्थायी मूल्य की यही कुंजी है।

जैसा कि हमने अभी कहा, पाश्चात्य विद्वानों ने हमारे नाटकों का मूल स्रोत धार्मिक भावना को बताया है। परन्तु उनके इस आरोप का खण्डन भारतीय विद्वानो ने किया है। उदाहरण स्वरूप उन्होंने भासकृत 'चारुदत्त' और 'स्वप्नवासवदत्ता', शूद्रक कृत 'मृच्छकटिक' तथा कालिदास कृत 'विक्रमोर्वशी', 'मालविकाग्निमित्र' तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का चर्चा किया है। इन विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि अक्सर ये नाटक धार्मिक उत्सवों पर खेले जाते थे। परन्तु यह नहीं प्रमाणित किया जा सकता कि ये नाटक केवल धार्मिक उत्सवों पर ही खेले जाते थे। सामाजिक अवसरों पर भी इनका अभिनय और प्रदर्शन अधिकतर होता था। हा, इन नाटकों का शिक्षाप्रद होना, प्रयोजनीय होना, शिष्ट और शुभ तथा सुखान्त होना आवश्यक था जिससे कि सामाजिक जीवन मगलमय भावनाओं से पूर्ण और मण्डित हो सके।

नट-नटी अथवा नट-भार्या, विदूषक आदि इन नाटको के अविभाज्य अग हुआ करते थे। नट विभिन्न नाटकों में अलग-अलग पात्रों की भूमिका किया करते थे। अक्सर नाटको में नृत्य तथा सगीत के भी अश रहा करते थे। नट चेहरे लगाते थे, वेष बदलते थे, दाढ़ी बाल लगाते थे, चेहरा रगते थे और पात्रो की सही और सच्ची अनुकृति मच पर उपस्थित कर दिया करते थे।

रगशाला मे जिस समय उत्सुक, उत्कण्ठित दर्शको की भीड़ जुटती थी, उस समय उनका मनोरजन तो होता ही था, उनके सामने राज समाज का नग्न चित्र भी उपस्थित किया जाता था, समाज की रुढ़िवादी प्रतिगामी शक्तियो की खिल्ली भी उड़ायी जाती थी, हास्य, व्यग, वक्रोक्ति का सहारा लेकर विदूषक तथा अन्य पात्र गम्भीर चोटें किया करते थे। कथोपकथन के माध्यम से तथा मुद्राओं के सहारे इन नाटकों में प्राय ऐसी बातें कह दी जाती थीं जिनका साधारणतया कहना निरापद नहीं था। इस प्रकार ये नाटक सामाजिक जीवन का

जाग्रत और परिष्कृत तो करते ही थे, वे राजा तथा प्रजा को उनके अधिकारों तथा कर्तव्यों के प्रति जाग्रत भी करते थे। वे समाज की पहरेदारी करते थे, उसकी मगल साधना मे सहायक होते थे।

समाज का चित्रण (वस्तु विषय की व्यापकता)

कालिदास के सम्पूर्ण साहित्य मे, उनके नाटकों में भी, देश की भागोलिक स्थिति, सीमाओ, पहाड़ों, दर्रों, मैदानों, नदियों, सरोवरो, ऋतुओं, पशु पक्षियों, वृक्षों, लता पुष्पों, भूभाग के विभिन्न प्रदेशों, क्षेत्रों और अचलों का विस्तृत और रोचक वर्णन है। उन्होंने राज्य और शासको, राजनीति, राजकीय जीवन, राज्य शास्त्र, आन्तरिक तथा परराष्ट्रनीति, सामन्तों से सम्बन्ध, राज्य के अधिकारियों और कर्मचारियों के अधिकारो तथा कर्त्तव्यों का विशद वर्णन किया है। सामाजिक जीवन का कोई भी अंग कालिदास की पैनी दृष्टि से बचा नहीं है। उन्होने समाज के विभिन्न स्तरो, जातियो, पेशों, आश्रमो, विवाह के विभिन्न रूपों, शृगारों, स्त्रियो, विधवाओ, सती प्रथा, पर्दा प्रथा, पुरुषों की स्थिति, भोजन सामग्री, चीनी, मिठाई, अन्न तथा मांस के भोज्य पदार्थ, मदिरा, स्त्री पुरुषों के वस्त्रों, केशविन्यास, लेप, तेल, दर्पण, आभूषण, घर की आवश्यक वस्तुओं, बरतना, सोने बैठने के सामानों, मनोरञ्जन के साधनों आदि का विवरण सहित वर्णन किया है। सामाजिक तथा पारिवारिक सम्बन्धों, अतिथि सत्कार, नैतिकता आदि पर भी कालिदास ने अपने विचार प्रकट किए हैं। काव्य, नाटक, सगीत, नृत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, स्थापत्यकला का सम्यक परिचय हमें कालिदास के साहित्य मे मिलता है। इनके अतिरिक्त तत्कालीन आर्थिक जीवन (देश की साधारण समृद्धि, राष्ट्रीय धन, कृषि, खनिज पदार्थों, जगलो, व्यापार, वाणिज्य, आयात निर्यात, सिक्कों, कोषों, बैंको, आबादी आदि), शिक्षा की स्थिति (शिक्षा के विषय, विद्यारम्भ, विद्यार्थी और शिक्षक, गुरु दक्षिणा, सगीत तथा चित्रकला के शिक्षालय, छात्रों का जीवन, शिक्षा की अवधि, शुल्क तथा साहित्य रचना आदि),

जीवन दर्शन (सांख्य, वेदांत, मीमांसा, वैशेशिक, न्याय, योग तथा बौद्ध और जैन जीवन दर्शन आदि) और धर्म (दृष्टि और विचार, पौराणिक देवी देवताओं की पूजा, पशुओं और सरिताओं की वन्दना, पार्वती, उमा, काली शची, गंगा, यमुना, सरस्वती, लक्ष्मी, ऋषि मुनि, राम, शिव त्रिविक्रम, इन्द्र, वरुण, विष्णु, नारायण, भगवान, महावाराह, वासुदेव, कृष्ण, पाशुपत धर्म, त्रिमूर्ति, मूर्ति पूजा, एकेश्वरवाद, बहुदेव-वाद, प्रकृति पूजा आदि) पर ही नहीं चूड़ा कर्म, उपनयन संस्कार, गोदान, विवाह, यज्ञ, दक्षिणा, पुरोहित, पूजा, बलि, अनुष्ठान, व्रत, धार्मिक उत्सवों, ऋतु उत्सवों, यात्राओं, रूढ़ियों और अंधविश्वासों, मुक्ति तथा मोक्ष, आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, मृत्यु आदि पर भी कालिदास के विचार हम उनका साहित्य पढ़कर जान सकते हैं।

कालिदास संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ नाटककार और कवि माने जाते हैं। इसीलिए हमने यहाँ उन्हीं के साहित्य का चर्चा किया और उनके सर्वश्रेष्ठ नाटक मे कुछ उद्धरण देकर यह बताने की चेष्टा की कि संस्कृत के नाटककार सामाजिक जीवन से अलग रहकर केवल कोरे धार्मिक स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण कर नाट्य रचना नहीं करते थे।

पश्चिम के विद्वानों ने उपर्युक्त आरोप लगाकर यह प्रमाणित करने की कोशिश की है कि संस्कृत के नाटककार लोक जीवन की ओर से उदासीन रहा करते थे। पर कालिदास ही नहीं, किसी भी संस्कृत के नाटककार की कृतियों का हम अध्ययन करें तो हमें इन विदेशी विद्वानों के आरोप का खोखलापन सरलतापूर्वक दिख जाएगा। असल बात यह है कि सदैव से ही हमारे देश की जनता धर्म प्राण रही है। लौकिक जीवन व्यतीत करते हुए भी उसकी आँखें सदैव पारलौकिक जीवन की ओर लगी रही हैं। जनसाधारण के साथ शासक श्रेणी का भी यही हाल रहा है। हमारे संस्कृत के नाटककारों ने शासक श्रेणी के प्रतिनिधियों-राजाओं, रानियों, राजकुमारों और राजकुमारियों के जीवन वृत्त को आधार मानकर अपने नाटक

लिखे। इन नाटकों में स्वभावतः प्रधानता भी इन्हीं लोगों को मिली। परन्तु इनके साथ ही, इन नाटको मे पूरे समाज का जीवन किसी न किसी रूप में चित्रित हुआ। प्रेरणा का मूल स्रोत धार्मिक विश्वास नहीं, जन समाज और शासक समाज का जीवन ही था। यथावसर उस पर धार्मिक विश्वासों का मुलम्मा चढाया गया। यह बिल्कुल स्वाभाविक था। समाज के विकास क्रम की दृष्टि से, सामाजिक मूल्यों की रक्षा की दृष्टि से, आध्यात्मिकता की ओर झुका रहना सर्वथा स्वाभाविक, समुचित और समीचीन था।

स्वय भरत ने लोकधर्मी और नाट्यधर्मी शब्दो का प्रयोग करके सत्यवादी और आदर्शवादी नाटकों में भेद किया है। जीवन जैसा है उसे उसी रूप में चित्रित करना, उसे उसी रूप में, उसकी सारी कुघड़ताओं और सौंदर्य के साथ, रगमच पर उतार देना लोकधर्मी नाटकों का काम था। नाटक का अर्थ ही है जीवन को रगमच पर प्रस्तुत करना। रगमच पर बोला गया प्रत्येक शब्द, अभिनेता की प्रत्येक भगिमा और कार्य, उसका प्रत्येक वस्त्र, प्रत्येक आभूषण सब कुछ वैसा ही होना चाहिये जैसा समाज मे पाया जाता है। जब यह होगा तभी नाटककार सच्चे जीवन को रगमंच पर उतार सकने में सफल होगा। ऐसे नाटको को लोकधर्मी कहा गया।

जब सत्य के साथ कल्पना का प्रयोग किया जाय, केवल स्थूल सत्य को नहीं काल्पनिक सत्य को भी अभिव्यक्त किया जाय, तो नाटक का रूप बदल जाता है। इस प्रकार के नाटको में वार्तालाप, कथोपकथन, सगीत, नृत्य, भावाभिव्यक्ति, भंगिमा आदि सभी भिन्न प्रकार की हो जायेगी। इस प्रकार सामाजिक वस्तु स्थिति का आदर्शवादी रूप सामने आयेगा। दर्शक भी ऐसे नाट्याभिनय को देखकर कल्पना लोक मे पहुँच जायेंगे। ऐसे नाटको को, ऐसे अभिनयों को 'नाट्य धर्मी' कोटि में रखा जायेगा।

इस प्रकार हमारे यहाँ नाटको में जीवन के दोनो रूपों को

अभिव्यक्त करने की कोशिश की गयी। नाटककार जीवन को बौद्धिक दृष्टि से देखकर, उसका अनुभव करने के बाद, अपनी नाट्यकला का प्रयोग करके नाट्य रचना करता था। उसका आदर्श था जनता का, दर्शकों का मनोरंजन करना, उसे सोचने विचारने के लिये मजबूर करना, उसे चमत्कृत करना, उसके हृदय को आन्दोलित करना और उसे जीवन को उसके सारे खण्डों और विभिन्न रूपों में दिखलाना। भरत ने इस सम्बन्ध में विवरण सहित निर्देश दिये। भट्ट लोल्लट, श्री शाकुक, भट्ट नायक, अभिनव गुप्त आदि ने इन विषयों पर अपने अपने ढंग से प्रकाश डाला। इन आचार्यों ने जो कुछ कहा, जो सिद्धान्त निश्चित किये उनका पालन भी संस्कृत नाटकों में हुआ। इस प्रकार नाट्यकला तथा साहित्य के सम्बन्ध में पूर्णतया वैज्ञानिक दृष्टि कोण का विकास हुआ। साथ ही उन नाटककारों ने सामाजिक विचारधाराओं को अपना कर अपने नाटकों को समस्या मूलक तथा आदर्शवादी बनाया। जीवन से उनका घनिष्ट सम्बन्ध बना रहा और तत्कालीन सामाजिक जीवन को अभिव्यक्त तथा प्रभावित करने में सफल भी हुए।

यही कारण है कि इन नाटकों के, सबसे सजीव, प्रभावपूर्ण और आकर्षक तथा प्रेरणादायी स्थल वे नहीं हैं जहाँ धार्मिक चर्चा है, बल्कि ऐसे स्थल वे हैं जहाँ मानव मनोविज्ञान का सर्वोत्कृष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, जहाँ समाज के विभिन्न स्तरों का नंगा रूप पेश किया गया है, जहाँ स्नेह, प्रेम, कर्तव्य, अधिकार, उत्तरदायित्व आदि में प्रसूत भावनाओं का संघर्ष उपस्थित किया गया है। इन्हीं स्थलों पर इन महान नाटककारों ने अपने चमत्कार का, अपनी कला का सबसे सुन्दर परिचय दिया है।

अध्याय ३

संस्कृत नाट्य परम्परा

हमने अन्यत्र ऋगवेद में आए पुरुवा—उर्वशी, यम—यमी, इन्द्र—इन्द्राणी आदि के परस्पर सवादों और कथोपकथन का चर्चा किया है। सस्कृत साहित्य के अनेक प्रसिद्ध विद्वानो ने इस बात पर विशेष ध्यान दिया है और इसे ही आगामी नाट्य साहित्य के उदय और विकास का मूल स्रोत माना है। परन्तु विभिन्न विद्वानो मे इसकी रूपरेखा के विवरण के सम्बन्ध मे मतभेद है। डाक्टर दशरथ ओझा ने भी अपनी पुस्तक 'हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास' के २२, २३, २४ पृष्ठो पर एक कथा का उद्धरण दिया है। यह कथा कात्यायन श्रौत सूत्र मे है। यह एक लघु अभिनय का उदाहरण है जिसमे नाटकीयता के गुण स्पष्ट हैं। 'सोमयाग नामक यज्ञ क्रिया की योजना सोम रसिक आत्मवादी इन्द्र के अनुयायी करते थे। सोम के बेचने वाले वन-वासियो के साथ यजमान सोम विक्रेता और अध्वर्यु का सवाद अभिनय का सूचक प्रतीत होता है।

"सोमविक्रयी—सोम राजा बेचोगे ?"

"बिकेगा।"

"तो लिया जाएगा।"

"ले लो।"

"गौ की एक कला से उसे लूँगा।"

"सोम राजा इससे अधिक मूल्य के योग्य है।"

"गौ भी कम महिमा वाली नही है। इसमे मट्ठा, दूध, घी, सब हैं।"

"नही।"

"अच्छा आठवाँ भाग ले लो।"

"नहीं, सोम राजा अधिक मूल्यवान हैं।"

'तो चौथाई ले लो।"

"नहीं, और मूल्य चाहिये।"

'अच्छा आधी ले लो।'

"अधिक मूल्य चाहिये।"

"अच्छा पूरी गाय ले लो भाई।"

"तब सोम राजा बिक गये। परन्तु और क्या दोगे? सोम का मूल्य समझकर और कुछ दो।"

"स्वर्ण लो, कपड़े लो, गाय के जोड़े, बछड़े वाली गौ, जो चाहो सब दिया जायगा।"

(यह माना मूल्य से अधिक चाहने वाले को भुलवा देने के लिए अन्तर्गत कहता है।)

'परन्तु जब सोम विक्रेता अपना सोम बेचने को प्रस्तुत हो जाता, तब स्वर्ण दिखाकर उसके हृदय में तृष्णा उत्पन्न करके उसे निराश किया जाता। इस अभिनय का प्रदर्शन किंचित काल तक चलता रहा। "समेत इति सोमविक्रयिण हिरण्येनाभिकम्पयति।" "हिरण्य दत्वा न्याकुर्वतन्त निराश कुर्यात्" का उद्धरण सूत्र की टीका में मिलता है। इस प्रकार सोमक्रयकर्ता सोमविक्रेता को छकाकर स्वर्ण यजमान को सौंप देता और सोम का मूल्य उसे एक बकरी दी जाती। अनुमानत उसे स्वर्ण भी दे ही दिया जाता। तदुपरान्त विक्रेता यजमान के कपड़े पर सोम डाल देता। सोम का स्पर्श हो जाने पर यजमान जप करने लगता। ऐसा प्रतीत होता कि सोम के स्पर्श से उसका कोई अभिप्राय ही न हो। सहसा परिवर्तन होता। 'तत्पूर्व सहसा ... छिन्नपुष्पया वस्त्राकाडेना हन्तिवा।' सोम विक्रेता से स्वर्ण छीनकर उस पर काँड से प्रहार किया जाता और वह भाग जाता। तत्पश्चात सोम राजा को गाड़ी में बिठाकर उसकी

क्रमा कराई जाती। तदुपरान्त इन्द्र का आह्वान किया जाता। जो नरस के रसिक, आनन्द तथा उल्लास के रूप माने जाते थे।'

डाक्टर विन्टर नीज, प्रो० मेक्स मूलर, प्रो० लूडर्स, डाक्टर वेरेंडेल थ, प्रो० सलवन लेवी, प्रो० एच० ओल्डेन वर्ग, डाक्टर दास आदि विद्वानो ने किसी न किसी रूप मे इसे और इस प्रकार के न्य कथोपकथनो को हमारे नाट्य साहित्य के आदि काल की मिका अथवा प्राथमिक स्वरूप स्वीकार किया है।

हमारे यहा नाटकों के लिखने और खेलने की परम्परा सम्भवत श्व में सबसे पुरानी है। वैसे सगीतमय जलूसों और यात्रा नाटकों प्रकार के कुछ अभिनयों के प्रमाण युनान, रोम और मेसोपोटा-या के इतिहास मे भी मिलते हैं, परन्तु नाट्य अभिनय का जो रूप हमारे यहां मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। वेदों वाद विवाद और कथोपकथन का एक रूप यहां प्रस्तुत किया गया। से अनेक स्थल मिलते हैं। शुक्ल यजुर्वेद मे तो शैलूष जाति के न लोगो का चर्चा भी मिलता है जो व्यावसायिक दृष्टि से अभिनय रते थे।

> नृत्ताय सूत गीताय शैलूष धर्माय सभाचरंनरिष्ठायै
> भीमलं नर्माय रेभं हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीषखं प्रमदे
> कुमारी पुत्रं मैधाये रथकारं धैर्याय तक्षाणम्।
>
> (यजुर्वेद संहिता, अध्याय ३०, मंत्र ६)

इस मन्त्र का अर्थ है, "नृत्य (ताल लय आदि के साथ नाचने) लिए सूत को, गीत के लिए शैलूष (नट) को, धर्मव्यवस्था के लिए सभाचतुर को, सबको विधिवत् बिठाने के लिए तगडे तरुणों को, हास्य विनोद के लिए विनोद शीलों को, शृंगार सम्बन्धी रचना लिए कलाकारों को, समय बिताने के लिए कुमार पुत्र को, चातुर्य-पूर्ण कार्यों के निमित्त रथकारो को, धीरज युक्त कार्य के लिए बढई को नियुक्त करना चाहिए।" इस मन्त्र को ध्यान मे पढने पर पता चलता

नाटक और नट आदि का वर्णन आता है। अयोध्याकाड के ६६ वें सर्ग मे वर्णन आता है कि राम के वनवास और दशरथ की मृत्यु के समय भरत जी अपने ननिहाल में हैं। वह बहुत उदास हैं और किसी अनजानी दुर्घटना से चिन्तित और उद्विग्न हैं। वह दुस्स्वप्न देखते हैं। उनके मित्र उनको प्रसन्न करने के लिए गीत, नृत्य, नाटकों आदि का आयोजन करते हैं। यथा—

वादयन्ति तदा शान्ति लासयन्त्यपि चापरे।
नाटकान्यपरे स्माहर्हास्यानि विविधानि च॥

दशरथ के देहावसान के बाद भरत ने ऋषियों और गुरु वशिष्ठ की ओर देखा। वे जानना चाहते थे कि अब राज्य व्यवस्था के सम्बन्ध मे क्या होगा? उसी समय अराजकता की बुराई बताते हुए वहाँ ऋषियो ने कहा—

नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तका।
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्द्धन्ते राष्ट्रवर्द्धना.॥

(अयोध्या काण्ड, सप्तषष्टितम. सर्ग)

'अराजकता फैलने पर नटों और नर्तकों को आनन्द नहीं रहता। उत्सव-समाज भी जिससे देश की उन्नति होती है असम्भव हो जाते हैं।'

बाल काण्ड के पाचवे सर्ग मे अयोध्या के वर्णन मे 'वधूनाटकसंघैश्च सयुक्ता सर्वत पुरीम्' भी आता है, जो इस बात का प्रमाण है कि अयोध्या मे महिलाओं और अभिनेताओं के अपने अपने नाटक संघ और नाटक घर थे। यह भी वर्णन आता है कि राम ने व्यामिश्रक अथवा मिश्रित भाषा (सस्कृत तथा प्राकृत?) मे लिखा नाटक देखा। यथा—

धर्म्यं शास्त्रसमूहेषु प्राप्तो व्यामिश्रकेषु च।

(अयोध्या काण्ड, सर्ग १)

कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो इस अर्थ से सहमत नहीं हैं।

बालकाण्ड के तेरहवें सर्ग में, दशरथ द्वारा पुत्र प्राप्ति के लिए अश्वमेध यज्ञ की तैयारी का वर्णन आता है। उसी स्थल पर एक श्लोक है—

कर्मान्तिकान्शिल्पकारान्वर्धकीन्खनकानपि ।
गणकान्शिल्पिनश्चैव तथैव नट नर्तकान् ॥

इसी प्रकार राम के राज्याभिषेक के समय एक स्थल पर है—

नट नर्तक संघानां गायकानां चा गायताम् ।
यतः कर्णं सुखावाच' सुश्राव जनता ततः ॥

इस श्लोक से यह पता चलता है कि ऐसा आयोजन होता था जिसमे नर्तकी नट आदि अभिनय करते थे, नाचते गाते थे। ये गाने कानों को अच्छे लगते थे, सुख देते थे। इन कार्यक्रमों को जनता देखती थी। वह इनको देखकर आनन्दित होती थी। इस श्लोक से यह अनुमान सरलता पूर्वक किया जा सकता है कि उस समय अयोध्या में नाटक करने वाली मण्डलिया विद्यमान थीं और वे अत्यन्त लोकप्रिय थीं। केवल जन समाज मे ही नहीं, राज समाज मे भी उनका बड़ा आदर था।

श्री वाल्मीकि रामायण का पाठ जनता में सदा होता आया है। उस समय भी इस महाकाव्य की लोकप्रियता अत्यधिक थी। इसलिए रामायण में वर्णित नाट्य संस्थाओ अथवा कलाकारों और अभिनयो मे जनता का प्रभावित होना स्वाभाविक है। यह सही है कि रामायण मे किसी नाटक का पूर्ण वर्णन नहीं मिलता। परन्तु उनके सम्बन्ध में चर्चायें तो मिलती ही हैं। रामायण के अन्त मे वाल्मीकि द्वारा लव कुश को रामायण की शिक्षा देने और लव कुश द्वारा रामचन्द्र के सामने उसका पाठ करने का वर्णन आता है। बालकाण्ड मे भी इसका चर्चा आता है। 'कुशीलव' का अर्थ अभिनेता होता है। अनेक विद्वान् 'कुशीलव' और लवकुश को पर्याय मानते हैं। डाक्टर कीथ भी संस्कृत नाटकों पर रामायण के प्रभाव को स्वी-

कार करते हैं। रामायण की रचना ईसा से पाच सौ वर्ष पहले हो चुकी थी—यह तो सभी मानते हैं। ऐसे भी अनेक विद्वान हैं जिनके अनुसार रामायण की रचना ईसा से हजारों वर्ष पूर्व हुई थी।

महाभारत में विराट पर्व में एक विशाल रंगमंच का वर्णन मिलता है। जब पाण्डव गुप्त रूप से विराट के दरबार में रहते थे, उस समय अर्जुन ने बृहण्णला बनकर राजकुमारी उत्तरा को गीत, नृत्य, वाद्य की शिक्षा दी थी। अर्जुन को इन कलाओं की शिक्षा, इन्द्र के संकेत पर गन्धर्व चित्रसेन ने दी थी। जब उत्तरा और अभिमन्यु का विवाह हुआ तो नटों, वैतालिकों, सूतों और मागधों ने उत्सव में एकत्र अतिथियों का मनोरंजन किया था।

वनपर्व में युधिष्ठिर ने धर्म द्वारा पूछने पर कहा था कि वह सुयश के लिए कलाकारों, अभिनेताओं और नर्तकों को आर्थिक सहायता दिया करते थे। उद्योग पर्व में जब श्री कृष्ण युधिष्ठिर के प्रतिनिधि बनकर दुर्योधन के पास गये तो दुर्योधन ने उनके स्वागत के लिए स्थान-स्थान पर मनोरंजक कार्यक्रम कराए। इसी प्रकार प्रद्युम्न विवाह के अवसर पर नट मण्डली के नगर में बुलाए जाने और उस मण्डली द्वारा नाटक के अभिनीत होने का चर्चा आता है। इस उत्सव में अनेक प्रकार के बाजे बजे थे। उसी समय 'गंगावतरण' की कथा का अभिनय हुआ था। यह कथा देवगान्धार राग में प्रस्तुत की गयी थी। इसके बाद दूसरा नाटक अभिनीत हुआ। इसका नाम 'कुबेर-रम्भाभिसार' नाटक था। इस नाटक में किस व्यक्ति ने कौन सी भूमिका की, इसका भी विवरण मिल जाता है। यह हम जान लेते हैं कि शूर, साम्ब तथा मनोवती ने कितना अच्छा अभिनय किया और किस प्रकार अपनी कला दक्षता से सबको मोहित कर दिया। इसमें शूर ने रावण का पार्ट किया, साम्ब ने विदूषक का और मनोवती ने रम्भा का। [illegible]या ने इस अभिनय से प्रसन्न होकर

धन की वर्षा की और उनकी स्त्रियों ने अपने आभूषण उतार कर कुशल नटों और नर्तकों को दिए।

भागवत पुराण में (स्कन्द १, अध्याय ११, श्लोक २१) कलाकारों का चर्चा आता है। जिस समय श्रीकृष्ण विजयी होकर द्वारिका में पहुँचे उस समय उनका स्वागत वसुदेव और दूसरे नागरिकों ने किया था। इसी स्थल का एक श्लोक है—

नटनर्तकगान्धर्वा· सूतमागध वन्दिनः।
गायन्ति चोत्तमः श्लोक चरितान्यद्भुतानि च ॥

डाक्टर कीथ के अनुसार 'नट' का यहाँ अर्थ मौन अभिनेता का है। परन्तु प्रसिद्ध भाष्यकार श्रीधरस्वामिन् ने कहा है कि यहाँ नट 'नवरसाभिनयाचतुर' है। श्रीधर स्वामिन् के अनुसार वह नव रसों के अभिनय और प्रदर्शन में पूर्णतया पटु कलाकार था।

अन्य पुराणों में भी हमें नाटकों के प्रमाण मिलते हैं। हरिवंश के अनुसार वज्रनाभ की पुत्री प्रभावती को चुराने से सम्बन्धित नाटक में श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न अन्य यादवों के साथ नायक बने थे। मार्कण्डेय पुराण में सम्राट शत्रुजित के पुत्र ऋतध्वज उपनाम कुवलयाश्व के 'नाटकाभिनय प्रेमी' होने का वर्णन आता है। वह अपना समय कविता लिखने, सगीत सीखने, नाटक लिखने और खेलने में व्यतीत किया करता था। श्री मार्कण्डेय पुराण के बीसवें अध्याय में एक श्लोक है—

कदाचित् काव्यसंलाप गीत नाटक सम्भवै·।
रेमे नरेन्द्र पुत्रोऽसो नरेन्द्रतनयै· सह ॥

यह श्लोक उस समय नाटकों के अभिनीत होने का प्रमाण है।

इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि भगवान महावीर भी एक बार नाटक देखकर प्रसन्न हुए थे। भगवान महावीर के सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है। एक बार पर्यटन करते करते भगवान महावीर आमल कप्पा नगरी पहुंचे। वहाँ पहुँचकर वह अम्बसाल वन में एक

अशोक वृक्ष की छाया में एक शिला पर विराजमान हुए। भगवान महावीर उस शिला पर बैठे ही थे कि उसी समय आकाश मार्ग से श्री सूर्याभदेव धरती पर उतरे और भगवान महावीर के सामने आए। उस समय उन्होंने भगवान महावीर का अभिनन्दन किया। अभिनन्दन में बाजे बजे, संगीत का कार्यक्रम हुआ और सूर्याभदेव ने एक नाटक भी अभिनीत किया। सूर्याभदेव अभिनय कला में अत्यन्त कुशल थे और उन्होंने अपनी कला से सहज ही भगवान महावीर की प्रसन्नता अर्जित कर ली। इस कथा से यह प्रमाणित होता है कि भगवान महावीर के समय में नाटकों का अभिनय होता था और समाज में उनकी इतनी अधिक प्रतिष्ठा थी कि भगवान महावीर जैसे देवपुरुष भी उन्हें देखने में कोई हर्ज नहीं समझते थे, बल्कि अच्छे अभिनय पर प्रसन्नता प्रकट करते थे।

बौद्धकाल में हमारे नाटक अच्छी तरह विकसित हो चुके थे। बौद्ध धर्म किसी भी प्रकार विदेशी न था। वह यहीं की मिट्टी में उपजा और फला फूला था। इसलिए उसका अत्यत घनिष्ट सबन्ध हिन्दू धर्म से था। हिन्दू तो भगवान बुद्ध को दशम अवतार मानते ही आए हैं। यद्यपि आदि कालीन बौद्ध भिक्षु अपने नियम और आचार में कट्टर थे परन्तु वे नाटकों और अभिनयों के विरोधी नहीं थे। इसलिए नाट्य साहित्य तथा अभिनय कला को बौद्ध साहित्य में काफी स्थान मिला। प्राचीनतम बौद्ध साहित्य में भी नाटकों का अभिनय देखना साधारण बात मानी जाती थी। 'ललित विस्तर' में यह वर्णन आया है कि [illegible] राजगृह में थे उस समय मौद्गलायन तथा उपतिस्य ने अपने नाटकीय कौशल का परिचय अनेक नाटकों में दिया।

[illegible] ने अपने दो नाग सम्राट अभ्यागतों के मनोरंजन के [illegible] नाटक [illegible] था। कथा मिलती है कि स्वयं गौतम बुद्ध की उपस्थिति में एक नाटक राजगृह में खेला गया था। उस समय [illegible] नाम की एक अतीव आकर्षक अभिनेत्री थी। उसने कुछ

बौद्ध भिक्षुओं को धर्म से विरत कर दिया। कथा है कि इसके फल-स्वरूप वह संघ के क्रोध का भाजन बनी। फिर उसने पाश्चात्ताप और प्रायश्चित्त किया। बुद्ध ने उसे क्षमा कर दिया। वह भिक्षुणी बन गया।

जातक कथाओं में भी, जिन्हें दूसरी तीसरी शती ईसा पूर्व का माना जाता है, 'नट' तथा 'नाटक' के अगणित वर्णन मिलते हैं। कुस जातक में एक वाक्य आता है—"दत्व नाटकानि उपत्थ पेस्सामभद्दे पुत्तस्स ते रज्जम ला।" (महोदया ! आपके पुत्र के राज्य गद्दी प्राप्त करने के उपलक्ष्य मे हम लोग नाट्योत्सव करेंगे)। उदय जातक मे एक वाक्य आता है—"राजा पुत्त अभिशिंचित्व नाटकानि पशुपत्थ पेस्साम" (राजा ने अपने बेटे को अभिषिक्त करके राजा बनाने तथा उसके आनन्द के लिए नाटकों के अभिनय की व्यवस्था करने की इच्छा प्रकट की)। यहाँ 'नाटकानि' का अर्थ नाटकों और उनके अभिनयों से है। एक अन्य जातक में एक वाक्य आता है जिसका अर्थ है कि—"नाग लोग भीड़ को दो कारण से देखते हैं, एक तो इस कारण से कि वह निकट है और दूसरे इसलिए कि उसमें कलाकार हैं अथवा नहीं।" दूसरा वाक्य है, "जो चार लोग लाभ मे रहते हैं उनमे से एक वह है जो अभिनेताओं का कौशल जानता है।"

कणवीर जातक मे नाट्योत्सव का एक वर्णन आता है जिसमे बुद्ध के पूर्व जीवन की कथा कही गयी है। उसमें 'नट', 'समाज', 'समाज मण्डली' आदि शब्द स्पष्ट होकर सामने आते हैं। एक कथा है कि जिस समय काशी में ब्रह्मदत्त नाम का राजा राज करता था उस समय बोधिसत्त्व नामक का एक कुख्यात डाकू था। लोगों को उसकी लूट मार से बचाने के लिए राजा ने आज्ञा दी कि उसकी गर्दन काट ली जाय। राजा के दरबार मे श्यामा नाम की एक दरबारी स्त्री रहती थी। वह अपनी कला मे कुशल तथा पारङ्गत थी और दरबार

में आने के लिए एक सहस्त्र मुद्रा लेती थी। राजा उसको प्यार करते थे। इस लिए उसके प्रभाव में भी थे। श्यामा ने एक सहस्त्र मुद्रा लेकर अपने एक धनाढ्य और सुन्दर प्रेमी को राज्यपाल के पास भेजा कि वह उस डाकू को छोड दें। श्यामा उस डाकू से स्नेह करने लगी थी। डाकू तो श्यामा के पास भेज दिया गया मगर वह तरुण मार डाला गया। श्यामा ने अपना पेशा छोड दिया और रात दिन उसी डाकू के साथ रहने लगी। डाकू ने कुछ दिनों बाद श्यामा को छोड दिया क्योंकि उसे भय था कि जैसा श्यामा के पूर्व प्रेमी के साथ हुआ कहीं उसकी भी वही गति न हो। श्यामा अपने प्रेमी के लिए पागल हो उठी। उसने कुछ कलाकारों-अभिनेताओं को बुलाया और उनमें से हरएक को एक एक सहस्त्र मुद्रा दिया। यह पूछने पर कि उनको क्या करना होगा, श्यामा ने कहा, "कौन सा वह स्थान है जहां तुम लोग नहीं पहुँच सकते? हर गांव में, हर नगर में जाओ। वहां सभा में या मच के आस पास लोगों को एकत्र करो और गाकर कहो—'श्यामा अब भी जीवित है और केवल तुम्हारे लिए जीवित है, वह तुम्हें प्यार करती है और केवल तुम्हें प्यार करती है।"

बोधिसत्त वापिस नहीं आया। श्यामा फिर अपना पेशा करने को विवश हो गयी। इस वर्णन में 'नट', 'समाज', 'समाज मण्डल' आदि शब्द आए हैं। 'नट' का अर्थ अभिनेता 'समाज' का अर्थ नाटक का अभिनय और 'समाज मण्डल' का अर्थ रंगमंच है। नाट्य अभिनय के अर्थ में 'समाज' शब्द का प्रयोग बौद्ध साहित्य में अनेक स्थलों पर हुआ है।

गिरिनार पहाड़ी के प्रथम शिला लेख में कुछ पंक्तियां हैं—

'न च समाजो कटव्यो वहुकम् हि दोषम्
समाजमहि पशति देवानां प्रियो प्रियदर्शिराजा
अस्ति पितु एकचसमाजा साधुमता देवानां पियस।

डाक्टर भण्डारकर ने सप्रमाण बताया है कि यहाँ समाज का

अर्थ आम सहभोज है जिसमें मांस खाया जाता था। यह समाज सम्राट अशोक को अच्छा नहीं लगता था। परन्तु जहाँ समाज का अर्थ रंग, प्रेक्षागृह आदि था, जिसमें बहुत से लोग एकत्र होते थे, जहाँ अभिनेता, नर्तक, वादक सबका मनोरंजन करते थे अथवा जिस समाज का अर्थ संघ था अथवा नाट्याभिनय था उसे सम्राट अशोक 'साधुमत' समझते थे, पसन्द करते थे।

'सीताबेंगा' गुफा में जो प्रेक्षागृह मिला है वह अशोक के समय का ही है। इसी प्रकार गिरिनार के शिला लेख मे भी 'समाज' शब्द नाट्याभिनय के ही अर्थ में आया है। सुवर्णाक्षी पुत्र अश्वघोष-कृत 'सारिपुत्त प्रकरण' में मौद्गलायन और सारि पुत्त को बुद्ध द्वारा प्रव्रज्या दिये जाने की कथा है। ग्रन्थ के अन्त में बुद्ध और सारिपुत्त के बीच दार्शनिक विषयों पर बातचीत होती है।

यह नाटक अत्यन्त लोक प्रिय था और मध्य एशिया में भी खेला जाता था। स्वयं अश्वघोष अच्छे संगीतज्ञ और अभिनेता थे और वह अपनी रचनाओं का पाठ और अभिनय अपनी मण्डली के साथ घूम घूमकर किया करते थे।

इस नाटक के जो अश प्राप्त हुए है उनसे यह पता चलता है कि किस प्रकार प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व तक नाटक उन्नति की शिखर पर पहुँच चुका था। अधिकतर लोग अश्वघोष को इसी काल का मानते हैं। यह नाटक नौ अकों में विभाजित है और पूर्ण नाटक है। इससे यह भी अनुमान होता है कि नाट्य शास्त्र के पहिले और बाद में अनेक नाटक रचे जा चुके थे। तभी भरत के लिए इतने सुन्दर और पूर्ण 'नाट्य शास्त्र' की रचना करना सम्भव हो सका।

विनयपिटक के चुल्लवग्ग में एक कथा है। अश्वजित और पुनर्वसु नाम के दो भिक्षु थे। एक बार वे कीटागिरि की रंगशाला में किसी नाटक का अभिनय देखने गए। अभिनय के बाद उन्होंने एक नर्तकी से बात चीत की। इस घटना की सूचना विहार के महास्थविर

के पास पहुँची। महास्थविर को यह अच्छा न लगा कि बौद्ध भिक्षु होकर अश्वजित् और पुनर्वसु ने अभिनय देखा और बाद में नृत्य करने वाली नर्तकी से घुल मिल कर बातें की। इनका यह शील विरुद्ध आचरण विहार के नियमों के प्रतिकूल था। इसलिए उन्होंने उन दोनों भिक्षुओं को अपने विहार से निकाल दिया। इस घटना से तत्कालीन नाट्याभिनयों और नृत्यों आदि की लोकप्रियता का अनुमान हो सकता है। इसमें रंगशाला और मंच पर हुए अभिनयों का परिचय भी मिलता है।

कौटिल्य के अर्थ शास्त्र से भी उस समय के नटों, नर्तकों, गायकों, वादकों, कथाकारों, कुशीलवों (नृत्य के साथ गाने वालों), प्लवकों (रस्सी के खेल दिखाने वालों), शौभिकों, चारणों आदि की स्थिति का प्रमाण मिलता है। यह भी कहा गया है कि इन कलाकारों की मण्डलियों को अभिनय प्रस्तुत करने पर राजकर भी नियमित रूप से देना पड़ता था। बाहर से आने वाली मण्डली को राजा को प्रति खेल पाँच पण देना पड़ता था। यह भी सर्वविदित है कि उस समय नटों की शिक्षा का प्रबन्ध था और सभी ललित कलाओं को राज्य की ओर से प्रोत्साहन मिलता था। कौटिल्य अर्थ शास्त्र का निर्देश है—

"गीतवाद्यपाठ्यवृत्तनाट्याक्षरचित्रवीणावेणु मृदंग परचित्त ज्ञान गन्धमाल्यसंयूहन-सम्पादन-संवाहन वैशिकक्लाज्ञानानि गणिका, दासी रंगोपजीविनीश्च ग्राहयताराजमंडलादाजीवं कुर्यात्।"

अर्थात् "गणिका, दासी और अभिनय करने वाली नटियों को गाना, बजाना, अभिनय करना, लिखना तथा चित्रकारी करना, वीणा, वेणु तथा मृदंग बजाना, दूसरे की मनोवृत्ति को समझना, गन्ध निर्माण करना, माला गूथना, पैर आदि अंगों को दबाना, शरीर का शृंगार करना तथा चौसठ कलाओं को सिखाना—यह आचार्यों का कर्तव्य है और इन आचार्यों का प्रबन्ध राज्य की ओर से होना चाहिए।"

पतन्जलि के 'महाभाष्य' में भी दो नाटकों का चर्चा मिलता है। 'कंसवध' और 'बालिबंध' नाटकों का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि ये नाटक उस समय खेले जाते थे। इसमें अभिनय करने वाले नट अपने को रंग कर कंस अथवा कृष्ण आदि बना लेते थे। डाक्टर वेरेडील कीथ ने इसी के आधार पर कहा है कि "इससे यह सम्भावना प्रतीत होती है कि यदि और पहिले से नहीं तो कम से कम ईसा के पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्य से तो सस्कृत नाटको का आरम्भ मानना ही होगा। इन नाटकों को प्रेरणा उन महाकाव्यों के गायन और श्री कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित उन घटनाओं से मिली जिनमें बाल कृष्ण ने शत्रुओं को पराजित किया।"

वात्स्यायन के काम सूत्र के नागरिकवृत्त प्रकरण में एक वाक्य है—"पक्षस्य मासस्य वा प्राख्यातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः।" इसका अर्थ है, "सरस्वती भवन में पक्ष या महीने के प्रसिद्ध पर्वों पर राजा की ओर से नियुक्त नटों का अभिनय होता था। इस उत्सव को 'समाज' कहा जाता था।" डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार केवल सरस्वती मन्दिर में नहीं, अन्य मन्दिरो, देवालयों तथा महत्वपूर्ण स्थानो पर भी ये अभिनय हुआ करते थे। यहाँ तक कि शादी-विवाह, पुत्र जन्मादिक आनन्द मंगल मय अवसरों पर नागरिक अस्थायी रगशाला या रंगमन्च बनवा लेते थे। वहाँ अभिनय, नृत्य आदि हुआ करते थे। साधारण लोगों का भी नाटको के अभिनय की व्यवस्था कर लेना नाटकों की लोक प्रियता का ही प्रमाण था।

नाट्य साहित्य अथवा रंगमचीय अभिनय के सम्बन्ध में जो कुछ भी प्रमाण या उदाहरण वेदों, रामायण, महाभारत, जैन तथा बौद्ध साहित्य, पतञ्जलि और कौटिल्य के ग्रन्थों में मिलते हैं— उनमें से कुछ का अब तक हमने चर्चा किया। इस चर्चा से हमारा केवल यह तात्पर्य था कि भारत के प्राचीनतम प्राप्त साहित्य में

भी नाटकों और रंगमंच का वर्णन किसी न किसी रूप में मिलता है। इसके बाद भरत मुनि के नाट्य शास्त्र का चर्चा करना जरूरी है।

नाट्य शास्त्र का जो अंश प्राप्त है उसके अध्ययन से यह पता चलता है कि भरत मुनि को नाट्य शास्त्र तथा रंगमंच का सम्पूर्णतम ज्ञान था। दोनों के सम्बन्ध में जो विवरण सहित निर्देश मिलते हैं उन्हें देखकर हम चकित हो जाते हैं। इससे यह बात तो बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि भरत मुनि ने जब यह शास्त्र रचा उसके पहिले हमारे देश मे नाट्य साहित्य और उसके अभिनय के लिए रंगमञ्च दोनों की लोक प्रियता बहुत अधिक बढ़ गयी थी। साथ ही साहित्य स्रष्टा और अभिनेताओं को सही मार्ग दर्शन की आवश्यकता भी पड़ गयी थी। इसी लिए भरत ने नाट्य शास्त्र की रचना की। वह रचना इतनी प्रतिष्ठित और सर्वमान्य हुई कि भरत को 'मुनि की उपाधि दे दी गयी और नाट्य शास्त्र को 'पञ्चमवेद' कहकर समादृत किया गया। अब नाटकों के लिए नियम उपनियम बन गये। प्रेक्षागृहो की व्यवस्था के सम्बन्ध में भी लिखित और सुचिन्तित तथा सुनियोजित आदेश प्राप्त हो गए। फलतः नाट्य साहित्य के रचने तथा खेलने का मार्ग प्रशस्त हो गया।

इसके बाद संस्कृत साहित्य के आदि कालीन नाटककार अश्वघोष तथा भास की रचनाएँ सामने आयी। कुछ योरोपीय विद्वान भी भास का काल ईसा से कम से कम तीन सौ वर्ष पहिले मानते हैं। कुछ लोग भास को ईसा के बहुत बाद का मानते हैं। १६१० ई० में प्रथम बार दक्षिण भारत में श्री गणपति शास्त्री को भास के नाटकों की हस्तलिखित प्रतियाँ मिलीं। सन् १६१२-१५ ई० में शास्त्री महोदय ने इनका सम्पादन किया और इनको प्रकाशित किया। भास के कुल तेरह नाटक प्राप्त हुए। 'अविमारक,' 'प्रतिज्ञा योगन्धरायण,' 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'चारु दत्त' प्राचीन कथानकों के आधार पर रचे गये पूर्ण नाटक हैं। 'मध्यम व्यायोग,' 'दूत-

घटोत्कच्छ,' 'कर्णभार,' 'उरुभग' तथा 'दूत वाक्य' एकाकी हैं, और, सभी व्यायोग (रूपक का एक भेद) हैं। 'पचरात्र' समवकार है। 'बालचरित' पांच अंको मे है। इसमें कृष्ण चरित्र है और कृष्ण जन्म से कस वध तक की कथा दी गयी है। 'प्रतिमा' नाटक तथा 'अभिषेक' नाटक में श्री रामचन्द्र के वन गमन, लका विजय और राज्याभिषेक तक की कथा है। भास के जीवन के सम्बन्ध मे अभी तक कोई भी विवरण नहीं प्राप्त हो सका है।

अश्वघोष का नाम सस्कृत नाट्य साहित्य के आदि कालीन रचयिता भास के पहिले या भास ही के साथ आता है। अश्वघोष का 'बुद्ध चरित,' 'सौंदरानन्द' आदि काव्य प्रसिद्ध हैं। कुछ समय पहिले तुर्फान में अश्वघोष के एक नाटक 'सारिपुत्त प्रकरण' का कुछ अश दो अन्य नाटको के अशों के साथ प्राप्त हुआ है। ये नाटक ताल पत्र पर लिखे हुए थे। 'सारिपुत्त प्रकरण' की पुष्पिका पूरी प्राप्त हो गयी है। अन्य दो नाटकों के अशों को भी, भाषा आदि की दृष्टि से अध्ययन करने पर, अश्वघोष का ही मान लिया गया है। सभी नाटको में भगवान बुद्ध तथा बौद्ध धर्म की अभ्यर्थना है।

इसके बाद कालिदास का नाम आता है। कालिदास का समय भी अभी तक अन्तिम रूप से निश्चित नहीं हो पाया है। इनकी जीवन कथा पर भी अब तक सम्यक प्रकाश नहीं पड़ सका है। ईसा पूर्व पहिली शताब्दी से लेकर ईसा के बाद तीसरी चौथी शताब्दी तक विद्वान् लोग कालिदास के समय के सम्बन्ध में अनुमान लगाते हैं। कालिदास सस्कृत साहित्य मे अद्वितीय माने जाते हैं। विश्व के साहित्यकारों मे कालिदास का स्थान प्रथम पंक्ति मे है। कालिदास के तीन नाटक हैं—'अभिज्ञान शाकुन्तल,' 'विक्रमोर्वशीय' तथा 'मालविकाग्निमित्र'। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में शकुन्तला के प्रेम, विरह और मिलन की कथा है। 'मालविकाग्निमित्र' में शुग वश के प्रथम

तीन राजा पात्र हैं। 'विक्रमोर्वशीय' में पुरुरवा तथा अप्सरा उर्वशी की प्रेमगाथा का वर्णन है।

शूद्रक का समय भी यद्यपि अभी निश्चित नहीं हो पाया है, परन्तु यदि सचमुच शूद्रक को आन्ध्र देश का राजा स्वीकार कर लिया जाय तो शूद्रक का काल ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व हो जाता है। परन्तु शूद्रक स्वयं आन्ध्र देशीय राजा था या नहीं, या शूद्रक नाम सही है अथवा कल्पित इस पर अन्तिम रूप से अभी तक कुछ भी निश्चित नहीं हो सका है। शूद्रक कृत 'मृच्छकटिक' के ऊपर भास के अपूर्ण नाटक 'चारुदत्त' के प्रथम चार अंकों का प्रभाव अक्सर लोग मानते हैं, जिस कारण शूद्रक को भास के पीछे का मान लेना अनिवार्य हो जाता है। नाटक में शूद्रक को नाटककार एवं राजा कहा गया है। यह नाटक दस अंकों में समाप्त हुआ है। राजनीतिक षड़यन्त्रों तथा प्रेम कथा के ताने बाने में बुना यह नाटक सर्वमान्य और अत्यन्त प्रसिद्ध है।

विशाखदत्त या विशाखदेव 'मुद्राराक्षस' के लेखक थे। इनके समय का निश्चय अन्तिम रूप से अभी नहीं हो सका है। फिर भी अधिकतर लोग 'मुद्राराक्षस' को चौथी शताब्दी ईसवी की रचना मानते हैं। मुद्राराक्षस में केवल राजनीतिक षड़यन्त्रों का चर्चा है। अपनी तरह का यह नाटक बिल्कुल अकेला है। नाट्य कला की दृष्टि से लेखक को अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है। विशाखदत्त का दूसरा नाटक 'देवीचन्द्रगुप्तम्' है। यह पूर्ण नाटक आज तक प्राप्त नहीं हो सका है। इसके केवल ६ उद्धरण प्राप्त हुए हैं। इनका आधार भी राजनीतिक षड़यन्त्र ही मालूम पड़ता है।

श्री हर्ष स्थाणीश्वर तथा कान्यकुब्ज के राजा थे। महाकवि बाण भट्ट इनके दरबार की शोभा थे। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनत्सांग इनके साथ ठहरा था। इनका समय ५६० ईसवी से ६४७ ई० है। ६०६ ई० में श्री हर्ष गद्दी पर बैठे। बाद में इनका शासन क्षेत्र बहुत विस्तृत

हो गया। श्री हर्ष ने 'नागानन्द' नामक नाटक लिखा। इसमें जीमूत-वाहन का बौद्ध आख्यान है। 'रत्नावली' तथा 'प्रिय दर्शिका' नाटि-काएँ भी इन्होंने लिखीं।

महेन्द्र विक्रम वर्मन श्री हर्ष के समकालीन थे। इनकी राजधानी काँची थी। यह पल्लव नरेश सिंह विष्णु वर्मन के पुत्र थे। इनका केवल एक प्रहसन 'मत्तविलास' ही अब तक प्राप्त हुआ है। इसमें कापालिक, देवसोमा, बौद्ध भिक्षु और एक पागल के कथोपकथन हैं। अन्त में बौद्ध नीति का प्रतिपादन किया गया है। प्रहसन में शिष्टता का विशेष ध्यान रक्खा गया है।

भवभूति का काल विक्रमीय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध था। इन्होंने तीन नाटक लिखे। इनमें 'उत्तर राम चरित' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। दूसरा नाटक 'महावीर चरित' है। 'महावीर चरित' में कथा सीता विवाह से शुरू होती है और रामचन्द्र के राज्याभिषेक पर समाप्त होती है। 'उत्तर रामचरित' में सीता निर्वासन से कथा आरभ होती है और लव कुश से युद्ध तथा अन्तिम मिलन के बाद कथा समाप्त हो जाती है। भवभूति की तीसरी कृति 'मालती माधव' है। यह प्रकरण है। इसका कथानक कल्पित है।

भट्टनारायण का काल अनुमानतः सातवीं शताब्दी ईसवी है। इन्होंने महाभारत के एक कथानक के आधार पर 'वेणी संहार' नामक नाटक की रचना की। कथा आरम्भ होती है द्रौपदी के चीर हरण और उसके शपथ से और समाप्त होती है जब द्रौपदी दु:शासन की जाघ के रक्त से सींच कर अपने सिर की वेणी को बाँधती है।

आठवीं तथा नवीं शताब्दी के नाटक कारों तथा उनकी कृतियों के सम्बन्ध मे बहुत कम जानकारी प्राप्त है। कान्य कुब्ज नरेश यशो-वर्मन ने 'रामाभ्युदय' नाटक लिखा। इनका शासनकाल ७२०—७४० ई० है। काश्मीर के शासक अवन्ति वर्मन के आश्रित शिवस्वामिन के नाटकों का तो चर्चा इधर उधर मिलता है। कल्हण ने शिवस्वामिन

नाटकों का उल्लेख किया है। परन्तु ये नाटक अभी तक उपलब्ध
हीं हो सके हैं। अनग हर्ष मातृराज का नाटक 'तापस वत्सराज' है।
स नाटक मे रत्नावली की ही कथा दोहराई गई है। मयुराज ने
उदात्तराघव' की रचना की। धनिक ने 'छलितराम', 'पारडवानन्द
तरगदत्त' और 'पुष्पदूषितक' के उद्धरण दिये हैं, जिनसे यह पता
चलता है कि ये नाटक उस समय अवश्य ही प्राप्त थे। 'दशरूपक' मे
समुद्र मथन' (समवकार) का नाम आया है। वत्सराज कृत
त्रिपुरदाह', 'रुक्मिणी हरण', 'किरातार्जुनीय' 'कर्पूर चरित
और 'हास्य चूडामणि' (रूपक) प्राप्त हैं। इनके अतिरिक्त और भी
अनेक नाटक इस काल के हैं। इन नाटकों का अपना विशेष महत्व
है क्योंकि इनसे सस्कृत नाट्य साहित्य के विकास क्रम की शृङ्खला
बँधती है। परन्तु इनके सम्बन्ध मे पर्याप्त अनुसधान अब तक नहीं हो
सका है।

मुरारि ने अनेक नाटकों की रचना की। परन्तु इनका केवल
'अनर्घ राघव' प्राप्त है। इनका समय भी विक्रमीय नवीं शताब्दी है।
इसकी कथा का आधार रामचरित है, जो सीता विवाह, सीताहरण,
लकापति वध और राम के राज्याभिषेक आदि घटनाओं को एक सूत्र
मे बाँध कर लिखा गया है।

मुरारि के बाद राजशेखर ने 'कर्पूर मजरी', 'बाल रामायण',
'बालभारत' और 'विद्धशालभजिका' नाम के चार नाटक लिखे।
राजशेखर कवि परिवार के थे। यह महाराष्ट्रीय थे। 'बाल रामायण'
दस अकों का महानाटक है। 'बालभारत' अपूर्ण है। इसमे द्रौपदी
का विवाह तथा द्यूत सभा से चीर हरण तक की कथा है। 'कर्पूर
मजरी' एक सट्टक है। यह पूरा पूरा प्राकृत मे है। इसमे एक लम्पट
राजा और उसके प्रेम तथा विवाह की कथा है। इसका अनुवाद बाद मे
भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने किया था। 'विद्धशालभजिका' मे चन्द्रवर्मा
अपनी पुत्री मृगांकावली को पुत्र का रूप देकर लाट नरेश विद्याधर

मल्ल के राजभवन में भेजता है और यह तय हो जाता है कि उसका विवाह कुंतल राजकुमारी कुवलय माला से हो जाय। राजा स्वप्न में और शालभंजिका में उसी मृगाकावली को देखकर मोहित हो जाता है। अन्त में रहस्योद्‌घाटन होता है और मृगाकावली तथा कुवलय माला राजा को सौंप दी जाती है। 'बाल रामायण मे' कथा रावण के सीता के प्रति प्रेम से आरम्भ होती है। स्वयंवर से वह भाग निकलता है। राम वनवास और दशरथ मृत्यु तक छठा अक समाप्त होता है। इसके बाद सेतुबन्ध से रावणवध तक तीन अकों में कथा चलती है। अन्तिम अक में राज्याभिषेक है।

राजशेखर के समकालीन भीमट ने भी पाच नाटक लिखे थे। इनमें 'स्वप्न दशानन' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। राजशेखर ने इनका उल्लेख स्वय किया है। आचार्य क्षेमीश्वर ने, जो कि इसी समय हुए थे, 'चड कौशिक' की रचना की। इसका आधार हरिश्चन्द्र की जगत-प्रसिद्ध कथा ही है। क्षेमीश्वर का दूसरा नाटक 'नैषधानन्द' है। इसका आधार नलोपाख्यान है।

कृष्ण मिश्र का 'प्रबोध चन्द्रोदय' एक भावात्मक नाटक है। यह इस काल का सम्भवतः सर्व प्रसिद्ध नाटक है। इस नाटक के अनेक अनुवाद हिन्दी में हुए हैं। 'प्रबोधचन्द्रोदय' का फारसी अनुवाद 'गुल-जारे हाल' के नाम से मुशी कनवासी दास ने किया था। प्रबोध-चन्द्रोदय' के आदर्श पर ही अनेक मौलिक नाटक भी बाद मे लिखे गये। 'पाखण्ड विडम्बन' नाम से 'प्रबोध चन्द्रोदय' के तृतीय अक का अनुवाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया। वेंकटनाथ का 'सकल्प सूर्योदय', कर्णपूर का 'चैतन्य चन्द्रोदय' तथा यशपाल का 'मोह राज पराजय' 'प्रबोध चन्द्रोदय' की परिपाटी के ही नाटक हैं।

जयदेव ने 'प्रसन्नराघव' में सीतास्वयंवर, रामवनवास, सीताहरण, राम रावण सघर्ष तथा राम सीता मिलन के कथानक को अपनी रचना का आधार बनाया है। इसके बाद रामचन्द्र दीक्षित ने 'जानकी

परिणय' और महादेव ने 'अद्भुत दर्पण' लिखा। बंगाल के राजकुमार रवि वर्मन ने 'प्रद्युम्नाभ्युदय', रूप गोस्वामी ने 'विदग्ध माधव' तथा 'ललित माधव', शेषकृष्ण ने 'कंसवध', राम वर्मा ने 'रुक्मिणी परिणय', सामराज दीक्षित ने 'श्रीदामाचरित', कुलशेखर ने 'सुभद्रा धनंजय' 'तपती सवरण', प्रह्लादन देव ने 'पार्थपराक्रम', विशाल देव विग्रह-राज ने 'हरिकेलि नाटक', वामन भट्टबाण ने 'पार्वती परिणय', जगज्ज्योतिमल्ल ने 'हर गौरि विवाह', सोमदेव ने 'ललित विग्रहराज' और जयसिंह सूरि ने 'हम्मीर मदमर्दन' नाटक लिखे। इसी तरह नेपाली कवि मणि ने 'भैरवानन्द', हरिहर ने 'भातृहरि निर्वेद, विद्या-नाथ ने 'प्रतापरुद्र कल्याण', गंगाधर ने 'गंगादास प्रताप विलास', विल्हण ने 'काम सुन्दरी नाटिका', मदनबाल सरस्वती ने 'विजय श्री' अथवा 'पारिजात मजरी' (जिसके दो अक पत्थर पर खुदे मिले हैं), मथुरादास ने 'वृषभानीय' (नाटिका), नर सिंह ने 'शिवनारायण भज महोदय' (नाटिका), घनश्याम ने 'आनन्द सुन्दरी' (सट्टक), विश्वे-श्वर ने 'शृंगार मंजरी' (सट्टक), उद्दण्डन ने 'मलिकामृत' (प्रकरण), रामचन्द्र जैन ने 'कौमुदी मित्रानन्द' (प्रकरण), रामभद्र मुनि ने 'प्रबुद्धरावाभिनेय' (प्रकरण), यशश्चन्द्र ने 'मुद्रित कुमुदचन्द्र' (प्रकरण), शखधर कविराज ने 'लतक मेलक' (प्रहसन), ज्योतिरेश्वर कवि शेखर ने 'धूर्त समागम', जगदीश्वर ने 'हास्यार्णव', सामराज दीक्षित ने 'धूर्त नर्तक', माणिक्यदेव ने 'कौतुक रत्नाकर', वामन भट्ट बाण ने 'शृंगार भूषण' (भाण), रामचन्द्र दीक्षित ने 'शृङ्गार तिलक', वरदराज ने 'वसन्त तिलका', काशी पति कविराज ने 'मुकुन्दानन्द' (मिश्रित भाण), शकर ने 'शारदा तिलक' (भाण), नल्ल कवि ने 'शृङ्गार रसार्णव' (भाण), केरल के एक युवराज ने 'रस सदन' (भाण), विश्वनाथ ने 'सौगन्धिका हरण' (व्यायोग), कचन पण्डित ने 'धनंजय विजय' (व्यायोग), मोक्षादित्य ने 'भीम विक्रम व्यायोग', रामचन्द्र ने 'निर्भय भीम', कृष्ण मिश्र ने 'वीर विजय' (ईहामृग), कृष्ण अवधूत

घटिकशत महाकवि ने 'सर्वविनोद नाटक' (ईहामृग), वेंकट वरद ने 'कृष्ण विजय' (डिम), राम ने 'मन्मथोमथन', भास्कर कवि ने 'उन्मत्त राघव' (अक), लोकनाथ भट्ट ने 'कृष्णाभ्युदय' (अक), कृष्ण कवि ने 'शर्मिष्ठाययाति' (अंक), रूप गोस्वामी ने 'दान केलि कौमुदी' (भाणिका), महादेव ने 'सुभद्रा हरण' (श्रीगदित), मेघ प्रभाचार्य ने 'धर्माभ्युदय' (छाया नाट्य), सुभट ने 'दूतांगद' (छाया नाट्य), व्यास श्री रामदेव ने 'सुभद्रा परिणय', 'रामाभ्युदय' और 'पाण्डवाभ्युदय', शकर लाल ने 'सावित्री चरित्र', मधुसूदन ने 'महा नाटक' और राम कृष्ण ने 'गोपाल केलि चन्द्रिका' की रचना की। मदन नामक बगाली ब्राह्मण लिखित 'पारिजात मजरी' नाटक का पता १६०३ ई० में चला। यह नाटक १२११ या १२१३ ई० मे लिखा गया था। मदन पण्डित धारा सम्राट अर्जुन वर्मा के उपाध्याय थे। मध्य भारत में ही मालव स्थित है। यहाँ के परमार शासकों की राजधानी धारा थी। मदन का ही दूसरा नाम बाल सरस्वती था। सम्पूर्ण नाटक अभी प्राप्त नहीं हो सका है। परन्तु अर्जुन की प्रशस्ति में ८२ पंक्तियों का एक शिला लेख मिला है। ८ फीट लम्बे और ५ फीट चौडे काले पत्थर पर यह लेख खुदा हुआ है, जिससे पता चलता है कि गगाधर के वंशज मदन ने 'पारिजात मंजरी' नाटक की रचना की। यह शिला लेख भोजशाला (कमाल मौला मसजिद) के पास पाया गया। इस लेख के अक्षर नागरी और भाषाएँ संस्कृत तथा प्राकृत हैं।

इसी तरह 'विग्रह राज नाटक' और 'हर केलि नाटक' के अश भी अजमेर की तारागढ़ पहाड़ी पर स्थिति 'अढाई दिन का झोपडा' नामक स्थान पर पत्थर पर खुदे हुए मिले हैं। पहिले लेख में कोई तिथि नहीं है। दूसरे की तिथि के अनुसार खुदाई की तारीख २२ नवम्बर ११६३ ई० आती है। इसी प्रकार 'हनुमन्नाटक' के भी पत्थर पर उत्कीर्ण अंश मिले हैं। अनुमान है कि यदि संस्कृत के छोटे बडे सभी नाटकों को एकत्र किया जाय तो उनकी सख्या लगभग ६०० होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत नाट्य साहित्य की परम्परा तेरह चौदह सौ वर्षों तक अबाध रूप मे चलती रही। इन नाटकों का सम्यक अध्ययन और मूल्यांकन अभी तक नहीं हो पाया है। परन्तु अब तक जो कुछ भी अध्ययन हो चुका है, केवल उसी के आधार पर संस्कृत नाट्य साहित्य को संसार का सर्वश्रेष्ठ नाट्य साहित्य कहा जा सकता है। हिन्दी मे अभी तक केवल कुछ महत्वपूर्ण नाटकों का ही अनुवाद हुआ है। परन्तु उनसे हिन्दी साहित्य की समृद्धि बढ़ी है। जैसा कि हम जानते हैं, लगभग बारहवीं-तेरहवीं सदी से ही अपभ्रंश मे रास नाटको की रचना होने लगी थी। इन्हीं का विकसित रूप हमे कृष्ण रासों मे देखने को मिलता है। उसके बाद संस्कृत के नाटकों के अनुवाद की परम्परा शुरू हुई और फिर स्वतंत्र मौलिक नाटक भी हिन्दी में लिखे जाने लगे। भारतेन्दु युग के पहिले हिन्दी नाट्य परम्परा जो कुछ थी, उस पर रासों, जात्राओं, स्वांगों आदि का प्रभाव तो मुख्य रूप से था ही, संस्कृत के इन अनूदित नाटको का भी कम महत्वपूर्ण हाथ न था। सच यह है कि हिन्दी को उसके पहले का सभी नाट्य साहित्य विरासत के रूप में मिला और जहा तक हो सका उसने उसका पूरा उपयोग भी किया। जब हम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों के स्रोतों का चर्चा करेंगे और उनके पहले के नाट्य साहित्य का अध्ययन करेंगे तो यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाएगी।

———

अध्याय ४

संस्कृत नाटकों के अवयव

संस्कृत नाट्य साहित्य के सम्यक परिचय के लिये कुछ महत्व-पूर्ण ग्रन्थों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। भरत नाट्य शास्त्र की महत्ता तो सभी स्वीकार करते हैं। अतः इस महान ग्रन्थ के सम्बन्ध में अधिक कुछ नहीं कहना है। यद्यपि यह सम्पूर्ण ग्रन्थ प्राप्त नहीं है और इस बात में सन्देह प्रकट किया जाता है कि यह ग्रन्थ किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं रचा गया है बल्कि अनेक विद्वानो ने अवसर के अनुकूल इसमें परिवर्तन और परिवर्द्धन किये हैं, फिर भी इसमें किसी को सन्देह नहीं कि भरत मुनि इसके आदि स्रष्टा हैं और यह ग्रन्थ सर्व मान्य होने के कारण ही पचम वेद कहलाया।

नाट्य साहित्य पर, भरत नाट्य शास्त्र के अतिरिक्त 'दश रूपक' अत्यन्त महत्व पूर्ण ग्रंथ है। यह ग्रथ सर्वोत्कृष्ट और प्राचीनतम है। विष्णु पुत्र धनंजय ने इस ग्रथ की रचना की थी। अनुमानत. यह ग्रथ ग्यारहवीं शताब्दी में रचा गया था। 'दशरूपक' में 'रत्नावली' से उदाहरण लिया गया है। 'सरस्वती कण्ठाभरण' दूसरा ग्रन्थ है जिसके रचयिता भोज राजा माने जाते हैं।

'काव्य प्रकाश' अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। काव्य के अतिरिक्त विशेषतया नाटकों पर इस ग्रन्थ मे गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। मम्मट भट्ट को इस ग्रन्थ का रचयिता माना जाता है। मम्मट काश्मीर के प्रसिद्ध पण्डित थे। 'साहित्य दर्पण' दस भागो मे है। काव्य के अतिरिक्त नाटकों के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ से विशद ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसके रचना काल के सम्बन्ध में अभी तक अन्तिम रूप से कुछ निश्चय नहीं हो सका है। परन्तु यह ग्रन्थ

'काव्य प्रकाश' के बाद रचा गया, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसके रचयिता बंगाल के विश्वनाथ कविराज थे। 'संगीत रत्नाकर' में संगीत तथा नृत्य पर विशेष जोर दिया गया है। साथ ही इसमें अभिनय कला पर प्रकाश डाला गया है। शारङ्गदेव इसके रचयिता थे। इसकी रचना बारहवीं शताब्दी के बाद हुई। दण्डी कृत 'काव्यादर्श', वामन आचार्य कृत 'काव्यालंकार वृत्ति', अप्पय-दीक्षित कृत 'कुवलयानन्द', भामहकृत 'अलंकार सर्वस्व', जगन्नाथ पण्डितराज कृत 'रसगंगाधर', कविकर्णपुर कृत 'अलंकार कौस्तुभ', रुद्रभट्ट कृत 'शृङ्गार तिलक', भानुदत्त कृत 'रसमञ्जरी' तथा 'रसतरंगिणी' सहायक ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ मूलतः काव्य कला तथा अलंकार आदि पर प्रकाश डालते हैं। परन्तु नाट्य साहित्य के अध्य-यन में भी इनसे किसी हद तक सहायता मिल सकती है। साथ ही 'भोज प्रबन्ध' और 'शारङ्गधर पद्धति' का अध्ययन भी आवश्यक है। उपर्युक्त समस्त ग्रन्थ किसी न किसी दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं और इनसे संस्कृत नाट्य साहित्य के अध्ययन तथा मूल्यांकन में सहायता मिल सकती है।

रूपक

संस्कृत नाटकों को मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त किया गया है। प्रथम रूपक और द्वितीय उप रूपक। रूपकों के दस प्रकार हैं, उपरूपकों के अठारह। (१) 'रूपकों' में प्रथम नाटक होता है। इसमें नाट्य संबंधी समस्त विशेषताओं का होना अनिवार्य है। इसका विषय सदैव महत्वपूर्ण और सर्वमान्य होता है। 'साहित्य दर्पण' के अनुसार नाटकों की विषय-वस्तु या तो पौराणिक होनी चाहिए या ऐतिहासिक। 'दश-रूपक' के अनुसार विषय कपोल-कल्पित, मिश्रित, परम्परागत अथवा काल्पनिक हो सकता है। आरम्भ के लेखकों ने अपने नाटकों के लिये पौराणिक कथाओं को चुना, मगर उन्होंने घटनाओं को सुविधानुसार तोड़ मरोड़कर रक्खा। नाटकों के नायक साधारण लोग नहीं हो

सकते। वे या तो दुष्यन्त की तरह सम्राट हों, राम की तरह अवतार हों या 'कृष्णस्तु भगवान स्वयं' की विशेषताओं वाले कृष्ण हों। प्रेम अथवा वीरता इसकी यही दो मुख्य विशेषताएँ होनी चाहिए। कथानक सरल परन्तु गठा हुआ हो, सारे कार्य व्यापारों की उत्पत्ति मूल कथा से ही हो, कार्य काल एक दिन से अधिक न हो (साहित्य दर्पण कार्य-काल को कई दिनों यहां तक कि एक वर्ष तक भी स्वीकार कर लेता है)। यदि कार्य व्यापार इतने में समाप्त न हो तो वर्णन का सहारा लिया जाय। इसकी भाषा सुबोध और प्रांजल हो। कम से कम पांच अंक हो, अधिक से अधिक दस।

नाटक सुखान्त हों या दुखान्त, इस सम्बन्ध में नाटक शास्त्रियों का दृष्टि कोण अत्यन्त स्पष्ट रहा है। नाटकों को सुखान्त ही होना चाहिए, दुखान्त कदापि नहीं। नायक अथवा नायिका की मृत्यु किसी भी स्थिति में प्रदर्शित नहीं की जा सकती। जीवन की असफलता, दुर्घटनाओं आदि का चित्रण करते हुए भी अन्तिम संदेश मंगलमय होना चाहिए। यही विचारधारा शास्त्रकारों के समस्त अध्ययन और चिन्तन का आधार रही है। फलतः ऊंचे प्राचीन नाटककारों ने सदैव इस मर्यादा और शालीनता का परिचय आदि से अन्त तक दिया और मंच पर किसी ऐसे कार्य व्यापार के लिये अनुमति नहीं दी जिसे कुघड़, असुन्दर, अशालीन अथवा अशिष्ट कहा जा सके। मंच के ऊपर खाने, चुम्बन लेने, सोने, बदन खुजलाने तक की अनुमति नहीं दी गयी। शिव और सुन्दर का सहज सयोग ही इन नाटकों की मूल वृत्ति रही है। 'शकुन्तला', 'मुद्राराक्षस', 'वेणीसंहार', 'अनर्घराघव' आदि सभी शास्त्रीय दृष्टियों से सफल उतरते हैं और प्रथम कोटि के नाटक माने जाते हैं।

(२) प्रकरण और नाटक मे कोई मूल भूत अन्तर नहीं है। इसके कथानक को जीवन की सच्चाइयों पर आधारित होते हुए भी काल्पनिक होना चाहिए। इसका सम्बन्ध समाज केप्रतिष्ठित वर्ग से होना चाहिए,

विषय प्रेम होना चाहिए, नायक मंत्री के वर्ग का कोई व्यक्ति, ब्राह्मण अथवा श्रेष्ठि वर्ग का कोई व्यक्ति होना चाहिए। नायिका उच्च परिवार की परिचारिका हो सकती है। वेश्या भी नायिका हो सकती है। मगर वेश्या का अर्थ यहां उस महिला से नहीं है जो समाज के सारे नियमों का उल्लंघन कर चुकी हो। वह अपनी कला, शालीनता, सौन्दर्य आदि के लिये समादृत होती है। 'मृच्छकटिक' तथा 'मालती माधव' प्रकरण की कोटि में आते हैं।

(३) भाण एकांकी होता है जिसमें मुख्यतया एक ही व्यक्ति आदि से अन्त तक अभिनय करता और बोलता है। इसका विषय प्रेम, युद्ध, धोखा, षड्यंत्र आदि होता है। अभिनेता अक्सर सामने उपस्थित काल्पनिक व्यक्ति से बात चीत करता है। इसकी भाषा प्राजल और परिमार्जित होती है, आरम्भ और अन्त संगीत से होता है। भाण के उदाहरण के लिये 'लीलामधुकर' का नाम अधिकतर लिया जाता है। मगर यह प्राप्त नहीं है। प्राप्त तो केवल 'शारदा तिलक' है।

(४) व्यायोग का मुख्य विषय युद्ध जनित कार्य व्यापार ही होता है। इसमें नारी पात्रों को विशेष स्थान नहीं मिलता। इसमे न तो प्रेम होता है, न हास्य-व्यंग्य। इसमे एक ही अंक, एक ही कार्य और घटनाकाल एक ही दिन का होता है। 'साहित्य दर्पण' में इसके उदाहरण स्वरूप 'सौगन्धिकाहरण' का नाम लिया गया है। 'दशरूपक' में 'जामदग्न्य-जय' को उदाहरण स्वरूप रखा गया है। "धनंजय-विजय' इसी वर्ग का रूपक है।

(५) समवकार पौराणिक कथानक पर आधारित तीन अंको का रूपक होता है। प्रथम अंक का कार्य काल प्रायः ६ घण्टा होता है, दूसरे अंक का साढे तीन घण्टा और तीसरे अंक का डेढ घण्टा। पात्र रूप में देवता और राक्षस ही मुख्यतया आते हैं, यद्यपि मनुष्य भी मंच पर लाए जा सकते हैं। इसमें कोई एक प्रधान नायक नहीं

होता, बल्कि अनेक नायक और उपनायक हो सकते हैं। प्रेम के सम्बन्ध में चर्चा हो सकता है, परन्तु मुख्य विषय वीरता ही होगा। विरोध, विद्रोह, संघर्ष, युद्ध, मार काट, आक्रमण, प्रत्याक्रमण, आंधी, तूफ़ान, हाथी, घोड़ा, रथ—सबका प्रदर्शन हो सकता है। 'समुद्र मंथन' रूपक को उदाहरण स्वरूप रखा जाता है। 'समुद्र मथन' रूपक प्राप्त नहीं है, परन्तु राम रावण का युद्ध तो आज भी विभिन्न प्रदेशों में होता है। 'समुद्र मंथन' रूपक अभिनीत होता था इसमे कोई सन्देह नहीं।

(६) डिम में भयानक दृश्य रहते हैं। जादू, टोना, युद्ध, घेरा आदि प्रदर्शित किये जाते हैं। नायक राक्षस होता है। 'त्रिपुर दाह' इसका उदाहरण है।

(७) इहामृग में चार अंक होते हैं। नायक अवतारी पुरुष या महान व्यक्ति होता है। नायिका देवी होती है प्रेम और हास्य की इसमें प्रधानता रहती है। नायिका के कारण युद्ध अथवा षड्यन्त्र होता है। नायक असफल तो हो सकता है, परन्तु उसकी मृत्यु नहीं हो सकती। 'कुसुम शेखर विजय' इसका उदाहरण है।

(८) अक एकाकी होता है और किसी रूपक की भूमिका के रूप में प्रयुक्त होता है। कभी-कभी इसके द्वारा मुख्य कथा पूरी की जाती है। इसमें करुण रस का प्राधान्य रहता है। नायक साधारण मनुष्य हो सकता है। विषय सुपरिचित होता है। 'शर्मिष्ठा-ययाति' इसका उदाहरण है।

(९) वीथी भाण के ही सदृश होता है। यह एकांकी होता है और एक ही व्यक्ति इसमें अभिनय करता है। इसमें प्रेम कथा होती है तथा हास्य, व्यंग्य, विनोद, परिहास यहाँ तक कि अश्लीलता का भी प्रदर्शन इसमें होता है।

(१०) प्रहसन व्यंग्य रूपक एकांकी होता है। कथा कल्पित होती है। नायक साधु अथवा ब्राह्मण होता है। शासक और बदमाश

भी नायक हो सकते है। दरबारी, भिखारी, नौकर चाकर तथा प्राकृत बोलने वाले अन्य लोग पात्र हो सकते हैं।

हमारे शास्त्रकारो ने इन उपर्युक्त दस भागों अथवा अगों मे रूपको को विभक्त किया है।

उपरूपक

१ नाटिका—इसके दो भेद होते हैं—नाटक और प्रकरण। इनमे विषय और पात्र एक तरह के होते है। प्रकरण को प्रकरणिका भी कहते हैं। प्रकरण और नाटक के बीच केवल आकार का अन्तर होता है। नाटिका चार अंको तक ही सीमित रहती है। 'रत्नावली' को हम नाटिका की सज्ञा दे सकते हैं।

२. त्रोटक—इसमें पांच, सात, आठ या नौ अक होने हैं। इसका विषय अशत. मानव और आशिक रूप से अप्सरा आदि से सम्बन्धित होता है। इसके उदाहरण स्वरूप हम विक्रम और उर्वशी का नाम दे सकते हैं।

३. गोष्ठी—यह एक अंक में समाप्त होने वाला रूपक होता है। इसमें नौ अथवा दस पात्र पुरुष होते हैं और पांच या छः स्त्री पात्र होते हैं। इसका विषय प्रेम से सम्बन्धित होता है। 'रैवत मदनिका' इस प्रकार का रूपक है।

४. सट्टक—इसमें कई अकों में समाप्त होने वाली कोई शानदार कहानी होती है। किन्तु इसकी भाषा प्राकृत या ग्रामीण होती है। इस श्रेणी में 'कर्पूर मजरी' को रखा जा सकता है।

५ नाट्य रासक—इसमें नाच गानों की प्रमुखता रहती है। इसका विषय प्रेम होता है। एक ही अंक में यह नाटक पूर्ण हो जाता है।

६ प्रस्थान—इसका विषय भी प्रेम ही होता है। इसमें भी वही बातें पाई जाती हैं जो 'नाट्य रासक' में पाई जाती हैं। किन्तु इसमें पात्र निम्न वर्ग के होते हैं, नायक नायिका दास होते हैं और अन्य पात्र जाति बहिष्कृत होते हैं। गीत, सगीत और नृत्य आदि इसके प्रमुख तत्व

हैं। इसमें दो अक होते हैं। उदाहरणार्थ हम 'शृंगार तिलक' का नाम दे सकते हैं।

७ उल्लाप्य—यह एक अक में समाप्त होने वाला रूपक होता है इसका विषय धार्मिक होता है। इसमें प्रेम आदि की भावनाएँ वर्तमान रहती हैं। सवादों के साथ-साथ इसमें गाने भी जुडे रहते हैं। उदाहरणास्वरूप 'देवी महादेव' का नाम लिया जा सकता है।

८ काव्य—एक अक में समाप्त होने वाली कोई प्रेम कथा इसमें रहती है। इसमें काव्यात्मक पुट होता है तथा संगीत की धारा प्रवाहित रहती है।

९. प्रेंपण—इस प्रकार के रूपकों में युद्ध जनित विषयों का समावेश रहता है। यह एक ही अंक में समाप्त होता है। इसका नायक हीन वर्ग का होता है। उदाहरण—बालिवध।

१०. रासक—यह हास्य प्रधान एकांकी रूपक है। इसमें कुल पाच पात्र होते हैं। इसमें मनोरंजन की प्रधानता होती है। इसकी नायिका को अधिक चतुर तथा नायक को मूर्ख के रूप में चित्रित किया जाता है।

११. सलापक—इस प्रकार का नाटक एक, तीन या चार अकों मे समाप्त होता है। इसका नायक नास्तिक या पाखण्डी होता है। इसका विषय विवाद, धोखेबाजी, हिंसा और युद्ध से सम्बन्ध रखता है। 'माया कापालिक' और 'प्रबोध चन्द्रोदय' को इसके उदाहरण स्वरूप रख सकते हैं।

१२ श्रीगदित—एक अक में समाप्त होने वाला यह रूपक मनोरंजक होता है जिसमें श्री या लक्ष्मी का अभिनय नायिका करती है। इसमें अधिकाशतः सस्वर गीत गाये जाते हैं।

१३. शिल्पक—यह चार अक का होता है। इसमें श्मशान का दृश्य दिखाया जाता है। नायक एक ब्राह्मण और प्रति नायक एक अस्पृश्य या चाण्डाल होता है। इसमें चमत्कारपूर्ण एवं कौतुक भरी

चीजे प्रदर्शित की जाती हैं। 'कनकावली माधव' को इसके उदाहरणार्थ स्वरूप रख सकते हैं।

१४ विलासिका या लासिका—इसका उद्देश्य मनोरंजन करना होता है। एक अक में समाप्त होने वाला यह रूपक प्रेम विषयक होता है। इसमे हास्य पर विशेष बल दिया जाता है।

१५. दुरमल्लिका—यह चार अंको मे समाप्त होने वाला हास्य प्रधान रूपक है। इसके प्रत्येक अक मे नायक और उसके मित्र सफलता पूर्वक कथावस्तु का सचालन करते हैं।

१६. प्रकरणिका—यद्यपि उपरूपकों मे इसे अलग स्थान दिया गया है परन्तु जैसा हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, इसे नाटिका का ही एक अग समझा जाता है।

१७ हल्लीस—यह एक अक का रूपक होता है। इसमे गीत और की नृत्य प्रधानता रहती है। एक पुरुष तथा या दस महिलाएँ भूमिका सम्पादित करती हैं। 'केलि रैवतक' को इसके उदाहरण स्वरूप रख सकते हैं।

१८. भाणिका—यह एक अक का हास्य प्रधान रूपक है। इसकी कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं मिलती, किन्तु इसमें दो प्रेमियो के झगडे का दिग्दर्शन होता है। यह झगड़ा आपस मे [illegible]न होने के कारण होता है। 'कामदत्त' को इसमें उदाहरण स्वरूप रख सकते हैं।

रचना की दृष्टि से उपर्युक्त समस्त प्रकार के उपरूपको के दो खण्ड किये जा सकते हैं। एक तो वे जिनमें गभीर विषयों का समावेश रहता है, दूसरे हास्य सम्बन्धी। हम उन्हें योरोपीय रंगमच की परिभाषा में कई वर्गों में विभाजित कर सकते हैं, यथा दुःखान्त, सुखान्त, आपेरा, बैले, बरलेटा। इसका पारिभाषिक पहलू उतना महत्वपूर्ण नहीं है। इनसे केवल इस बात का परिचय मिलता है कि संस्कृत नाट्य साहित्य कितना विस्तृत था।

संस्कृत रंगमंच के सामान्य तत्वों पर विचार कर लेने के बाद

हम यह देखेंगे कि नाटक के पूर्ण होने के लिए कौन सी अन्य आवश्यक बातें हैं। नाटकीय व्यवस्था के अन्तर्गत कथावस्तु का संचालन, नाटक के पात्र, नाटकीय प्रदर्शन के उद्देश्य तथा उनको मूर्त रूप देने के तरीके आदि शामिल हैं।

३. नाटकीय व्यवस्था

सस्कृत नाटकों के प्रारम्भ में एक विष्कम्भक होता है जिसमे दर्शक को लेखक, उसकी कृति, पात्रों तथा नाटक मे आयी अन्य महत्वपूर्ण घटनाओं का परिचय कराया जाता है। विष्कम्भक मे अधिक से अधिक दो पात्र होते हैं। एक तो व्यवस्थापक और दूसरा उसके दल का अन्य व्यक्ति होता है। वह अभिनेता या अभिनेत्री मे से एक होता है। विष्कम्भक के प्रथम भाग को 'पूर्वरंग' की सज्ञा दी जाती है। धार्मिक प्रदर्शनों में जब किसी देवता की प्रार्थना की जाती है तो उसको नान्दी कहते हैं। इसमें दो या तीन पद्यांश होते हैं। पुराने लेखकों में हम सामान्यतया दो से अधिक पद्यांश नहीं पाते। लेकिन बाद के लेखक नान्दी में तीन या चार पद्य तक शामिल करते थे। 'वेणी सहार' में तो ६ पद्य हैं।

यह ठीक-ठीक ज्ञात नहीं होता कि नान्दी का पाठ कौन करता था। "नन्द्यान्ते सूत्रधारा." से यह प्रतीत होता है कि इसको नाटक व्यवस्थापक या निर्देशक नहीं गाता था। किन्तु भरत के एक वाक्य मे कहा गया है कि "सूत्रधार नान्दी का उच्चारण ऐसी ध्वनि मे करे जो न बहुत ऊँची हो और न बहुत धीमी।" यदि इस समय तक वह रंगमंच पर नहीं आता तो, सभवतः नेपथ्य से वह उसका पाठ करता था। भरत का एक दूसरा उद्धरण है। नान्दी का उच्चारण कर लेने के बाद सूत्रधार चला जाय और स्थापक प्रवेश करे। 'सगीत कल्पतरु' में एक उल्लेख मिलता है—"सूत्रधार या कोई व्यक्ति आकर नान्दी का पाठ करे।" 'मुद्राराक्षस' के टीकाकार ने कहा है कि 'नन्द्यान्ते' के बाद 'पठति' अथवा 'प्रविशति' कहना समान

चीजें प्रदर्शित की जाती हैं। 'कनकावली माधव' को इसके उदाहरणार्थ स्वरूप रख सकते हैं।

१४. विलासिका या लासिका—इसका उद्देश्य मनोरंजन करना होता है। एक अंक में समाप्त होने वाला यह रूपक प्रेम विषयक होता है। इसमें हास्य पर विशेष बल दिया जाता है।

१५. दुर्मल्लिका—यह चार अंकों में समाप्त होने वाला हास्य प्रधान रूपक है। इसके प्रत्येक अंक में नायक और उसके मित्र सफलता पूर्वक कथावस्तु का संचालन करते हैं।

१६. प्रकरणिका—यद्यपि उपरूपकों में इसे अलग स्थान दिया गया है परन्तु जैसा हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, इसे नाटिका का ही एक अंग समझा जाता है।

१७ हल्लीस—यह एक अंक का रूपक होता है। इसमें गीत और की नृत्य प्रधानता रहती है। एक पुरुष तथा या दस महिलाएँ भूमिका सम्पादित करती हैं। 'केलि रैवतक' को इसके उदाहरण स्वरूप रख सकते हैं।

१८ भाणिका—यह एक अंक का हास्य प्रधान रूपक है। इसकी कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं मिलती, किन्तु इसमें दो प्रेमियों के झगड़े का दिग्दर्शन होता है। यह झगड़ा आपस में जलन होने के कारण होता है। 'कामदत्त' को इसमें उदाहरण स्वरूप रख सकते हैं।

रचना की दृष्टि से उपर्युक्त समस्त प्रकार के उपरूपकों के दो खण्ड किये जा सकते हैं। एक तो वे जिनमें गंभीर विषयों का समावेश रहता है, दूसरे हास्य सम्बन्धी। हम उन्हें योरोपीय रंगमंच की परिभाषा में कई वर्गों में विभाजित कर सकते हैं, यथा दुःखान्त, सुखान्त, आपेरा, बैले, बरलेटा। इसका पारिभाषिक पहलू उतना महत्वपूर्ण नहीं है। इनसे केवल इस बात का परिचय मिलता है कि संस्कृत नाट्य साहित्य कितना विस्तृत था।

संस्कृत रंगमंच के सामान्य तत्वों पर विचार कर लेने के बाद

हम यह देखेंगे कि नाटक के पूर्ण होने के लिए कौन सी अन्य आवश्यक बातें हैं। नाटकीय व्यवस्था के अन्तर्गत कथावस्तु का संचालन, नाटक के पात्र, नाटकीय प्रदर्शन के उद्देश्य तथा उनको मूर्त रूप देने के तरीके आदि शामिल हैं।

३. नाटकीय व्यवस्था

संस्कृत नाटकों के प्रारम्भ मे एक विष्कम्भक होता है जिसमें दर्शक को लेखक, उसकी कृति, पात्रों तथा नाटक मे आयी अन्य महत्वपूर्ण घटनाओं का परिचय कराया जाता है। विष्कम्भक मे अधिक से अधिक दो पात्र होते हैं। एक तो व्यवस्थापक और दूसरा उसके दल का अन्य व्यक्ति होता है। वह अभिनेता या अभिनेत्री मे से एक होता है। विष्कम्भक के प्रथम भाग को 'पूर्वरंग' की संज्ञा दी जाती है। धार्मिक प्रदर्शनों में जब किसी देवता की प्रार्थना की जाती है तो उसको नान्दी कहते हैं। इसमें दो या तीन पद्यांश होते हैं। पुराने लेखकों में हम सामान्यतया दो से अधिक पद्यांश नहीं पाते। लेकिन बाद के लेखक नान्दी में तीन या चार पद्य तक शामिल करते थे। 'वेणी संहार' मे तो ६ पद्य हैं।

यह ठीक-ठीक ज्ञात नहीं होता कि नान्दी का पाठ कौन करता था। "नन्द्यान्ते सूत्रधारा." से यह प्रतीत होता है कि इसको नाटक व्यवस्थापक या निर्देशक नहीं गाता था। किन्तु भरत के एक वाक्य मे कहा गया है कि "सूत्रधार नान्दी का उच्चारण ऐसी ध्वनि में करे जो न बहुत ऊँची हो और न बहुत धीमी।' यदि इस समय तक वह रंगमंच पर नहीं आता तो, संभवतः नेपथ्य से वह उसका पाठ करता था। भरत का एक दूसरा उद्धरण है। नान्दी का उच्चारण कर लेने के बाद सूत्रधार चला जाय और स्थापक प्रवेश करे। 'संगीत कल्पतरु' में एक उल्लेख मिलता है—"सूत्रधार या कोई व्यक्ति आकर नान्दी का पाठ करे।" 'मुद्राराक्षस' के टीकाकार ने कहा है कि 'नन्द्यान्ते' के बाद 'पठति' अथवा 'प्रविशति' कहना समान

रूप से सही है। पहले उद्धरण में सूत्रधार नान्दी का पाठ करते हुए प्रस्तावना जारी रखता है। बाद के उद्धरण मे इसका पाठ दूसरा व्यक्ति करता है। ऐसा लगता है कि पहले के लेखकों का उद्देश्य सूत्रधार के वास्तविक नाम और माने हुए पात्र के बीच अन्तर बताना था, यद्यपि इसको टीकाकार समझ नहीं पाये हैं। सूत्रधार वह था जो स्वय या ब्राह्मण के रूप मे पूजा करता था और रगमच के व्यवस्थापक की हैसियत से प्रस्तावना मे आये सवादों का सचालन करता था। सूत्रधार को कम योग्य व्यक्ति नहीं समझा जाता था। उसके बारे में कहा गया है कि "उसको हल्के साहित्य का पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए। गद्य, नाटक, कविता तथा विभिन्न बोलियों की उसे जानकारी होनी चाहिए। विभिन्न वर्ग के लोगों के रीति रिवाजों और तौर तरीकों से उसे परिचित होना चाहिए। नाटक के हर पहलू का उसे अनुभव होना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य कलाओं का उसे विशारद होना चाहिए।

सामान्यत. प्रार्थना के बाद नाटक के लेखक के बारे मे कुछ विवरण प्रस्तुत किया जाता है। अधिकांशतः नाटक के लेखकों ने यह कार्य किया है किन्तु कहीं-कहीं अन्य व्यक्तियों ने उसका विवरण प्रस्तुत किया है।

हर हालत में विष्कम्भक के उपसहार को प्रस्तावना की सज्ञा दी जाती है। इसके बाद दर्शक का ध्यान नाटक के मुख्य पात्र की ओर आकर्षित कराया जाता है। उदाहरणार्थ व्यवस्थापक 'शकुन्तला' में कहता है—

"अब दुष्यन्त का प्रवेश हो रहा है।"

इस प्रकार नाटक प्रारम्भ होता है। वह दृश्यों एव अको में विभाजित होता है।

रगमच पर जब कोई पात्र उपस्थित होता है और दूसरा हट जाता है और यही क्रम चलता रहता है तब हम कहते हैं कि अमुक

दृश्य चल रहा है। सामान्य रूप से जब तक अंक परिवर्तन नहीं होता तब तक रंगमंच पर कोई न कोई दृश्य अवश्य चलता रहता है। उस समय वहाँ पर कोई न कोई पात्र अवश्य उपस्थित रहता है। अंक के बीच स्थान का परिवर्तन नहीं किया जाता। किन्तु यह कोई कठोर नियम भी नहीं है। कभी-कभी जब कोई बाधा उपस्थित हो जाती है, उस समय विष्कम्भक और प्रवेशक, जो वहीं मौजूद रहते हैं, श्रोताओं को सारी बातें बताते हैं। प्रारम्भ में विष्कम्भक सामने आ सकता है और अंकों के बीच मे प्रवेशक आ सकता है। प्रवेशक दृश्य परिवर्तन की घोषणा किया करता है। विष्कम्भक केवल कहानी की खाई को ही नहीं पाटता बल्कि श्रोताओं का मनोरंजन भी करता है।

अक—जब सभी पात्र रगमच से बाहर निकल जाते हैं तब एक अंक को समाप्त समझा जाता है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक नाटक में अकों की संख्या एक हो। भिन्न-भिन्न नाटकों में अंकों की सख्या भिन्न-भिन्न होती है। कहीं-कहीं १० अंकों के नाटक देखे जाते हैं। 'हनुमन्नाटक' में तो कुल १४ अक हैं। कहा जाता है कि नाटकों को अकों में विभाजित करने का श्रेय रोमनों को है और उन्हीं का अनुकरण हिन्दुओं ने किया। परन्तु यह कहाँ तक सच है कहा नहीं जा सकता।

प्रथम अंक अथवा अंक मुख में विष्कम्भक शामिल होता है। इसमें सम्पूर्ण कथानक का सार भी सम्मिलित कर लिया जाता है। 'मुद्राराक्षस' नाटक को यदि हम देखें तो हम पावेंगे कि अंतिम अंक की बहुत सी बातें प्रथम अंक ने दी हुई हैं। बाद के अंकों में कथानक का विकास देखने को मिलता है। संस्कृत नाट्य परम्परा में हम पाते हैं कि कथानक के विकास को अन्त तक कायम रखा गया है। जिस प्रकार नाटक का आरम्भ हुआ रहता है, उसी प्रकार उसका अंत भी होता है। अन्त में प्रमुख पात्र द्वारा प्रार्थना प्रस्तुत की जाती है। वह सामान्य सुख समृद्धि की कामना करता है।

कथा वस्तु का संचालन

प्रत्येक नाटक के कार्य व्यापार को वस्तु की संज्ञा देते हैं। यह दो तरह का होता है—प्रधान और गौण। इसमें पांच तत्व होते हैं। बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य।

बीज—उस परिस्थिति को बीज कहते हैं जिसमें कार्य व्यापार का प्रारम्भ होता है। 'रत्नावली' में प्रधान आमात्य का कार्य बीज का ही है। वह मूल कारण स्वरूप है।

विन्दु—किसी गौण घटना का जब अनायास विकास हो जाता है, उसे हम विन्दु की संज्ञा देते हैं। इससे किसी घटना का संकेत मिल जाता है।

पताका—यह किसी महान घटना का प्रतीक स्वरूप होता है।

प्रकरी—अल्पकालिक घटना को प्रकरी कहते हैं। वह गौण होती है। इसमें प्रमुख पात्रों का हाथ नहीं रहता।

कार्य—यही नाटक का अन्त है। यहीं नाटक के लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

कार्य व्यापार लक्ष्य में पाँच बातें शामिल होती हैं—

प्रारम्भ, पदोन्नति, सफलता की आशा, बाधाओं का हट जाना, पूर्णाहुति।

घटनाओं की शृंखला जिसे संधियों की संज्ञा दी जाती है और जिनके द्वारा लक्ष्यों की प्राप्ति होती है वे पांच प्रकार की होती हैं। यथा—

(१) मुख—इसमें घटनाओं की भूमिका मात्र होती है। इसके द्वारा भावी घटना क्रम का संकेत प्रारम्भ में ही मिल जाता है।

(२) प्रतिमुख—इसमें गौण घटना होती है। इसके द्वारा किसी बाधा या घटना क्रम के विकास का पता चलता है।

(३) गर्भ—इसमें ऊपर से देखने पर असफलता दृष्टिगत होती है। परन्तु वास्तव में लक्ष्यों में सफलता प्राप्त होती है।

(४) विमर्प—इसमें कहानी ऐसी मोड़ लेती है जिससे आशाओं पर तुषारपात हो जाता है और अप्रत्याषित घटनाएं घटती हैं।

(५) उपसंहृति या निर्वाहण—यहीं नाटक की समाप्ति होती है।

उपर्युक्त वर्गों के भी कई उप विभाग होते हैं। आचार्य इनके ६४ विभाग बतलाते हैं। इनमें १२ मुखांग, १२ प्रतिमुखांग, १३ गर्भांग, १३ विमर्षांग, १४ निर्वाहणांग होते हैं। हम यहाँ प्रत्येक का एक-एक उदाहरण देते हैं।

मुखांग में युक्ति शामिल है। इसमें उद्देश्य और परिणाम का सम्बन्ध दिखाया जाता है।

प्रतिमुखांग का एक अंग परिसर्प है। इसमें घटनाओं की प्रगति का विवरण होता है।

गर्भांग में अभूता हरण शामिल है। इसमें किसी क्षति का संकेत मिलता है।

विमर्षांग का एक भाग द्युति है। इसमें लड़ने की भावना को उकसाने का दृश्य सामने आता है।

नाटक के पात्र

प्रत्येक नाटक में एक नायक और नायिका होती है। नाटक में अन्य पात्र समाज के किसी न किसी वर्ग के सदस्य होते हैं। उच्च श्रेणी के नाटकों में नायक या तो कोई देवता होता है अथवा कोई देवता का प्रतिरूप होता है या मानव होता है। दूसरी कोटि के नाटकों में वह या तो कोई धार्मिक पुरुष होता है या इतिहास का कोई नायक होता है। नाटक के नायक की विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार बताई गयी है—

वह युवक हो, सुन्दर हो, उदार हो, बहादुर हो, विनम्र और कुलीन वर्ग का हो। नायक को ललित, शान्त, धीरोदात्त और उदात्त होना चाहिए। इन विशेषताओं के भी अड़तालीस भाग किये गये हैं। उसमें भी कई भाग हैं। कुल मिलाकर नायक की विशेषताओं की

सख्या १४४ तक पहुँच जाती है। यही हाल नायिका का भी है। नाटक और नाटिकाओं में हम नायिका के रूप मे स्वर्ग की अप्सराओं, देवियों, ऋषिपत्नियों और स्वय महिला ऋषियों को पाते हैं। उन नाटकों मे जो काल्पनिक कथानकों पर निर्भर रहते हैं नायिका के रूप मे राजकुमारियो तथा वेश्याओं को हम देखते हैं। ऐसे कथानकों मे जो षड्यत्रो पर आधारित होते हैं, अन्तपुर की सहेलियाँ नायिका के रूप में आती हैं।

महिलाएँ तीन प्रकार की होती हैं।

स्वकीया, परकीया और सामान्य। प्रत्येक मे निम्नलिखित विशेषता होती है—मुग्धा, प्रौढा और प्रगल्भा। इसके अतिरिक्त और भी कई श्रेणियाँ होती हैं।

सामान्यतः नायिका में आठ बातें उल्लेखनीय हैं।

(१) स्वाधीनपतिका—यह अपने पति की आज्ञाकारिणी होती है। पति में ही अपना अस्तित्व खो देती है।

२. वासकसज्जा—अपने प्रेमी की आशा में पूर्णतः सजी हुई रहती है।

३ विरहोत्कठिता—अपने प्रेमी की अनुपस्थित मे व्यथित होती है।

४. खण्डिता—प्रेमी की बेवाफाई का पता लगते ही स्तम्भित रह जाती है।

५. कलहान्तरिता—वास्तविक अथवा कल्पित रूप से उपेक्षित होने पर वह या तो दुखित हो जाती है अथवा क्रुद्ध हो उठती है।

६ विप्रलब्ध—अपने प्रेमी द्वारा वादा पूरा न किये जाने पर निराश हो जाती है।

७. प्रोषितपतिका—ऐसी स्त्री जिसका पति विदेश में होता है।

८. अभिसारिका—यह अपने प्रेमी की खोज मे जाती है अथवा उसे खोजने के लिए किसी को भेजती है।

नायिका के कुछ अलंकार होते हैं जिससे उसकी शोभा निखर आती है। इस अलकारो की संख्या बीस होती है। इनमे से कई तो प्रत्यक्ष होते हैं यथा शोभा, माधुर्य, धैर्य। दूसरी कोटि मे हैं भाव, हाव, हेला, लीला, विलास, विच्छति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टयिता, कुट्टमिता, विकृत और ललित।

नायक और नायिका के अतिरिक्त और भी कई पात्र नाटक मे होते हैं जिनको अङ्ग की सज्ञा देते हैं। इनमे निम्नलिखित पात्र विशेष उल्लेखनीय हैं।

पीठमर्द—यह नायक का मित्र और उसका विश्वास-पात्र व्यक्ति होता है और कभी कभी अपने कार्यों से दूसरे नायक का स्थान पूरा करता है। इसका कार्य नाटक से सम्बन्धित होता है।

प्रथम श्रेणी का दूसरा व्यक्ति प्रतिनायक होता है। यह नायक का विरोधी होता है, जैसे राम का विरोधी रावण अथवा युधिष्ठिर का विरोधी दुर्योधन।

प्रत्येक के अपने दरबारी, अमात्य, अधिकारी, साथी तथा आश्रित होते हैं। किन्तु इनमें से विट और विदूषक ये दो व्यक्ति मुख्य हैं जिनका संस्कृत रङ्गमंच में प्रमुख स्थान है। विट हल्की फुल्की कलाओं का पूर्ण ज्ञाता होता है। विशेषतया कविता, संगीत और गायन आदि मे उसे दक्ष होना चाहिए। वह बिना किसी भेदभाव के किसी पुरुष अथवा महिला के साथ दिखाई पड़ता है, यद्यपि वह महिला वेश्या होती है।

संस्कृत रंगमंच में विदूषक का कार्य एक मसखरे का होता है। वह राजकुमार या उच्च श्रेणी के व्यक्ति का साथी होता है, किसी का सेवक नहीं। पर अजीब बात यह है कि वह ब्राह्मण होता है। उसके अन्दर चतुराई और भोलापन का समन्वय होता है। वह अच्छे जीवन

का इच्छुक होता है और निरकुशता उसे पसंद होती है। षड्यन्त्र से सम्बन्ध रखने वाले नाटकों मे वह बुद्धिमत्ता प्रदर्शित करता है। किन्तु उसमे क्रियाशीलता और कल्पना शक्ति का अभाव दीखता है। 'मृच्छकटिक' मे उसकी नैतिकता और अपने मित्र के प्रति उसकी अगाध भक्ति का दर्शन हम करते हैं। इस पात्र मे हमेशा सजीवता देखने को मिलती है और कभी कभी तो वह बहुत हाजिर जवाब दिखाई पड़ता है।

नायिका के साथ उसकी सखी अथवा कोई विश्वास पात्र स्त्री रहती है और भूमिका के लिए सबसे उपयुक्त कोई धर्म बहन होती है। जहाँ पर नायिका के रूप में कोई रानी आती है वहाँ पर कोई परम सुन्दरी इस कार्य को सम्पादित करती है।

नाटक के अन्य पात्र समाज के किसी भी वर्ग से चुन लिए जाते हैं। यहाँ तक कि सुखान्त नाटकों में चाण्डालों तक को स्थान मिल जाता है।

नाटक का उद्देश्य

नाटकों का उद्देश्य मनोरजन के माध्यम से किसी शिक्षाप्रद बात को जनता तक पहुँचाना होता है। इसको दृष्टिगत रखते हुए नाटकों में यह क्षमता होनी चाहिए कि वे व्यक्त की जानेवाली भावनाओं को दर्शकों के दिमाग में पहुँचा दें। इन भावनाओं को आचार्यों में रस की सज्ञा दी है। रसों को हम प्रभाव की सज्ञा दे सकते हैं। ये स्वय कोई कारण उपस्थित नहीं करते। ये भावों के माध्यम से उत्पन्न किये जाते हैं। भावों को हम मन.स्थिति की सज्ञा दे सकते हैं। इन भावों को मुख्यत. हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) स्थायी और (२) व्यभिचारी भाव।

विद्वानो ने स्थायी भाव के आठ भेद बताये हैं।

१. रति—यह किसी वस्तु की इच्छा से सम्बन्धित है। किसी वस्तु को देखने या सुनने से यह जाग्रत होती है।

२. हास—इसमें हँसी अथवा विनोद का पुट होता है। तिरस्कार पूर्ण हँसी से यह भिन्न है।

३ शोक—प्रेमिका से विछोह होने पर जो अवस्था होती है उसे शोक की सज्ञा देते हैं।

४. क्रोध—ठेस पहुँचाने वाले किसी व्यवहार के प्रति घृणा व्यक्त करना।

५. उत्साह—वह भावना जो ओज, उदारता अथवा सहानुभूति जाग्रत करती है।

६. भय—तिरस्कार का डर बना रहना।

७. जुगुप्सा—घृणा या वितृष्णा को कहते हैं। यह भावना किसी वस्तु के देखने, स्पर्श करने या सुनने पर पैदा होती है।

८. विस्मय—यह भावना किसी वस्तु को देखने, सुनने अथवा छूने से चकित होने पर उत्पन्न होती है।

९. शान्त को इस वर्ग में साधारणतया नहीं गिना जाता। ससार की सभी प्रक्रियाओं को अस्थाई अथवा क्षणिक मानने वाले अध्यात्मवादी व्यक्ति मे इस प्रकार की भावना पाई जाती है।

स्थायी भाव भी तीन प्रकार के होते हैं—विभाव, अनुभाव और सात्विक भाव। विभाव उन आरम्भिक स्थितियों को तथा उन सहयोगी अवस्थाओं को कहते हैं जो किसी विशेष मानसिक अथवा शारीरिक स्थिति को उत्पन्न करते हैं। इस स्थिति की वाह्य अभिव्यक्ति को अनुभाव कहते हैं। सात्विक भाव स्वतः अभिव्यक्त होने वाली भावनाओं को कहते हैं जैसे स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरविकार, वर्णविकार, अश्रु आदि।

व्यभिचारी भाव लगभग तैंतिस होते हैं। इस सख्या के सम्बन्ध में अधिकारी विद्वानों मे मतभेद है। भरत नाट्य शास्त्र में इनकी गणना दे दी गई है। इनका विभाजन निम्नांकित होता है—निर्वेद, ग्लानि, शका, असूर, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति.

क्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निंदा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्य, उग्रता, मति व्याधि, उन्माद, मारण, त्रास, वितर्क आदि। इनका उपविभाजन भी होता है। कुशल कवि अथवा समर्थ नाटककार व्यभिचारी भाव के इन भेदों अथवा इनके उपभेदों का प्रयोग यथा स्थान पूर्ण कौशल के साथ कर लेते हैं।

रस—भरत के अनुसार रस आठ होते हैं। शृंगार प्रधान रसों में से एक है। संस्कृत नाटकों में और साधारणतया नाट्य शास्त्र में इसी रस को प्रधानता दी गयी है। अधिकतर नाटकों में शृंगार रस मिलता है। परन्तु यह सर्वथा अनिवार्य नहीं है। शास्त्रों के अनुसार शृंगार अत्यन्त उच्च कोटि का होना चाहिए। उसमें हल्कापन, अश्लीलता आदि नहीं होनी चाहिए। प्रेमियों की स्थिति तीन प्रकार की होती है—प्रेमियों का प्रेम सफल हो और दोनों का संयोग हो जाय; दोनों में से किसी का प्रेम निवेदन दूसरे तक न पहुंचा हो और दोनों में संयोग न हो सका हो, दोनों में संयोग होने के बाद वियोग हुआ हो। पहिले को सम्भोग, दूसरे को अयोग और तीसरे को विप्रयोग कहते हैं। अक्सर सफल प्रेम को सम्भोग और असफल प्रेम को विप्रलम्भ कहते हैं।

वीर रस की अभिव्यक्ति शक्ति, शौर्य, दया, उदारता आदि के कार्यों से होती है। इसमें नायक उद्धत, अशांत और उच्छृंखल नहीं हो सकता। वह शांत, गम्भीर और अविचल रहता है।

वीभत्स रस का संचार गन्दी, अश्लील वस्तुओं, दुर्गन्ध, कुवचन आदि के कारण होता है। स्मशान आदि के दृश्य नाटकों में इस रस को उत्पन्न करते हैं।

रौद्र रस का संचार क्रोध, उन्मत्तता आदि प्रगट करने, डरावने ढंग से बोलने, हाथ पांव चलाने या आक्रमण आदि करने, हिंसा का प्रयोग करने आदि से होता है।

हास्यरस विनोदपूर्ण कार्य करने, बोलने, विचित्र वस्त्र पहिनने तथा

इसने हंसाने का अन्य उपक्रम करने से उत्पन्न होता है। हास्य अनेक प्रकार का होता है जैसे स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, और अतिहसित।

अद्भुत रस विस्मय अथवा आश्चर्य की अभिव्यक्ति है। विचित्र वस्तुओं के देखने, विचित्र नादों या शब्दों के सुनने पर कंपन, स्वेद, आदि द्वारा इसका पता चलता है।

भयानक रस में स्पष्टतः भय, आतंक आदि के तत्व रहते हैं जो भयकारी दृश्य के देखने से उत्पन्न होते हैं। इसकी अभिव्यक्ति कंपन, स्वेद, मुँह के सूखने आदि से होती है।

करुण रस का संचार विपत्तियों, दुर्घटनाओं आदि के कारण होता है। आह, कराह, आंसू, विक्षिप्ति आदि के कारण यह उत्पन्न होता है। उदासी, थकावट, पीड़ा और मृत्यु के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है।

शांत रस को नाटकों में यथासम्भव प्रयुक्त नहीं किया जाता। वैसे अर्चना, वन्दना के गीतों में इसका प्रयोग होता है। अपनी विशेषताओं के कारण यह रस नाटकों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है।

रसों को रंगों से भी अभिव्यक्त किया गया है जैसे शृंगार—काला, हास्य—श्वेत, रौद्र—लाल, वीर—लाल, करुणा—भूरा, भयानक—काला, वीभत्स—नीला, अद्भुत—पीला।

इन भावों, रसों, रंगों के समन्वय से नाट्यकार और अभिनेता मानव मन की गहराइयों तक में उतर जाने में पूर्णतया सफल हो जाते थे। उनकी महान सफलता की कुंजी यही विवरण पूर्ण तत्व हैं। आरम्भ में दशरूपकों के काल तक इन सारे तत्वों का प्रयोग नाटकों को सफल बनाने में होता था। बाद में रीत्यानुसार इनका प्रयोग होने लगा जिससे नाटककारों का ध्यान नाटकों के वाह्य रूप की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होने लगा, विषयतत्व और नाटकों की आत्मा की ओर कम। परन्तु यह तो बाद की बात है। वैसे यदि महान

नाटककार भवभूति का उदाहरण लें तो हम देखेंगे कि उन्होंने तीन रसों की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये तीन नाटक लिखे—शृङ्गार रस के लिये 'मालतीमाधव', वीर रस के लिए 'महावीर चरित्र' और करुण रस के लिए 'उत्तर राम चरित'। मगर भवभूति अथवा उनके जैसे महान नाटककारों ने इन नाटकों को रसों के लिए न लिख कर, इन रसों का उपयोग अपने नाटकों के लिये किया। यह बहुत बड़ी बात थी। यही उनकी महानता और सफलता का कारण भी था।

संस्कृत नाटकों की भाषा के सम्बन्ध में भी यहां कुछ कह देना आवश्यक है। पहिली बात जो याद रखने की है वह यह है कि किसी भी बड़े नाटककार ने भरत नाट्य शास्त्र के आदेशों अथवा निर्देशों की अवहेलना नहीं की, बल्कि उनका पालन बड़ी चतुराई और सफलता के साथ किया। भरत को मुनि की उपाधि देकर, उनके आदेशों को पूज्य और पूर्णतया स्वीकार्य मानकर इन नाटककारों ने नाट्य कला सम्बन्धी अपनी सजगता और उत्तरदायित्व का परिचय दिया। भाषा की सरलता और सुबोधता की तरफ सभी बड़े नाटककारों ने पूरा ध्यान दिया। कालिदास की भाषा आदि से अन्त तक अत्यन्त सरल और प्रवाह पूर्ण है। यही बात भवभूति के 'उत्तर राम चरित' के सम्बन्ध में कही जा सकती है। 'मृच्छकटिक' में भी कठिनता या दुरूहता ढूँढ़ पाना आसान नहीं है, परन्तु 'मुरारि नाटक' अत्यन्त कठिन और दुरूह है।

इन नाटकों में जहाँ तक वार्तालाप का सम्बन्ध है, मुख्यतया वे गद्य में हैं। जहाँ वर्णन है अथवा जहाँ कवि ने अपनी कल्पनाशीलता से काम लिया है, पद्य का प्रयोग किया गया है। पद्यांश में अनुष्टुप छन्द से दण्डक तक का प्रयोग पाया जाता है। भवभूति ने अक्सर दण्डक का प्रयोग किया है, परन्तु कालिदास ने शायद ही कहीं इस छंद का प्रयोग किया हो। कालिदास के प्रिय छंद आर्या अथवा गाथ हैं। वैसे शकुन्तला की आरम्भिक पैंतालीस चतुष्पादियों में कालिदास

ने प्राय. ग्यारह छंदों का प्रयोग किया है। छंदों के कुशल प्रयोग से और उनकी विविधता के सहारे कालिदास और भवभूति ने अपने नाटको की भाषा में संगीतात्मकता, ओज और प्रांजलता ला दी है।

इसके अतिरिक्त इन नाटको मे एक विशेष बात और है। इन नाटककारों ने विभिन्न स्थिति के पात्रों द्वारा विभिन्न भाषाओं का प्रयोग कराकर स्वाभाविकता और सहजता उत्पन्न करने का श्रेयस्कर कार्य भी किया है। इन नाटका मे नायक और अन्य महत्वपूर्ण लोग संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं। परन्तु नारी पात्र तथा अन्य साधारण लोग प्राकृत तथा उसके विभिन्न रूपों का प्रयोग करते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से तो प्रधान नायिका और अन्य महत्वपूर्ण नारी पात्रों को शौरसेनी मे, सेवकों, परिचारिकाओ आदि को मागधी में, राजपुत्रों, व्यापारियो आदि को अर्धमागधी में, विदूषक को प्राची में और खलनायकों अथवा दुष्ट पात्रों को अवन्तिका में बोलना चाहिए। परन्तु ऐसा कठोर नियम सर्वत्र लागू नहीं होता। संस्कृत तथा प्राकृत में ही सारे पात्र प्रायः बोलते हैं। यदि ऐसा न हो तो सम्भवतः इन नाटकों को समझना ही असम्भव हो जाय। इस बात को ये नाटककार बहुत अच्छी तरह समझते थे। संस्कृत और प्राकृत का अन्तर उच्चारण भेद का अधिक है, व्याकरण सम्बन्धी अन्तर बहुत कम है।

संस्कृत रंगमंच के सम्बन्ध मे आरम्भ में अनेक भ्रान्ति मूलक बातें कही जाती रही हैं। नाटक खेलने के लिए रङ्गशालाएँ थीं अथवा नहीं, यदि थीं तो वे कैसी थीं—इन बातों के सम्बन्ध में मतभेद रहा है। भरत नाट्य शास्त्र में रङ्गशाला के सम्बन्ध में पूर्ण विवरण के रहते इस प्रकार का भ्रम होना तो नहीं चाहिए था। परन्तु किसी रंगशाला का प्रमाण पाये बिना, विद्वानों को यह स्वीकार करने में कठिनाई होती थी कि सत्यमेव संस्कृत नाटकों के साथ ही रङ्गमंचों की परम्परा भी थी। परन्तु सातावेंगा और जोगीमारा गुफाओं के मिलने, वहाँ के शिलालेखों और नाट्यशाला के अन्य चिह्नों को पहिचान

जाने के बाद इस सम्बन्ध में किसी को किसी भी प्रकार की शंका नहीं रह गई। इसके बाद भरत नाट्य शास्त्र में दिये गये निर्देशों के आधार पर बनी नाट्यशालाओं अथवा प्रेक्षागृहों के होने पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं रह गया। रङ्गशाला अथवा प्रेक्षागृह के सम्बन्ध में हम अन्यत्र विवरण के साथ कहेंगे। यह याद रखने की बात है कि इन रङ्गमञ्चों पर सिंहासन, रथ और जीवित पशु तक प्रदर्शित किये जाते थे। मत्तवारणी का प्रयोग आकाशमार्ग में होने वाले व्यापारों को प्रदर्शित करने के लिये होता था। पुरुष नर पात्रों का अभिनय करते थे, स्त्रियाँ नारी पात्रों का अभिनय करती थीं, कभी-कभी सुन्दर किशोरों को नारी पात्र का अभिनय करना पड़ता था। वस्त्राभूषण के सम्बन्ध में हमारे नाटककार और निर्देशक अत्यधिक सजग रहते थे। मञ्च की व्यवस्था के लिए विवरण सहित निर्देश रहा करते थे। प्रवेश, निष्क्रमण, नेपथ्य, यवनिका पतन आदि के सम्बन्ध में तो पूरा ध्यान दिया ही जाता था, दर्शकों को भी 'प्रार्थित' और 'प्रार्थक' नाम की दो कोटियों में विभक्त किया गया था और उनके प्रवेश करने, बैठने आदि के सम्बन्ध में, उनकी देखभाल करने, शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने के बारे में भी पूरा ध्यान दिया जाता था, पूरी सजगता दिखायी जाती थी। इस प्रकार संस्कृत नाटकों के लिखने में ही नहीं, उनको प्रदर्शित करने में भी पूरे उत्तरदायित्व, जानकारी, कुशलता और गम्भीर ज्ञान का परिचय दिया जाता था।

अध्याय ५

रंगशाला और रंगमंच

संस्कृत नाटकों के लिखने की परम्परा के साथ ही खेलने की परम्परा भी मिलती है। सच यह है कि यदि नाटकों के खेलने की परम्परा न रही होती तो लिखने की भी इतनी पुष्ट और उच्चस्तरीय परम्परा न रही होती। वेदों में कथोपकथन तथा वाद विवाद के जो रूप मिलते हैं उन्हीं का विकास नाटकीय कथोपकथन में हुआ। वेदों में जिस संगीत तथा नृत्य के उदाहरण हमें मिलते हैं उन्हीं के परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप हमें नाटकों के साथ लगे हुए मिलते हैं।

स्वयं भरत मुनि के नाट्य शास्त्र का इतना पूर्ण और निर्दोष रूप नहीं बन सकता था, यदि इसके निर्माण के पहिले नाटकों को रंगमंच पर प्रस्तुत करने की परम्परा न रही होती। हम जानते हैं कि उस समय हमारे देश में रंगमंचों और नाट्य शालाओं की कमी न थी। नाटकों को देखने के लिए बड़ी संख्या में "प्राश्निक" तथा प्रार्थक दर्शक एकत्र होते थे। वे रंगशाला अथवा प्रेक्षागृह में आराम से बैठकर नाटकों का अभिनय देखा करते थे। इन नाटकों के नारी पात्र और शूद्रादिक प्राकृत बोलते थे, उच्च वर्ण के पात्र संस्कृत बोलते थे।

अभिनय कला के सम्बन्ध मे कहा गया है, "अभिनयति हृद्गत-भावान्प्रकाशयति।" नाटकों मे निर्दिष्ट पात्रों के अनुसार वेष भूषा धारण करके, उसमे निर्दिष्ट वाग्व्यापार, क्रियानुसरण आदि अभिनय कहलाता था।

अभिनय को चार भागों में बांटा गया है (१) आंगिक (२) वाचिक, (३) सात्विक और (४) आहार्य। नेत्र, सिर, हाथ, पाँव,

चलाकर अभिनय करना 'आंगकि' कहलाता था। वाणी में उतार चढ़ाव, कोमलता, कर्कशता आदि लाकर अभिनय करना 'वाचिक' कहा जाता था। आँसू, कम्पन, पसीना आदि निकलने का अनुसरण करके अभिनय करना 'सात्विक' कहा जाता था। पात्र को ज्यों का त्यों रंगमंच पर प्रस्तुत कर देने के लिए, ठीक उसी के अनुसार वस्त्राभूषण धारण करना 'आहार्य' कहलाता था।

यही नहीं, नाट्यकारों के सम्बन्ध में निर्देश तो मिलते ही हैं, उनके गुणों और स्वभाव का भी परिचय विवरण सहित प्राप्त है। इस वर्णन को पढ़कर हमें पता चलता है कि नाट्यकारों को चार वर्गों में बांटा गया है।

(१) उदात्त नाट्यकार वह है जो अपने मन में अभिमान से भरा रहता है।

(२) उद्धत नाट्यकार दूसरों की आलोचना की पर्वाह नहीं करता। वह स्वयं अपनी प्रशंसा करता है।

(३) प्रौढ़ नाट्यकार अपनी प्रशंसा कठोर ढंग से करता है।

(४) विनीत नाट्यकार सदैव विनम्र रहता है। वह नम्र वचन बोलता है।

रंगशालाओं को भरत मुनि ने ३ वर्गों में विभाजित किया है। (१) विकृष्ट रंगशालाएं (२) चतुरस्र रंगशालाएं, तथा (३) त्र्यस्र रंगशालाएँ। रंगशालाओं को प्रेक्षागृह कहा गया है। विकृष्ट प्रेक्षागृह १०८ हाथ लम्बा होता था। यह पूर्ण रूप से सुसज्जित होता था। नाट्य शास्त्र में इसे देवताओं के लिए बताया गया है। ऐसी रंगशालाएँ साधारणतया नहीं बन पाती थीं। कुछ समय पहिले एक गुफा में ऐसी रंगशाला मिली है। चतुरस्र द्वितीय श्रेणी का प्रेक्षागृह होता था। यह ६४ हाथ लम्बा और ३२ हाथ चौड़ा होता था। इसमें उच्चकुल के लोग दर्शक की हैसियत से बैठते थे। त्र्यस्र त्रिभुजाकार रंगमंच होता था। इस रंगशाला में राजा, धनवान, कुलीन, जन-

नेपथ्य गृह
१६X३२
रंगशीर्ष
८X३२
मत्त वारणी
८X८
रंगपीठ
८X१६
मत्त वारणी
८X८
रंगमण्डप
३२X३२

साधारण सभी एक साथ बैठते थे। नाटक देखने वाले दर्शकों का स्थान निश्चित रहता था। बैठने का विधान जातीयता के आधार पर होता था। सबसे पहिले सफेद खम्भों के पास ब्राह्मण लोग विराजते थे। उनके बाद लाल खम्भों के पास क्षत्रियों का आसन रहता था, वैश्य उनके पास उत्तर पूर्व में बैठते थे। इसके बाद इतर जातियों के लिए स्थान रहता था। यदि दर्शक अधिक हो जाते थे तो दूसरी मंजिल भी बना दी जाती थी।

दर्शक भी दो प्रकार के होते थे, एक तो वे जिन्हें नाटक कर्ता स्वयं बुलाते थे। वे 'प्रार्थित' कहे जाते थे। दूसरे वे थे जो स्वयं नाटक देखने आते थे। वे 'प्रार्थक' दर्शक होते थे।

भरत मुनि ने प्रेक्षागृहों के सम्बन्ध में लिखा है :

त्रिविधः सन्निवेशश्च शास्त्रत परिकल्पितः।
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव तु मण्डपः॥

[प्रेक्षागृह की निर्माण विधि तथा पूजा, जो विधिपूर्वक प्रयत्न से जुटाई जानी चाहिए (सुनो !)। यहाँ दिव्य प्रेक्षागृह (नाट्य गृह अथवा रंगशाला) को देखकर श्रीमान विश्वकर्मा द्वारा उसकी स्थिति का तीन प्रकार का होना शास्त्र के अनुसार निश्चित किया गया कि नाट्यमण्डप (१) आयताकार (२) वर्गाकार अथवा (३) त्रिभुजाकार होना चाहिए।]

तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्य तथावरम्।
प्रमाणमेषां निर्दिष्टं हस्तदण्डसमाश्रयम्॥

[इनकी माप तीन प्रकार की होती है (१) ज्येष्ठ (बड़ी), (२) मध्य, मझली (३) अवर (हीन अथवा सबसे छोटी)। इनकी माप हस्त और दण्ड के हिसाब से बतलाई है।]

शतं चाष्टौ चतुःषष्टिर्हस्ता द्वात्रिंशदेव च।
अष्टाधिक शतं ज्येष्ठं चतुःषष्टिस्तु मध्यमम्॥

[एक सौ आठ हाथ, चौसठ हाथ, बत्तीस हाथ (ये तीन माप

है) इनमें ज्येष्ट एक सौ आठ हाँथ वाला है और मध्यम चौसठ हाँथवाला है।]

कनीयस्तु तथा वेश्म हस्ता द्वात्रिंशदिष्यते ।
देवानातु भवज्ज्येष्ठं नृपाणां मध्यमम् भवेत् ॥

[सब से छोटा नाट्य गृह बत्तीस हाँथ का होना चाहिये। देवताओं का नाट्य गृह ज्येष्ठ (सबसे बड़ा हो), राजाओं का माध्यम हो।]

शेषाणां प्रकृतीना तु कनीय संविधीयते !
प्रेच गृहाणां सर्वेशा प्रशस्तं मध्यमं स्मृतम् ॥
तत्र पाठ्यं च गेयं च सुख श्रावव्यरं भवेत ।
प्रेत्तागृहाणा सर्वेषा त्रिप्रकारो विधि स्मृत ॥

[शेष सामान्य प्रजाजनो के लिए छोटे नाट्य गृहों का सन्निधान किया जाता है। सब प्रेक्षागृहों में मध्यमाकृति प्रेक्षागृह को सबसे अधिक प्रशंसा योग्य माना गया है। उसमें पढ़ा और गाया हुआ सुख से सुने जाने योग्य होता है। सब नाट्यगृहों की विधि तीन प्रकार की कही गयी है।]

हमने यहाँ भरत नाट्य शास्त्र से ये श्लोक उद्धृत किये हैं और साथ में भावानुवाद भी दे दिये है। इन श्लोको के क्रम में अन्तिम महत्वपूर्ण श्लोक इस प्रकार है —

विकृष्टश्चतुरस्त्र त्र्यस्त्रश्चैव प्रयोक्तृभि. ।
कनीयस्तुस्मृत त्र्यस्त्र चतुरस्त्रं तु मध्यमम् ॥
ज्येष्ठं विकृष्ठं विज्ञेय नाट्यवेद प्रयोक्तृभि !

[अभिनय करने वाला के द्वारा उनको। विकृष्ट (आयताकृति), चतुरस्त्र (वर्गाकृति) चौकार, तथा त्र्यस्त्र (त्रिकोण) तिकोना कहा गया है। त्र्यस्त्र को सबसे छोटा और चौकोर को मध्यमाकृति कहा गया है। नाट्यवेद का प्रयोग करने वालों के द्वारा सबसे बड़ा प्रेक्षागृह विकृष्ट (आयाताकार) जाना जाय।]

भरत मुनि ने उपर्युक्त श्लोकों में प्रेक्षागृह अथवा रङ्गशाला के
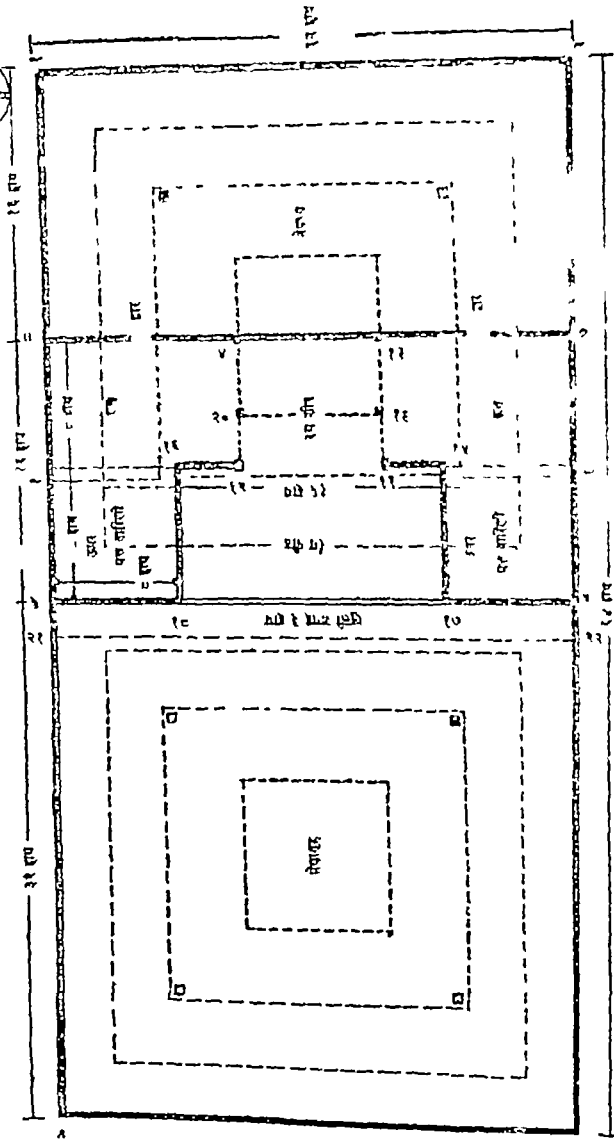
प्रवेश द्वार
द्वार
द्वार
प्रेक्षागृह

सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया है। विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र रङ्गशालाओं के भी तीन भेद हैं, ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ। भरत मुनि ने प्रत्येक प्रकार की रङ्गशाला की उपयोगिता के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला है। अभिनव गुप्त तथा शंकुक ने भरत-मुनि के नाट्य शास्त्र की टीका की है और इस विषय पर पूर्ण प्रकाश डाला है।

अभिनव गुप्त ने इस सम्बन्ध मे अपना मत प्रकट करते हुये कहा है, "समवकार के समान और जो नाटक हों, जिनमें सुर असुरों की लड़ाइयाँ और कलह आदि दिखाने हों उन नाटकों के लिए ज्येष्ठ नाट्य गृह का उपयोग करना चाहिए। मध्यम नाट्य गृहों का उपयोग उन रूपकों के लिए करना चाहिए जिनमें लड़ाइयाँ आदि विशेष रूप से न हों। और, जहाँ एक ही पात्र का अभिनय हो वहाँ कनिष्ट नाट्य गृह का प्रयोग करना चाहिए।" (नाट्य वेद विवृति)।

जैसा कि हमने देखा तीनों प्रकार के नाट्य गृहों की लम्बाई, चौड़ाई आदि का पूरा विवरण नाट्यशास्त्र में दिया गया है। यहाँ हम मध्यम विकृष्ट नाट्य गृह का एक मान चित्र दे रहे हैं। अधिकतर यही नाट्यगृह प्रयुक्त हुआ करता था। इसी का सीधा सम्बन्ध हिन्दी रंगमंच से है।

इस मान चित्र से प्रकट होता है कि नाट्य गृह को दो बराबर भागों में बाँट दिया जाता था। एक में अभिनय का आयोजन होता था। दूसरे भाग में ६, ५, २१ और २२ नम्बर के क्षेत्र को छोड़कर बाकी सब जगह दर्शकगण बैठते थे। इसी अंश में पूरब की ओर एक दरवाजा होता था जिससे होकर दर्शक लोग आते जाते थे। भरत मुनि के अनुसार ६, ५, ३, ४ क्षेत्र में डेढ़ हाथ का ढाल रहता था जिससे पीछे बैठने वाली जनता को देखने में असुविधा न हो।

दूसरे भाग में से आधा अंश नैपथ्य के लिए निश्चित था। यह १, २, ७, ८, क्षेत्र हैं। शेष आधे में दो भाग और होते थे। क्षेत्र ८, ७, ६, १० तथा क्षेत्र ६, ५, ६, १० इनमें प्रथम भाग तीन

अशों में विभाजित किया जाता था, बीच में रग शीर्ष और उसके इधर-उधर एक एक कक्ष। प्रत्येक की लम्बाई चौड़ाई मान चित्र में दे दी गई है। इसी प्रकार दूसरा भाग भी तीन अशों में विभक्त रहता था। बीच में रग पीठ तथा उसके इधर उधर एक-एक कक्ष। नेपथ्य और रगशीर्ष को विभाजित करने वाली एक स्थायी दीवार (७,८) हुआ करती थी। इसकी भीत पर सुन्दर चित्र बने रहते थे। ये रग शीर्ष पर अभिनीत होने वाले दृश्यों की पृष्ठ भूमि का कार्य करते थे।

रगशीर्ष वाले कक्ष में नेपथ्य से आने के दो मार्ग होते थे। कक्षा और रगशीर्ष के बीच प्रत्येक दिशा की ओर तीन तीन स्तम्भ रहा करते थे। यही आज कल की 'विंग्ज' का काम देते थे। कक्षों में रगशीर्ष पर आने के लिए एक द्वार रहता था।

रगशीर्ष और रगपीठ के बीच एक पर्दा रहता था (९, १०) यह स्थायी होता था और उठाया जा सकता था। इस पर्दे के शायद तीन भाग होते थे। कक्ष का पर्दा पड़ा रहता था। रगपीठ का भाग उठता गिरता था। रग पीठ के प्रत्येक कक्ष के ऊपर मत्तवारणी रहती थी। इसके नीचे का कक्ष 'विंग्ज' के काम में आता था। मत्तवारणी का प्रयोग आकाश मार्ग में दिखाए जाने वाले दृश्यों में होता था। रगपीठ के आगे एक पर्दा रहता था, यह 'ड्राप' के काम में आता था।

रगशीर्ष रग पीठ से थोड़ा ऊँचा रहता था। नेपथ्य रगशीर्ष से नीचा रहता था। पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान का प्रश्न द्वारों और कक्षों से हल हो जाता है। नेपथ्य का उपयोग वेष भूषा आदि अन्य कार्यों में हुआ करता था।

कुछ लोगों का विचार है कि सस्कृत के रंगमच पर केवल दो पर्दे हुआ करते थे। परन्तु यह गलत है। रग शीर्ष और रगपीठ के कक्षों की स्थापना इस बात का प्रमाण है कि पर्दों की सख्या नाटक

के अनुकूल हुआ करती थी और इस कला में भारत वासियों ने बड़ी उन्नति की थी। पर्दों को रंगने और उन पर चित्र बनाने के लिए एक पृथक अधिकारी रहता था जिसे "चित्रज्ञ" कहते थे। उसका काम पर्दों को रंगना था।

संगीतज्ञों के बैठने का स्थान शीर्ष के कक्ष द्वारों के निकट होता था। आज कल भी पर्दे के अन्दर ही संगीत का प्रबन्ध उपयुक्त समझा जाता है।

भरत नाट्य शास्त्र के १५ वे अध्याय के अनुसार नाटक के कार्यकर्ताओं का विभाजन भी किया गया था। वह विभाजन इस प्रकार था—

१. भरत, नाट्य संस्था का आधारभूत संचालक।
२. सूत्रधार, आधुनिक निर्देशक।
३. नट, रिहर्सल अधिपति।
४. तौरिय, संगीत का अधिपति।
५. वेषकर, वर्तमान 'ड्रेसर'
६. मुकुट कृत, शीर्षाभूषण तैयार करने वाला।
७. आभरणकृत, नाटकोपयोगी आभरण बनाने वाला।
८. माल्यकृत—माला पहिनाने वाला
९. चित्रज्ञ—पर्दा रंगने वाला
१०. रजक—धोबी और रंगरेज दोनो का काम करने वाला।

मान चित्र की व्याख्या

क्षेत्र १, २, ३, ४,=नाट्य गृह।

क्षेत्र १, २, ५, ६,=नाट्य गृह का आधा भाग जो अभिनय के काम में आता है।

क्षेत्र १, २, ७, ८ नेपथ्य, जो नाट्य गृह का भाग होता था।

क्षेत्र ८, ७, ९, १० तीन भागो मे विभाजित होता था।

क्षेत्र ११, १२, १३, १४ रंगशीर्ष होता था।

क्षेत्र ८, १४, १२, १० } दो कक्षा होते थे ।
क्षेत्र १३, ७, ६, ११ }

क्षेत्र १५, १६, १८, १७ रंग पीठ होता था ।

क्षेत्र १०, १६, १८, ६ } दो कक्षा होते थे ।
क्षेत्र १५, ६, ५, १७ }

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ६, १०, ११, १२, १३, १४, १५-
१६, १७, १८, १६, २०, २१, २२ स्तम्भ होते थे ।

क्षेत्र १, १६, १८, ६ } इनके ऊपर मतवारिणी बनी होती थी ।
क्षेत्र १५, ६, ५, १७ }

क्षेत्र ६, ५, २१, २२ = रंग भूमि के सामने का खुला भाग ।

क्षेत्र २२, २१, ३ = प्रेक्षागृह ।

हमने यहाँ मानचित्र और व्याख्या का विवरण इसलिए दिया है कि हमारे पाठक सरलता पूर्वक यह देख सकें कि इन प्रेक्षागृहों के निर्माण में हमारे नाट्य शास्त्री कितनी छोटी छोटी बातों का ध्यान रखते थे, प्रकाश की व्यवस्था, ध्वनि विस्तार की व्यवस्था, नाना प्रकार की दृश्य-दृश्यावलियों को प्रदर्शित करने की व्यवस्था करके इन प्रेक्षागृहों में जब नाटक प्रस्तुत किए जाते थे तो दर्शकों को सचमुच भ्रम होने लगता था कि वे नाटक देख रहे हैं अथवा सत्य लोक में आ गये हैं ।

सभी जानते हैं कि अभिनय करने वाले कलाकार तब तक अपनी कला का पूरा परिचय नहीं दे सकते जब तक कि वे अभिनय करते समय अपने निजी व्यक्तित्व को भूलकर स्वयं पात्र के मनोभावों में डूब न जायँ । यह तभी सम्भव होता है जब वातावरण अनुकूल हो, दृश्य, दृश्यावालियां बिल्कुल ठीक हों, जब ध्वनि तथा प्रकाश का समुचित प्रबन्ध हो और जब दर्शकों का भी पूरा सहयोग प्राप्त हो । नाटकों का सफल अभिनय तभी सम्भव हो सकता है जब अभिनेता और दर्शक दोनों अपने को भूल जायँ, दोनों नाटक के अंग बन जायं ।

इस कार्य में, ऐसी मानसिक स्थिति उत्पन्न करने में, सबसे अधिक सहायता समुचित वातावरण से ही मिलती है। हमारे नाट्य शास्त्री इस तथ्य को भली भाँति जानते थे। इसीलिए उन्होंने परिश्रम करके, नन्हीं-सी-नन्हीं बात का ध्यान रखकर ही प्रेक्षागृह का निर्माण किया, रंगमंच को रंगपीठ, रंगशीर्ष, नैपथ्य आदि में विभक्त किया, अभिनेताओं के आने जाने, पटों के गिरने उठने, समुचित दृश्यों का उपस्थित करने और ध्वनि तथा प्रकाश आदि की व्यवस्था करने की ओर गम्भीरता पूर्वक ध्यान दिया।

भरत का 'नाट्य शास्त्र' कितना महत्वपूर्ण साबित हुआ और उसमें दिए गए सिद्धान्तों, निर्देशों और संकेतों का किस गम्भीरता के साथ पालन और अनुगमन किया गया यह हम संस्कृत के नाटकों को ध्यान पूर्वक पढ़कर जान सकते हैं। कालिदास, भवभूति आदि सभी महत्वपूर्ण और प्रथम कोटि के नाटककारों ने भरत मुनि के प्रति कृतज्ञता प्रगट की है। उन्होंने अपने नाटकों की रचना करते समय सदा यह ध्यान रखा है कि वे नाट्य गृह में जनता के सम्मुख, 'प्राश्निक' और 'प्रार्थनीय' दर्शकों के सम्मुख, सफलता पूर्वक अभिनीत किए जा सकें।

भरत का गुरु स्थान इसीलिए मिला और वे 'मुनि' इसीलिए कहलाए कि उन्होंने पाँचवें वेद 'नाट्यशास्त्र' में जो कुछ कहा, जो निर्देश दिए वे सबको स्वीकार हुए और उनका पालन करके ही संस्कृत के नाटक रचे और खेले गये।

छोटा नागपुर के रामगढ़ स्थान पर एक गुफा में एक प्रेक्षागृह का पता चला है। अशोक के एक शिला लेख में भी इसकी चर्चा आयी है। रामगढ़ वाले प्रेक्षागृह को सुतनुका नाम की किसी महिला ने बनवाया था। प्रेक्षागृहों और रंगशालाओं का फैलाव देश के कोने कोने में था। रंगशालाएँ संस्कृत नाटकों के खेले जाने के लिए बनती थीं। उनकी दीवारों पर सुन्दर चित्रकारी रहती थी। खम्भे

रगे हुए रहते थे। पर्दों और दृश्यों के बदलने का पूरा प्रबन्ध रहता था। राज समाज और जनसाधारण नाटक देखने के लिए उपस्थित होते थे। यह सब संस्कृत नाटकों और संस्कृत प्रेक्षागृहों तथा रंगमंच की समृद्धि के प्रमाण हैं।

रामगढ़ पहाड़ी, जो कि सरगुजा में है, समुद्र से लगभग दो हज़ार फीट ऊँची है। यह लखन पुरा क्षेत्र में पड़ती है। बी० यन० रेलवे पर खरसिया स्टेशन है। इससे यह स्थान लगभग सौ मील दूर है। कर्नल जे० आर० ओसली को यहां ६० बरस पहिले दो गुफाए मिलीं जिन पर अशोक कालीन ब्राह्मी लिपि में लेख भी खोदे हुए मिले। उस स्थान के पास ही इस समय रघुनाथ जी का मन्दिर है। शिव, अष्टभुजा, हनुमान, लक्ष्मण, सीता आदि की मूर्तिया वहां अब भी हैं। राम गढ में वार्षिक मेला अब भी लगता है और भारत वर्ष के विभिन्न भागों से यात्री सहस्रों की संख्या मे एकत्र होते हैं।

इस पहाड़ी के अन्तर भाग में १८० फीट लम्बा और काफी चौड़ा एक रास्ता है जिससे हाथी गुजर सकता है। इसी पहाड़ी के पश्चिम की ओर दो गुफाए हैं। उनमें से उत्तरी गुफा को 'सीता बेंगा' कहते हैं और दक्षिणी गुफा को 'जोगी मारा' गुफा कहते हैं। सन् १८६४ में डाक्टर थियो डार ब्लाख इन गुफाओं को देखने गए। वहाँ जाकर उन्होंने उनके चित्र भी लिए। डाक्टर ब्लाख ने शिला लिपि का भी चित्र लिया। जब इन लेखों का अध्ययन किया गया तो पता चला कि इनमें नाटक और कविता का चर्चा है। इसके पहले श्री बोयर आदि यात्री भी वहां गए थे। मगर उन्होंने उन गुफाओं को जोगियो का निवास स्थान समझ कर छोड़ दिया। मगर डाक्टर ब्लाख ने इन लेखो को पढने के बाद उनके सही महत्व का पता लगा लिया।

'सीता बेंगा' गुफा का नाम महारानी सीता के नाम पर पड़ गया। यह गुफा यूनानी एम्फी थियेटर (अर्ध गोलाकार कमरे) की तरह है।
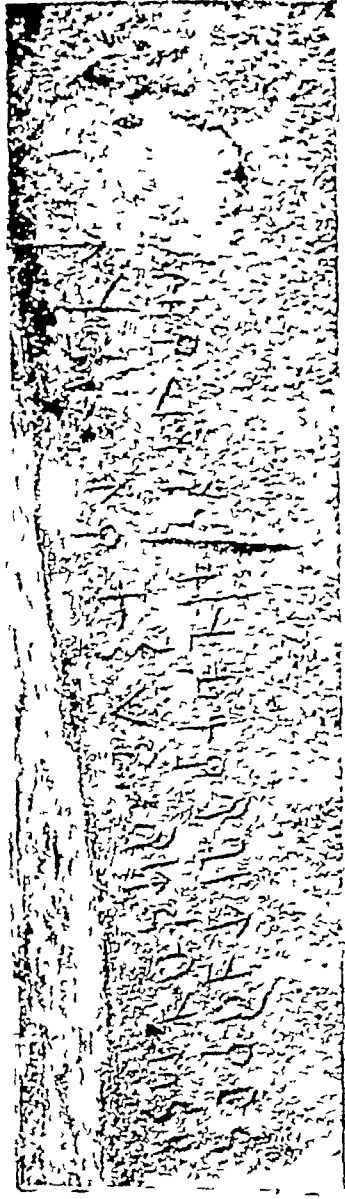
सीता बेंगा गुफा का शिलालेख

वहां पत्थर में छेद भी मिले जिनमें पर्दा टांगने के लिए लकड़ी की बल्लियां लगायी जाती थीं। बाहरी तरफ ऊपर को उठती हुयी सीढ़ियों के चिन्ह मिले हैं जो अर्धवृत्ताकार हैं। इन पर लोग बैठकर अभिनय देखते थे। सीता बेंगा की लम्बाई ४६ फीट और चौड़ाई २४ फीट है। बाहर सामने बैठने के लिए तीन तरफ पत्थर की कुर्सियों की कतारें हैं। गुफा के भीतर भी बैठने के लिए इसी प्रकार की तीन कतारें तीन तरफ हैं। ये बैठने की जगहें ज़मीन से ढाई फीट ऊँची और सात फीट लम्बी हैं। यह अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि वर्षा काल में दर्शक गुफा के भीतर बैठ कर अभिनय देखते थे, मगर अन्य ऋतुओं में वे बाहर भी अच्छी संख्या में बैठ सकते थे।

सीता बेंगा गुफा में जो शिला लिपि मिली है वह ३ फ़ीट चौड़े और आठ फीट लम्बे पट्ट पर है। अक्षर ढाई इंच के हैं और लेख दो पंक्तियों में पूरा हुआ है।

१. अदि पयति हृदयं।
   सभावा-गरु कवयो ए रातयं......

२. दुले वसतिया। हासावनूभूते।
   कुदस्फतं एवं अलंग [त]

दूसरी पंक्ति के कुछ शब्द टूट गए हैं इसलिए ठीक ठीक पढ़े नहीं जाते। 'कुदस्फतं' के स्थान पर 'कुदस्ततं' भी पढा जा सकता है। डाक्टर ब्लाख ने इस लेख का जो अर्थ लगाया है वह कुछ इस प्रकार है, 'कवियों को सम्मानित करना चाहिए क्योंकि वे हमारे हृदयों को आन्दोलित करते हैं। वसन्त पूर्णिमा को दोल जात्रा उत्सव सम्बन्धी गीत गाए जाते हैं और हंसी के फौव्वारे छूटते हैं। गले में चमेली की माला डाले लोग आनन्द से फूले नहीं समाते।' डाक्टर ब्लाख का कहना है कि इस लेख से यह पता चलता है कि इस स्थान पर कविता पाठ होता था, प्रेम के गीत गाए जाते थे और

नाटकों के अभिनय हुआ करते थे। थोड़े में हम यह मान सकते हैं कि यह गुफा तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व की भारतीय प्रेक्षागृह का एक नमूना है।

जोगी मारा गुफा में यह शिला लिपि प्राप्त हुई—

सुतनुका नाम देव दाशिक्यी=सुतनु का नाम की देवदासी

तम कमयिथ बालानशेये=वाराणसी निवासी उसका प्रेमी

देव दिन नाम लूपदक्खे=देव दिन्न या देवदत्त नाम का, रूप में दक्ष

डाक्टर ब्लाख ने इन टूटे वाक्यों को मिला कर इसका भावार्थ यह किया है, "सुतनुका नाम की देवदासी जो कि नर्तकियों में मुख्य थी इस गुफा में रहती थी और वह एक अभिनेता अथवा कलाकार से प्रेम करने लगी थी जिसका नाम देव दत्त था।"

जोगी मारा गुफा की छत पर निम्नांकित दृश्यों के पाच चित्र हैं—(१) एक वृक्ष के नीचे एक व्यक्ति नर्तकियो और सगीतज्ञों के साथ बैठा हुआ है। नर्तकियां और सगीतज्ञ बायीं ओर और एक जलूस दाहिनी ओर है।

(२) एक व्यक्ति का चित्र और कुछ ज्योमिति की रेखाए।

(३) एक व्यक्ति फूलों और घोड़े के साथ।

(४) एक नगा आदमी और उनके साथ कपडे पहिने हुए तीन नौकर।

(५) दूसरी ओर दो बैठे हुए व्यक्ति, साथ में तीन नौकर, घर की खिड़की के पास एक हांथी और तीन खड़े व्यक्ति।

जोगी मारा गुफा में एक ऊची चौकी सी है। सम्भवतः इस स्थान पर बैठकर कवि कविता पाठ किया करते थे। सीता बेंगा गुफा में मिला लेख पद्य बद्ध है। स्पष्टतः यह किसी कवि की कृति है। इस बात के चिन्ह मिलते है कि इस गुफा में कविता पाठ हुआ करते थे। इस प्रकार इन दोनो गुफाओं में कविता-पाठ, नृत्य तथा नाट्या-

जोगीमारा गुफा का शिला लेख

भिनय के स्पष्ट प्रमाण मिलते है। डाक्टर ब्लाख का अनुमान था कि इस प्रेक्षागृह का युनानी आधार था। परन्तु अन्य योरोपीय तथा भारतीय विद्वान यहां से प्राप्त पद्य लेख तथा दूसरे लेख और अन्य वस्तुओं का गम्भीर अध्ययन तथा विश्लेषण करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचे कि इस प्रेक्षागृह पर युनानी या अन्य विदेशी प्रभाव बिल्कुल नहीं है। डाक्टर ब्लाख ने इसे युनानी ऐम्फीथियेटर के आधार पर बना बताया। इससे यह धारणा बनती है कि भारत में जब युनानी आए और बसे उसके बाद यहा प्रेक्षागृह का निर्माण हुआ। यहा के निवासियों का अपना कोई रंगमच नहीं था। तथा, भारतीयो ने अपने से अधिक सुसभ्य और सुसस्कृत युनानियों से रंग मंच प्राप्त किया। डाक्टर ब्लाख का कथन है, "यह सम्भव है कि जब भारतीयों ने युनानी रगमंचों को देखा और उनसे परिचित हुए तो तो उन्होंने उनके आधार पर अपने मनोरजन के लिए नाट्य गृहों का निर्माण किया।" अन्य विद्वान श्री विन्डिश ने 'यवनिका' शब्द के कारण यह अनुमान लगाया कि रंग मंच के पीछे रगे और सचित्र पर्दे युनानियों से ही लिए गए थे। परन्तु प्रोफेसर लूडर्स ने इस बात को सरासर गलत कहा है। यद्यपि वह यह स्वीकार करते हैं कि भारतीय नाटकों और युनानी नाटकों में कुछ सम्बन्ध होना सम्भव था परन्तु भारतीय रंगमंच युनानी रंगमच की अनुकृतिमात्र है, इस बात को वह सर्वथा अस्वीकार करते हैं।

इस सम्बन्ध में भरत के नाट्यशास्त्र में दिए गए प्रेक्षागृह सम्बन्धी विवरणों को सदा स्मरण रखना चाहिए। साथ ही इससे भी पहले ग्रन्थों में नाट्य सम्बन्धी विवरणों और चर्चा को भुलाया नहीं जा सकता। नाट्यशास्त्र, जिसे युनानियो के आगमन के पहिले ही विरचित माना जाता है, कहता है कि, "नाट्यशाला को गुफा की शक्ल का होना चाहिये और उसमें दो मंजिलें होनी चाहिएँ।" इस सम्बन्ध में निम्नांकित श्लोक याद रखना चाहिए—

सीता बेंगा गुफा

डाक्टर ब्लाख का कथन है, "दोनों (सीता बेंगा और जोगी मारा) गुफाओं के अक्षर प्रायः समान हैं। अशोक के शिला लेखों में लिखे अक्षरों और इन अक्षरों में भेद प्रायः नहीं के बराबर है। दोनों लेखों में 'य' पञ्चद के रूप में बना हुआ है। 'श' में जो चि केवल जोगी मारा गुफा लेख में आया है, बीच की लाइन नीचे की ओर झुकी हुई है। बाएँ हाथ जहाँ से अक्षर बनना शुरू होता है होता है, वहीं से यह झुकाव आरम्भ हो जाता है। ऊपरी सिरे से यह नहीं शुरू होता। जोगीमारा गुफा के लेख में 'अ' 'इ' अथवा 'ऊ के दीर्घ स्वर नहीं हैं। सीता बेंगा गुफा के लेख में 'आ' तथा 'ऊ पाए जाते हैं। दोनों लेखों में पूर्ण विराम के लिए खड़ी पाई का प्रयोग हुआ है। इन विराम चिह्नों द्वारा शब्दों के विभिन्न समूहों को विभक्त किया गया है। अशोक के शिला लेखों में इस प्रकार के विराम द वाक्यों के आदि और अन्त में रिक्त स्थान के द्वारा लगाए गए हैं इस प्रकार रामगढ़ के इन शिला लेखों का यह तरीका जो कि क शताब्दियों बाद शिला लेखों और हस्तलिपियों में पुन जीवित हुआ पुरानी फारसी के लेखों में प्रयुक्त वाक्यों को विभक्त करने वाल ढलावनुमा चिह्न की याद दिला देता है।

"सीता बेंगा शिला लेख दो पंक्तियां हैं। दोनों बराबर हैं। उनक लम्बाई ३ फीट आठ इंच है। अक्षर औसतन ढाई इंच के हैं। गुफ के भीतर घुसते ही उत्तर तरफ छत के ठीक नीचे यह लेख खुदा हुअ है। दोनों पंक्तियों का अन्तिम भाग सिमेन्ट से छिप सा गया है। उसे साधारण चाकू से छील न सका। इसीलिए दोनों पंक्तियों अन्तिम अक्षर कुछ अस्पष्ट से हो गए हैं। कुछ अक्षर तो बिल्कु मिट गए हैं। मैंने इस शिला लेख को इस तरह उतारा है—

(११) अदिपयति हृदयं। सभावागरु कवयो ए रातय...

(१२) दुले वसंतिया। हासावानूभूते। कुदस्फतं एवं अलंग [त]

सीता बेंगा गुफा की नाट्य शाला का मानचित्र
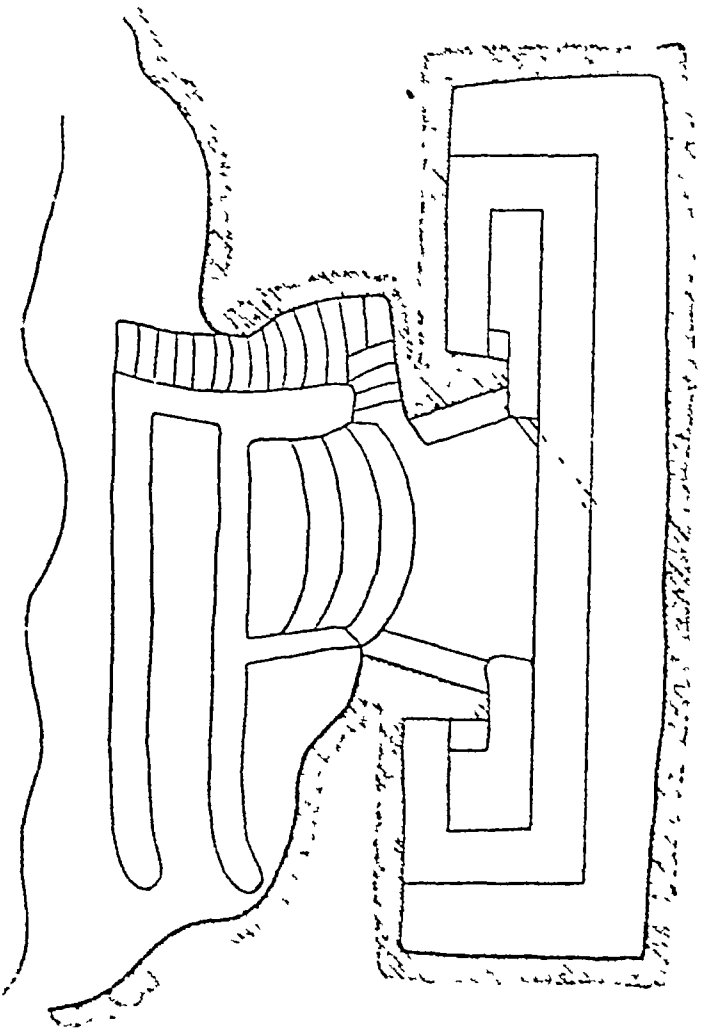
"पंक्ति के 'ए' और 'रा' के बीच में कुछ अन्तर आ गया है। दूसरी पंक्ति के 'कु' तथा 'द' अक्षरों के बीच दरार पड़ गयी है। इन्हें अन्तर-विरामों का चिह्न नही माना जा सकता। दूसरी पक्ति में दूसरी खड़ी पाई, जो कि कुछ अधिक लम्बी हो गयी है, स्पष्ट रूप से अन्तरविराम चिह्न है।

"श्री एम० ब्रोयर ने प्रथम पक्ति के दसवेंअक्षर को 'ढा' पढा है। परन्तु यह स्पष्ट ही 'भा' है। इसी तरह मै इस बात में सुनिश्चित हूँ कि इसी पक्ति का तेरहवां अक्षर 'रु' है, कनियम के अनुसार पढा गया 'र' नहीं है। 'क' के बाद अनुस्वार का कोई चिह्न नहीं है। पत्थर मे भी ऐसी कोई टूट नही है जिससे हमें इसका आभास मिलता जिसका चर्चा ब्रोयर ने किया है। अन्त से पढ़ने पर तीसरा अक्षर 'रा' है 'ति' नहीं। अन्तिम अक्षरों मे प्रथम 'त' हो सकता था। मैं नहीं समझता कि अन्त में दो या तीन से अधिक अक्षर खोये अथवा मिटे हैं क्योंकि इसके बाद का पत्थर खुरदरा है (इसके पहिले की तरह चिकना नही)। चित्र में यह बात देखी जा सकती है।

"इस लेख के साथ जो चित्र प्रकाशित किया गया है उससे हम सम्भवतः पहिचान लेंगे कि दूसरी पक्ति का सातवा अक्षर 'हि' है। दुर्भाग्य है कि पत्थर पर बना हुआ एक छिद्रमात्र यह भ्रम उत्पन्न करता है कि 'ई' मात्रा का आरम्भ यहीं से हुआ। परन्तु कागज पर जो चित्र मैंने उतारा उसे ध्यान पूर्वक देखने पर मैंने फिर यही निश्चय किया कि यह अक्षर 'आ' है। पन्द्रहवा अक्षर निश्चित रूप से 'स्त' नहीं है, यह 'स्क' है। चित्र में 'क' अक्षर का चक्करदार अन्त आसानी के साथ देखा जा सकता है। अन्तिम दो अक्षर भी प्रायः निश्चित रूप से 'ग' और 'त' हैं पर इनके स्वर अस्पष्ट हैं।

"प्रथम पक्ति के आरम्भिक टुकड़े का अर्थ "प्रकृति ने प्रिय कवि हृदय को प्रकाशवान बनाते हैं" (Poets venerable by nature kindle the heart) मेरी समझ में निराधार समझा जाएगा। इसने

अधिक स्वाभाविक अनुवाद शायद नहीं किया जा सकता। इसके बाद का 'दे' सम्प्रदान-वाचक सर्वनाम है। इसका सम्बन्ध 'कारो' से है। चूँकि इस पंक्ति का अन्तिम भाग सन्दिग्ध है इसी रूप में इसका अनुवाद नहीं करूँगा। दूसरी पंक्ति में मैं तो कुछ समझ सका, यद्यपि इसे मैं किसी भी प्रकार अन्तिम नहीं मानता, मुझे यह नहीं लगता कि यह 'ए-सगदे' से आरम्भ होने वाले वाक्य से सम्बन्धित है। स्पष्ट ही 'सतय' की भाँति (सत से) की तरह की व्याख्या यहाँ ठीक नहीं बैठती।

"दूसरी पंक्ति का अर्थ 'कुदस्का' शब्द पर आधारित है। इस शब्द के अक्षरों के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है। 'द' के बाद अनुस्वार तथा 'स्क' के बाद अकार जोड़ देने से, और यह परिवर्तन भ्रान्ति-जनक नहीं है, यदि इन्हें परिवर्तन मान लिया जाय तो, यह शब्द 'कुंदस्कात' बन जाता है, जो संस्कृत का 'कुन्दस्फीत' है। इसका अर्थ होगा, कुन्द के फूलों से लदा हुआ। 'स्कात' 'स्फीत' का दूसरा रूप है। स्पष्ट ही यहाँ कुन्द के फूलों से ही मतलब है, इन फूलों की माला अब भी उत्सवों के समय पहनी जाती है। इस प्रकार हमें अन्तिम शब्द के अन्तिम दो खोये स्वरों का भी पता चल जाता है। 'आल-गेति' पढ़ने पर हम 'आ—लग' के तृतीय पुरुष, बहुवचन रूप को वर्तमान काल में पा जाते हैं। शब्दों का अनुवाद इस प्रकार हो सकता है—"वे (लोग, जनता) कुन्द पुष्पों से लदी (अपने गले में) (माला) पहिनते हैं।" जिस अवसर पर वे ऐसा करते थे उसका चर्चा पंक्ति के प्रारम्भिक शब्दों में आया है। 'दुले वासतिया' का सीधा अर्थ '(अपने पति से) बिछुड़ी हुई स्त्री' करने से इस लिपि में मागधी रूप को ढूँढ लेना होगा ('दुले'=संस्कृत का 'दूरे')। परन्तु इस बात का कोई भी चिह्न नहीं मिलता कि यह पंक्ति मागधी रूप में लिखी गयी है। मैं 'दुले' को अनुमानित 'दुला' शब्द से मिलाना चाहता हूँ। यह 'दोल' का ही पर्याय होगा। 'वसतिया' को

'वासती' (पूर्णिमा) अथवा वसन्त पूर्णिमा मानता हूँ। फाल्गुन मास की पूर्णिमा (आधुनिक होली) का उत्सव आज भी बंगाल में 'दोलजात्रा' कहा जाता है। यह नाम किसी भी प्रकार अनुचित नहीं है। काव्य की रोचकता का चर्चा भी इस सम्बन्ध में तर्क पूर्ण अथवा समीचीन मालूम पड़ता है। जन साधारण के आनन्दोल्लास के इस उत्सव तथा बाद के नाटकों से इसका सम्बन्ध अवश्य रहा होगा। संस्कृत के प्रायः सभी नाटक वसन्तोत्सव के अवसर पर ही खेले जाते रहे हैं। 'रत्नावली' के आरम्भ में राजा तथा विदूषक प्रजा के आनन्दोल्लास का जो सजीव चित्र अपने व्यंग्य विनोद द्वारा खींच देते हैं उसे देखकर उत्तर भारत के गाँव-गाँव और नगर-नगर में आज भी होली के अवसर पर होने वाले हुड़दंग और आनन्द-उत्सवों की याद हो आती है। 'हासावानूभूते' को मैं 'दुले' के विशेषण के रूप ही मानता हूँ। 'हासावानूभूते' संस्कृत का 'हास्यवान्-ओद्भूते' अथवा 'उद्भूत' ही है। इस प्रकार के अनियमित मिश्रित शब्द तो बहुत मिलते रहते हैं। मैं इनका अर्थ यों करता हूँ, 'जिस अवसर पर हास्य और संगीत की भरमार रहती है।' कठिनाई केवल 'हासा' के दूसरे प्रकार में होती है। मैं इसका कारण नहीं बता सकता। इसी प्रकार वाक्य के अन्त में 'एव' का भी मेरे अनुवाद में कोई अर्थ नहीं निकल सका।

"मेरा अनुवाद इस प्रकार हुआ—

(१. १) "प्रकृति ने प्रिय कवि हृदय को प्रकाशवान बनाते हैं, जो......"

(१. २) "वसन्त पूर्णिमा के दोल-उत्सव के अवसर पर जब कि हास्य और संगीत की भरमार रहती है, लोग इस प्रकार (?) (अपने गले में) कुन्द पुष्पों से लदी (माला) पहनते हैं।"

डाक्टर ब्लाख आगे कहते हैं, "शिला लेख की दूसरी पंक्ति के

[illegible] के बारे में नाम चाहे जो रखें, यह निश्चय है कि प्रथम शती के आसपास की [illegible] और [illegible] सन्देह हो रहे हैं। [illegible] प्रयोग से आरम्भ होता है [illegible] और कुछ भी हो नहीं सकता। [illegible] जो कुछ मिलता है उससे यह [illegible] भिन्न है। [illegible] पहाड़ी की यह 'सीताबेंगा' गुफा संसार की [illegible], परिचय नाट्य-शास्त्रीयता का [illegible] स्थान नहीं था। [illegible] महोदय के हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि यह एक ऐसा स्थान था जहाँ कविता-पाठ होता था, जहाँ प्रेम के गीत गाए जाते थे और नाट्य अभिनय किया जाते थे। संक्षेप में, हम इसे तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के भारतीय रंगमंच के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

"इस कार्य के लिए इस गुफा की व्यवस्था बिल्कुल ठीक थी। चित्र में और १ तथा २ नम्बर के रेखा चित्रों में इसे भलीभाँति दिखला दिया गया है। कनिंघम की रिपोर्ट के तेरहवें भाग के १० नम्बर के चित्र से भी इसकी तुलना कर लेनी चाहिए।

'मुख्य द्वार के सामने चट्टान से काटकर बनी अर्ध गोलाकार सीढ़ी नुमा बेंचें हैं। मिस्टर बेगलर ने उन्हें सीढ़ी बताया है। मगर निश्चित रूप से वे किसी और काम के लिए बनी थीं। गुफा के द्वार पर यहाँ से वहाँ तक सीढ़ियाँ बनाने का कोई प्रयोजन नहीं मालूम होता। विशेषतया दाहिने हाथ पर और दक्षिणी किनारे पर तो सीढ़ियाँ बन ही नहीं सकती थीं क्योंकि वहाँ से गुफा के भीतरी भाग में जाने के लिए कोई मार्ग है ही नहीं। फिर, जो उत्तर से दक्षिण तक और पूरब से पच्छिम तक कृत्रिम कटाव हैं उनकी कोई भी उपयोगिता नहीं है। वे नालियाँ तो हो नहीं सकतीं क्योंकि कोई निकास न होने के कारण, वर्षा का पानी उनमें इकट्ठा तो हो सकता है, मगर बाहर नहीं निकल सकता। मगर जिन्हें सीढ़ी कहा गया है उन्हें यदि बैठने

का स्थान मान लिया जाय तो दर्शकों का उनपर बैठकर सामने होता हुआ अभिनय देखना सम्भव हो सकता है। लगातार पानी के गिरते रहने से बेंचें किसी हद तक घिस गयी हैं। रेखाचित्र नम्बर १ में उसका जो मानचित्र प्रस्तुत किया गया है उससे वहाँ की व्यवस्था का सम्यक ज्ञान नहीं हो पाता, विशेषतया इसलिए कि दाहिने हाथ के कोने में स्थित बेंचों के जो अवशेष हैं, उनको इसमें अंकित नहीं किया गया है। शायद जो चित्र (फोटो) यहाँ प्रकाशित किया है उसमें यह चीज़ अधिक स्पष्ट है। मानचित्र नम्बर १ की सबसे नीचे की पंक्ति टेढ़ी मेढ़ी है। उससे केवल यह पता चलता है कि जमीन कहीं-कहीं दबी हुई है। उठे हुए भाग का वह अन्तिम सिरा नहीं है। पत्थर को काटकर जो गोलार्ध बनाया गया है उसके सामने रंगमंच बनाने के लिए काफी स्थान है तथा उन बेंचों पर आसानी से पचास या उनसे भी अधिक दर्शक बैठ सकते थे।

"जिन सीढ़ियों से होकर भीतर जाया जाता था उन्हें चित्र में देखा जा सकता है। वे केवल बायें हाथ की ओर हैं, दाहिने हाथ पर बिल्कुल नहीं हैं। भीतरी कक्ष में लम्बाई अधिक चौड़ाई कम है। इसकी लम्बाई ४६ फीट और चौड़ाई २४ फीट है। तीन तरफ चौड़ी चट्टानों को काट कर बैठने की सीटें बनायी गयी हैं। ये सीटें दाई फीट ऊँची और सात फीट चौड़ी हैं। आगे का भाग कुछ इंच झुका हुआ है। भीतर घुसने की जमीन सीटों के कोने की जमीन से कुछ नीची है। यहाँ सबसे महत्वपूर्ण वे दो छेद हैं जो कि भीतर घुसते ही जमीन में मिलते हैं। दुःख है कि भूल से मानचित्र नम्बर १ में उनका चिह्न नहीं दिया जा सका। जाहिर है कि इन छेदों में लकड़ी के खम्भे लगते थे जिनसे पर्दा बांधा जाता था। इस पर्दे से जाड़े के ज़माने में ठंडी हवा भीतर नहीं आ पाती थी और भीतर दर्शक बैठकर अभिनय देखते थे। ऐसे अवसर पर दर्शक उन बड़ी बेंचों में बैठते थे और नृत्य करनेवाले पर्दे के सामने अपना अभिनय करता

थी। मानचित्र १ और २ में पत्थर काटकर निकाली गयी एक नाली भी भीतरी भाग में दिखायी गयी है।"

सीताबेंगा के इस प्रेक्षागृह का इस प्रकार का विवरण देने के बाद डाक्टर ब्लाश कहते हैं, "गुफा के आगे होने का अर्द्धवृत्ताकार कक्ष की योजना, चट्टान काटकर बनाये गये सीढ़ी नुमा बैठने के स्थान और उनके बीच बीच में आने-जाने का मार्ग—ये सब चीजें यूनानी प्रेक्षागृहों से समानता रखती हैं और मैं समझता हूँ कि हमें इस बात को अनदेखी नहीं करना चाहिए। इसी तरह यह स्वीकार कर लिया जाना चाहिए कि एक भारतीय प्रेक्षागृह की बनावट में यूनानी प्रेक्षागृह के रूप का शामिल हो जाना, भारतीय नाटकों पर यूनानी प्रभाव की समस्या से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। 'जर्मन ओरियन्टल सोसाइटी (भाग L viii, पृष्ठ ८६७) के जर्नल में अभी कुछ दिनों पहिले प्रोफेसर लूडर्स ने 'सीता बेंगा' गुफा में नाट्य गृह की खोज के सम्बन्ध में उसी अंक के पृष्ठ ४५५ पर प्रकाशित मेरे आरम्भिक नोट का हवाला दिया है। पहले तो उन्होंने कालिदास की कविताओं के कुछ टुकड़ों की ओर ध्यान दिलाया, जिनसे तथ्य-हीनता चाहे जितनी हो, परन्तु उनसे यह तो मालूम ही हो जाता है कि प्राचीन भारत की इन गुफाओं में केवल साधु सन्यासी ही नहीं रहते थे, वरन् इनमें देवदासियाँ, नर्तकियाँ आदि भी रहती थीं और उनके प्रेमियों का भी इनमें निवास रहता था। उन्होंने 'लेण शोभिका' शब्द का, जो कि मथुरा के शिला लेखों में आया है, अर्थ 'गुफा निवासिनी अभिनेत्रियाँ' ही किया है। जहाँ तक भारतीय नाटकों पर यूनानी प्रभाव का प्रश्न है, उन्होंने यूनानी 'मीमस' पर रीख के विद्वतापूर्ण कार्य की ओर ध्यान दिलाया है और बताया है कि इस विद्वान के अनुसधानों के फलस्वरूप भारतीय नाटकों और यूनानी 'मीमस' के आपसी सम्बन्धों की सम्भावना का सवाल ही नहीं उठता। इस लेख के लिए मैं रीख की पुस्तक को पढ़ नहीं सका हूँ। पर मैं

समझता हूँ कि उनके तर्क मुख्यतया साहित्यिक हैं। जो भी हो, मैं समझता हूँ कि यह किसी भी प्रकार असम्भव नहीं माना जा सकता कि यदि भारतीय लोग युनानी थियेटरों के सम्पर्क में आए तो उनकी व्यवस्था को देखकर भारतीयों ने अपने मनोरंजन केन्द्रों में उसी प्रकार की व्यवस्था करना (उन्हें उनके ही आधार पर बनवाना।) उचित समझा हो। भारत में युनानी प्रभाव बहुत दूर दूर तक फैला है और मैं समझता हूँ कि अवसर आने पर हम आज जितनी दूर तक उस प्रभाव को देखते हैं उससे बहुत दूर तक उसे व्याप्त देखेंगे। बुद्ध गया में एक स्तम्भ पर अपोलो की जो प्रसिद्ध मूर्ति मिली है वही बाद के सूर्य की मूर्तियों का आधार बन गयी थी। मित्रा की पुस्तक 'बुद्ध गया' के प्लेट में यह दिखाया गया है। उड़ीसा की खण्डागिरि पहाड़ी की 'अनन्त' गुफा में इसी प्रकार की एक प्रतिमा मिली है। 'काम' का 'मकर' एरास के डालफिन की ही एक प्रकार की अनुकृति मालूम पड़ती है। भारहुत की चहारदिवारी के उठे हुए पत्थर पर एक बैल की मूर्ति है जिसका सिर एक दाढीदार आदमी का है। दुर्भाग्यवश कनिघंम के चित्रों में यह चित्र नहीं है। इस चित्र का चाहे जो मतलब भारहुत के संग तराश ने समझा हो, इस प्रतिमा में हम युनानी नदियों के देवताओं की नकल देख सकते हैं। युनानी सिक्कों में ऐसे चित्र बहुत मिलते हैं।

"भारतीय कला पर युनानी प्रभाव के ये कुछ प्रमाण हैं। सीता-बेंगा गुफा के सामने जो नाट्यशाला मिली है वह भी उसी शृंखला की एक कड़ी है और भारतीय नाटकों पर युनानी प्रभाव के सवाल के साहित्यिक पहलू से इसका जो सम्बन्ध है उसे हमें अनदेखी नहीं करना चाहिए।

जोगी मारा शिलालेख

जोगीमारा शिलालेख के सम्बन्ध में डाक्टर ब्लाख लिखते हैं—
"इसमें पाँच पंक्तियाँ हैं। पहली और दूसरी छोटी हैं। एक और दो

(अलिक्यशुदले) में और दिल्ली शिवालिक ७, २ (अवाव-दिक्या और अपक्कोशिक्यानी) में, उदाहरणार्थ, मिलता है। 'क' का यह रूप उसके पहिले के 'इ' के कारण ऐसा बन गया।

"इस शिलालेख के विषयतत्व के सम्बन्ध में बोयर ने इस प्रकार की व्याख्या कर दी है कि अब उसमें कुछ अधिक जोड़ना नहीं रह गया है। १, २ और ३ पंक्ति को संस्कृत की दृष्टि से 'सुतनुका नाम देवदासी' पढ़ना चाहिए। अन्तिम शब्द 'देवदासी' यहाँ महत्वपूर्ण है। 'देवदासी' का अर्थ यहाँ 'नर्तकी' या सम्भवतः 'गणिका' ही है। चौथी पंक्ति में 'तं' संस्कृत का 'ता' है जिसका सम्बन्ध सुतनुका से है। 'कमयिथ' पालि का 'कामयित्था' (वह प्यार करता था) है। इस वाक्य की संज्ञा बाद के दो शब्दों में है। बोयर ने 'शेये' को पालि के 'सेय्यो' और संस्कृत के 'श्रेयां' के समान माना है। 'बलुन' को उन्होंने 'बलु' अथवा संस्कृत के 'बटु' का बहुवचन माना है। 'बटु' का अर्थ 'एक नौजवान आदमी' है। इस तरह बोयर के अनुसार, जो श्रेयस्कार तरुण 'सुतनुका' को प्यार करते थे, देवदिन्न जिसका नाम है, मूर्तिकला में निपुण (लुपदखे = रूपदक्षा.)। इस प्रकार यह अनुवाद यों होगा—

(१) "सुतनुका नाम की
(२) "एक देवदासी,
(३) "सुतनुका नाम की, एक देवदासी।
(४) "तरुणों में श्रेयस्कार उसे प्यार करते थे,
(५) "देवदिन्न उसका नाम था, वह मूर्तिकला में निपुण था।"

"परन्तु यह याद रखना चाहिए कि इसे 'बलुन' पढ़ना अभी सुनिश्चित नहीं है। दूसरी ओर 'बलन' जिसे संस्कृत में 'बालानां' कहा जाएगा किसी भी प्रकार ठीक नहीं बैठता क्योंकि एक देवदासी के प्रेमी को किसी प्रकार 'बाल' (बच्चा) कहा ही नहीं जा सकता। कला निपुण मूर्तिकार के लिए यह विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त नहीं

पक्ति की लम्बाई के अक्षर प्रायः साढे तीन इंच के हैं। गुफा की छत पर चित्र हैं। उन्हीं के नीचे दाहिने हाथ पर या भीतर घुसने के रास्ते के दक्षिण ओर शिलालेख खुदे हुए हैं। तीसरी पक्ति के अन्त के पास पत्थर बहुत खुरदरा है इसलिए इसका आखिरी अक्षर जरा नीचे चौथी पक्ति के अन्त के पास लिखा हुआ है। मैंने इसे इस प्रकार पढा है—

(१) शुतनुका नाम
(२) देवदाशिक्यि
(३) शुतनुका नाम। देवदाशिक्यि।
(४) त कमयिथ बाल [ा] न शेये।
(५) देवदिने नाम। लुपदखे।

"सभी अक्षर बिल्कुल स्पष्ट हैं। केवल चौथी पक्ति का सातवाँ अक्षर कुछ कम स्पष्ट है। 'ल' के नीचे की गोलाई के पास जो बिन्दु है उसे 'उ' समझा जाय अथवा नहीं, इस पर विचार करने की गुंजायश अभी है। यह बिन्दु निश्चित रूप से बहुत छोटा है। पाँचवीं पक्ति के 'लुपदखे' में जो 'द' की मात्रा है उससे यह कम स्पष्ट है। हम इसे 'बलुन' पढें या 'बलन' यह इस बात पर निर्भर है कि हम इस पंक्ति का अनुवाद किस प्रकार करते हैं।

"इसकी भाषा शुद्ध मागधी है। यहाँ 'श' का प्रयोग अशोक की मागधी के उतना निकट नहीं है जितना वह व्याकरण सम्मत मागधी के निकट है। 'र' कहीं नहीं है। अन्तिम 'ो' यहाँ से वहाँ तक 'इ' द्वारा व्यक्त किया गया है। दीर्घ स्वर 'आ ई ऊ' लघु स्वर 'अ इ उ' से व्यक्त किए गए हैं। अनुस्वार का प्रयोग 'त' में हुआ है (चौथी पक्ति) लेकिन यह इसी पक्ति में 'बल [ा] न' में छोड़ दिया गया है (जैसे बलनं अथवा बलुन)। 'देवदाशिक्यि' में आखिरी अक्षर 'क' का स्वीकृत रूप है जो कि 'क्य' के मिश्रित अक्षर से अभिव्यक्त होता है। इसका उदाहरण हमें अशोक के खालसी शिलालेख १२, ८

(अलिक्यशुदले) मे और दिल्ली शिवालिक ७, २ (अंबाव-ढिक्या और अधकोशिक्यानी) मे, उदाहरणार्थ, मिलता है। 'क' का यह रूप उसके पहिले के 'इ' के कारण ऐसा बन गया।

"इस शिलालेख के विषयतत्व के सम्बन्ध में बोयर ने इस प्रकार की व्याख्या कर दी है कि अब उसमें कुछ अधिक जोड़ना नहीं रह गया है। १, २ और ३ पंक्ति को संस्कृत की दृष्टि से 'सुतनुका नाम देवदासी' पढ़ना चाहिए। अन्तिम शब्द 'देवदासी' यहाँ महत्वपूर्ण है। 'देवदासी' का अर्थ यहाँ 'नर्तकी' या सम्भवतः 'गणिका' ही है। चौथी पंक्ति में 'तं' संस्कृत का 'ता' है जिसका सम्बन्ध सुतनुका से है। 'कमयिथ' पालि का 'कामयित्था' (वह प्यार करता था) है। इस वाक्य की संज्ञा बाद के दो शब्दों में है। बोयर ने 'शेये' को पालि के 'सेय्यो' और संस्कृत के 'श्रेयां' के समान माना है। 'बलुन को उन्होंने 'बलु' अथवा संस्कृत के 'बट्टु' का बहुवचन माना है। 'बट्टु' का अर्थ 'एक नौजवान आदमी है। इस तरह बोयर के अनुसार, जो श्रेयस्कार तरुण 'सुतनुका' को प्यार करते थे, देवदिन्न जिसका नाम है, मूर्तिकला में निपुण (लुपदखे = रूपदक्षा)। इस प्रकार यह अनुवाद यों होगा—

(१) "सुतनुका नाम की

(२) "एक देवदासी,

(३) "सुतनुका नाम की, एक देवदासी।

(४) "तरुणों में श्रेयस्कर उसे प्यार करते थे,

(५) ' देवदिन्न उसका नाम था. वह मूर्तिकला में निपुण था।'

"परन्तु यह याद रखना चाहिए कि इसे 'बलुन' पढ़ना अभी सुनिश्चित नहीं है। दूसरी ओर 'बलन' जिसे संस्कृत में 'बालानां' कहा जाएगा किसी भी प्रकार ठीक नहीं बैठता क्योंकि एक देवदासी के प्रेमी को किसी प्रकार 'बाल' (बच्चा) कहा ही नहीं जा सकता। कला निपुण मूर्तिकार के लिए यह विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त नहीं

हो सकता। यदि हम बोयर के अनुवाद को स्वीकार कर लें तो 'ल' के नीचे के छोटे चिन्ह को 'उ' की तरह पढना चाहेंगे और बोयर की भाँति इस शब्द को 'बलुन' ही पढ़ेंगे।

"यद्यपि मैं बोयर के अनुवाद को शिलालेख के शब्दों के सर्वाधिक स्वाभाविक अनुवाद के रूप में सद्यः स्वीकार कर लेता हूँ, फिर भी मैं एक दूसरी व्याख्या भी सामने रखना चाहता हूँ, यद्यपि इस व्याख्या के कारण मेरे ऊपर दोष भी लगाया जा सकता है। यह मान कर कि अन्तिम पक्ति बहुत करके गुफा की छत की चित्रकारी से सम्बन्धित है, जैसा कि बोयर भी बताते हैं, यह भी मान कर कि 'लुपदखे' का 'चित्रकारी में निपुण' अर्थ है और यह कार्य देवदिन्न द्वारा किया गया, हम इसके पहिले की पक्ति में यह तथ्य पढ़ सकते हैं कि सुतनुका ने गुफा को बनवाया, या इसी से मिलता जुलता कुछ। इस तरह मैं 'कमियथ' के 'कामयति' से नहीं 'कम्मायति' से मिलाने की धृष्टता करता हूँ। यह 'कम्म' अथवा 'कर्म' (काम) की क्रिया है जिसे पत्थर के काम जैसे 'शीलाकम्म', 'शीलाकम्मात' के अर्थ में प्रयोग में लाया जाता है। हिन्दुस्तानी में इसी प्रकार की एक क्रिया 'कमाना' (जिसका अर्थ परिश्रम करना, काम करना) है। इसका प्रयोग ऐसे होता है—'वह खेत में कमाता है।' 'कमाना' का अर्थ धन कमाना भी होता है। जैसे वह रुपया कमाता है। तब 'शेये' को मैं 'शय' की तरह स्वीकार करूँगा। इसका प्रयोग नपुंसक लिंग में होगा जिसका अर्थ होगा 'लेटने की जगह'। पहिला 'ए' पालि के 'सेय्या' = संस्कृत का 'शय्या' के साथ मिलाना गलत होगा। बलन को मैं 'बाला' अथवा 'बालिका', एक जवान लड़की, के बहुवचन के रूप में स्वीकार करूँगा। तब इस शिलालेख का अनुवाद होगा "सुतनुका नाम की एक देवदासी ने लड़कियों के आराम करने के लिए इसे बनवाया। देवदिन्न नाम का, चित्रकला में निपुण।" सुतनुका ने निश्चय ही अपने समान जिन लड़कियों के लेटने (आराम

करने) के लिए स्थान बनवाया वे किस वर्ग की थीं यह आसानी के साथ समझ में आ सकता है यदि हम याद रखें कि पास ही स्थित सीताबेंगा गुफा किस काम के लिए बनवायी गयी थी। निश्चित रूप से ये लड़कियां अभिनेत्री थीं और पास ही होने वाले नाट्याभिनय में हिस्सा लेती थीं और आराम करने के लिए इस गुफा में चली आया करती थीं।

"बोयर के अनुवाद में हमें आवश्यक रूप से ऊपर की पंक्ति के 'वरुन शेये' वाक्य से अन्तिम पंक्ति (देवदिने नामा लुपदखे) को जोड़ नहीं देना चाहिए। तीसरी और चौथी पंक्तियाँ मिलकर ही वाक्य को पूरा कर देती हैं। गुफा की चित्रकला की यही संज्ञा थी। पाँचवीं पंक्ति में चित्रकार का केवल नाम दे दिया गया होगा। ये चित्र किस चीज को अभिव्यक्त करते हैं यह अभी नहीं बताया जा सकता। और यदि सुतनुका देवदासी उन चित्रों में अभिव्यक्त प्रेमकथा की नायिका भी थी तो भी हमें इसका पता लगाने के साधन नहीं मिलते। जो भी हो, इतना तो सुनिश्चित माना जा सकता है कि शिला लेखों की तरह ये चित्र भी तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के हैं और अब तक भारत में जितने भी भित्ति-चित्र मिले हैं उनमें ये सबसे अधिक पुराने हैं। इसी कारण मैं इस लेख के साथ उन चित्रों की कुछ अनुकृतियाँ छापना चाहता था। मगर मुझे अच्छे फोटोग्राफ मिल नहीं सके। गुफा की छत और इन भित्ति चित्रों की हालत ऐसी है कि इनका चित्र लेना प्रायः असम्भव है। जब मैं वहां गया था तो मैं अपने साथ ट्रेसिंग कागज भी नहीं ले गया था इसलिए मैं इन चित्रों के प्रकाशन का कार्य तब तक के लिए टाल देता हूं जब तक कि मैं उस पहाड़ी की यात्रा करके ही व्यवस्था फिर न कर लूं।

"जेनरल कनिंघम की रिपोर्ट के भाग ८ के पृष्ठ ४० पर मिस्टर बेगलर ने कुछ शब्दों में इन चित्रों का वर्णन किया है। ये चित्र साधारणतया बहुत भद्दे हैं और चित्रकार की कल्पना की बहुत

अच्छी कला का परिचय नहीं देते। सीलन के कारण उनकी हालत और भी खराब हो गयी है और भित्ति चित्रों के अनेक अग बिल्कुल गायब हो गए हैं। बचे हुए भाग तभी दिखाई भी देते हैं जब उनको भिगा दिया जाय। कला की दृष्टि से ये चित्र कितने भी अपूर्ण क्यों न हों, इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे सचमुच पुराने हैं। अनेक स्थानों पर पुरानी चैत्य खिड़कियाँ मिलती हैं, दो पहिए की गाड़ी है जिस पर छत्र लग लगा हुआ है और उसे तीन घोडे खींच रहे हैं। साची और भरहुत में भी ऐसी नक्काशियाँ मिल जाती हैं। चित्रों की पृष्ठ भूमि पूरी की पूरी सुफेद पुती हुई है। उसके ऊपर आदमियों, जानवरों तथा दृष्यों को गाढे लाल रगों में चित्रित किया गया है। कहीं कहीं काले रंग का भी प्रयोग हुआ है। भित्ति चित्रों को विभिन्न भागों में बांटने के लिए पीले रंग का प्रयोग किया गया है। मनुष्य के शरीर पूरे के पूरे लाल रग में हैं। आँखें और बाल काले हैं। बाल सिर की बायी ओर एक गांठ में बधे हुए हैं। कपडे सफेद जमीन पर लाल किनारों से दिखाए गए हैं। जिस तरह आदमी लाल रग में बनाए गए हैं ठीक उसी प्रकार हाथी, घोड़े, चिड़ियाँ और पेड़ भी लाल रंग में ही हैं। भित्ति चित्र अनेक गोलों के जरिए बाँटे गए हैं जिनकी परिधि लाल पीले रंग से बनी है। कहीं कहीं तो ज्योमिति की रेखाए भी हैं। इन चित्रों में क्या है इसे जानने के लिए मैं नीचे जो चार सबसे सुन्दर चित्र बच रहे हैं उनका विवरण दे रहा हूँ। इस विवरण का आधार हमारे वे नोट हैं जिन्हें मैंने गुफा की यात्रा के समय लिया था।

"अ—केन्द्र में एक पुरुष एक वृक्षके नीचे बैठा है। बायीं ओर नर्तकियाँ और संगीतज्ञ हैं। दाहिने ओर जलूस और एक हाथी है।

"ब—कई पुरुष, एक पहिया और ज्योमिति के चित्रों सरीखे कुछ गहने।

"स—इसका आधा भाग कमोवेश अस्पष्ट है। केवल फूलों,

बरों और कपडे पहिने हुए मरदों के चिन्हमात्र बचे हैं। इसके बाद एक पेड़ है जिसपर एक चिड़िया है और आदमी का एक चित्र है; शायद वह कोई बच्चा है जो डालों में छिपा है। उसके आस पास खड़े मनुष्यों के अनेक चित्र हैं जो वृक्ष पर बैठे चित्र से मिलते हैं। सभी नंगे हैं और सिर के बाल सिर की बायीं ओर गांठ में बंधे हैं।

"द—पाल्थी मारे एक मरद, स्पष्टतः नंगा, साथ में तीन नौकर जो कि कपडे पहिने हुए हैं। इस टोली की बगल में उसी प्रकार तीन बैठे हुए आदमी हैं जिनके तीन नौकर हैं। नीचे एक घर है जिसमें एक चैत्य खिड़की है। सामने एक हाथी और तीन कपड़े पहने हुए आदमी खड़े हैं। इस दल के पास तीन घोड़ों से खींची जाने वाली छत्रधारी गाड़ी, एक हाथी और पीलवान है। फिर इसी प्रकार के पुरुष चित्र, एक घर जिसमें चैत्य खिड़की और एक हाथी।

"इन गुफाओं तथा शिला लेखों का चर्चा समाप्त करने के पहिले मुझे एक बात और कहनी है। जैसा कि मैं पहिले ही कह चुका हूं 'जोगी मारा' गुफा का शिलालेख मागधी भाषा में है। उसमें एक देवदासी और एक कलाकार का नाम अंकित है। सम्भवतः उन्हीं दोनों में से एक ने उसे खुदवाया था। 'सीता बेंगा' गुफा का शिलालेख पद्यबद्ध है। स्पष्टतः उसे किसी कवि ने लिखा था। उसकी भाषा लेख शैली अथवा दूसरी गुफाओं के शिलालेखों की प्राकृत भाषा से बहुत मिलती है। कुछ मामलों में नाटकों में प्रयुक्त शौरसेनी के निकट यह भाषा पड़ती है, जैसे 'र' का बना रहना, अन्त में 'ो' का उच्चारण तथा तालव्य 'श' के स्थान पर दन्ति 'स' का प्रयोग। दोनों शिलालेख एक ही समय के हैं। यह भी स्पष्ट है कि बाद वाला शिलालेख किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखा गया था जो उस व्यक्ति के मुकाबले में जिसने मागधी में लेख लिखा उच्च सामाजिक स्तर का था। इन तथ्यों को ध्यान में रखने पर, प्राकृत की इन दो बोलियों

में, जिनका प्रयोग इन दोनों गुफाओं के समसामयिक शिलालेखों में हुआ है समानता परख लेना अवश्यम्भावी है। साथ ही नाटकों में शौरसेनी और मागधी भाषाओं के प्रयोग पर भी ध्यान अवश्य आकृष्ट होगा। इनमें शौरसेनी का प्रयोग ऊचे वर्ग के लोगों द्वारा हुआ है और मागधी का प्रयोग निम्नस्तर के लोगों तथा बच्चों द्वारा हुआ है। हो सकता है कि यह समानता आकस्मिक हो। इसे आवश्यकता से अधिक महत्व देना भी नहीं चाहिए। परन्तु है यह विचित्र बात। इसीलिए मैं समझता हूँ कि इसका चर्चा कर देना आवश्यक था।"[1]

डाक्टर टी० ब्लाख ने सीता बेंगा और जोगी मारा गुफाओं मे प्राप्त सामग्री के अध्ययन के फलस्वरूप जो निष्कर्ष निकाले वे सक्षेप में इस प्रकार हैं—(१)रामगढ पहाड़ी की यह सीता बेंगा गुफा ससार की मोह-माया से विरक्त, पवित्र साधु सन्यासियो का निवास स्थान नहीं था। बल्कि बिना किसी सकोच के हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि यह ऐसा स्थान था जहाँ कविता पाठ होता था, जहाँ प्रेम के गीत गाये जाते थे और नाट्य-अभिनय हुआ करते थे। सारांश मे, हम इसे तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व के भारतीय रगमच के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। (२) गुफा के आगे छोटे अर्ध वृत्ताकार कक्ष की योजना, चट्टान काटकर बनाये गये सीढी-नुमा बैठने के स्थान और उनके बीच बीच में आने-जाने का मार्ग—ये सब चीजें युनानी प्रेक्षागृहों से समानता रखती हैं और मैं समझता हूँ कि हमें इस बात को अनदेखी नहीं करना चाहिये। इसी तरह यह स्वीकार कर लिया जाना चाहिये कि एक भारतीय प्रेक्षागृह की बनावट में युनानी प्रेक्षागृह के रूप का शामिल हो जाना, भारतीय नाटकों पर

---

[1] टी ब्लाख, आर्कियालाजिकल सर्वे आव् इण्डिया (१६०३-१६०४) पृष्ठ १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२६, १३०, १३१।

यूनानी प्रभाव की समस्या से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है। (३) जोगी मारा गुफा में प्राप्त शिला लेख का अनुवाद होगा "सुतनुका नाम की एक देवदासी ने लड़कियों के आराम के लिये इसे बनवाया। देव दिन्न नाम का, चित्रकला में निपुण।" सुतनुका ने निश्चय ही अपने समान जिन लड़कियों के लेटने अथवा आराम करने के लिये स्थान बनवाया वे किस वर्ग की थीं यह आसानी के साथ समझ में आ सकता है यदि हम याद रखें कि पास ही स्थित सीता बेंगा गुफा किस काम के लिये बनवायी गयी थी। निश्चित रूप से ये लड़कियां अभिनेत्री थीं और पास ही में होने वाले नाट्याभिनय में हिस्सा लेती थीं और आराम करने के लिये इस गुफा में चली आया करती थीं (४) इस गुफा की छत पर बने चित्र किस चीज़ को अभिव्यक्त करते हैं यह अभी नहीं बताया जा सकता। और यदि सुतनुका देवदासी उन चित्रों में अभिव्यक्त प्रेम कथा की नायिका भी थी तो भी हमें इसका पता लगाने के साधन नहीं मिलते। जो भी हो, इतना तो सुनिश्चित से माना जा सकता है कि शिला लेख की तरह ये चित्र भी तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के हैं और अब तक भारत में जितने भी भित्ति चित्र मिले हैं उनमें ये सब से अधिक पुराने हैं।

सुतनुका और देवदिन्न अथवा देवदत्त एक दूसरे को बहुत प्यार करते थे। सुतनुका अभिनेत्री थी और नर्तकी भी। देवदत्त ने जोगी मारा गुफा की छत पर चित्रावली बनायी थी जो किसी प्रेम कथा के आधार पर बनी मालूम पड़ती है। इसी के नीचे सुतनुका और देवदत्त चित्रकार का नाम लिखा हुआ है। सम्भवतः अभिनेत्रियों के आराम करने के इस स्थान को चित्रित करके देवदत्त ने सुतनुका और अपनी प्रेम कथा को अमर करना चाहा हो। सुतनुका ने इन दोनों गुफाओं को बनवाया इसमें कोई सन्देह नहीं मालूम पड़ता। सीता बेंगा गुफा नाट्यघर, प्रेक्षागृह, रंगशाला, नृत्यशाला आदि के रूप में प्रयुक्त

होती थी। वहां काव्यपाठ भी होता था। सीता बेंगा गुफा रस, राग, आनन्द, आराम के लिये प्रयुक्त होती थीं। इस प्रकार ये दोनों गुफायें साधु-सन्यासियों के निवास स्थान के रूप में नहीं बल्कि अभिनय, काव्य पाठ और नृत्य आदि के लिये प्रयुक्त होती थीं।

रामगढ़ की इन गुफाओं के सम्बन्ध में पिछले दिनों बहुत विवाद रहा है। अनेक भारतीय तथा योरोपीय पडितों ने डाक्टर ब्लाख के अध्ययन को गलत कहा और स्वय अपनी व्याख्यायें प्रस्तुत कीं। मगर अब अधिकतर विद्वान डाक्टर ब्लाख की व्याख्या को ही सही मानने लगे हैं। श्री असित कुमार हलधर एक बार रामगढ़ गये थे। वहाँ अपनी आँखों से सब कुछ देखकर उन्होंने लिखा, "डाक्टर ब्लाख तथा कुछ दूसरे पुरातत्ववेत्ताओं के विचार के अनुसार प्राचीन भारतीय प्रेक्षागृह का एक मात्र यही उदाहरण प्राप्त है जो किसी हद तक प्राचीन युनानी प्रेक्षागृहों के आधार पर बना था। गुफा के बाहर जमीन पर चार छेद हैं। इन विद्वानों ने इसका अर्थ यह निकाला है कि इन छेदों में बल्लियाँ लगती थीं जिनके सहारे पर्दे टांगे जाते थे। जो अर्ध वृत्ताकार सीढ़ियां हैं वे जनता के बैठने के लिये बेंचों के रूप में प्रयुक्त होती थीं। सीढ़ियाँ बाहर हैं। इसलिये उनपर बैठकर गुफा के भीतर होने वाले अभिनयों को नहीं देखा जा सकता था। इस बात में कोई तुक नहीं मालूम पड़ता कि प्रेक्षागृह दर्शकों की पीठ की ओर हो और पर्दा सामने हो। सामने इतना स्थान भी नहीं है कि वहां नृत्य अथवा अभिनय सम्भव होता। यह सम्भव है कि बाहरी ओर सामने लकड़ी का रंगमच तैयार किया जाता हो और उस पर अभिनय होता हो। परन्तु इस प्रकार के मच के कोई प्रमाण नहीं मिलते।" इसलिए श्री असित हालदार ने अपना मत व्यक्त करते हुये कहा है कि, "यह गुफा एक प्रकार से रहने की जगह थी। यहाँ छोटे पैमाने पर सगीत, नृत्य आदि के कार्य क्रम भी हुआ करते थे।" इसी प्रकार श्री सरद्

चन्द्र घोषाल ने भी कहा है कि, "इस बात के प्रमाण नहीं मिलते कि इस गुफा का कभी भी प्रेक्षागृह की तरह इस्तेमाल किया गया था।" बरगेस का कथन है कि "यदि यहां प्रेक्षागृह होता तो हम यह आशा कर सकते थे कि केवल इस एकान्त स्थान में, सरगुजा की पहाड़ी के बीच ही नहीं, वरन् अन्य स्थानों में इस प्रकार के प्रेक्षागृह मिलते। पश्चिमी भारत में सैकड़ों पहाड़ी खोदाइयों के स्थान मिलते हैं। उनमें इन प्रेक्षागृहों के अच्छे उदाहरण मिल सकते थे। मगर उनके चिह्न कहीं भी नहीं मिलते।"

बरगेस का यह कथन सही है कि अब तक जितनी गुफाएँ मिली हैं उनमें से किसी में भी प्रेक्षागृह के प्रमाण नहीं मिलते। सीता बेंगा गुफा अपनी तरह की अकेली उदाहरण है। परन्तु क्या यही तर्क यह साबित करने के लिये पर्याप्त है कि सीता बेंगा में भी प्रेक्षागृह नहीं था? स्वयं बरगेस ने स्वीकार किया है कि प्राचीन भारत में पहाड़ी गुफाओं को नाना प्रकार के मनोरंजनों के लिये प्रयुक्त किया जाता था। उन्होंने कुछ उदाहरण भी दिये हैं। आर्कियालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, भाग तीन में औरंगाबाद स्थित गुफा में बौद्ध मन्दिर का चित्र छपा है। इसमें नृत्य होने के प्रमाण मिलते हैं। नासिक में दो गुफायें मिली हैं जिनमें नृत्य और संगीत के कार्यक्रम हुआ करते थे। यहां का वातावरण आज भी अत्यन्त मनोरम तथा नृत्य और संगीत के लिये सर्वथा अनुकूल है। जो कोई भी जूनागढ़ की अपरकोट गुफा को देखेगा वह मान लेगा कि यहां नृत्य और संगीत के कार्यक्रम अवश्य हुआ करते थे। कुदा तथा महाद की गुफाओं में नृत्य तथा संगीत के कार्यक्रमों के लिये सुविधायें थीं। यहां रंगमंच तथा प्रेक्षागृह के प्रमाण मिलते हैं। इन गुफा मन्दिरों के चित्र आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया में प्रकाशित हो चुके हैं। यह बात बिल्कुल निर्मूल और निराधार है कि गुफाओं में केवल साधु सन्यासी ही निवास किया करते थे। प्राचीन साहित्य में अनेक ऐसे वाक्य मिल जायेंगे जिनसे

यह पता चलता है कि गुफायें मनोरंजन, नृत्य और संगीत के लिये इस्तेमाल होती थीं। कालिदास ने 'कुमार सम्भव' के प्रथम सर्ग के दसवें श्लोक में लिखा है—

बनेचराणां वनिता सखानां दरीगृहोत्संगनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रोषधयो रजन्यामतैलपूरः सुरतप्रदीपाः॥

(यहां की गुफाओं में रात को चमकने वाली जड़ी-बूटियाँ भी बहुत होती हैं। इस लिये यहा के किरात लोग जब अपनी अपनी प्रियतमाओं के साथ उन गुफाओं में विहार करने आते हैं तो तब ये चमकीली जड़ी बूटियां ही उनकी काम क्रीड़ा के समय बिना तेल के दीपक बन जाती हैं।)

'कुमार सम्भव' के इसी सर्ग का चौदहवा श्लोक है—

यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषाङ्गनानाम्।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति॥

(जब यहाँ की गुफाओं में किन्नरिया अपने प्रियतमों के साथ काम क्रीड़ा करती रहती हैं उस समय जब वे अपने शरीर पर से वस्त्र हट जाने के कारण लजाने लगती हैं तब बादल उन गुफाओं के द्वारों पर आकर ओट करके अंधेरा कर देते हैं।)

कालिदास ने अपनी कल्पना से इन वर्णनों को चाहे जितना रोचक बना दिया हो, परन्तु इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि गुफाओं को मनोरंजन के लिये इस्तेमाल किया जाता था और कालिदास ने इन की पुष्टि की है। 'मेघदूत' के प्रथम सर्ग के छब्बीसवें-सत्ताइसवें श्लोक में वह फिर कहते हैं—

तेषां दिक्षुप्रथित विदिशा लक्षणा राजधानीं
गत्वासद्य फलमविकल कामुकत्वस्य लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभग पास्यसि स्वादु यस्मात्
सभ्रूभंग मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्च लोर्मिं॥
नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्रविश्रामहेतो

त्वत्संपर्कात्पुलकितमिव प्रौढ पुष्पैः कदम्बैः ।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा
उद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥

(विदिशा नाम की प्रसिद्ध राजधानी मे पहुँचते ही तुम्हे विलास की सब सामग्री मिल जायेगी क्योंकि जब तुम वहाँ की सुहावनी, मनभावनी और नाचती हुई लहरों वाली वेगवती नदी के तीर पर गर्जन करके उसका मीठा जल पियोगे तब तुम्हे ऐसा लगेगा मानो तुम किसी कटीली भौंहों वाली कामिनी के होठों का रस पी रहे हो।

वहाँ पहुँच कर तुम 'नीच' नाम की पहाड़ी पर थकावट मिटाने के लिये उतर जाना। वहाँ पर फूले हुये कदम्ब के वृक्षों को देखकर ऐसा जान पड़ेगा मानो तुमसे भेंट करने के कारण उनके रोम-रोम फहरा उठे हों। उसी पहाड़ी की गुफाओं मे से उन सुगन्धित पदार्थों की गन्ध निकल रही होगी जो वहाँ के छैले वेश्याओं और प्रेमिकाओं के साथ रति करते समय काम मे लाते हैं। इससे तुम्हें यह भी पता चल जावेगा कि यहाँ के नागरिक कितनी खुल्लमखुल्ला जवानी का रस लेते हैं।)

कालिदास ने यहाँ 'शिलावेश्म' का प्रयोग 'पहाड़ी गुफा' के अर्थ में ही किया है। मल्लिनाथ ने भी इस अर्थ को स्वीकार किया है। कालिदास के ही अनुसार इन गुफाओं मे प्रेमी प्रेमिका तथा अन्य मनोरंजनार्थी लोग रहा करते थे और प्रेम क्रीड़ा किया करते थे। गुफाओं के द्वार पर पर्दे रहा करते थे और भीतर अभिनयादि हुआ करते थे।

मथुरा मे एक जो प्राचीन शिलालेख मिला है इसमे 'लेणशोभिका' से तात्पर्य उन अभिनेत्री से है जो कि गुफाओं मे रहा करती थी। सभी विद्वान इस बात मे सहमत हैं। रामगढ़ की सीताबेंगा गुफा के प्रेक्षागृह के निर्माण में भरत नाट्यशास्त्र के निम्नांकित दो वाक्यों का सहारा लिया गया है—

स्तम्भानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृति पीठकम् ।
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम् ॥

इस श्लोक में प्रेक्षागृह के निर्माण के लिये जो आदेश दिया गया है रामगढ वाली गुफा में ठीक इसका पालन किया गया। फिर 'यक्षलिपि' की भी बात आती है। सीताबेंगा गुफा की दीवार पर जो शिलालेख है उसे हम सहज ही 'यक्षलिपि' के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

इस तरह सीताबेंगा गुफा के प्रेक्षागृह होने के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह करने की गुजायश नहीं है।

सीताबेंगा तथा जोगीमारा गुफाओं का चर्चा समाप्त करने के समय एक बात और ध्यान में रखने की है, वह यह कि वह समय ऐसा था जब कि सारे देश में नाटकों के खेलने की प्रथा थी और सम्राट अशोक ने बौद्ध होने के बाद इन पर रोक लगा दी थी। राहुल जी ने बौद्ध काल में तथा अशोक के काल में नाटकों पर लगे प्रतिबन्धों का चर्चा किया है। राहुल जी कहते हैं, "पालि-साहित्य में अभिनीत होने वाले नाटकों का रिवाज न होने पर भी अभिनय और तमाशे होते थे जिन्हें पालि में 'समज्जा' कहा जाता था। तत्कालीन भारत के सबसे बडे राज्य मगध की राजधानी राजगृह थी। राजगृह में एक बहुत बड़ी समजा होती थी, जिसे 'गिरग्ग-समज्जा' कहते थे। शायद वह गिरि के अग्रभाग या छोर पर होती थी, इसलिये उसका यह नाम पड़ा था। बुद्ध के जमाने में राजगृह पहाड़ों के भीतर—पुराने राजगृह के स्थान में बसा हुआ था।... . गिरग्ग समज्जा की बिम्बसार के समय में बडी तैयारी होती थी। खुली जगह में अभिनय और तमाशे होते जिसे देखने के लिये लोग जमा होते थे। दूर से देखने में आसानी हो, इसके लिये साधारण लोग भी बैठने के वास्ते मचान बनाते थे, और मन्त्रियों तथा राज पुरुषों के लिये तो मचानों में आसन न रखे जाते थे। इन आसनों में ऊन, लत्ते, छाल, घास और पत्ते के गद्दे रहते। समज्जा के खत्म होने पर लोग उन्हें खोलकर उतार ले जाते। 'समजा' के स्थान में बहुत से ऊन, लत्ते, छाल, घास-पत्ते गद्दे से बाहर निकाल कर फेंके मिलते—विनय पिटक (पृष्ठ ४२०)"

—से यह भी पता लगता है कि गिरग्ग समज्जा में नाच, गाने, बजाने तथा उसके साथ किसी प्रकार का अभिनय करने का बड़ा मेला होता था। इसके लिये जगह और ऊंचा स्थान बनाना मुश्किल न था।... नाटक एक सीमित जनता के लिये ही हो सकता है, जिसके लिये दर्शकों के बैठने के स्थान को भी संकुचित रखना होता है। हो सकता है कि राजाओं और उच्च वर्ग के लोगों के लिये सीमित जनों के बीच में भी अभिनय होता हो। पर इसका उल्लेख हमें प्राचीन पालि-साहित्य में कहीं नहीं मिलता।

"नृत्य भी एक प्रकार के अभिनय हैं, यद्यपि उनमें बहुत ऊंचे दर्जे का भाव सकेत रहता है। सर्प नृत्य, सिंह नृत्य आदि आखिर नकल नहीं तो और क्या हैं? नकल ही अभिनय है। हमारे देश में जो पीछे नाटक का विकास हुआ, उसमें यद्यपि यवन (ग्रीक) लोगों के सम्पर्क से भी कितनी ही चीजें सम्मिलित की गयीं, पर इसका यह अर्थ नहीं कि पहले अभिनय का बिल्कुल अभाव था। भिक्षुओं को 'गीत-नृत्य-वादित-विसूकदस्सन' वर्जित किया गया है। गीत, नृत्य और वाद्य के अतिरिक्त 'विसूक दस्सन' से अभिप्राय किसी प्रकार के अभिनय का ही है।

"भारी जनता उसे देख सके, इसके लिये या तो 'गिरग्ग-समज्जा' की तरह चारों ओर मञ्च बाँध कर इसे खेला जाता या स्वभावित पहाड़ या टेकरी को मञ्च का रूप दिया जाता। मेलों में, जैसा आज भी देखा जाता है, शराब, जुआ और दूसरी तरह के कलुषित मनोरञ्जन भी होते हैं। उस समय भी था, इसलिए बुद्ध के समय ही या बाद होने वाले अशोक ने समाज (समज्जा) में बहुत तरह के दोष देखकर उन्हें न करने के लिये आदेश निकाले।"

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन यह स्वीकार करते हैं कि यद्यपि अभिनीत होने वाले नाटकों का पता पालि साहित्य में नहीं चलता फिर भी अभिनय और तमाशे तो होते ही थे। इन तमाशों समज्जा

मृग। पर मृग का मारा जाना नियत नहीं है। यह तीनों प्राणी भी भविष्य में न मारे जाएँगे।

जैसा कि सम्राट अशोक के उपर्युक्त अभिलेख से पता चलता है वह ऐसे समाज को जिसमें मदिरा पी जाती थी, मास भक्षण होता था और नाना प्रकार की अश्लीलताएँ होती थीं, अच्छा नहीं समझते थे और उनको रोकना चाहते थे। परन्तु साथ ही ऐसे समाज को वह अच्छा समझते थे जिसमें ये बातें नहीं होती थीं। जिसका अर्थ यह था कि अशोक को सुरुचिपूर्ण संगीत, वाद्य, नृत्य, अभिनय आदि से विरोध न था। बौद्ध सूत्रों में 'विसूक दस्सन', 'पेक्खा', 'समज्जा' शब्द आये हैं। 'ललितविस्तर' में तो यहाँ तक दावा किया गया है कि भगवान बुद्ध जहाँ सब कुछ के सम्बन्ध में पूरा

अखाड़े में मनुष्यों और पशुओं के बीच अथवा दो पशुओं के बीच द्वन्द्व युद्ध होता था। इस भयानक उत्सव को अशोक ने अपने लेख में मना किया है। (रायलएशियाटिक सोसायटी की पत्रिका, पृष्ठ ३९२)

श्री युत एन० जी० मजूमदार महाशय ने सन् १९१८ के इण्डियन एन्टिक्वेरी नामक पत्र में समाज का अर्थ 'प्रेक्षणक' या 'नाटक' किया है। इसके समर्थन में उन्होंने कामसूत्र (पृष्ठ ४९-५१, चौखंभा सीरीज़) का प्रमाण उद्धृत किया है। जातकों में भी 'समाज' नाटक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (देखिये कणवेर जातक)। रामायण में भी 'समाज' इसी अर्थ में आया है।

इण्डियन एन्टिक्वेरी के दिसम्बर १९१९ वाले अङ्क में विन्सेन्ट स्मिथ साहब ने श्रीयुत एन० जी० मजूमदार के पूर्वोक्त मत को स्वीकार कर लिया है और इस बात पर जोर दिया है कि समाज का अर्थ 'नाटक' ही है।

ज्ञान रखते थे, वहीं नाटकों के सम्बन्ध में भी उनको पूरी जानकारी थी। यह कथा बहु प्रचलित है कि बिम्बसार ने दो नाग सम्राटों के स्वागतार्थ नाटक करवाये थे। यह भी विश्वास किया जाता है कि भगवान बुद्ध के समय में नाटक खेले जाते थे। 'अवदान-शतक' के अनुसार नाटकों की परम्परा बहुत प्राचीन है। माना जाता है कि पूर्व बुद्ध के काल में शोभावती में, ककुच्छन्द के आदेश पर अभिनेताओं ने नाटक खेला। उसके निर्देशक ने स्वयं बुद्ध की भूमिका की। दूसरे अभिनेताओं ने भिक्षुओं की भूमिका की। बाद में उन्हीं कलाकारों ने गौतम बुद्ध के आदेश के अन्तर्गत रह कर राजगृह में नाटक किया। उस समय अभिनेत्री कुवलय को बड़ी ख्याति मिली। कथा है कि उसके चक्कर में कुछ भिक्षुक फँस गये। फलतः वह बुद्ध के शाप से बदसूरत और वृद्ध हो गयी। बाद में उसने प्रायश्चित किया और भिक्षुणी हो गयी। तिब्बत में बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित एक नाटक का पता चलता है। वहाँ पर परम्परा है कि दक्षिण देश से एक अभिनेता आया और उसने भिक्षुओं से प्रतिद्वन्दिता करके बुद्ध के जीवन पर एक नाटक खेला। 'सद्धर्म पुण्डरीक' यद्यपि 'ललित विस्तर' की तरह महाकाव्य नहीं है परन्तु उसमें अनेक ऐसे कथोपकथन मिलते हैं जिनमें भगवान बुद्ध प्रधान वक्ता के रूप में चित्रित किये गये हैं। सीलोन में स्तूप निर्माण के अवसर पर गीत, संगीत, वाद्य और अभिनय के कार्यक्रम हुये थे। ये सब बातें इस बात का प्रमाण हैं कि बौद्ध काल में और उसके बाद संगीत, वाद्य, नृत्य, अभिनय आदि का प्रचार था और बड़े स्तर पर लोकोत्सव हुआ करते थे।

इस प्रकार भगवान बुद्ध तथा अशोक के काल में नाट्योत्सवों का होना सिद्ध हो जाता है। यह भी सिद्ध हो जाता है कि इनमें छोटे बड़े राजपुरुष और जनसाधारण सभी भाग लेते थे। अशोक ने अश्लील, अमंगलकारी 'समाज' तथा शिष्ट और मंगलकारी

अच्छी कला का परिचय नहीं देते। सीलन के कारण उनकी हालत और भी खराब हो गयी है और भित्ति चित्रा के अनेक अग बिल्कुल गायब हो गए हैं। बचे हुए भाग तभी दिखाई भी देते हैं जब उनको भिगा दिया जाय। कला की दृष्टि से ये चित्र कितने भी अपूर्ण क्यों न हों, इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे सचमुच पुराने हैं। अनेक स्थानों पर पुरानी चैत्य खिड़कियाँ मिलती हैं, दो पहिए की गाडी है जिस पर छत्र लग लगा हुआ है और उसे तीन घोडे खींच रहे हैं। सांची और भरहुत में भी ऐसी नक्काशियाँ मिल जाती हैं। चित्रों की पृष्ठ भूमि पूरी की पूरी सुफेद पुती हुई है। उसके ऊपर आदमियों, जानवरों तथा दृश्यों को गाढे लाल रगों में चित्रित किया गया है। कहीं कहीं काले रग का भी प्रयोग हुआ है। भित्ति चित्रों को विभिन्न भागों में बांटने के लिए पीले रंग का प्रयोग किया गया है। मनुष्य के शरीर पूरे के पूरे लाल रग में हैं। आँखें और बाल काले हैं। बाल सिर की बायी ओर एक गांठ में बधे हुए हैं। कपडे सफेद जमीन पर लाल किनारों से दिखाए गए हैं। जिस तरह आदमी लाल रग में बनाए गए हैं ठीक उसी प्रकार हाथी, घोड़े, चिड़ियाँ और पेड़ भी लाल रग में ही हैं। भित्ति चित्र अनेक गोलों के जरिए बाँटे गए हैं जिनकी परिधि लाल पीले रंग से बनी है। कहीं कहीं तो ज्योमिति की रेखाए भी हैं। इन चित्रों में क्या है इसे जानने के लिए मैं नीचे जो चार सबसे सुन्दर चित्र बच रहे हैं उनका विवरण दे रहा हूँ। इस विवरण का आधार हमारे वे नोट हैं जिन्हें मैंने गुफा की यात्रा के समय लिया था।

"अ—केन्द्र में एक पुरुष एक वृक्षके नीचे बैठा है। बायीं ओर नर्तकियाँ और संगीतज्ञ हैं। दाहिने ओर जलूस और एक हाथी है।

"ब—कई पुरुष, एक पहिया और ज्योमिति के चित्रों सरीखे कुछ गहने।

"स—इसका आधा भाग कमोवेश अस्पष्ट है। केवल फूलों,

घरों और कपड़े पहिने हुए मरदों के चिन्हमात्र बचे हैं। इसके बाद एक पेड़ है जिसपर एक चिड़िया है और आदमी का एक चित्र है; शायद वह कोई बच्चा है जो डालों में छिपा है। उसके आस पास खड़े मनुष्यों के अनेक चित्र हैं जो वृक्ष पर बैठे चित्र से मिलते हैं। सभी नंगे हैं और सिर के बाल सिर की बायीं ओर गांठ में बंधे हैं।

"ट—पाल्थी मारे एक मरद, स्पष्टतः नंगा, साथ में तीन नौकर जो कि कपडे पहिने हुए हैं। इस टोली की बगल में उसी प्रकार तीन बैठे हुए आदमी हैं जिनके तीन नौकर हैं। नीचे एक घर है जिसमें एक चैत्य खिड़की है। सामने एक हाथी और तीन कपड़े पहने हुए आदमी खड़े हैं। इस दल के पास तीन घोड़ों से खींची जाने वाली छत्रधारी गाड़ी, एक हाथी और पीलवान है। फिर इसी प्रकार के पुरुष चित्र, एक घर जिसमें चैत्य खिड़की और एक हाथी।

"इन गुफाओं तथा शिला लेखों का चर्चा समाप्त करने के पहिले मुझे एक बात और कहनी है। जैसा कि मैं पहिले ही कह चुका हूँ 'जोगी मारा' गुफा का शिलालेख मागधी भाषा में है। उसमें एक देवदासी और एक कलाकार का नाम अंकित है। सम्भवतः उन्हीं दोनों में से एक ने उसे खुदवाया था। 'सीता बेंगा' गुफा का शिलालेख पद्यबद्ध है। स्पष्टतः उसे किसी कवि ने लिखा था। उसकी भाषा लेण बोली अथवा दूसरी गुफाओं के शिलालेखों की प्राकृत भाषा से बहुत मिलती है। कुछ मामलों में नाटकों में प्रयुक्त शौरसेनी के निकट वह भाषा पड़ती है, जैसे 'र' का बना रहना, अन्त में 'ओ' का उच्चारण तथा तालव्य 'श' के स्थान पर दन्त्य 'स' का प्रयोग। दोनों शिलालेख एक ही समय के हैं। यह भी स्पष्ट है कि बाद वाला शिलालेख किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखा गया था जो उस व्यक्ति के मुकाबले में जिसने मागधी में लेख लिखा उच्च सामाजिक स्तर का था। इन तथ्यों को ध्यान में रखने पर, प्राकृत की इन दो बोलियों

में, जिनका प्रयोग इन दोनों गुफाओं के समसामयिक शिलालेखों में हुआ है समानता परख लेना अवश्यम्भावी है। साथ ही नाटकों में शौरसेनी और मागधी भाषाओं के प्रयोग पर भी ध्यान अवश्य आकृष्ट होगा। इनमें शौरसेनी का प्रयोग ऊंचे वर्ग के लोगों द्वारा हुआ है और मागधी का प्रयोग निम्नस्तर के लोगों तथा बच्चों द्वारा हुआ है। हो सकता है कि यह समानता आकस्मिक हो। इसे आवश्यकता से अधिक महत्व देना भी नहीं चाहिए। परन्तु है यह विचित्र बात। इसीलिए मैं समझता हूँ कि इसका चर्चा कर देना आवश्यक था।"[1]

डाक्टर टी० ब्लाख ने सीता बेंगा और जोगी मारा गुफाओं मे प्राप्त सामग्री के अध्ययन के फलस्वरूप जो निष्कर्ष निकाले वे सक्षेप में इस प्रकार हैं—(१)रामगढ़ पहाड़ी की यह सीता बेंगा गुफा ससार की मोह-माया से विरक्त, पवित्र साधु सन्यासियों का निवास स्थान नहीं था। बल्कि बिना किसी सकोच के हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि यह ऐसा स्थान था जहाँ कविता पाठ होता था, जहाँ प्रेम के गीत गाये जाते थे और नाट्य-अभिनय हुआ करते थे। साराश में, हम इसे तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व के भारतीय रगमच के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। (२) गुफा के आगे छोटे अर्ध वृत्ताकार कक्ष की योजना, चट्टान काटकर बनाये गये सीढी-नुमा बैठने के स्थान और उनके बीच बीच में आने-जाने का मार्ग—ये सब चीजें युनानी प्रेक्षागृहों से समानता रखती हैं और मैं समझता हूँ कि हमें इस बात को अनदेखी नहीं करना चाहिये। इसी तरह यह स्वीकार कर लिया जाना चाहिये कि एक भारतीय प्रेक्षागृह की बनावट में युनानी प्रेक्षागृह के रूप का शामिल हो जाना, भारतीय नाटकों पर

---

[1] टी ब्लाख, आर्कियालाजिकल सर्वे आव् इण्डिया (१९०३-१९०४) पृष्ठ १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१।

यूनानी प्रभाव की समस्या से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। (३) जोगी मारा गुफा में प्राप्त शिला लेख का अनुवाद होगा "सुतनुका नाम की एक देवदासी ने लड़कियों के आराम के लिये इसे बनवाया। देव दिन्न नाम का, चित्रकला में निपुण।" सुतनुका ने निश्चय ही अपने समान जिन लड़कियों के लेटने अथवा आराम करने के लिये स्थान बनवाया वे किस वर्ग की थीं यह आसानी के साथ समझ में आ सकता है यदि हम याद रखें कि पास ही स्थित सीता बेंगा गुफा किस काम के लिये बनवायी गयी थी। निश्चित रूप से ये लड़कियाँ अभिनेत्री थीं और पास ही में होने वाले नाट्याभिनय में हिस्सा लेती थीं और आराम करने के लिये इस गुफा में चली आया करती थीं (४) इस गुफा की छत पर बने चित्र किस चीज़ को अभिव्यक्त करते हैं यह अभी नहीं बताया जा सकता। और यदि सुतनुका देवदासी उन चित्रों में अभिव्यक्त प्रेम कथा की नायिका भी थी तो भी हमें इसका पता लगाने के साधन नहीं मिलते। जो भी हो, इतना तो सुनिश्चित में माना जा सकता है कि शिला लेखों की तरह ये चित्र भी तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के हैं और अब तक भारत में जितने भी भित्ति चित्र मिले हैं उनमें ये सब से अधिक पुराने हैं।

सुतनुका और देवदिन्न अथवा देवदत्त एक दूसरे को बहुत प्यार करते थे। सुतनुका अभिनेत्री थी और नर्तकी भी। देवदत्त ने जोगी मारा गुफा की छत पर चित्रकारी बनायी थी जो किसी प्रेम कथा के आधार पर बनी मालूम पड़ती है। इसी के नीचे सुतनुका और देवदत्त चित्रकार का नाम लिखा हुआ है। सम्भवतः अभिनेत्रियों के आराम करने के इस स्थान को चित्रित करके देवदत्त ने सुतनुका और अपनी प्रेमकथा को अमर करना चाहा हो। सुतनुका ने इन दोनों गुफाओं को बनवाया इसमें कोई सन्देह नहीं मालूम पड़ता। सीता बेंगा गुफा नाट्यघर, प्रेक्षागृह, रंगशाला, नृत्यशाला आदि के रूप में प्रयुक्त

होती थी। वहां काव्यपाठ भी होता था। सीता बेंगा गुफा रस, राग, आनन्द, आराम के लिये प्रयुक्त होती थी। इस प्रकार ये दोनों गुफायें साधु-सन्यासियों के निवास स्थान के रूप में नहीं बल्कि अभिनय, काव्य पाठ और नृत्य आदि के लिये प्रयुक्त होती थीं।

रामगढ़ की इन गुफाओं के सम्बन्ध में पिछले दिनों बहुत विवाद रहा है। अनेक भारतीय तथा योरोपीय पडितों ने डाक्टर ब्लाख के अध्ययन को गलत कहा और स्वय अपनी व्याख्यायें प्रस्तुत कीं। मगर अब अधिकतर विद्वान डाक्टर ब्लाख की व्याख्या को ही सही मानने लगे हैं। श्री असित कुमार हलधर एक बार रामगढ गये थे। वहाँ अपनी आँखों से सब कुछ देखकर उन्होंने लिखा, "डाक्टर ब्लाख तथा कुछ दूसरे पुरातत्ववेत्ताओं के विचार के अनुसार प्राचीन भारतीय प्रेक्षागृह का एक मात्र यही उदाहरण प्राप्त है जो किसी हद तक प्राचीन युनानी प्रेक्षागृहों के आधार पर बना था। गुफा के बाहर जमीन पर चार छेद हैं। इन विद्वानों ने इसका अर्थ यह निकाला है कि इन छेदों में बल्लियाँ लगती थीं जिनके सहारे पर्दे टांगे जाते थे। जो अर्ध वृत्ताकार सीढ़ियां हैं वे जनता के बैठने के लिये बेंचों के रूप में प्रयुक्त होती थीं। सीढियाँ बाहर हैं। इसलिये उनपर बैठकर गुफा के भीतर होने वाले अभिनयों को नहीं देखा जा सकता था। इस बात में कोई तुक नहीं मालूम पड़ता कि प्रेक्षागृह दर्शकों की पीठ की ओर हो और पर्दा सामने हो। सामने इतना स्थान भी नहीं है कि वहां नृत्य अथवा अभिनय सम्भव होता। यह सम्भव है कि बाहरी ओर सामने लकड़ी का रंगमच तैयार किया जाता हो और उस पर अभिनय होता हो। परन्तु इस प्रकार के मंच के कोई प्रमाण नहीं मिलते।" इसलिए श्री असित हालदार ने अपना मत व्यक्त करते हुये कहा है कि, "यह गुफा एक प्रकार से रहने की जगह थी। यहाँ छोटे पैमाने पर सगीत, नृत्य आदि के कार्य क्रम भी हुआ करते थे।" इसी प्रकार श्री सरद्

चन्द्र घोषाल ने भी कहा है कि, "इस बात के प्रमाण नहीं मिलते कि इस गुफा का कभी भी प्रेक्षागृह की तरह इस्तेमाल किया गया था।" बरगेस का कथन है कि "यदि यहां प्रेक्षागृह होता तो हम यह आशा कर सकते थे कि केवल इस एकान्त स्थान में, सरगुजा की पहाड़ी के बीच ही नहीं, वरन् अन्य स्थानों में इस प्रकार के प्रेक्षागृह मिलते। पश्चिमी भारत में सैकड़ों पहाड़ी खोदाइयों के स्थान मिलते हैं। उनमें इन प्रेक्षागृहों के अच्छे उदाहरण मिल सकते थे। मगर उनके चिह्न कहीं भी नहीं मिलते।"

बरगेस का यह कथन सही है कि अब तक जितनी गुफाएँ मिली हैं उनमें से किसी में भी प्रेक्षागृह के प्रमाण नहीं मिलते। सीता बेंगा गुफा अपनी तरह की अकेली उदाहरण है। परन्तु क्या यही तर्क यह साबित करने के लिये पर्याप्त है कि सीता बेंगा में भी प्रेक्षागृह नहीं था? स्वयं बरगेस ने स्वीकार किया है कि प्राचीन भारत में पहाड़ी गुफाओं को नाना प्रकार के मनोरंजनों के लिये प्रयुक्त किया जाता था। उन्होंने कुछ उदाहरण भी दिये हैं। आर्कियालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, भाग तीन में औरंगाबाद स्थित गुफा में बौद्ध मन्दिर का चित्र छपा है। इसमें नृत्य होने के प्रमाण मिलते हैं। नासिक में दो गुफायें मिली हैं जिनमें नृत्य और संगीत के कार्यक्रम हुआ करते थे। यहां का वातावरण आज भी अत्यन्त मनोरम तथा नृत्य और संगीत के लिये सर्वथा अनुकूल है। जो कोई भी जूनागढ़ की अपरकोट गुफा को देखेगा वह मान लेगा कि यहां नृत्य और संगीत के कार्यक्रम अवश्य हुआ करते थे। कुदा तथा महाद की गुफाओं में नृत्य तथा संगीत के कार्यक्रमों के लिये सुविधायें थीं। यहां रंगमंच तथा प्रेक्षागृह के प्रमाण मिलते हैं। इन गुफा मन्दिरों के चित्र आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया में प्रकाशित हो चुके हैं। यह बात बिल्कुल निर्मूल और निराधार है कि गुफाओं में केवल साधु सन्यासी ही निवास किया करते थे। प्राचीन साहित्य में अनेक ऐसे वाक्य मिल जायेंगे जिनमें

यह पता चलता है कि गुफायें मनोरंजन, नृत्य और संगीत के लिये इस्तेमाल होती थीं। कालिदास ने 'कुमार सम्भव' के प्रथम सर्ग के दसवें श्लोक में लिखा है—

वनेचराणां वनिता सखानां दरीगृहोत्संगनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रोषधयो रजन्यामतैलपूरः सुरतप्रदीपाः॥

(यहा की गुफाओं में रात को चमकने वाली जड़ी-बूटियाँ भी बहुत होती हैं। इस लिये यहां के किरात लोग जब अपनी अपनी प्रियतमाओं के साथ उन गुफाओं में विहार करने आते हैं तो तब ये चमकीली जड़ी बूटिया ही उनकी काम क्रीड़ा के समय बिना तेल के दीपक बन जाती हैं।)

'कुमार सम्भव' के इसी सर्ग का चौदहवा श्लोक है—

यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषाङ्गनानाम्।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति॥

(जब यहाँ की गुफाओं में किन्नरियां अपने प्रियतमों के साथ काम क्रीडा करती रहती हैं उस समय जब वे अपने शरीर पर से वस्त्र हट जाने के कारण लजाने लगती हैं तब बादल उन गुफाओं के द्वारों पर आकर ओट करके अंधेरा कर देते हैं।)

कालिदास ने अपनी कल्पना से इन वर्णनों को चाहे जितना रोचक बना दिया हो, परन्तु इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि गुफाओं को मनोरंजन के लिये इस्तेमाल किया जाता था और कालिदास ने इन की पुष्टि की है। 'मेघदूत' के प्रथम सर्ग के छब्बीसवें-सत्ताइसवें श्लोक में वह फिर कहते हैं—

तेषा दिक्षुप्रथित विदिशा लक्षणा राजधानीं
गत्वासद्य फलमविकल कामुकत्वस्य लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात्
सभ्रूभंग मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्च लोर्मि॥
नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्रविश्रामहेतो

त्वत्संपर्कात्पुलकितमिव प्रौढ़ पुष्पैः कदम्बैः।
य पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणां
उद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥

(विदिशा नाम की प्रसिद्ध राजधानी में पहुँचते ही तुम्हें विलास की सब सामग्री मिल जायेगी क्योंकि जब तुम वहाँ की सुहावनी. मनभावनी और नाचती हुई लहरों वाली वेत्रवती नदी के तीर पर गर्जन करके उसका मीठा जल पियोगे तब तुम्हें ऐसा लगेगा मानो तुम किसी कटीली भौंहों वाली कामिनी के होठों का रस पी रहे हो।

वहाँ पहुँच कर तुम 'नीच' नाम की पहाड़ी पर थकावट मिटाने के लिये उतर जाना। वहाँ पर फूले हुये कदम्ब के वृक्षों को देखकर ऐसा जान पड़ेगा मानो तुमसे भेंट करने के कारण उनके रोम-रोम फहरा उठे हों। उसी पहाड़ी की गुफाओं में से उन सुगन्धित पदार्थों की गन्ध निकल रही होगी जो वहाँ के छैले वेश्याओं और प्रेमिकाओं के साथ रति करते समय काम में लाते हैं। इससे तुम्हें यह भी पता चल जायेगा कि यहाँ के नागरिक कितनी खुल्लमखुल्ला जवानी का रस लेते हैं।)

कालिदास ने यहाँ 'शिलावेश्म' का प्रयोग 'पहाड़ी गुफा' के अर्थ में ही किया है। मल्लिनाथ ने भी इस अर्थ को स्वीकार किया है। कालिदास के ही अनुसार इन गुफाओं में प्रेमी प्रेमिका तथा अन्य मनोरंजनार्थी लोग रहा करते थे और प्रेम क्रीड़ा किया करते थे। गुफाओं के द्वार पर पर्दे रहा करते थे और भीतर अभिनयादि हुआ करते थे।

मथुरा में एक जो प्राचीन शिलालेख मिला है इसमें 'लेणशोभिका' से तात्पर्य उस अभिनेत्री से है जो कि गुफाओं में रहा करती थी। सभी विद्वान इस बात से सहमत हैं। रामगढ़ की सीताबेंगा गुफा के प्रेक्षागृह के निर्माण में भरत नाट्यशास्त्र के निम्नांकित दो वाक्यों का सहारा लिया गया है—

स्तम्भानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृति पीठकम्।
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम्॥

इस श्लोक में प्रेक्षागृह के निर्माण के लिये जो आदेश दिया गया है रामगढ वाली गुफा में ठीक इसका पालन किया गया। फिर 'यक्षलिपि' की भी बात आती है। सीताबेंगा गुफा की दीवार पर जो शिलालेख है उसे हम सहज ही 'यक्षलिपि' के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

इस तरह सीताबेंगा गुफा के प्रेक्षागृह होने के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह करने की गुंजायश नहीं है।

सीताबेंगा तथा जोगीमारा गुफाओं का चर्चा समाप्त करने के समय एक बात और ध्यान में रखने की है, वह यह कि वह समय ऐसा था जब कि सारे देश में नाटकों के खेलने की प्रथा थी और सम्राट अशोक ने बौद्ध होने के बाद इन पर रोक लगा दी थी। राहुल जी ने बौद्ध काल में तथा अशोक के काल में नाटकों पर लगे प्रतिबन्धों का चर्चा किया है। राहुल जी कहते हैं, "पालि-साहित्य में अभिनीत होने वाले नाटकों का रिवाज न होने पर भी अभिनय और तमाशे होते थे जिन्हें पालि में 'समज्जा' कहा जाता था। तत्कालीन भारत के सबसे बडे राज्य मगध की राजधानी राजगृह थी। राज गृह में एक बहुत बड़ी समजा होती थी, जिसे 'गिरग्ग-समज्जा' कहते थे। शायद वह गिरि के अग्रभाग या छोर पर होती थी, इसलिये उसका यह नाम पड़ा था। बुद्ध के जमाने में राजगृह पहाड़ों के भीतर—पुराने राजगृह के स्थान में बसा हुआ था।..... गिरग्ग समज्जा की बिम्बसार के समय में बड़ी तैयारी होती थी। खुली जगह में अभिनय और तमाशे होते जिसे देखने के लिये लोग जमा होते थे। दूर से देखने में आसानी हो, इसके लिये ... रण लोग भी बैठने के वास्ते मचान

—से यह भी पता लगता है कि गिरग्ग समज्जा में नाच,गाने, बजाने तथा उसके साथ किसी प्रकार का अभिनय करने का बड़ा मेला होता था। इसके लिये जगह और ऊंचा स्थान बनाना मुश्किल न था।... नाटक एक सीमित जनता के लिये ही हो सकता है, जिसके लिये दर्शकों के बैठने के स्थान को भी संकुचित रखना होता है। हो सकता है कि राजाओं और उच्च वर्ग के लोगों के लिये सीमित जनों के बीच में भी अभिनय होता हो। पर इसका उल्लेख हमें प्राचीन पालि-साहित्य में कहीं नहीं मिलता।

"नृत्य भी एक प्रकार के अभिनय हैं, यद्यपि उनमें बहुत ऊंचे दर्जे का भाव सकेत रहता है। सर्प नृत्य, सिंह नृत्य आदि आखिर नकल नहीं तो और क्या हैं? नकल ही अभिनय है। हमारे देश में जो पीछे नाटक का विकास हुआ, उसमें यद्यपि यवन (ग्रीक) लोगों के सम्पर्क से भी कितनी ही चीजें सम्मिलित की गयीं, पर इसका यह अर्थ नहीं कि पहले अभिनय का बिल्कुल अभाव था। भिक्षुओं को 'गीत-नृत्य-वादित-विसूकदस्सन' वर्जित किया गया है। गीत, नृत्य और वाद्य के अतिरिक्त 'विसूक दस्सन' से अभिप्राय किसी प्रकार के अभिनय का ही है।

"भारी जनता उसे देख सके, इसके लिये या तो 'गिरग्ग-समज्जा' की तरह चारों ओर मञ्च बाँध कर इसे खेला जाता या स्वभाविक पहाड़ या टेकरी को मञ्च का रूप दिया जाता। मेलों में, जैसा आज भी देखा जाता है, शराब, जुआ और दूसरी तरह के कुरुचिपूर्ण मनो-रञ्जन भी होते हैं। उस समय भी था, इसलिए बुद्ध के सवा दो सौ वर्ष बाद होने वाले अशोक ने समाज (समज्जा) में बहुत तरह के दोष देखकर उन्हें न करने के लिये आदेश निकाले।"

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन यह स्वीकार करते हैं कि यद्यपि अभिनीत होने वाले नाटकों का पता पालि साहित्य में नहीं चलता फिर भी अभिनय और तमाशे तो होते ही थे। इन तमाशों अथवा

मृग। पर मृग का मारा जाना नियत नहीं है। यह तीनों प्राणी भी भविष्य में न मारे जाएँगे।

जैसा कि सम्राट अशोक के उपर्युक्त अभिलेख से पता चलता है वह ऐसे समाज को जिसमें मदिरा पी जाती थी, मास भक्षण होता था और नाना प्रकार की अश्लीलताएँ होती थीं, अच्छा नहीं समझते थे और उनको रोकना चाहते थे। परन्तु साथ ही ऐसे समाज को वह अच्छा समझते थे जिसमें ये बातें नहीं होती थीं। जिसका अर्थ यह था कि अशोक को सुरुचिपूर्ण संगीत, वाद्य, नृत्य, अभिनय आदि से विरोध न था। बौद्ध सूत्रों में 'विसूक दस्सन', 'पेक्खा', 'समज्जा' शब्द आये हैं। 'ललितविस्तर' में तो यहाँ तक दावा किया गया है कि भगवान बुद्ध जहाँ सब कुछ के सम्बन्ध में पूरा

अखाड़े में मनुष्यों और पशुओं के बीच अथवा दो पशुओं के बीच द्वन्द्व युद्ध होता था। इस भयानक उत्सव को अशोक ने अपने लेख में मना किया है। (रायलऐशियाटिक सोसायटी की पत्रिका, पृष्ठ ३६२)

श्री युत एन० जी० मजूमदार महाशय ने सन् १६१८ के इण्डियन एन्टिक्वेरी नामक पत्र में समाज का अर्थ 'प्रेक्षणक' या 'नाटक' किया है। इसके समर्थन में उन्होंने कामसूत्र (पृष्ठ ४६-५१, चौखंभा सीरीज़) का प्रमाण उद्धृत किया है। जातकों में भी 'समाज' नाटक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (देखिये कणवेर जातक)। रामायण में भी 'समाज' इसी अर्थ में आया है।

इण्डियन एन्टिक्वेरी के दिसम्बर १६१६ वाले अङ्क में विन्सेन्ट स्मिथ साहब ने श्रीयुत एन० जी० मजूमदार के पूर्वोक्त मत को स्वीकार कर लिया है और इस बात पर जोर दिया है कि समाज का अर्थ 'नाटक' ही है।

ज्ञान रखते थे, वहीं नाटकों के सम्बन्ध में भी उनको पूरी जानकारी थी। यह कथा बहु प्रचलित है कि बिम्बसार ने दो नाग सम्राटों के स्वागतार्थ नाटक करवाये थे। यह भी विश्वास किया जाता है कि भगवान बुद्ध के समय में नाटक खेले जाते थे। 'अवदान-शतक' के अनुसार नाटकों की परम्परा बहुत प्राचीन है। माना जाता है कि पूर्व बुद्ध के काल में शोभावती में, ककुच्छद के आदेश पर अभिनेताओं ने नाटक खेला। उसके निर्देशक ने स्वयं बुद्ध की भूमिका की। दूसरे अभिनेताओं ने भिक्षुओं की भूमिका की। बाद में उन्ही कलाकारों ने गौतम बुद्ध के आदेश के अन्तर्गत रह कर राजगृह में नाटक किया। उस समय अभिनेत्री कुवलय को बड़ी ख्याति मिली। कथा है कि उसके चक्कर में कुछ भिक्षुक फँस गये। फलतः वह बुद्ध के शाप से बदसूरत और वृद्ध हो गयी। बाद में उसने प्रायश्चित किया और भिक्षुणी हो गयी। तिब्बत में बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित एक नाटक का पता चलता है। वहाँ पर परम्परा है कि दक्षिण देश से एक अभिनेता आया और उसने भिक्षुओं से प्रतिद्वन्दिता करके बुद्ध के जीवन पर एक नाटक खेला। 'सद्धर्म पुण्डरीक' यद्यपि 'ललित विस्तर' की तरह महाकाव्य नहीं है परन्तु उसमें अनेक ऐसे कथोपकथन मिलते हैं जिनमें भगवान बुद्ध प्रधान वक्ता के रूप में चित्रित किये गये हैं। सीलोन में स्तूप निर्माण के अवसर पर गीत, संगीत, वाद्य और अभिनय के कार्यक्रम हुये थे। ये सब बातें इस बात का प्रमाण हैं कि बौद्ध काल में और उसके बाद संगीत, वाद्य, नृत्य, अभिनय आदि का प्रचार था और बड़े स्तर पर लोकोत्सव हुआ करते थे।

इस प्रकार भगवान बुद्ध तथा अशोक के काल में नाट्योत्सवों का होना सिद्ध हो जाता है। यह भी सिद्ध हो जाता है कि उनमें छोटे बड़े राजपुरुष और जनसाधारण सभी भाग लेते थे। अशोक ने अश्लील, अमंगलकारी 'समाज' तथा शिष्ट और मंगलकारी

पात्रों का चुनाव करता था। पात्रों को उनके देश, वेश-भूषा और रूप के अनुसार ही रगमच पर प्रस्तुत किया जाता था।[1]

सस्कृत नाटकों में तीन प्रकार की भूमिकायें होती थीं—अनुरूप, विरूप और रूपानुसारिणी। अनुरूप में अभिनेता की उम्र और योनि पात्र के अनुरूप होती थी। विरूप में या तो एक बालक वृद्ध का अथवा एक वृद्ध बालक का अभिनय करता था। रूपानुसारिणी में पुरुष नारी का अभिनय करता था। एक पुरुष का अभिनय एक स्त्री द्वारा और एक स्त्री का अभिनय एक पुरुष द्वारा कराया जा सकता था, किन्तु वृद्ध या बालक एक दूसरे का अभिनय नहीं कर सकते थे। पुरुष की भूमिका किसी स्त्री को देने में बड़ी सावधानी रखनी चाहिये। नाट्य-शास्त्र ने इसके तीन प्रकार निर्धारित किये हैं—समान उम्र और योनि वाले लोगों द्वारा, वृद्ध का अभिनय बालक द्वारा और बालक का अभिनय वृद्ध द्वारा।[2] आश्चर्य की बात है कि स्त्री-पात्रों का अभिनय पुरुषों द्वारा किया जाने का उदाहरण प्रारम्भिक समय से ही मिलता है। 'महाभाष्य' में भ्रूकस शब्द का प्रयोग मिलता है जिसका अर्थ स्त्री की भूमिका में आये हुए पुरुष से है।[3] 'रत्नावली' और "प्रियदर्शिका' में सूत्रधार वत्स का अभिनय करता है, उसका छोटा भाई पहले नाटक में[4] यौगन्धरायण का और दूसरे में[5] दृढ वर्मन का अभिनय करता है। 'मालती माधव' में सूत्रधार और

---

१ नाट्यशास्त्र—काव्यमाला, अध्याय ३५, १-२०, काशी संस्कृत सिरीज, ३५, १-८

२. नाट्यशास्त्र—काव्यमाला, २६, १-५, काशी संस्कृत सीरीज ३५, १५-२०

३ महाभाष्य २, पृष्ठ १९६

४. रत्नावली १, पृष्ठ ७

५. प्रियदर्शिका, पृष्ठ ३-४

परिपार्श्विक कामन्दकी और अवलोकिता का क्रमशः अभिनय करते हैं।[1] स्त्री-पात्रों का अभिनय पुरुषों द्वारा किया जाना साधारण नियम नहीं था। 'कर्पूर मंजरी' में नटी एक महत्वपूर्ण स्त्री-पात्र का अभिनय करती है।[2] 'कुट्टनिमत' में जहाँ 'रत्नावली' के प्रथम अंक का वर्णन है, एक स्त्री राजकुमारी का अभिनय करती हुई पायी जाती है।[3]

भरत के अनुसार स्त्री पात्र का अभिनय स्त्री ही को करना चाहिये। विद्वान आचार्यों को स्त्रियों को नाट्यशास्त्र की शिक्षा देनी चाहिये। शृंगार का अभिनय स्त्रियों को ही दिया जाना चाहिये क्योंकि उनकी भंगिमाएं सुकुमार होती हैं और अंग प्रत्यंग सुनिर्मित होते हैं।

नाट्य में भावनाओं को प्रस्तुत करने के लिए दो प्रकार के, 'सुकुमार' और 'आविद्ध', अभिनय किये जाते हैं। सुकुमार रूपकों में नाटक, प्रकरण, भाण, वीथी और अंक आते हैं। आविद्ध में मारकाट, हिंसा, अश्लीलता आदि होती हैं। इसलिये इसमें स्त्रियों को अभिनय नहीं करना चाहिये। इसकी मुख्य दो शैलियाँ सात्वती और आरभटी हैं। डिम, समवकार, व्यायोग और इहामृग इसके प्रकार हैं। आविद्ध शैली में इनका अभिनय देवों, दानवों और राक्षसों द्वारा किया जाता है जो कि स्वभाव से ही हिंसात्मक वृत्ति के और साहसिक होते हैं।[4] वैसे आविद्ध में युद्ध आदि का ही प्राचुर्य होता है। इसमें ज्यादा मार काट और तोड़-फोड़ होती है और अशिष्ट भाषा का भी प्रयोग किया जाता है।

---

१. मालती माधव, प्रस्तावना पृष्ठ १२

२. कर्पूर मंजरी, प्रस्तावना पृष्ठ ११

३. कुट्टनिमत—काव्यमाला ८४२-६६७, पृष्ठ १०४-११०

४. नाट्यशास्त्र—काव्यमाला २६, २०—२४, काशी संस्कृत सीरीज ३५-२३ ब—२४ अ, ३०-३६

नाट्याचार्य

नाट्य-शास्त्र के अनुसार कवि, निर्देशक, रंगमंच-प्रबंधकर्ता, संगीतकार, दृश्य-प्रस्तुतकर्ता और चित्रकार नाट्याचार्य की श्रेणी में आते हैं। नाट्याचार्यों में सूत्रधार सबसे महत्वपूर्ण है क्योंकि वह अभिनेताओं को निर्देशित करता है, सम्वादों का क्रम निश्चित करता है, अभिनय निर्देशित करवा है और नाटक के सफलतापूर्वक खेले जाने के लिये उत्तरदायी होता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार सूत्रधार को कला और विज्ञान का, देशों का, उनमें प्रचलित वेश-भूषा और रिवाजों का ज्ञान होना चाहिये। उसे भाषाओं का, नाट्यशास्त्र का और काव्यशास्त्र का पंडित होना चाहिये। उसे संगीत, वाद्य-यंत्रों, राजनीति-शास्त्र, भूगोल-शास्त्र, ज्योतिष, इतिहास, कानून, शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान और भावनाओं का अच्छा ज्ञान होना चाहिये। ये सूत्रधार के लिये कम से कम आवश्यकताएँ हैं। इसके साथ ही साथ उसे कवि, कुशाग्रबुद्धि और प्रबल स्मरण शक्ति वाला, गम्भीर और उदार होना चाहिए। उसे स्वस्थ, मृदु स्वभाव वाला, आत्म संयमी, क्षमाशील, सत्यवादी और निष्पक्ष होना चाहिये।[१]

सूत्रधार इस नाट्य दल का मुख्य पात्र होता है। वह अन्य पात्रों का शिक्षक होता है और उसे उनका आचार्य कहा जा सकता है। उत्तर रामचरित में भरत को तौर्यात्रिक सूत्रधार कहा गया है, जिसका अर्थ तीन प्रकार के संगीतों (वाद्य संगीत, स्वर संगीत और नृत्य) का आचार्य होता है।[२] इस प्रकार सूत्रधार इस दल में भिन्न-भिन्न हैसियतों से दल को शासित करते हुए, विभिन्न पात्रों का अभिनय करते हुए, दृश्यों को क्रमबद्ध करते हुए, अन्य पात्रों को

---

१ नाट्यशास्त्र काव्यमाला २४, ९२-१००, काशी संस्कृत सीरीज २५, ४५-५२

२ उत्तर रामचरित ४, पृष्ठ ११६

निर्देश देते हुए और कभी-कभी स्वयं किसी महत्वपूर्ण पात्र का अभिनय करते हुए पाया जाता है। नाट्य-शास्त्र की पुस्तकों में सूत्रधार के दो सहायक स्थापक और परिपार्श्विक माने गये हैं। स्थापक के गुण सूत्रधार से मिलते-जुलते हैं। नाटक की प्रारम्भिक कार्यवाइयो के पश्चात् सूत्रधार के समान ही एक दूसरा व्यक्ति रंगमच पर आता है और नाटक का परिचय देता है। इस व्यक्ति को स्थापक कहा जाता है।[1] किन्तु आगे चल कर इसका कहीं पता नहीं चलता। इसलिये अनुमान है कि स्थापक के कार्य भी सूत्रधार के द्वारा ही किए जाते होंगे।

नाट्यशास्त्र के अनुसार परिपार्श्विक से अच्छे गुण केवल सूत्राधार में होते हैं। वह मध्यश्रेणी का, देखने में अच्छा, चतुर और अपने कार्यों को पूरा करने म कुशल व्यक्ति होता है। वाद्य-यन्त्रों का उसे पूर्ण ज्ञान होता है। वह नाटक में कई वार आता है और अच्छे-अच्छे पात्रों का अभिनय करता है। वह सूत्रधार की आज्ञा से अभिनेताओं को आदेश देता है और सगीत का निर्देश करता है।[2]

नाट्यशास्त्र मे कुछ ऐसे आचार्यों का भी उल्लेख है जो रंगमच को आवश्यक वस्तुएँ तैयार करने में और अभिनेता तथा अभिनेत्रियों को निर्देशित करने में विशेष दक्ष होते हैं। कई प्रकार के हस्तकौशल वाले कारीगर भी नाटक से अवश्य सम्बन्धित रहे होंगे।[3]

---

१ नाट्यशास्त्र-काव्यमाला, १४६-१५४, काशी संस्कृत सीरीज ५,१६३—१६८, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज ५, १६८ व —१६६ ए, १७२ ए।

२. नाट्यशास्त्र-काव्यमाला २४, १०१ब—१०२ अ, काशी संस्कृत सीरीज २५, ५३।

३. नाट्यशास्त्र काव्यमाला, २६-२७, ३१-२७, काशी संस्कृत सीरीज ३५, ७२-७३, ७७-८४ ।

मुकुट बनाने के लिये मुकुटकार होता था। वह कई प्रकार के मुकुट बनाता था। आभरणकृत आभूषण बनाता था। माल्यकृत मालाएँ बनाता था। वेशकर कपड़े सिलता था। चित्रकार चित्र रंगता था। रजक कपड़े रंगता था। कारुक रंगमञ्च के लिये लाख, पत्थर, लोहा और लकड़ी की चीजें तैयार करता था। कुशीलव वाद्य-यन्त्रों के बजाने और सजाने में चतुर होता था। नाट्यकार अभिनेताओं को विभिन्न भावों को प्रस्तुत करने के लिये निर्देश देता था। नट चार प्रकार के वाद्य-यन्त्रों के प्रयोग में कुशल होता था। वह लोगों की नकल करता था। नाटकीया एक सुन्दरी होती थी जो गा सकती थी और लोगों की भावनाएँ उभारने की क्षमता रखती थी। वह विभिन्न वाद्य-यंत्रों से सुपरिचित होती थी और स्वर और लय का उसे ज्ञान होता था। तौरिक वाद्य-यंत्रों—तुरही आदि—के बजाने वालों का प्रमुख होता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन कार्यकर्ताओं के नाम इनके द्वारा किये जाने वाले कार्यों के अनुसार रखे गये हैं।

अभिनेता और अभिनेत्रियाँ

संस्कृत नाटकों में अभिनेता और अभिनेत्रियाँ उत्तम, मध्यम और अधम तीन भागों में विभाजित हैं।[१] नाटक के मुख्य पात्र राजा, विदूषक, नायिका और उसकी संगिनी ही होते थे। शास्त्रकारों ने रंगमञ्च पर आने वाले पात्रों के विषय में विशद् निर्देश दिये हैं।

नायक ललित, शान्त, उदात्त और उद्धत् चार प्रकार के होते थे।[२] धीर ललित नायक समस्त चिंताओं से मुक्त, कलाप्रेमी, प्रसन्न

---

१. नाट्यशास्त्र-काव्यमाला, २४, ८९—९२, काशी संस्कृत सीरीज २४, १—८।

२ नाट्यशास्त्र-काव्यमाला २४, ३-५, काशी संस्कृत सीरीज ३४, १७-१६, दशरूपक २, १-६ अ पृष्ठ ३५-३८, साहित्यदर्पण ३, ३५-३८, पद्य ९०-९१।

और सौम्य होता था। 'रत्नावली' का नायक ऐसा ही नायक है। धीरशान्त नायक ब्राह्मण होता था-। 'मालती माधव' और 'मृच्छकटिक' के नायक इसके उदाहरण हैं। धीरोदात्त नायक अत्यन्त गम्भीर, सहनशील, मितभाषी, दृढ़विचारों वाला, प्रभावशाली और उद्देश्य-पूर्ण होता था। 'महानाटक' और 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के नायक इसी प्रकार के हैं। धीरोद्धव नायक आत्म-सयमी और उद्धत होता था और गर्व तथा द्वेष से भरा हुआ, धोखाबाज और नीच चालों वाला, हार न मानने वाला और बनने वाला होता था। इस प्रकार के उदाहरण कम मिलते हैं।

कभी-कभी एक प्रतिनायक भी होता था जो धीरोद्धत नायक के समान ही होता था। उसे सदैव वासनापूर्ण और विकृत विचारों वाले पात्र का रूप दिया जाता था। राम का विरोधी रावण और युधिष्ठिर का विरोधी दुर्योधन प्रतिनायकों के उदाहरण हैं।

नायक का पीठमर्द उसका बड़ा भक्त होता था और किसी प्रसंग का नायक होता था।[१] राम सम्बन्धी नाटकों में सुग्रीव और 'मालती माधव' में मकरन्द ऐसे ही पात्र हैं।

नाट्यशास्त्र के अनुसार विट दरबार के कायदों से परिचित, मृदु स्वभाव वाला, निरपेक्ष, कवि, वाद विवाद की क्षमता रखने वाला और चतुर होता था। वह कलाओं में दक्ष होता था।[२] वात्स्यायन के अनुसार वह अपने साधनों का दुरुपयोग करता था और विवाहित होता था।[3] मृच्छकटिक में विट एक महत्वपूर्ण पात्र है। भाण रूपकों

---

१. साहित्यदर्पण ३, ४७ पृ० ६६; दशरूपक २, ८ पृष्ठ ४०

२ नाट्यशास्त्र—काव्यमाला २४, १०२ व—१०४; काशी संस्कृत सीरीज ३५, ५४—५५; दशरूपक २, पृष्ठ ४०, साहित्यदर्पण ३, ४६ पृष्ठ ७६

३ कामसूत्र ४५, पृष्ठ ५६

में अभिनेता विट के समान ही होता है। सम्भवतः प्रचलित रंगमंच से यह पात्र लिया गया था। विदूषक संस्कृत नाटकों में सबसे महत्वपूर्ण है। वह ब्राह्मण होता था और पीली आँख, भद्दा मुँह, अस्पष्ट दंतपंक्ति, टेढ़ी कमर और गंजा सिर वाला होता था। वह फटे चिथड़े पहनता था। उसे झगड़ों में विशेष आनन्द आता था और वह खाने तथा मदिरा पीने में मस्त रहता था। उसे देखने से और उसके पहनावे और बनावट से हँसी आती है। वह नायक का विश्वास पात्र होता था, जिसे नायक वयस्य कहता था।

शकार एक वृद्ध और प्रसिद्ध पात्र था जो राजा का साला होता था। वह बिना कारण क्रुद्ध हो जाता था और फिर शान्त कर दिया जाता था। वह भड़कीले कपड़े और आभूषण पहनता था और अपने को अज्ञानी दिखाता था। वह 'स' को 'श' उच्चारित करता था और मागधी बोलता था।

चेट नायक का दास होता था। नाट्यशास्त्र में चेट को झगड़ालू, बातूनी, विकलांग बताया गया है जो यह जानता है कि किसका सम्मान करना चाहिये, किसका नहीं। नायक के परिचितों में सेनापति, कुमार, अमात्य, और प्राड् विवाक, दूत और पुरोहित होते थे। विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के विषय में, उनके प्रकार, गुण, नायक से सम्बन्ध और स्थान आदि के निर्देश प्राप्त हैं। वे दिव्या, नृप-पत्नी, कुल-स्त्री या गणिका होती थीं। नायक के सम्बन्ध से वे स्वीया या अन्या और साधारणी हो सकती थीं।[१] 'उत्तर रामचरित' में सीता, राम की पत्नी, स्वीया नायिका हैं। अन्या नायिका या तो कुमारी या विवाहिता स्त्री होती है। 'रत्नावली' और 'मालती माधव' में वत्सराज

---

१ नाट्यशास्त्र—काव्यमाला २४, ६—६; काशी संस्कृत सीरीज २४, २० २५, दशरूपक २, १५—२३ ए, पृष्ठ ४२ ४८, साहित्य दर्पण ३, ६८-८५, पृष्ठ १०६-१२०

की प्रेमिका सागरिका और माधव की प्रेमिका मालती दूसरी प्रकार की नायिका के उदाहरण हैं। 'मृच्छकटिक' में गणिकाओं के एक विशिष्ट वर्ग का वर्णन आता है। गणिका वसन्तसेना पूर्णनायिका है।

नायिका के साथ उसकी संगिनियाँ, सौतेली बहनें, दासियां और रनिवास की अन्य स्त्रियाँ होती थीं। नाट्य-शास्त्र इन्हें 'आभ्यन्तरगण' की संज्ञा देता है।[1] इसमें महादेवी, देवी और वृद्धा सम्मिलित हैं। इनके साथ ही संचारिका या यवनी, अनुचारिका, परिचारिका और प्रतिहारी होते थे। पात्रों की तीसरी श्रेणी नपुंसक कही गई है जिनमें भरत ने स्नातक, कञ्चुकी और वर्षधर, निरमुण्ड या औपस्थायिक को रखा है।[2]

दर्शक और निर्णायक

कालिदास, हर्ष, भवभूति और विशाखदत्त के नाटकों में दर्शकों को अनुभवी और आलोचनात्मक दृष्टि वाला बताया गया है। मालविकाग्निमित्र का प्रबंधकर्ता कहता है—"विद्वान दर्शकों ने मुझसे कहा है कि मैं वसन्तोत्सव के अवसर पर 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक अभिनीत करूँ।" फिर इस प्रश्न पर कि मालविकाग्निमित्र खेला जाय या नहीं वह कहता है—"चतुर मनुष्य परीक्षण के बाद एक को या दूसरे को स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु मूर्ख का निर्णय दूसरों के अनुभवों पर आधारित होता है। इस प्रकार 'मालविकाग्निमित्र' को विद्वान और आलोचनात्मक दर्शक की आवश्यकता है।"[3]

---

१ नाट्यशास्त्र—काव्यमाला २४, १५-१७, काशी संस्कृत सीरीज २४, २६-३१

२ नाट्यशास्त्र—काव्यमाला २४, ५०-५२, काशी संस्कृत सीरीज २४, ६१-६२

३. मालविकाग्निमित्र १ २ और गद्य पृष्ठ २-३

'रत्नावली' के रङ्गमञ्च का प्रबन्धकर्ता कहता है—"ओह ! मैं पूर्णतया निश्चित हूँ कि या तो दर्शकों का मस्तिष्क जीत लिया गया है या वे लोग हम लोगों की तरफ खिंच गये हैं क्योंकि श्री हर्ष एक प्रसिद्ध कवि हैं और ये श्रोतागण सदैव गुण की प्रशंसा की ओर रहे हैं, वत्सराज की कथा विश्व में एक आकर्षक कथा है और हम लोग ऐतिहासिक कला के पण्डित हैं। इनमें से प्रत्येक परिस्थिति अपेक्षित उद्देश्य की ओर हमें ले जाती है। फिर मेरे भाग्य का कहना क्या जब कि इतनी लाभदायक परिस्थितियाँ एक साथ एकत्रित हैं !"[1] यहाँ भी दर्शकों को आलोचनात्मक और नाटक के गुण-दोष की क्षमता रखनेवाला माना गया है।

भवभूति के नाटकों से उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। वह एक महान शैलीकार थे और भाषा के ऊपर उनका पूरा अधिकार था। उनके नाटकों का काव्य विद्वान तथा आलोचक दर्शकों द्वारा ही समझा जा सकता था।[2]

'मुद्राराक्षस' का प्रबन्धकर्त्ता कहता है—"सचमुच मुझे इस समुदाय के सम्मुख, जो काव्य के गुणों को समझ सकता है, अभिनय करने में बहुत हर्ष हो रहा है। आप पूछते हैं, क्यों ? एक मूर्ख द्वारा बोये गये बीज भी अच्छी जमीन पर जम निकलेंगे। धान के पौधों का विकास बोने वाले के कौशल पर निर्भर नहीं होता।"[3] इस प्रकार इस नाटक में भी दर्शकों का महत्व माना गया है।

नाट्यशास्त्र में दर्शक को अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत भावनाओं को समझने की क्षमता रखनेवाला और अच्छा निर्णय करने वाला होना

---

१ रत्नावली १ ५ पृष्ठ ५

२. मालती माधव ६ १७ पृष्ठ १८४, उत्तररामचरित १.२५ पृ० २७

३ मुद्राराक्षस १.३ पृष्ठ ७

आवश्यक बताया गया है। उन्हें सावधान और चारों प्रकार के वाद्य-यंत्रों को बजाने में सिद्ध होना चाहिये तथा वेश-भूषा, उपभाषाओं, भङ्गिमाओं और छन्दों का ज्ञाता होना चाहिये। उन्हें शास्त्रों और कलाओं में विज्ञ और धार्मिक स्वभाव का होना चाहिये।

किसी परिषद् या संसद् में बहुत कम ऐसे लोग मिलेंगे। उनमें से जिनमें जिस सीमा तक कला, वेश-भूषा, सम्वाद् और अभिनय समझने की क्षमता होगी, उसी सीमा तक वह प्रशंसा कर सकते हैं। युवा वासनात्मक दृश्य पसन्द करते हैं। धार्मिक अभिरुचि वाले मुक्ति से सम्बंधित दृश्यों में आनन्द पाते हैं। वीर पुरुष वीभत्स और रौद्र दृश्यों को चाहते हैं। वृद्ध पुरुष धार्मिक कथाओं और पुराणों में दिलचस्पी लेते हैं। लड़के, मूर्ख और स्त्रियां हास्य-पूर्ण दृश्यों में आनन्द लेती हैं।[1] इस प्रकार विभिन्न दर्शक विभिन्न प्रकार के आनन्द अपनी उम्र, देश और काल के अनुसार प्राप्त करते हैं।

'अभिनय दर्पण' ने दर्शकों को कल्पवृक्ष माना है। वेद इसकी शाखाएँ, शास्त्र इसके फूल और विद्वान इसकी मधुमक्खियाँ हैं।[2]

किसी नाटक की सफलता के सम्बन्ध में निर्णय करने के लिये बड़े विशाल प्रबंध किये जाते थे। 'अभिनय दर्पण' के अनुसार सभापति को धनी, कुशाग्रबुद्धि, विवेकशील, पुरस्कार देने में कुशल, संगीतज्ञ, बहुमुखी प्रतिभाशील, आनन्ददायक गुणोंवाला, इच्छाओं और भावनाओं की अभिव्यक्ति से सुपरिचित, द्वेषविहीन, जनसाधारण प्रेमी, सच्चरित्र, व्यवहारशील, दयाशील, धैर्यशील, संयमी, कलाओं में दक्ष और अभिनय में विशेष योग्यता प्राप्त होना चाहिये। उसका कार्य अभिनय के गुण पर मत प्रकट करना, सूत्रधार, नर्तक, संगीतकार और

---

१. नाट्य शास्त्र—काव्यमाला २७. ४७—६० अ, काशी संस्कृत सीरीज २७ ५०—६३ अ

२. अभिनय दर्पण—११ पृष्ठ ३

अभिनेताओं को पुरस्कार देना होता है ।[1] 'सगीत रत्नाकर' मे भी सभापति की व्याख्या दी गई है ।[2] सभापति के सलाहकार भी होते हैं । वे शिष्ट व्यवहार करते हैं । प्रसिद्धि के आकाक्षी होते हैं, भावों को समझते हैं और गुण दोष में अन्तर करना जानते हैं ।[3]

नाटक की सफलता प्राश्निक के निर्णय पर आधारित है । नाट्य-शास्त्र इस प्रकार के प्राश्निक बतलाता है—यज्ञवित, नर्तक, छन्दोवित, शब्दवित, राजन्, ईष्वस्त्र वित, चित्र वित, वेश्या, गन्धर्व और राज सेवक । जब किसी प्रकार का मतभेद खड़ा होता है तो प्राश्निक का निर्णय मान्य होता है । प्रत्येक प्राश्निक अपने विषय में सबसे अधिक दक्ष होता है ।[4] प्राश्निक के बारे में एक स्पष्ट विचार 'मालविकाग्नि-मित्र' के गहन अध्ययन से और अग्निमित्र की सगीतशाला में प्रस्तुत, चलित नृत्य के दृश्य से बनाया जा सकता है । विवाद यह था कि हरदत्त और गणदास में से कौन नृत्य का अच्छा आचार्य है । परिव्राजिका निर्णायक नियुक्त हुई । उसने सचमुच मालविका के नृत्यों की सराहना की । उसने कहा—"सब कुछ दोष विहीन और नाट्य-शास्त्रों के नियमों के अनुसार था । उसका अभिव्यंजनापूर्ण अग सचालन ठीक भाव प्रस्तुत करता था और उसके पैरों की गति समय के अनुसार थी । उसने भावनाओं को ठीक ठीक अभिव्यक्त किया था । उसकी उगलियो की गति कोमल थी । अभिनय के क्षेत्र में एक भाव दूसरे भाव के बाद आता है । फिर भी दिलचस्पी जैसी की वैसी बनी रही ।"[5] परिव्राजिका जैसे प्राश्निक ही सस्कृत नाटक देखते हुए पाये जाते थे । वे ही सच्चे निर्णायक होते थे ।

---

१. अभिनय दर्पण—१७

२. सगीत रत्नाकर ७ १३४९—१३५०

३. अभिनय दर्पण १८

४ नाट्यशास्त्र-काव्यमाला, २७. ६० ब—६१

५ मालविकाग्निमित्र, पृष्ठ २४ और २६

अभिनेता और समाज

भरत ने लिखा है कि जिन अभिनेताओं ने हास्य और विनोद में ऋषियों का मजाक बनाया वे लोग समाज में नीचे गिर गये और शूद्र कहलाये। राजा नहुष ने सर्वप्रथम पृथ्वी पर एक ऐसी नाट्यशाला बनवायी जिसमें आकाश से गायक और नर्तक आये जहाँ उन्होंने मनुष्यों से विवाह किया।[१] भरत के समय मे अभिनेता निर्ब्रह्मण हो गये थे। उनके 'शूद्राचारों' को 'निराहुत' (सभ्य) लोग नीची दृष्टि से देखते थे और उनसे घृणा करते थे। जब ये मर जाते थे तो इनकी मृत्यु अशोक होती थी। उनके लिए कोई रोता भी नहीं था। रामायण में एक अभिनेता (शैलूष) अपनी पत्नीको दूसरे को देते हुए पाया जाता है।[२] अर्थशास्त्र के अनुसार नाट्यशालाएँ गाँवों के बीच में नहीं होनी चाहियें, क्योंकि इससे ग्रामीणों के काम में बाधा पहुँचती है। कुशीलवों को शूद्र कह कर निष्कासन के योग्य बताया गया है। गीत और संगीत के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र 'कुशीलवों' को 'रूपाजीवा' के साथ रखता है।[३]

सम्भवतः मनु जनता पर अभिनेताओं के प्रभाव को जानते थे। इसलिये उन्होंने इस पेशे को बड़ा उल्टा सीधा कहा था। उन्होंने ब्राह्मणों को अभिनेता बनने से वर्जित किया। मनु ने अभिनेताओं की स्त्रियों से नाजायज सम्बन्ध होने पर मामूली दण्ड की व्यवस्था की है, क्योंकि वे स्वय अपनी स्त्रियों को पैसे के लोभ से दूसरों को देने के

---

१. नाट्यशास्त्र-काव्यमाला ३६. २८-३९, ३७ १४ १८ ए, काशी संस्कृत सीरीज ३६, २६-३७ अ, ६० ब.—६४

२. रामायण २. ३० ८

३. अर्थशास्त्र १. २. १, पृष्ठ ११४, अर्थशास्त्र १. १. ३. पृष्ठ २६, अर्थशास्त्र १. २. २७ पृष्ठ ३०५—३०६

लिये तैयार रहते थे। मनु नटों और मल्लों के पेशे को सबसे नीच बतलाते हैं।[१] मनु के अनुसार कुशीलवों से बचना चाहिये।

मनु और याज्ञवल्क्य के अनुसार कुशीलवों की बातों पर विश्वास नहीं करना चाहिए और किसी ब्राह्मण को रंगमंच के अभिनेताओं का भोजन स्वीकार नहीं करना चाहिये।[२] यह बात 'मृच्छकटिक' में सूत्रधार के प्रारंभिक कथन से भी सिद्ध होती है।[३]

विष्णु के विधि-शास्त्र में अभिनेताओं को 'आयोगव' बताया गया है जिनकी उत्पत्ति शूद्रों और वैश्य कन्याओं से है।[४]

महाभाष्य में कहा गया है कि उन अभिनेताओं की पत्नियाँ, जो स्त्री पात्रों का अभिनय करते थे, गिरी नैतिकता की होती थीं और वे अन्य पुरुषों से इस प्रकार मिलती जुलती थीं जिस प्रकार स्वर से व्यंजन।[५] नटियों को नैतिक दृष्टि से गिरी हुई जिंदगी बसर करते बताया गया है और नटों को अपनी पत्नियों की लाज बेच कर जीवन निर्वाह करने के लिये दोषी ठहराया गया है।

तस्वीर का यह एक पहलू है। इससे यह पता चलता है कि समाज में इन अभिनेताओं और अभिनेत्रियों का स्थान ऊँचा नहीं था। वे नीची निगाह से देखे जाते थे। लोग उनकी कला और शारीरिक सौन्दर्य का आनन्द तो उठाते थे मगर उनको सम्मान नहीं

---

१. मनुस्मृति ८, ३६२, पृ० ३३०, १२ ४५ पृ० ४७५, १०.२२. पृ० ४०१

२ मनुस्मृति ४ २१४-२१५ पृ० १७०, ८ ६५, पृ० २८०, याज्ञवल्क्यस्मृति २ ५.७०-७१ पृ० ६६७-६६८, १.६ १६० व और ३६१, पृ० २३७

३ मृच्छकटिक ३ पृ० ६-३०

४. विष्णुस्मृति ३६.३, ८ पृ० ४५

५ महाभाष्य ३ पृ० ७

देते थे। परन्तु इसके भी प्रमाण मिलते हैं कि अभिनेताओं को नाटककारों और राजाओं की मित्रता प्राप्त थी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि कला का उद्गम नीचे स्तरों से होते हुए उच्चतम काव्य की ऊँची श्रेणी में भी पहुँच गया और सम्मानित भी हुआ।

भरत मुनि माने गए हैं और उनके नाट्यकला के सृष्टिकर्ता होने के कारण अभिनेतागण 'भरत पुत्र' माने गए हैं। नाटक से संबंधित हर चीज उन्हीं पर आधारित है। वह नाट्यशास्त्र के रचयिता हैं। स्वर्ग में भरत के सम्मुख अप्सरा उर्वशी ने एक दृश्य अभिनेत्री के रूप में प्रस्तुत किया।

'मृच्छकटिक' की वसन्त सेना का उद्धार अपने व्यवसाय से तब हुआ, जब राजा शर्वलिक ने उसे एक विद्वान ब्राह्मण के साथ विवाह करने की आज्ञा दी—"भद्रे वसन्त सेना, महाराज तुम्हें पत्नी का सम्मान देकर अति प्रसन्न हुए हैं।"[1]

अभिनेताओं का राजकुमारों के यहाँ सदैव स्वागत होता था और ये बड़े बड़े कवियों के घनिष्ट मित्र थे। 'हर्ष चरित' में बाण ने अभिनेताओं और अभिनेत्रियों को अपना मित्र बताया है।[2] भर्तृहरि ने राजा से इनकी मित्रता का उल्लेख किया है।[3]

समाज की ऊँची श्रेणियों की कुमारियों—जैसे मालविका, को इस कला की शिक्षा दी जाती थी। मालविका को वीरसेन ने अपनी बहन रानी को उपहार स्वरूप दिया था, क्योंकि उनके विचार से वह ललित कलाओं को सीखने के उपयुक्त थी।[4]

---

१. मृच्छकटिक १० पृ० २५२
२. हर्षचरित ३ पृ० १६
३. भर्तृहरि—सुभाषित त्रिशती, वैराग्य शतकम् ३.५६
४. मालविकाग्निमित्र १ पृ० ६

'रत्नावली' में प्रबन्धकर्त्ता राजाओं द्वारा बड़ा सम्मानित किया जाता था और नाटक खेलने के लिए उससे अनुरोध किया जाता था। राजा अभिनेताओं का भी बड़ा सम्मान करता था।[1]

अपने दो नाटकों के प्राक्कथन में भवभूति अभिनेताओं से मित्रता का दावा करते हैं।[2] भवभूति के नाटकों के संवाद कहने वाले और अभिनय करने वाले अवश्य ही सुशिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति होंगे, जिन पर मनु, याज्ञवल्क्य और अर्थशास्त्र की टीकाएँ उचित नहीं ठहरेंगी। भरत को जब मुनि माना गया है और उच्च कुल के लोगों ने भी आगे चलकर रंगमंच पर अभिनय किया, तो इसका यह निष्कर्ष निकलता है कि शनैः शनैः अभिनेताओं का सामाजिक स्थान और उनके व्यवसाय का आदर समाज में बढ़ रहा था और समाज के सम्मानित सदस्य और शासक वर्ग के लोग उनसे सम्पर्क स्थापित करने में गर्व अनुभव करते थे।

जैसा कि हमने देखा हमारे देश में स्त्री-पुरुष पात्रों के साथ साथ रंगमंच पर आने और अपनी कला का प्रदर्शन करने के अगणित प्रमाण मिलते हैं। इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि नाटककारों और अभिनेताओं में घनिष्ट आपसी सहयोग रहा करता था जिससे नाटकों को रंगमंचोपयोगी बनाने में बड़ी आसानी होती थी। अक्सर ये नाटक वसन्तोत्सव पर खेले जाते थे। उन्हें देखने के लिये देश देशान्तर से राजा और समाज के सम्मानित व्यक्ति आते थे। जिस राजा के यहाँ यह उत्सव होता था वह इसे सफल बनाने के लिये पूरी कोशिश करता था। ऐसे अवसरों पर नाटककारों, नाट्याचार्यों तथा अभिनेताओं को सम्मानित और पुरस्कृत किया जाता था। नाटकों

---

१. रत्नावली १ पृ० ९

२ मालती माधव, प्राक्कथन पृ० ८, महावीर चरित, प्राक्कथन, पृ० ८

को स्त्री पुरुष साथ-साथ देखते थे। उनके पृथक पृथक बैठकर देखने की पूरी व्यवस्था रहती थी।

ये नाटक सदैव उद्देश्यपूर्ण और मनोरजनकारी होते थे। अभिनय करते समय कलाकारों को निर्भय और मुक्त हो कर अपनी कला को प्रदर्शित करने का अवसर मिलता था। उस समय वे अपनी कला के, पूरे नाटक और रंगमच के मालिक होते थे। इसलिये वे अपने उत्तरदायित्व के प्रति अत्यन्त सजग भी होते थे।

सस्कृत नाटक विद्वान लेखकों, कुशल नाट्याचार्यों और सफल अभिनेताओं के आपसी सहयोग के कारण ही दर्शकों को मुग्ध कर लेने में कामयाब होते थे।

डाक्टर चन्द्रभान गुप्त ने अपनी पुस्तक 'दि इन्डियन थियेटर' के सातवें अध्याय में इस सम्बन्ध में प्राप्त प्रायः सभी स्रोतों का सहारा लेकर अपना मत दिया है। उन्होंने प्राचीन भारतीय रगमच तथा उससे सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति और हर वस्तु पर सम्यक प्रकाश डाला है। जो लोग भारतीय रंगमंच पर केवल युनानी प्रभाव को देखने के आदी हैं अथवा जिन्हें इस बात पर पूरा विश्वास नहीं है कि भारतीय रगमच सचमुच इतना विकसित और पूर्ण था उन्हें गुप्त जी की पुस्तक का अवलोकन करना चाहिये। संस्कृत नाटकों को रंगमच पर प्रस्तुत करने वाले कलाकारों के सम्बन्ध में जो विवरण प्राप्त है वह अन्तिम रूप से प्रमाणित कर देता है कि उस समय रगमच पूर्णतया विकसित था। सहस्त्रों वर्ष पहले से हमारे देश में रंगमच रहा है और रगमचोपयोगी नाटक लिखे जाते रहे हैं। यह सही है कि अब तक जो नाटक प्राप्त हुये हैं उनमें अश्वघोष का 'शारिपुत्रप्रकरण' ही प्रथम है (कुछ लोग भास को अश्वघोष के पहिले का मानते हैं, इसलिये उनके अनुसार भास के नाटकों को ही प्राथमिकता दी जानी चाहिये।) परन्तु अश्वघोष के पहिले ही किसी न किसी प्रकार के नाटकों के खेले जाने के इतने अधिक प्रमाण

मिलते हैं कि यह मान लेना पड़ता है कि अश्वघोष और भास के पहिले भी नाट्य रचना की परम्परा थी और उनका अभिनय लोकप्रिय था। नाट्य रचना के साथ ही रंगमंच तथा पात्रों के सम्बन्ध में जो विवरण प्राप्त हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि इस कला के प्रति राजसमाज तथा जनसमाज दोनों में कितनी जागरुकता थी और नाट्य साहित्य तथा अभिनय कला को कितनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त थी।

यद्यपि समय के प्रवाह और विदेशी संस्कृति के प्रभाव के कारण कालान्तर में संस्कृत नाटकों और रंगमंचों की परम्परा प्रायः समाप्त सी हो गयी, परन्तु भारतीय संस्कृति का यह विशिष्ट अंग परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप में, विभिन्न भाषाओं के माध्यम से अभिव्यक्त होता रहा। अगले अध्यायों में हम उनका अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच का सम्बन्ध संस्कृत नाट्य साहित्य और रंगमंच से किस प्रकार स्थापित होता है, यह जानने के लिये विभिन्न भाषाओं के नाट्य साहित्य और युगों-युगों से चले आए विभिन्न प्रकार के रंगमंचों के उद्भव और विकास क्रम का अध्ययन अत्यावश्यक है।

सातवाँ अध्याय

रास नाटक

रास नाटकों का इतिहास पुराना है। रास, रासक, रासो नामों के सम्बन्ध में यहां अध्ययन कर लेना आवश्यक है। जैसा कि हम जानते हैं संस्कृत नाट्य साहित्य की परम्परा के साथ साथ जन नाट्य की परम्परा भी अक्षुण्ण रूप से चलती रही है। रास नाटकों का सम्बन्ध इस जन परम्परा से ही है। अपभ्रंश में रासक नाटकों का प्रचार बहुत अधिक था। यह परम्परा साधारण जन समाज की रुचि और योग्यता को ध्यान में रखकर प्रचलित हुई। जब हेम चन्द्र ने इस अपभ्रंश को व्याकरण के नियमों में बांधकर उसे साहित्यिक भाषा का रूप दे दिया तो स्वभावतः उसका लचीलापन कम हो गया। परन्तु जन भाषा तो चलती ही रही और उसके प्रवाह में इन रासक नाटकों का सबसे प्रमुख हाथ रहा।

रासक नाटकों के उदय और विकास पर बहुत कम साहित्य उपलब्ध है। श्रीरामचन्द्र शुक्ल और श्री श्याम सुन्दर दास आदि आचार्यों ने भी इधर पर्याप्त ध्यान न दिया। उसका कारण यह था कि उनके समय तक अपभ्रंश साहित्य का पूरा अध्ययन हुआ ही नहीं था। इधर डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने बहुत अधिक ध्यान दिया है। हिन्दी के पुराने आचार्य प्रायः यही मानते रहे हैं कि हिन्दी नाटकों की उत्पत्ति सत्रहवीं शताब्दी विक्रमी रही है। परन्तु अब तक जो अनुसंधान हो चुका है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि हिन्दी नाटकों का आरम्भ विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में हो गया था। सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक जो नाटक साहित्य मिलता है, वह शून्य से नहीं आरम्भ हुआ, बल्कि

वह इसी प्राचीन परम्परा का अगला बढा हुआ कदम है। डाक्टर दशरथ ओझा कहते हैं, "अपभ्रंश भाषा के प्रसिद्ध पडित मुनि जिन विजय जी विगत चालीस वर्षों से जैन भण्डारों की हस्तलिखित पुस्तकों की पाण्डुलिपियों का अध्ययन कर रहे हैं। उन विशाल ग्रन्थ भण्डारों में उन्हें 'सन्देश रासक' नामक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ। यह ग्रन्थ विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में एक उदार मुसलमान द्वारा अपभ्रंश मिश्रित पश्चिमी राजस्थानी में लिखा गया। इसकी भाषा और कथा वस्तु के आधार पर यह प्रमाणित हुआ है कि इसका रचनाकाल शहाबुद्दीन मोहम्मद गोरी के आक्रमण का पूर्व काल था। इसकी भाषा पृथ्वी राज रासो की मूल भाषा से बहुत कुछ साम्य रखती है। यह वह काल था जब अपभ्र श भाषा में सामान्य जन की भाषा 'राजस्थानी' अपना स्थान बनाती चली जा रही थी। अतएव ग्रन्थ में अपभ्र श तथा राजस्थानी का मनोरम सगम पाया जाता है। इसके पश्चात जितने रासक विरचित हुए उनमें अपभ्र श का प्रभाव क्षीण से क्षीणतर और राजस्थानी का प्रबल से प्रबल तर बनता गया और अचिरा देव रास और रासो राजस्थानी में विरचित होने लगे। रास और रासो की यह परम्परा न्यूनाधिक सात सौ वर्षों से हमारे नाट्य साहित्य को प्रभावित करती आ रही है।"

इस सम्बन्ध में श्री नामवर सिंह अपनी पुस्तक, 'हिन्दी के विकास मे अपभ्र श का योग' के पृष्ठ १८८ में कहते हैं, "पश्चिमी हिन्दी की एक परम्परा रास ग्रन्थों की भी है। इन रास ग्रन्थों में 'पृथ्वीराज रासो' सबसे बड़ा है तथा वीसल देव रासो और हम्मीर रासो मुक्तकों के संग्रह हैं। अपभ्रंष में 'रास' नाम से केवल तीन चार ग्रन्थ ही मिलते हैं .सन्देश रास, जीवदयारास (शान्ति सूरि), बाहुबलि रास (शील भद्र सूरि) और स्थूल भद्र रास।... .ऐसा प्रतीत होता है कि रास काव्यों की अपभ्रंष परम्परा 'सन्देश ,रास' की तरह छोटे छोटे प्रेमाख्यानों की रही होगी।"

श्री नामवर सिंह आगे कहते हैं, "रासो शब्द की व्युत्पत्ति पडितो ने नाना प्रकार से की है। फ्रेंच विद्वान तासी ने उसका सम्बन्ध 'राजसूय' शब्द से जोड़ा है और पण्डित राम चन्द्र शुक्ल ने 'रसायण' से। उन्होंने यह भी लिखा है कि 'कुछ लोग इसका सम्बन्ध 'रहस्य' से बतलाते हैं।' समझ मे नहीं आता कि इस प्रकार की व्युत्पत्ति खोजने का उद्देश्य क्या है.. शब्द के लिए शब्द ढूँढना नहीं बल्कि 'रासो' काव्य के भीतर निहित चेतना का आदि स्रोत खोजना होगा। रासो की व्युत्पत्ति बतलाने वाले यदि यह दृष्टिकोण अपनाते तो 'राजसूय' 'रसायण' अथवा 'रहस्य' आदि शब्दो की पहेली न बुझाते। पता नहीं शुक्ल जो ने इसका सम्बन्ध 'रसायण' से कैसे जोड़ दिया जबकि वह जानते थे कि 'रसायण' शब्द योगियों और तान्त्रिकों के यहाँ साधना में निश्चित अर्थ के लिए रूढ़ पारिभाषिक शब्द है। रास काव्यों की चेतना से उसका क्या सम्बन्ध ?"

रास से 'रसायण' या 'राजसूय' का कोई सम्बन्ध हो या न हो परन्तु 'रहस्य' अथवा 'रहस' से तो अवश्य है। रास को 'रहस' कहा जाता था। इसमें कोई सन्देह नहीं। वाजिदअली शाह अपने यहां 'रहस' ही खेलता था और उसके अभिनय के लिए कैसर बाग में 'रहस खाना' बनवाया था। 'रास' के लिए 'रहस' शब्द के प्रयोग के अनगिनत प्रमाण मिलते हैं।

श्री नामवर सिंह ने 'राजसूय', 'रसायण' और 'रहस्य' तीनों शब्दों को अस्वीकार कर दिया। आगे वह कहते हैं, "उपयुक्त सामग्री के अभाव में हम केवल अनुमान का ही सहारा ले सकते है और 'संदेश रास' को देखते हुए लगता है कि इस प्रकार के रास काव्यों का सम्बन्ध गोप-गोपियों की 'रास लीला' से अवश्य रहा होगा। आभीर जाति के सामूहिक नृत्य को सम्भव है भ्रम से 'लास्य रास' संज्ञा दे दी गयी हो। 'रास' में जिस प्रकार के प्रेमाख्यान, विरह निवेदन आदि की सरस रचनाएँ है उनका

सम्बन्ध राजस्थान में भ्रमण करनेवाली आभीर और गोप जाति से होना असम्भव नहीं है और इसी जाति का नृत्य भी 'रास' है जो राधा कृष्ण आख्यान को लेकर कृष्ण भक्त कवियों के काव्य का वर्ण्य विषय बना...बहुत सम्भव है कि आगे चलकर इस यायावर जाति के रोमानी गीतों के अनुकरण पर बने हुए काव्य साहित्य में अन्य बातों को मिलाकर भी 'रास' कहलाते रहे हों। सम्भव है कालान्तर में रूप बदलता गया हो, पर नाम वही रह गया हो। इसके सिवा 'रासा' नामक एक छन्द भी होता है जिसकी लय नृत्यानुसारी है। परन्तु सभी रास काव्यों में वीरता व्यंजक प्रेम की मीठी अभिव्यक्ति मिलती है। मूलतः वे रोमांस गीत (बैलेड) ही हैं।"

श्री नामवर सिंह ने इन रासों को रोमास गीत कहा है। रोमांस का पुट इन रासों में है चाहे वह वीसल देव रासो हो अथवा पृथ्वीराज रासो। इनमें 'प्रेम की मीठी अभिव्यक्ति' का मिलना हमें किसी प्रकार विस्मित नहीं करता। मगर एक सवाल जो सामने आता है वह यह है कि जो रास मिलते हैं, उदाहरणार्थ 'सन्देश रास' को ही ले लें, उन्हें श्रव्य काव्य के अन्तर्गत माना जायेगा अथवा दृष्य काव्य के? डाक्टर ओझा ने इस प्रश्न का विस्तृत उत्तर दिया है। वह कहते हैं, "रासकों की उपयोगिता बताते हुए अब्दुल रहमान लिखते हैं:

कह न ठाइ पइयेइहि वेउ पयासियइ।
कहु बहु—रुविणि वद्धहु रासउ भासियइ॥

इसी की टिप्पनक रूपव्याख्या में इस प्रकार अर्थ मिलता है—

कुत्रापि चतुर्वेदिभिः वेदः प्रकाश्यते।
कुत्रापि बहुरूपभिर्निबद्धो रासको भाष्यते॥

"कहीं पर चतुर्वेदी (चारों वेदों के श्रोत्रिय) वेदों की व्याख्या करते हैं और कहीं बहुरुपिये अर्थात् अभिनेता सुसम्बद्ध रासकों का कथोपकथन के रूप में प्रदर्शन करते हैं।" श्रव्य काव्य जब प्रदर्शन

के योग्य हो अथवा जब श्रव्य काव्य का प्रदर्शन किया जाय तो उसे दृश्य काव्य कहना असंगत न होगा। 'सन्देश रासक' में मंगलाचरण है, कथोपकथन है, दृश्य परिवर्तन के तत्व हैं, विरह वियोग विलाप है, कथा सूत्र है, अन्त में संशय, निराशा, प्रतीक्षा के बाद प्रिय मिलन भी है। इस प्रकार इसमें नाटक के तत्व हैं। यह रासक आशीर्वचन के साथ समाप्त होता है। इसका अभिनय बहुरूपियों द्वारा होता है। डाक्टर ओझा के मतानुसार, "यह रासक पूर्णतया विकसित नाटकों के प्रारम्भिक काल का वह रूप है जिसमें श्रव्य काव्य अभिनय कला की सहायता से दृश्य काव्य में परिणत हो रहे हैं। बहुरूपियों से प्रदर्शन होने का उल्लेख इस बात का प्रमाण है।"

रास ग्रन्थों का प्रकाशन भी किसी न किसी अंश में हो चुका है। श्री मोहन लाल दुलीचन्द देसाई ने 'जैन गुर्जर कवियो' नामक ग्रथ में तेरहवीं से बीसवीं शताब्दी तक रचे गए हस्तलिखित रास ग्रथों का विवेचन किया है। भावनगर से 'ऐतिहासिक रास सग्रह' ग्रथ प्रकाशित हुआ है। जैन जनता के पास जाने कितने रास ग्रंथ पडे होंगे जिनका पता किसी को नहीं है। श्री अगर चन्द नाहटा ने 'गय सुकुमार रास' नामक एक रास ग्रंथ का शोध जैसलमेर में किया है। "इसमें वसुदेव की पत्नी देवकी जी कृष्ण के समान ही एक और पुत्र की कामना करती हैं। उनकी अभिलाषा पूर्ण होती है। वही इस रास का नायक है। इस रास का रचना काल संवत १३०० विक्रमी के सन्निकट माना जाता है। इस रास में रास के सभी तत्व विद्यमान हैं। इसके पात्र हैं, वसुदेव, देवकी, गयसुकुमार, कंस, जरासन्ध और नेमकुमार। इसका प्रारम्भ मंगलाचरण से और अन्त आशीर्वचन से होता है, जो नान्दी और भरत वाक्य से मिलता जुलता है। राजस्थान की यह रास परम्परा अब तक चली जा रही है। अभी कुछ वर्ष पहिले तक प्रान्त में इनका अभिनय प्रायः होता रहता था। 'लकुट-रास' तो अब तक प्रतिवर्ष अभिनीत होता ही है।"

अनुमानतः प्रायः एक सहस्र रास ग्रथ राजस्थानी में हैं। यदि इनका शोध हो जाय तो हिन्दी नाट्य साहित्य के आदिकाल पर सम्यक् प्रकाश पडे और इतिहास की अनेक खोई कड़ियाँ मिल जांय। 'गय सुकुमार रास' में राजस्थानी हिन्दी का प्रभुत्व दिखायी देता है। इसमे पात्र संख्या रासक से अधिक है और इसका कथानक वसुदेव, देवकी और कृष्ण से सम्बन्धित है। डाक्टर दशरथ ओझा कहते हैं, "यदि हमारा अन्वेषण मान्य हो तो हिन्दी साहित्यिक नाटक का उत्पत्तिकाल सत्रहवीं शताब्दी के स्थान पर तेरहवीं शताब्दी (सवत् १२८६ वि०) मानना होगा। एतदर्थ नाटक के इस विकसित रूप में विरचित यह 'गयसुकुमार नाटक' ही हमारे अनुसन्धान के फल-स्वरूप प्रथम नाटक सिद्ध होता है। इस प्रकार विक्रम की तेरहवीं शताब्दीं से हिन्दी नाटक के विकसित रूप की परम्परा सिद्ध हो जाती है।"

रास नाटकों में तीन धाराएँ चलीं। एक सीधे जन नाटकों की धारा थी। दूसरा रूप अपभ्रंश के चरिउ और प्रारम्भिक नाटकों के बीच का था। तीसरा रूप रासो है जो किसी यशस्वी राजा के सम्पूर्ण जीवन को लेकर लिखा जाता था। पहिली धारा में लकुट रास, ताल रास आदि का विकसित रूप शृगार प्रधान जन नाटकों में देखने में आया। दूसरी धारा में नृत्य और नाट्य का अंश धीरे-धीरे लुप्त होने लगा और उनका स्थान दानवीर सेठों अथवा तीर्थकरों ने लेना शुरू किया। ऐसे लोगों का जीवन वृत्त इन रास नाटको में होता था। रासो के सम्बन्ध में हम जानते ही हैं। डाक्टर दशरथ ओझा के अनुसार इन राजस्थानी रास नाटकों के दो भेद एकाकी और पूर्ण नाटक किए जा सकते हैं। एकांकी के कथानक छोटे और जीवन की किसी घटना विशेष को लेकर तैयार किए जाते थे। पूर्ण नाटकों में तीर्थकरों या उदार धनपतियों का जीवन चरित्र रहता था। 'संघपति समरा रास' ऐसा ही रास नाटक है। अम्बदेव कवि ने इसकी रचना

संवत् १३७१ वि० में की थी। पौराणिक कथानकों को लेकर भी रास नाटकों की रचना होती रही। धर्मदेव का हरिश्चन्द्र रास और ऋषि वर्द्धन का नल दमयन्ती रास ऐसे ही हैं। ऐसे रासों की भी रचना हुई जिनमे राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न को पात्र बनाया गया था। ब्रह्म जिन दास का 'सम्कत्व रास' इसका प्रमाण है। इस प्रकार राजस्थानी साहित्य में रासों की अतुल राशि बिखरी पड़ी है। उनका सग्रह और वैज्ञानिक अध्ययन तथा मूल्याकन अब होना चाहिए।

जिस रास शैली से सारा उत्तराखण्ड परिचित है और जिसकी मधुर सरस स्मृति सबके मन में अब भी है वह है ब्रज भाषा की रास शैली। इस शैली का जन्म वैष्णव धर्म की लोक प्रियता और और व्यापकता के आंचल में हुआ। वह समय कृष्ण भक्ति परम्परा का स्वर्ण युग था। पूरब में बगाल से जगन्नाथपुरी तक महाप्रभु चैतन्यदेव की कीर्तिलता विकसित हो रही थी। जयदेव का गीत गोविन्द लोगों का कण्ठ हार बन रहा था। उसका अभिनय हो रहा था। स्वय श्री चैतन्य अपने भक्तो के साथ कृष्ण लीला अभिनीत कर रहे थे। सारे तीर्थों में देश देशान्तर में इस लीला का यश फैल रहा था। कृष्ण लीला का संदेश स्वयं महाप्रभु की कृपा से वृन्दावन पहुँच चुका था। वहाँ स्वामी वल्लभाचार्य, हितहरि वश, स्वामी हरिदास, रूप गोस्वामी, गदाधर भट्ट आदि के निवास के कारण वृन्दावन रासलीला का क्षेत्र बनने को आकुल हो रहा था। रातो दिन वृन्दावन की गलियों, लताकुजों, पर्णकुटियों और मन्दिरों में राधा-कृष्ण की लीलाओं का प्रसग चलता, भागवत की कथा, नारद पचरात्र का पाठ चलता।

महात्मा हित हरिवश जी राधाजी के परम भक्त थे। उनके सम्प्रदाय का नाम बाद में राधा वल्लभ सम्प्रदाय पड़ गया। कथा प्रसिद्ध है कि इस महात्मा को नित्य प्रति सेवा कुज में राधिका जी

के साथ कृष्ण जी के रास विहार का दर्शन होता था। कभी कभी यह महात्मा 'महा रास' का भी दर्शन किया करते थे जिसमें कृष्ण अनेक रूपों में दिखाई पड़ते थे। मांडव्य सहिता का एक श्लोक है:—

सेवा कुंजेति विख्यातो श्रीमद् वृन्दावनान्तरे।
राधया सहगोविन्दो यत्रक्रीडां करोतिसः॥

भक्तराज हित हरिवंश ने महात्मा घमण्डीलाल तथा बाबा हरिदास को निर्देश किया। रास लीला में दिखाई देने वाली राधा-कृष्ण की छवि के अनुरूप प्रसाधन हुआ। गोपियों का प्रसाधन स्वय हित हरिवंश जी ने किया और 'रास मडल' की तैयारी हुई। तानसेन के गुरु महात्मा हरिदास संगीत के महान आचार्य थे। हित हरिवंश जी के पदों "आज बन नीको रास बनायो" और 'खेलत रास दुलहिनी दूलह" के रूप में आपने प्रस्तुत किया। इस प्रकार सोलहवीं सदी में ब्रज भाषा में सर्व प्रथम नृत्य, सगीत, नाट्य समन्वित रास मडल रचाया गया जिसमें कृष्ण और राधिका की केलिक्रीडा को आधार बनाया गया था। महात्मा घमण्डीलाल के विशेष उद्योग से ललित सखी के ग्राम निवासी लड़कों को अभिनय की पूरी शिक्षा मली। नृत्य-आचार्य वल्लभ ने नृत्य को सम्यक शिक्षा दी और रास मण्डल का अभिनय अबाध गति से होने लगा। इसकी लोक प्रियता इतनी बढ़ी कि लोग वृन्दावन का दर्शन करना तब तक अपूर्ण समझते जब तक वे इस रास का अभिनय न देख लेते।

एक कथा श्री नरसी मेहता के सम्बन्ध में भी प्रसिद्ध है। कहते हैं कि श्री नरसी मेहता ने अपनी दिव्य दृष्टि से गोलोक में होते रास लीला का दर्शन किया। लीला देखते समय वह हाथ में दीपक लेकर खड़े थे। वह लीला देखने में तन्मय थे और उनका हाथ जल रहा रहा था। उनके हाथ को स्वय श्री कृष्ण ने जलने से बचाया था। श्री वल्लभाचार्य के सम्बन्ध में भी ऐसी अनुश्रुति चलती है। गुजरात में आज भी रास का प्रचार गाव गांव में है और वहाँ के लागों का

दावा है कि रास का उदय सौराष्ट्र ही में हुआ। रास का उदय और आरम्भ पहिले गुजरात में हुआ या वृन्दावन में इसकी उधेड़बुन में पड़ने से अच्छा यह है कि राजस्थानी रास के समय से इस रास-मण्डल के अभ्युदय तक के खोये इतिहास का शोध और अनुसंधान किया जाय और पता लगाया जाय कि बारहवीं शताब्दी में श्री बोपदेव के श्रीमद् भागवत (जिसमें कृष्ण लीला के रास का उल्लेख है) से चलकर वृन्दावन के रास मण्डल तक का विकास क्रम क्या था और इस रास मण्डल की लोक प्रियता कैसे और क्यों बढी और देश के सुदूर भागों तक इसकी ख्याति कैसे इतना शीघ्र पहुँच गयी। (जौनपुर में एक प्राचीन मुहल्ला रासमण्डल है। जौनपुर गजेटियर के अनुसार इसका नाम रासमण्डल इसलिए पड़ा कि यहाँ कृष्ण लीला का रास हुआ करता था।) इस तरह के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनसे रास मण्डलों की अत्यन्त व्यापक लोक प्रियता का पता चलता है।

रास लीलाओं का अभिनय प्रतिदिन वृन्दावन मे किसी न किसी देव मन्दिर, कुन्ज अथवा कालिन्दी पुलिन पर होता रहता है। जात्रा नाटको की तरह रास लीला में पर्दों अथवा नाटक सम्बन्धी वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। रास लीला का रंगमंच अत्यन्त साधारण और सरल होता है। ऊँचे तख्त या चबूतरे पर चादर बिछा दी जाती है। उसी पर अभिनेता आ जाते हैं। जनता चारों ओर घेर कर बैठ जाती है—एक ओर स्त्री और दूसरी ओर पुरुष। राधा, कृष्ण और सखियों के पदार्पण करते ही जनता उठकर उनका अभिनन्दन करती है। लोग चरण स्पर्श को दौड़ पडते हैं। राधा, कृष्ण काठ की बनी गद्देदार कुर्सी पर विराजमान होते हैं और नान्दी पाठ आरम्भ हो जाता है, जिसमें जयदेव के गीत गोविन्द, वल्लभाचार्य और हित हरिवंश आदि के स्तोत्रों से वन्दना होती है। इसके बाद एक सखी कृष्ण से कहती है, "रास को समय ह्वै गयो। अब

आप पधारें।" कृष्ण खड़े होकर राधिका जी से निवेदन करते हैं—

राधे रूप उजागरि श्याम करियो कृपा की कोर।
रसिकन राजधानी राधिका महारानो कृपाकरि हेरो।
मग जोहत राधे तेरो .
चलो चलैं वन की ओर
करिए कृपा की कोर,
राधा भानुकुमारी।
राधा नन्दकिशोर मोहन कुञ्ज बिहारी।

कृष्ण—चलिए सघन वन की ओर श्री मम प्राण पियारी।
बोलत चातक मोर फूली अति फुलवारी॥

राधा—मैं न चलूँ वन की ओर नटखट गिरधारी।
(दर्शक—कृष्ण भगवान की जय)
तुम प्रीतम चितचोर उलटी रीत तुम्हारी।

कृष्ण—हा, हा, काह बतावत चोर, तुम चितचोर निहारी।
निरखो कृपा की कोर तुम राधा प्यारी।
ब्रज बनितन सिर मौर, तुम भोली भाली।

इसके बाद कभी राधा कृष्ण का द्वन्द नृत्य होता या फिर सामूहिक नृत्य होता, जिसमें राधा, कृष्ण, गोपिया और गोप शामिल होते। इस प्रकार नृत्य, गायन, कथोपकथन के साथ यह रास लीला चलती रहती है। अन्त में कृष्ण वृन्दावन की महिमा का वर्णन करते है '—

राजपाट को नाहिं करैया, ओढ़ि कमरिया गाय चरैया।
रथ विमान पर नाहि चढैया, गरुड पीठ पर नाहिं उड़ैया।
पावन पावन नगे डोलौं, ब्रजरज सम कोउ नाहिं।
जो रस बरस रह्यो ब्रज माँहो, याको दरसन औ कहुँ नाहिं।

इसके बाद आरती होती है, प्रेक्षक खडे हो जाते हैं और राधा कृष्ण की स्तुति होती है।

रास लीला का साहित्य विपुल है और उसका अध्ययन भी मनमोहक है। हिन्दी साहित्य का सारा माधुर्य कृष्ण के चरित्र के चारों ओर मँडराता रहता है। इस माधुर्य का एक महत्व पूर्ण अंश इन रास लीलाओं में मिलता है। इस रास लीला नाटक की परम्परा नन्ददास से आरम्भ होती है। नन्ददास बहुत बडे महात्मा, उच्चकोटि के कवि और गेय पदों के महान रचयिता थे। उनमें सफल नाटककार के सभी गुण थे। उनकी दृष्टि पैनी थी और दृष्य काव्य तथा रंगमच की आवश्यकताओं को वह अच्छी तरह समझते थे। सगीत, कथानक और दृष्य काव्य को संगठित करने में वह पटु थे। गोवर्द्धन लीला की रचना कर उन्होंने रास लीला नाटक में एक सर्वथा नयी प्रणाली का सूत्रपात किया। डाक्टर दशरथ ओझा लिखते हैं "...गोवर्द्धन लीला में शुद्ध नान्दी है। 'श्री गुरुचरण सरोज नवामी' इस नान्दी मे १२ वर्ण हैं जो नान्दी का लक्षण है। तदुपरान्त प्रस्तावना के रूप में सामाजिकों को बताया जाता है कि आज गिरि गोवर्द्धन लीला होगी। इस लीला के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए इसकी विशेषता का वर्णन है। 'कलिमल हरनी, मंगल करनी, मन हरनी श्री शुक मुनि बरनी' कहकर सूत्रधार अथवा व्यवस्थापक प्रेक्षकों का मन आकर्षित करता है। वह कहता है कि गोवर्द्धन लीला कलिमल हरण करके मंगल विधान करने वाली है, वह आज की नहीं, बड़ी पुरातन है और शुकदेव मुनि द्वारा वर्णित है। इसमे कितनी गम्भीर अभिव्यजना है।"

डाक्टर ओझा आगे कहते हैं "नाटक में तीन गुण आवश्यक हैं। मनोरजन कारी हो, निःश्रेयस हो और अभ्युदय का दाता हो। इस लीला में तीनों गुण विद्यमान हैं। कलिमल हरनी होने से निःश्रेयस का दाता है। मंगल करनी से अभ्युदय प्रदान करता है और मन हरनी से रुचिकर है......कृष्ण लीला के प्रायः सभी नाटकों में यही उद्देश्य क्रम से मिलता है। उन्होंने नाटक का उद्देश्य केवल मनो-

रंजन नहीं लिया। वे लोग धर्मात्मा महात्मा थे। भरत मुनि का आदेश उन्हें मान्य था। भरत मुनि श्रुति स्मृति सम्मत कथानक के द्वारा निःश्रेयस की, सदाचार और ज्ञान विज्ञान द्वारा अभ्युदय की और विनोद के द्वारा मनोरंजन की सिद्धि नाटक में चाहते हैं।"

डाक्टर ओझा को 'श्याम सगाई' लीला की कई हस्तलिखित प्रतियां वृन्दाबन में मिलीं। इस लीला के कथानक के अनुसार वृष-भानु कुमारी राधिका जी अन्य गोपियों के साथ नन्द जी के घर आया जाया करती थीं। यशोदा को राधिका बहुत प्रिय लगी। उन्होंने कृष्ण की सगाई का सन्देशा राधा की माता कीर्ति के पास भेज दिया। कीर्ति ने प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया क्योंकि :

नदहि ढोटा लगर महा, दधि माखन कौ चोर।
कहत सुनत लज्जा नहिं, करति और ही और॥

इतने में कृष्ण आ जाते हैं। यशोदा उदास हैं। कृष्ण कारण पूछते हैं। यशोदा कीर्ति के उलाहने की बात बताती है। कृष्ण मा को समझाते हैं कि "यदि मैं नन्द का ढोटा हूँ तो वह पांव पकड़कर अपनी लड़की तुझे देंगी।" इतना कह कर कृष्ण ग्वाल बालों के साथ बरसाने के उपवन में जाते हैं और मुरली टेरते हैं। राधा सखियों के साथ वहाँ पहुँचती है और कृष्ण का सौन्दर्य देखकर मुग्ध हो जाती हैं। कृष्ण वापिस चले आते हैं। राधिका कृष्ण का नाम रटते-रटते बेहोश हो जाती हैं। सखियाँ राधिका को कीर्ति के पास ले आती हैं। मां व्याकुल हो जाती हैं और सखियों से उपाय करने को कहती हैं। सखियाँ कृष्ण को लाने को तत्पर होती हैं। यशोदा के पास कीर्ति का सन्देश पहुँचता है :

वेगि पठै नन्दलाल कौ, जीव दान दै मोहिं।
पाय लगौं, विनती करौं, जग जस आवै तोहिं॥

इतने में कृष्ण आते हैं। गोपियों से वाद विवाद होता है। अन्त में एक सखी कहती है :

जो मांगे सोलेउ, सांवरे कुंवर कन्हैया।
बिनु मांगे देहि तुम्हें राधा की मैया॥

तब कृष्ण सखियों के साथ बरसाने जाते हैं। राधा की मां कीर्ति उनका स्वागत सत्कार करती हैं। कृष्ण का आगमन सुनकर राधिका आँखें खोल देती हैं। पुरोहित आता है। वह राधिका के हांथ से माला स्पर्श कराकर कृष्ण के गले में डाल देता है। 'धन्य है यह घड़ी' के उत्फुलता पूर्ण वातावरण में गोपियों का नृत्य और गान होता है। इस प्रकार 'श्याम सगाई' नामक लीला समाप्त होती है।

इस नाटक की शैली नितांत पद्य बद्ध नहीं है। जहाँ तहाँ गद्य के भी अंश परिलक्षित होते हैं। भारतेन्दु काल में यह शैली अत्यन्त विकसित हो गयी थी और गद्य को नाटक में अधिकाधिक स्थान मिलने लगा था। भाषा पर नन्ददास का अद्भुत अधिकार था। मुहावरों का प्रयोग उनके यहाँ कलापूर्ण ढंग से होता था। उन्होंने रोला छन्द का ही प्रयोग किया है। "चरित्र का निर्वाह, व्यापार की द्रुतगति, संवाद योजना का चमत्कार तथा वाग्वैदग्ध्य आदि सभी गुण इसमें विद्यमान हैं। हास्य की मधुर छटा आद्योपान्त बनी रहती है।"

डाक्टर दशरथ ओझा ने जैन रास ग्रंथों में प्राप्त श्रीपाल रास (लेखक ब्रह्म श्री रामलाल, रचना तिथि संवत् १६३० वि०) तथा नन्ददास कृत 'श्याम सगाई' को तुलना करते हुए कहा है—

(१) ब्रज भाषा में कृष्ण रास की जो परम्परा चली, उस पर पूर्व विरचित राजस्थानी और अन्य जैन रासों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

(२) "भाव भेद जाने को नहीं, होतहि दीठे श्रीपाल चरित्र' से यह सिद्ध होता है कि ब्रज में प्रचलित कृष्ण रास नाटकों के पूर्व प्रचलित जैन रास नाटक भी अभिनीत होते चले आ रहे थे...... तेरहवीं शताब्दी से चली आने वाली रास नाटक की उन परम्पराओं में, जो अब तक जैन धर्म के प्रभाव से अत्यन्त प्रभावित थीं, एक

तथा अन्य भक्त कवियों के पदों का सहारा लेती हैं और उनका अभिनय देखकर जनता सचमुच भक्ति भाव में लीन हो जाती है।

रासलीला कृष्ण भक्तों की देन रही है। परन्तु इसका प्रभाव कुछ ऐसा था कि राम भक्त इससे अछूते न रह सके। विक्रम की १६ वीं शताब्दी में एक आन्दोलन यह चला कि वास्तव में रास लीला राम ने की। रामावतार में उन्होंने ६६ लीलाएँ की। कृष्णावतार में उन्होंने केवल एक लीला वृन्दावन मे की। बस, गोलोक की तरह साकेत में भी रास लीला होने लगी। इसका अनुकरण 'चित्रकूट में भी हुआ और वहा भी क्रीड़ा कुंज बन गए।

डाक्टर दशरथ ओझा ने रास शैली की निम्नांकित विशेषताएँ बतायी हैं—

(१) रास नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सम्पूर्ण नाटक छन्दोबद्ध एवं गेय होता है।

(२) रास नाटकों में गद्य भाग सर्वथा उपेक्षित रहता है।

(३) नाटक के सभी पात्र अथ से इति तक रंगमंच पर ही विद्यमान रहते हैं। पात्रों के प्रवेश और निष्क्रमण का संकेत नहीं मिलता।

(४) सम्पूर्ण नाटक नृत्य और गीत पर अवलम्बित होता है।

(५) इन रास नाटकों का मंगलाचरण और प्रशस्ति पाठ स्वांग नाटकों के सदृश होता है।

(६) रास के अन्त में नाट्यकार नाटक लिखने का प्रयोजन बताते हैं और उसके पढने, सुनने, गाने और अभिनय से पुण्य फल की प्राप्ति का उल्लेख करते हैं।

(७) रास नाटक में स्वांग के सदृश सभी दृश्य पट परिवर्तन रहित होते हैं। उनमें संस्कृत नाटकों के समान अंक, प्रवेशक, विष्कम्भक तथा अंकावतार आदि नहीं होते।

(८) रास की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रायः नितांत अभाव तथा तद्भव और देशज शब्दों का बाहुल्य है।

इन तथ्यों को यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि हिन्दी के इन आदि नाटकों, रास नाटकों, पर संस्कृत का सीधा प्रभाव नहीं है, वे सस्कृत नाटकों की अनुकृति मात्र नहीं है, बल्कि उनकी अपनी स्वतंत्र सत्ता रही है। इनका सम्बन्ध संस्कृत के साहित्यिक अथवा शिष्ट नाटकों से कम और उनके साथ साथ चलने वाली लोक नाटकों की परम्परा से अधिक निकट और घनिष्ट रहा है। इन रास नाटकों में गेय पदों की बहुलता पायी जाती है। यह उस समय की जन अभिरुचि का प्रमाण है। इस शैली का प्रभाव तत्कालीन सस्कृत नाटकों पर भी पड़ा है। डाक्टर दास गुप्त ने अपने 'सस्कृत साहित्य के इतिहास' में यहां तक कहा है कि "जन समाज से उद्भूत अर्ध नाटकों के अभिनय का प्रभाव सस्कृत के साहित्यिक नाटकों पर पड़ा। उनका प्रभाव इतना अधिक था कि स्पष्टतः उस समय के संस्कृत के असम्बद्ध नाटको की रचना सम्भव हुई।"

ब्रजभूमि में रास नाटकों का विकास हुआ। वहाँ का वातावरण इस सर्वथा नवीन प्रक्रिया के लिये पूर्णतया अनुकूल था। गुजरात, राजस्थान और ब्रजभूमि—यह सारा का सारा क्षेत्र कृष्ण भक्ति धारा से प्राय एक युग तक प्लावित रहा है। इस कृष्णभक्ति धारा की दो प्रकार से अभिव्यक्ति हुई। शुद्ध गेय गीतों और कीर्तनों के प्रणेता के रूप में हम मीरा, सूर आदि अगणित महाकवियों और सगीतज्ञों की रचनाओं से परिचित हैं। दूसरा रूप नाट्याभिनय अथवा लीलाओं का था। लीलाओं का गीतों से अधिक प्रभावशाली होना स्वाभाविक बात है। इस नवीन प्रक्रिया ने कृष्ण भक्ति आन्दोलन को नयी शक्ति, प्रेरणा और लोकप्रियता प्रदान की। सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से इन लीलाओं का कितना बड़ा महत्व था इस पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। ब्रजभूमि से विकसित होकर यह धारा पूरबी क्षेत्रों

की ओर बढ़ी। उधर श्री चैतन्य महाप्रभु तथा उनके अनुयायियों ने भी भक्ति आन्दोलन को चलाया और उसे आगे बढाया। जात्राओं का प्रचार आसाम से उड़ीसा तक हुआ। इस आन्दोलन के फलस्वरूप इस पूरे क्षेत्र में एक नये प्रकार का रंगमंच तैयार हो गया और जात्रा नाटकों की परम्परा चली।

इसी पृष्ठभूमि में मिथिला के परम्परागत और कीर्तनिया नाटकों का भी अध्ययन हम कर सकते हैं। कीर्तनिया नाटकों के नायक राधा-कृष्ण, हर-गौरी और शक्ति आदि देव कोटि के पात्र रहे हैं। पर राधाकृष्ण की केलि क्रीड़ा पर विशेष बल दिया गया। वैसे आसाम और नेपाल मे अनेक मैथिल नाटक रचे गये। परन्तु कीर्तनिया नाटकों की रचना और उनका अभिनय मिथिला में ही हुआ। इन नाटकों में भी रास नाटकों की तरह गेय गीतों की ही प्रमुखता और बहुलता रही। एक प्रकार से ये कीर्तनिया नाटक गीति-नाट्य कहे जा सकने हैं। वे अपने स्वभाव और रूपरेखा के कारण रासनाटकों के निकट पड़ते हैं। विषय वस्तु की दृष्टि से तो रास, जात्रा और कीर्तनिया नाटक एक ही कोटि में आते हैं।

रास नाटकों को हमारे विद्वानों और आचार्यों ने हमारी नाट्य परम्परा के विकास क्रम में उतना महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जितना महत्वपूर्ण स्थान उन्हें मिलना चाहिये। सच यह है कि संस्कृत नाटकों की परम्परा के अन्त के बाद और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उदय के पहिले के युग में नाट्य साहित्य तथा रंगमच के सम्बन्ध में जो अन्तर और खाई दिखायी देती है उसका अभी पूरा अध्ययन नहीं हुआ। जानकारी की कमी के कारण रास नाटकों के महत्व को स्वीकार करने में लोगों को कठिनाई होती है।

आठवाँ अध्याय

जात्रा (यात्रा) नाटक

जात्रा अथवा यात्रा नाटकों की परम्परा बहुत पुरानी है। इसके विकास और व्यापकता का इतिहास भी बहुत रोचक है। जब से मानव सभ्यता का इतिहास मिलता है तब से देवताओं को प्रसन्न करने के लिए जलूस की प्रथायें भी मिलती हैं। मेसोपोटामिया के प्राचीन इतिहास में ईसा के सहस्त्रों वर्ष पहिले जलूस और नृत्यों के प्रमाण मिलते हैं। हमारे देश में वैदिक काल में भी यात्राओं का प्रचलन था। ऋग्वेद के देवताओं की स्तुति और वन्दना में सगीतमय जलूसों के उदाहरण मिलते हैं। सामवेद मे इस प्रकार के अनेक मत्र मिलते हैं जो इन जलूसों में उच्चरित होते थे। कुछ विद्वानों के मतानुसार ये यात्रायें आर्य सभ्यता के पहिले भी पायी जाती थीं। आर्या ने इन्हें बाद मे अपना लिया। अनार्यों की इस गतिशील नाट्य शैली को सम्भवत· आर्यों ने अपना लिया और बाद मे इसे 'यात्रा' का सुसंस्कृत नाम मिला। डाक्टर बेरेडील कीथ के अनुसार इस यात्राओं को नाट्य कला अथवा नाट्य साहित्य के उद्भव और विकास के लिए भूमिका के रूप में स्वीकार कर लेना सर्वथा उपयुक्त न होगा, वरन् यह मानना चाहिए कि नाटकों के साथ जन नाटकों के रूप में यात्राओं की परम्परा चलती रही। यह परम्परा इतने लम्बे युग के बीत जाने पर भी लुप्त न हुई। बगाल की यात्राओं को इसी परम्परा मे माना जा सकता है। इनका प्रभाव जन नाट्य शैलियों पर पड़ा। जन नाट्यों के उदय और विकास मे इनका विशेष हाथ था।

यात्रा नाटक हमारे देश के आरम्भिक धार्मिक नाटक थे। कालान्तर में शक्ति यात्रा, शिव यात्रा, राम यात्रा, कृष्ण यात्रा

आदि का प्रादुर्भाव हुआ। यह माना जाता है कि गीत गोविन्द की रचना इन्हीं की शैली पर हुई। इनका रूप गीति नाट्य का है। चैतन्य महाप्रभु के व्यक्तित्व और प्रसिद्धि के कारण यात्रा नाटकों में कृष्ण यात्रा का प्रभाव बहुत बढ़ गया। यहाँ तक कि यात्रा नाटक बहुत दिनों तक 'कालिय दमन यात्रा' के नाम से पुकारे जाते थे।

इन यात्राओं में प्रायः पुरुष ही भाग लिया करते थे। नौजवान छोकरे स्त्रियों की भूमिका करते थे। वार्तालाप पद्य मय वाक्यों में होता था। दृश्य दृश्यावलियों की चिन्ता किसी को नहीं होती थी। नगी जमीन पर दरी बिछा दी जाती। सभी कलाकार एक साथ मंच पर सामने आ जाते। खेल शुरू होने के पहिले बाजा बजने लगता। खोल करतालों की ध्वनियों से वातावरण गूँज उठता। बाजों की आवाज सुनकर आस पास के गावों के लोग एकत्र हो जाते। ये बाजे प्रायः दो घटे तक बजते रहते, फिर अभिनय आरम्भ होता। एक कोने में कपडे से घेरकर आड़ बना लिया जाता जिसमे कलाकार कपडे बदलते। अक्सर तो लोग सबके सामने ही दाढी मूँछ लगा लेते या उतार देते। भूमिका करते करते रुक कर हुक्के का कश खींच लेना, मूँछ रखे ही औरत की भूमिका कर लेना, मरे हुए पात्र का खुद ही उठकर समवेतगान में भाग लेना—ये सब साधारण बातें थीं जिनकी ओर किसी का ध्यान नहीं जाता था। दृश्य बदलने की सूचना पात्र कहकर दे देता, स्थान परिवर्तन की सूचना भी वही दे देता। विष्णु लोक में विचरने वाले नारद स्वय बता देते कि अब वह वृन्दावन जायगे और दो चार कदम चलकर वह वृन्दावन पहुँच भी जाते। परन्तु इन सारी कमियों, कुघड़ता और भोंडेपन के बावजूद इन यात्रा नाटकों के गीतों और कथानक में इतना ओज, इतनी शक्ति, इतनी प्रभावोत्पादकता, इतनी करुणा, इतनी सवेदना, इतनी चोट रहती कि दर्शक घटों खडे खडे उन्हें देखते और अपने को भूलकर पात्रों के साथ हँसते, रोते।

पुरानी यात्राओं में राधा की भूमिका सदैव अत्यन्त महत्वपूर्ण होती थी। कृष्ण के वियोग में राधा का विलाप, मालती, कुन्दादिक से कृष्ण के सम्बन्ध में पूछताछ, कृष्ण के पुराने सस्मरण, राधा की चूड़ियों और बालों से कृष्ण का खेलना, आल्ता से कृष्ण द्वारा राधा के पावों का रंगा जाना, उसके केश में कृष्ण का फूल खोंसना, सजाना, सँवारना, कृष्ण का अतिशय स्नेह में रो पड़ना, इन सब बातों की याद राधा को आती। मगर जब ग्वालिनियाँ कृष्ण को चोर, कठोर हृदय वाला, झूठा और मक्कार कहतीं तो उनकी ये बातें राधा को असह्य हो जातीं। इसी समय चन्द्रावली आती और वृन्दावन के लता कुञ्जों में राधा को मूर्छितावस्था में देखती। यह दृश्य देखकर राधा से सदैव प्रतिस्पर्धा रखने वाली चन्द्रावली भी पिघल जाती और वह भी राधा के सौन्दर्य और प्रेम की भूरि भूरि प्रशसा करने लगती। इसके बाद गोपों और गोपियों की बारी आती। वे भी कृष्ण वियोग का दुखड़ा रोते। अपने सखा और स्नेही कृष्ण की मधुर याद में छटपटाते, अपने किये पर पछताते। इन तमाम दृश्यों के बीच बीच में प्रधान आचार्य आकर दृश्यों के बदलने की सूचना देता अथवा कथानक और गीतों के असली अर्थ को समझाता।

जैसे कि हमने देखा, यात्रा नाटकों का प्रधान विषय अधिकतर कृष्ण लीला ही रहा है। परन्तु इनके साथ ही दूसरे कथानकों के आधार पर भी अक्सर यात्राओं का निर्माण होता था। भारत-चन्द्र की कविता के आधार पर निर्मित विद्या सुन्दर यात्रा नाटक की प्रसिद्धि बहुत अधिक रही है। विद्या सुन्दर यात्रा में गम्भीरता नहीं थी। व्यगविनोद हास्य समन्वित यह यात्रा नाटक अत्यधिक लोकप्रिय था। इसके लेखक का नाम गोपाल उड़िया था जिनका जन्म १८१६ में हुआ था। केला बेचकर पेट भरने वाला गोपाल शीघ्र ही अपनी मधुर स्वर लहरी और हाजिर जवाबी के कारण प्रसिद्ध 'यात्रा वाला' बन गया। गोपाल उड़िया का देहान्त १८५६ ई० में

हो गया। विद्या सुन्दर यात्राओं के अतिरिक्त चण्डी यात्राएँ, मनसार भाषण यात्राएँ, राम यात्राएँ तथा अन्य अनेक यात्राएँ प्रचलित थीं। इन यात्राओं के कथानक प्राय· महाभारत के होते थे।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र इन विद्या सुन्दर यात्राओं से बहुत अधिक प्रवाहित हुए। पुरी की यात्रा के अवसर पर उन्हें इसका अभिनय देखने का मौका मिला था। उनके 'विद्या सुन्दर' नाटक की प्रेरणा इसी से मिली।

यात्रा वालों का इतिहास ढूँढ निकालना सरल नहीं है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि ये यात्राएँ श्री चैतन्य महाप्रभु के समय से ही अत्यधिक लोक प्रिय हुईं। जिन यात्रा वालों का पता चलता है उनमें परमानन्द अधिकारी सबसे पहिले हैं। लगभग ढाई सौ वर्ष पहिले यह बीर भूमि में रहा करते थे। उनके नाटक का विषय कालिय दमन था। इसके बाद सुदामा अधिकारी का नाम आता है। लोचन अधिकारी ने सुदामा का स्थान लिया। इन्होंने अक्रूर सवाद और निमाई सन्यास विषयों पर अपने नाटक तैयार किए। लोचन अधिकारी की लोकप्रियता इतनी अधिक बढ गयी कि इनकी कला देख कर शोभा बाजार के राजा नवकृष्ण और कुमेर तली के बाबू वनमाली सरकार ने अपनी सम्पत्ति का अधिकाश लोचन को दे डाला। फलतः दूसरे राजा इनके अभिनय को देखने से अपनी जान बचाने लगे। कृष्ण नगर के गोविन्द अधिकारी, काटवा के पीताम्बर अधिकारी, विक्रमपुर के कला चन्द्र पाल इस परम्परा के अत्यन्त महत्वपूर्ण लोग थे। राम यात्रा में प्रेमचन्द्र अधिकारी, आनन्द अधिकारी और जय-चन्द अधिकारी ने बड़ा नाम कमाया। गुरु प्रसाद वल्लभ और लौसेन बादल ने चण्डी यात्रा और मनसार यात्रा में विशेष योग्यता प्रदर्शित की।

कृष्ण कमल गोस्वामी

बंगला का सबके बड़ा 'यात्रा वाला' कृष्ण कमल गोस्वामी को माना जाता था। कृष्ण कमल का जन्म नदिया जिले में १८१० ई० में हुआ था। कृष्ण कमल के पुरखा सदा शिव श्री चैतन्य महाप्रभु के मित्र थे और अपनी पवित्रता के लिए प्रसिद्ध थे। संस्कृत में इनकी प्रारम्भिक शिक्षा वृन्दावन में हुई। इनका सौन्दर्य देखकर एक सेठ ने इन्हें गोद लेना चाहा तो इनके पिता इनको लेकर नदिया भाग गए। बारह बरस की उम्र में ही अपनी माँ को प्रसन्न करने के लिए कृष्ण कमल ने चैतन्य पर एक नाटिका लिखी। पचीस वर्ष की उम्र में १८३५ ई० में इन्होंने अपना प्रसिद्ध यात्रा नाटक 'स्वप्न-विलास' लिखा। 'स्वप्न विलास' के गीत सारे पूर्वी बंगाल में प्रचलित हो गये। आज भी वहाँ की महिलाओं के गले में ये गीत बसे हुए हैं। 'स्वप्न विलास' पुस्तक की बीसों हजार प्रतियाँ बिक गयीं। अपनी रचना की लोक प्रियता से कृष्ण कमल स्वयं विस्मित हो गये। परन्तु कृष्ण कमल की सबसे सुन्दर यात्रा 'रायउन्मादिनी' को ही माना जाता है। इसके बाद भरत मिलन, निमाई सन्यास, गोष्ठ तथा अन्य ऐसी कृतियों के कारण ही इनकी ख्याति इतनी अधिक बढ़ गयी। 'भरत मिलन' में रामायण का वह कथानक लिया गया है जिसमें चित्रकूट में भरत राम से मिलते हैं और अयोध्या वापस लौटने के लिए उनसे प्रार्थना करते हैं। निमाई सन्यास में चैतन्य महाप्रभु के सन्यास लेने की कथा है। अन्य कृतियों में कृष्ण से सम्बन्धित कथानक हैं। 'राय उन्मादिनी' और 'स्वप्नविलास' में अत्यन्त करुण भाषा में गोपिकाओं अथवा राधा का कृष्ण विरह वर्णन किया गया है। लेखक ने आदि से अन्त तक चैतन्य चरितामृत तथा चैतन्य महाप्रभु के जीवन से सम्बन्धित अन्य घटनाओं का सहारा लिया है। कृष्ण कमल की राधा और स्वयं चैतन्य के चरित्र में अत्यधिक समता है। यह सही है कि कृष्ण वृन्दावन वापिस नहीं

आए परन्तु प्रत्येक वैष्णव कवि ने राधा और कृष्ण का आध्यात्मिक मिलन किसी न किसी रूप में दिखलाया है। इसका ध्येय केवल यह बताना है कि किसी साधना में आरम्भ में चाहे जितना कष्ट हो, जितनी हानि हो, जो कुछ भी भोगना पड़े, अन्त में उद्देश्य अवश्य पूर्ण होता है, साधना अवश्य फलवती होती है, आत्मा और परमात्मा का मिलन निश्चित रूप से होता है। यह आभ्यान्तरिक तादात्मय, यह मिलन भाव 'सम्मिलन' कहा जाता था कृष्ण कमल का जीवन सच्चे वैष्णव का यशः मण्डित जीवन रहा। इनकी कृष्ण लोक यात्रा ७८ वर्ष की उम्र में सन् १८८८ में हुई। जीवन की अन्तिम वेला में, इनका बड़ा बेटा, नित्य गोपाल गोस्वामी रोने लगा तो कृष्ण कमल ने कहा था, "रोओ मत बेटे, मैंने अपने को कभी इस परिवार का मालिक नहीं समझा। मैंने तुम सबको प्रभु की थाती समझी और इसी प्रकार तुम्हारी सेवा भी की। तुम सब मेरी सन्तान हो, मगर मैंने सदा अपने को पिता या प्रभु होने के दम्भ से बचाने की कोशिश की। तुम इसी सिद्धान्त के आधार पर चलने की कोशिश करना। तुम सदैव प्रसन्न रहोगे।"

सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी में ऐसी यात्रायें मिलती हैं जिनमें यहाँ वहाँ गद्य का भी प्रयोग हुआ है। राम वल्लभ के 'दूती संवाद' और 'विद्या सुन्दर गायन' जिसके लेखक का पता नहीं चल सका है, में गद्यांशों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कहीं-कहीं हिन्दी के गीत भी इनमें जोड़ दिए गये हैं। पुरानी यात्राओं में अक्सर हास्य विनोद के भी अंश देखने को मिलते हैं। अत्यन्त गम्भीर घटनाक्रम के बीच इस प्रकार के स्थल इसलिए जोड़ दिए जाते थे कि दर्शकों को थोड़ा सा मन बदलने का मौका मिल जाय। इन स्थलों से बच्चों तथा अन्य कम उम्रवाले दर्शकों का मनोविनोद हो जाया करता था। ये स्थल 'सम' कहे जाते थे। साधारणतया यात्रायें भोर में चार बजे आरम्भ होती थीं और प्राय. दोपहर तक चलती रहती थीं। इतने

लम्बे अरसे तक दर्शकों तथा विशेषतया बच्चों को रोके रहना आसान न था। इसलिए इन विनोद पूर्ण स्थलों पर लोगों में ताज़गी आ जाती और वे कुछ आराम पा जाने के बाद, हंस बोल लेने के उपरान्त फिर ध्यान मग्न होकर आगे का अभिनय देखने लगते।

दाशरथी, रामनिधि गुप्त और ईश्वर गुप्त की रचनाओं के साथ इस परम्परा का अन्त होता है। दाशरथी राय का जन्म १८०४ ई० में हुआ था। इनका सम्बन्ध अक्षय पातिनी नामक एक स्त्री से हो गया। इस महिला ने एक 'कविवाला' दल सगठित किया था। इस दल के लिए दाशरथी कविताएँ लिखा करते थे। बाद में इनके स्वजनों ने जोर दिया तो इन्होंने इस दल को छोड़ दिया और स्वय 'पाचाली' नामक गीत मण्डली बनायी। इस मण्डली ने भी कृष्ण लीला को ही अपना आधार बनाया। दाशरथी के कथानकों और 'पांचाली' के अभिनयों में कुघड़ता चाहे जितनी हो, परन्तु इनमें प्रभावोत्पादकता बहुत अधिक होती थी। दाशरथी ने कुल पचास रचनाएँ कीं और लगभग ५०,००० पंक्तियाँ लिखीं।

रामनिधि गुप्त का जन्म १७३८ ई० में हुआ था। इनको बगला और फारसी की शिक्षा दी गयी थी। यह थोडी बहुत अंग्रेजी भी जानते थे। परन्तु पढने से अधिक संगीत की ओर इनका ध्यान रहता था। छपरा में इनकी भेंट एक मुसलमान संगीताचार्य से हो गयी। रामनिधि ने इनसे संगीत की शिक्षा ली। बंगाल वापस आकर इन्होंने गीत लिखना आरम्भ किया। निधू बाबू ने राधाकृष्ण सम्बन्धी प्रेम काव्य को आधार नहीं बनाया। इन्होंने बिना किसी धार्मिक आधार के प्रेम सगीत सुनाना शुरू किया। इनके गीतों को 'टप्पा' कहा जाता है। इन गीतों में मानव के सहज प्रेम पर ही बल दिया गया है। आदर्शवाद का रग तो रहता ही है। निधू बाबू के टप्पों की ज्यादा क़द्र उच्च कुलों में हुई। जन साधारण की तो भावना यही थी कि बिना धार्मिक आख्यानों का आधार लिये प्रेम गीत लिखे ही

पर गीति नाट्य के रूप में होता रहा। 'रत्नावली' का अभिनय तो राजाबाबू के निवास स्थान पर बड़ी ही सफलता के साथ हुआ था।

"'पद्मावती' नाटक की प्रशंसा उस समय सबसे अधिक हुई। 'नल दमयन्ती' की रचना बाबू कालीदास सान्याल ने यात्रा नाटकों की शैली पर की। ये दोनों नाटक उत्तरी भारत के जन नाटकों में भली-भाँति परिचित हैं। हिन्दी भाषा भाषी जनता में भी स्वांग नाटको के रूप में इनका अत्यधिक प्रचार है। इससे प्रमाणित होता है कि जन नाटकों की धारा उत्तर भारत के सुदूर भागों तक एक ही भावना को लिए प्रवाहित होती चली आ रही है।"

यात्रा अथवा जात्रा नाटकों का यह क्रमबद्ध इतिहास तथा उसका अध्ययन मैंने उपर्युक्त पंक्तियों में श्री धीरेन्द्र चन्द्र सेन की प्रसिद्ध पुस्तक 'हिस्टरी आफ दी बंगाली लेंग्वेज एन्ड लिटरेचर' के आधार पर प्रस्तुत किया है। जात्रा नाटकों का प्रभाव हमारे आधुनिक नाट्य साहित्य तथा रंगमंच पर बहुत अधिक पड़ा है। बंगाल और उत्तर प्रदेश में इन यात्रा नाटकों ने विषय और टेकनीक दोनों दृष्टियों से नाट्य साहित्य के विकास को प्रभावित किया है। इनके माध्यम से कृष्ण प्रेम और विरह के जो स्रोत बहे हैं वे सदैव हमारे मन को द्रवित करते रहे हैं। इनकी प्रभावोत्पादकता, इनकी लोकप्रियता और इनकी मनोरंजन-क्षमता कभी घटी नहीं।

पर गीति नाट्य के रूप में होता रहा। 'रत्नावली' का अभिनय तो राजाबाबू के निवास स्थान पर बड़ी ही सफलता के साथ हुआ था।

"'पद्मावती' नाटक की प्रशसा उस समय सबसे अधिक हुई। 'नल दमयन्ती' की रचना बाबू कालीदास सान्याल ने यात्रा नाटकों की शैली पर की। ये दोना नाटक उत्तरी भारत के जन नाटकों में भली-भाँति परिचित हैं। हिन्दी भाषा भाषी जनता में भी स्वाग नाटको के रूप में इनका अत्यधिक प्रचार है। इससे प्रमाणित होता है कि जन नाटकों का धारा उत्तर भारत के सुदूर भागो तक एक ही भावना को लिए प्रवाहित होती चली आ रही है।"

यात्रा अथवा जात्रा नाटकों का यह क्रमबद्ध इतिहास तथा उसका अध्ययन मैंने उपर्युक्त पक्तियो में श्री धीरेन्द्र चन्द्र सेन की प्रसिद्ध पुस्तक 'हिस्टरी आफ दी बगाली लैंग्वेज एन्ड लिटरेचर' के आधार पर प्रस्तुव किया है। जात्रा नाटको का प्रभाव हमारे आधुनिक नाट्य साहित्य तथा रगमच पर बहुत अधिक पड़ा है। बगाल और उत्तर प्रदेश में इन यात्रा नाटकों ने विषय और टेकनीक दोनो दृष्टियों से नाट्य साहित्य के विकास को प्रभावित किया है। इनके माध्यम से कृष्ण प्रेम और विरह के जो स्रोत बहे हैं वे सदैव हमारे मन को द्रवित करते रहे हैं। इनकी प्रभावोत्पादकता, इनकी लोकप्रियता और इनकी मनोरजन-क्षमता कभी घटी नही।

लोक नृत्य की एक मुद्रा मे तजोर बहिनें

लोक नृत्य की एक मुद्रा में तजोर बहिनें

लोक नृत्य की एक मुद्रा मे तजोर बहिनें

लोक नृत्य की एक मुद्रा मे तजोर बहिनें

लोक नृत्य की एक मुद्रा मे तजोर बहिने

रहे होंगे। यद्यपि 'भरत नाट्य शास्त्र' के अनुसार नाटकों के जन्म को देवलोक से सम्बन्धित करके यह कह देने की कोशिश की गयी है कि जन जीवन के सांस्कृतिक विकास के फलस्वरूप इन नाटकों का उदय नहीं हुआ, फिर भी अनेक ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जन साधारण में 'नाट्य शास्त्र' की रचना के पहिले ही अनेक नाट्य परम्पराएँ थी जिन्हें भरत ने नियमों के अन्दर बांधा, सजाया, सँवारा और उनका निश्चित रूप स्थिर किया। 'भरत नाट्य शास्त्र' के पहिले ही नाट्य परम्पराओं के होने में किसे सन्देह होगा ?

साहित्यिक अथवा शिष्ट नाटकों का लिखित रूप होने से वे अब प्राप्त हो चुके हैं। भास के नाटकों का पता भी चल गया है और संस्कृत नाट्य साहित्य के आदिकाल को भी प्रायः स्थिर कर लिया गया है। परन्तु जन नाट्य साहित्य के सम्बन्ध में यह नहीं हो सका है, शायद हो भी नहीं सकता। इस सम्बन्ध में तो इधर उधर से संग्रहीत प्रमाणों पर ही निर्भर करना पड़ेगा। फिर भी अपठित या जनसाधारण में सहज प्रेरणा के कारण विकसित नाट्य रूपों की स्थिति में सहसा अविश्वास करने का कोई कारण दिखायी नहीं देता। साथ ही यह भी सबको स्वीकार होना चाहिए कि जन नाटक शिष्ट नाटकों से और शिष्ट नाटक जन नाटकों से प्रभावित होते रहे हैं, उसी प्रकार जैसे सदैव, सब काल में, शिष्ट वर्ग जन वर्ग से प्रभावित होता रहा है और जन वर्ग शिष्ट वर्ग से। जिस समय संस्कृत नाटकों की रचना हुई उस समय मानव सभ्यता अपने विकास के उस सोपान पर पहुँच चुकी थी जिसे हम सामन्तवादी सभ्यता कहते हैं। इस सभ्यता के अध्ययन के फलस्वरूप सर्व सम्मति से विद्वानों ने माना है कि और चाहे जो कुछ कहा जाय, यह नहीं कहा जा सकता कि इस सभ्यता में जन साधारण और शिष्ट वर्ग में उतना गहरा अंतर था जितना पूँजीवादी सभ्यता के अन्तर्गत आ

रहे होंगे। यद्यपि 'भरत नाट्य शास्त्र' के अनुसार नाटकों के जन्म को देवलोक से सम्बन्धित करके यह कह देने की कोशिश की गयी है कि जन जीवन के सांस्कृतिक विकास के फलस्वरूप इन नाटकों का उदय नहीं हुआ, फिर भी अनेक ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जन साधारण में 'नाट्य शास्त्र' की रचना के पहिले ही अनेक नाट्य परम्पराएँ थी जिन्हें भरत ने नियमो के अन्दर बाधा, सजाया, सँवारा और उनका निश्चित रूप स्थिर किया। 'भरत नाट्य शास्त्र' के पहिले ही नाट्य परम्पराओ के होने में किसे सन्देह होगा ?

साहित्यिक अथवा शिष्ट नाटकों का लिखित रूप होने से वे अब प्राप्त हो चुके हैं। भास के नाटकों का पता भी चल गया है और सस्कृत नाट्य साहित्य के आदिकाल को भी प्रायः स्थिर कर लिया गया है। परन्तु जन नाट्य साहित्य के सम्बन्ध में यह नहीं हो सका है, शायद हो भी नहीं सकता। इस सम्बन्ध में तो इधर उधर से सग्रहीत प्रमाणों पर ही निर्भर करना पडेगा। फिर भी अपठित या जनसाधारण में सहज प्रेरणा के कारण विकसित नाट्य रूपों की स्थिति में सहसा अविश्वास करने का कोई कारण दिखायी नहीं देता। साथ ही यह भी सबको स्वीकार होना चाहिए कि जन नाटक शिष्ट नाटकों से और शिष्ट नाटक जन नाटकों से प्रभावित होते रहे हैं, उसी प्रकार जैसे सदैव, सब काल में, शिष्ट वर्ग जन वर्ग से प्रभावित होता रहा है और जन वर्ग शिष्ट वर्ग से। जिस समय सस्कृत नाटको की रचना हुई उस समय मानव सभ्यता अपने विकास के उस सोपान पर पहुँच चुकी थी जिसे हम सामन्तवादी सभ्यता कहते हैं। इस सभ्यता के अध्ययन के फलस्वरूप सर्व सम्मति से विद्वानों ने माना है कि और चाहे जो कुछ कहा जाय, यह नहीं कहा जा सकता कि इस सभ्यता में जन साधारण और शिष्ट वर्ग में उतना गहरा अतर था जितना पूँजीवादी सभ्यता के अन्तर्गत आ

रहे होंगे। यद्यपि 'भरत नाट्य शास्त्र' के अनुसार नाटकों के जन्म को देवलोक से सम्बन्धित करके यह कह देने की कोशिश की गयी है कि जन जीवन के सांस्कृतिक विकास के फलस्वरूप इन नाटकों का उदय नहीं हुआ, फिर भी अनेक ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जन साधारण में 'नाट्य शास्त्र' की रचना के पहिले ही अनेक नाट्य परम्पराएँ थी जिन्हें भरत ने नियमों के अन्दर बाधा, सजाया, सँवारा और उनका निश्चित रूप स्थिर किया। 'भरत नाट्य शास्त्र' के पहिले ही नाट्य परम्पराओं के होने में किसे सन्देह होगा?

साहित्यिक अथवा शिष्ट नाटकों का लिखित रूप होने से वे अब प्राप्त हो चुके हैं। भास के नाटकों का पता भी चल गया है और संस्कृत नाट्य साहित्य के आदिकाल को भी प्रायः स्थिर कर लिया गया है। परन्तु जन नाट्य साहित्य के सम्बन्ध में यह नहीं हो सका है, शायद हो भी नहीं सकता। इस सम्बन्ध में तो इधर उधर से सग्रहीत प्रमाणों पर ही निर्भर करना पड़ेगा। फिर भी अपठित या जनसाधारण में सहज प्रेरणा के कारण विकसित नाट्य रूपों की स्थिति में सहसा अविश्वास करने का कोई कारण दिखायी नहीं देता। साथ ही यह भा सबको स्वीकार होना चाहिए कि जन नाटक शिष्ट नाटकों से और शिष्ट नाटक जन नाटकों से प्रभावित होते रहे हैं, उसी प्रकार जैसे सदैव, सब काल में, शिष्ट वर्ग जन वर्ग से प्रभावित होता रहा है और जन वर्ग शिष्ट वर्ग से। जिस समय सस्कृत नाटकों को रचना हुई उस समय मानव सभ्यता अपने विकास के उस सोपान पर पहुँच चुकी थी जिसे हम सामन्तवादी सभ्यता कहते हैं। इस सभ्यता के अध्ययन के फलस्वरूप सर्व सम्मति से विद्वानों ने माना है कि और चाहे जो कुछ कहा जाय, यह नहीं कहा जा सकता कि इस सभ्यता में जन साधारण और शिष्ट वर्ग में उतना गहरा अतर था जितना पूँजीवादी सभ्यता के अन्तर्गत आ

रहे होंगे। यद्यपि 'भरत नाट्य शास्त्र' के अनुसार नाटकों के जन्म को देवलोक से सम्बन्धित करके यह कह देने की कोशिश की गयी है कि जन जीवन के सास्कृतिक विकास के फलस्वरूप इन नाटकों का उदय नहीं हुआ, फिर भी अनेक ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जन साधारण में 'नाट्य शास्त्र' की रचना के पहिले ही अनेक नाट्य परम्पराएँ थी जिन्हें भरत ने नियमों के अन्दर बाधा, सजाया, सँवारा और उनका निश्चित रूप स्थिर किया। 'भरत नाट्य शास्त्र' के पहिले ही नाट्य परम्पराओ के होने में किसे सन्देह होगा?

साहित्यिक अथवा शिष्ट नाटकों का लिखित रूप होने से वे अब प्राप्त हो चुके हैं। भास के नाटकों का पता भी चल गया है और सस्कृत नाट्य साहित्य के आदिकाल को भी प्रायः स्थिर कर लिया गया है। परन्तु जन नाट्य साहित्य के सम्बन्ध में यह नहीं हो सका है, शायद हो भी नहीं सकता। इस सम्बन्ध में तो इधर उधर से सग्रहीत प्रमाणों पर ही निर्भर करना पड़ेगा। फिर भी अपठित या जनसाधारण में सहज प्रेरणा के कारण विकसित नाट्य रूपों की स्थिति में सहसा अविश्वास करने का कोई कारण दिखायी नहीं देता। साथ ही यह भी सबको स्वीकार होना चाहिए कि जन नाटक शिष्ट नाटकों से और शिष्ट नाटक जन नाटकों से प्रभावित होते रहे हैं, उसी प्रकार जैसे सदैव, सब काल में, शिष्ट वर्ग जन वर्ग से प्रभावित होता रहा है और जन वर्ग शिष्ट वर्ग से। जिस समय सस्कृत नाटको को रचना हुई उस समय मानव सभ्यता अपने विकास के उस सोपान पर पहुँच चुकी थी जिसे हम सामन्तवादी सभ्यता कहते हैं। इस सभ्यता के अध्ययन के फलस्वरूप सर्व सम्मति से विद्वानों ने माना है कि और चाहे जो कुछ कहा जाय, यह नहीं कहा जा सकता कि इस सभ्यता में जन साधारण और शिष्ट वर्ग में उतना गहरा अतर था जितना पूँजीवादी सभ्यता के अन्तर्गत आ

रहे होंगे। यद्यपि 'भरत नाट्य शास्त्र' के अनुसार नाटकों के जन्म को देवलोक से सम्बन्धित करके यह कह देने की कोशिश की गयी है कि जन जीवन के सांस्कृतिक विकास के फलस्वरूप इन नाटकों का उदय नहीं हुआ, फिर भी अनेक ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जन साधारण में 'नाट्य शास्त्र' की रचना के पहिले ही अनेक नाट्य परम्पराएँ थी जिन्हें भरत ने नियमों के अन्दर बांधा, सजाया, सँवारा और उनका निश्चित रूप स्थिर किया। 'भरत नाट्य शास्त्र' के पहिले ही नाट्य परम्पराओं के होने में किसे सन्देह होगा ?

साहित्यिक अथवा शिष्ट नाटकों का लिखित रूप होने से वे अब प्राप्त हो चुके हैं। भास के नाटकों का पता भी चल गया है और संस्कृत नाट्य साहित्य के आदिकाल को भी प्रायः स्थिर कर लिया गया है। परन्तु जन नाट्य साहित्य के सम्बन्ध में यह नहीं हो सका है, शायद हो भी नहीं सकता। इस सम्बन्ध में तो इधर उधर से संग्रहीत प्रमाणों पर ही निर्भर करना पड़ेगा। फिर भी अपठित या जनसाधारण में सहज प्रेरणा के कारण विकसित नाट्य रूपों की स्थिति में सहसा अविश्वास करने का कोई कारण दिखायी नहीं देता। साथ ही यह भी सबको स्वीकार होना चाहिए कि जन नाटक शिष्ट नाटकों से और शिष्ट नाटक जन नाटकों से प्रभावित होते रहे हैं, उसी प्रकार जैसे सदैव, सब काल में, शिष्ट वर्ग जन वर्ग से प्रभावित होता रहा है और जन वर्ग शिष्ट वर्ग से। जिस समय संस्कृत नाटकों की रचना हुई उस समय मानव सभ्यता अपने विकास के उस सोपान पर पहुँच चुकी थी जिसे हम सामन्तवादी सभ्यता कहते हैं। इस सभ्यता के अध्ययन के फलस्वरूप सर्व सम्मति से विद्वानों ने माना है कि और चाहे जो कुछ कहा जाय, यह नहीं कहा जा सकता कि इस सभ्यता में जन साधारण और शिष्ट वर्ग में उतना गहरा अंतर था जितना पूँजीवादी सभ्यता के अन्तर्गत आ

गया है। इसलिए दोनों वर्गों में सहज आदान प्रदान सदैव होता रहा है। स्वय सस्कृत के नाटक इसके प्रमाण हैं।

जैसा कि सारे ससार में हुआ, हमारे देश में भी जन नाटकों और शिष्ट नाटकों में ऐसा सम्बन्ध सदैव रहा और दोनों सदैव एक दूसरे से प्रभावित होते रहे। अग्रेजी नाटकों का उद्भव और विकास इसी रूप में हुआ। प्रादेशिक भाषाओं मे लिखे नाटकों के साथ भी यही हुआ। जन नाटको का विनोदी कलाकार सस्कृत नाटकों में विदूषक् बनकर आ गया। खुले रगमच के साथ ही, उसके स्थान पर सुरक्षित प्रेक्षागृहो के निर्माण की कहानी भी हमारी इस बात की पुष्टि करती है। साहित्यिक नाटक केवल पढने के लिए नहीं खेलने के लिए भी लिखे गए थे और उनका अभिनय विधान भी था। नाटकों के देखने वालों का भी चर्चा हमें यथा स्थान मिलता है। प्रेक्षागृहों के भीतर बैठने के लिए जो व्यवस्था की गयी थी वह भी इस ओर सकेत करती है। ये प्रेक्षागृह खर्चीले होते थे। इनका निर्माण सर्व साधारण के बूते की बात न थी। सर्व साधारण के नाटक तो खुले मैदानों मे, आम्र कुजों में अथवा इसी प्रकार के अन्य स्थानो में खेले जाते थे। प्रेक्षागृहों में यद्यपि सबसे पिछली पक्ति में 'प्रार्थकों' के बैठने की व्यवस्था थी, परन्तु वे जन साधारण के लिए नहीं होते थे। राज समाज, ब्राह्मणों, क्षत्रियों आदि के लिए ही विशेष व्यवस्था रहा करती थी। जन साधारण अपने नाटकों मे ही प्रायः शामिल हुआ करते थे। उनमें से केवल थोडे से ही लोग प्रेक्षागृहों में जा पाते थे। इसलिए केवल भाषा के कारण ही नहीं, अन्य अनेक बातें थीं जिनके कारण प्रेक्षागृहों में खेले जाने वाले नाटकों तक जन साधारण की पहुँच नही हो पाती थी। फलतः उन्हे अपने मनोरजन के साधनों, अपने नृत्यों और अभिनयों और नाटकों की ही शरण लेनी पड़ती थी।

प्रादेशिक भाषाओं में लिखे नाट्य साहित्य के बहुत पहिले से ही

रहे होंगे। यद्यपि 'भरत नाट्य शास्त्र' के अनुसार नाटकों के जन्म को देवलोक से सम्बन्धित करके यह कह देने की कोशिश की गयी है कि जन जीवन के सास्कृतिक विकास के फलस्वरूप इन नाटकों का उदय नहीं हुआ, फिर भी अनेक ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जन साधारण में 'नाट्य शास्त्र' की रचना के पहिले ही अनेक नाट्य परम्पराएँ थी जिन्हें भरत ने नियमों के अन्दर बांधा, सजाया, सँवारा और उनका निश्चित रूप स्थिर किया। 'भरत नाट्य शास्त्र' के पहिले ही नाट्य परम्पराओं के होने में किसे सन्देह होगा ?

साहित्यिक अथवा शिष्ट नाटकों का लिखित रूप होने से वे अब प्राप्त हो चुके हैं। भास के नाटकों का पता भी चल गया है और सस्कृत नाट्य साहित्य के आदिकाल को भी प्रायः स्थिर कर लिया गया है। परन्तु जन नाट्य साहित्य के सम्बन्ध में यह नहीं हो सका है, शायद हो भी नहीं सकता। इस सम्बन्ध में तो इधर उधर से सग्रहीत प्रमाणों पर ही निर्भर करना पडेगा। फिर भी अपठित या जनसाधारण में सहज प्रेरणा के कारण विकसित नाट्य रूपों की स्थिति में सहसा अविश्वास करने का कोई कारण दिखायी नहीं देता। साथ ही यह भी सबको स्वीकार होना चाहिए कि जन नाटक शिष्ट नाटकों से और शिष्ट नाटक जन नाटकों से प्रभावित होते रहे हैं, उसी प्रकार जैसे सदैव, सब काल में, शिष्ट वर्ग जन वर्ग से प्रभावित होता रहा है और जन वर्ग शिष्ट वर्ग से। जिस समय सस्कृत नाटकों की रचना हुई उस समय मानव सभ्यता अपने विकास के उस सोपान पर पहुँच चुकी थी जिसे हम सामन्तवादी सभ्यता कहते हैं। इस सभ्यता के अध्ययन के फलस्वरूप सर्व सम्मति से विद्वानों ने माना है कि और चाहे जो कुछ कहा जाय, यह नहीं कहा जा सकता कि इस सभ्यता में जन साधारण और शिष्ट वर्ग में उतना गहरा अतर था जितना पूँजीवादी सभ्यता के अन्तर्गत आ

गया है। इसलिए दोनों वर्गों में सहज आदान प्रदान सदैव होता रहा है। स्वयं सस्कृत के नाटक इसके प्रमाण हैं।

जैसा कि सारे ससार में हुआ, हमारे देश में भी जन नाटकों और शिष्ट नाटकों में ऐसा सम्बन्ध सदैव रहा और दोनों सदैव एक दूसरे से प्रभावित होते रहे। अग्रेजी नाटकों का उद्‌भव और विकास इसी रूप में हुआ। प्रादेशिक भाषाओं में लिखे नाटकों के साथ भी यही हुआ। जन नाटकों का विनोदी कलाकार सस्कृत नाटकों में विदूषक बनकर आ गया। खुले रंगमंच के साथ ही, उसके स्थान पर सुरक्षित प्रेक्षागृहो के निर्माण की कहानी भी हमारी इस बात की पुष्टि करती है। साहित्यिक नाटक केवल पढने के लिए नहीं खेलने के लिए भी लिखे गए थे और उनका अभिनय विधान भी था। नाटकों के देखने वालों का भी चर्चा हमें यथा स्थान मिलता है। प्रेक्षागृहों के भीतर बैठने के लिए जो व्यवस्था की गयी थी वह भी इस ओर सकेत करती है। ये प्रेक्षागृह खर्चीले होते थे। इनका निर्माण सर्व साधारण के बूते की बात न थी। सर्व साधारण के नाटक तो खुले मैदानों में, आम्र कुजों में अथवा इसी प्रकार के अन्य स्थानों में खेले जाते थे। प्रेक्षागृहों में यद्यपि सबसे पिछली पंक्ति में 'प्रार्थकों' के बैठने की व्यवस्था थी, परन्तु वे जन साधारण के लिए नहीं होते थे। राज समाज, ब्राह्मणों, क्षत्रियों आदि के लिए ही विशेष व्यवस्था रहा करती थी। जन साधारण अपने नाटकों में ही प्राय: शामिल हुआ करते थे। उनमें से केवल थोडे से ही लोग प्रेक्षागृहो में जा पाते थे। इसलिए केवल भाषा के कारण ही नहीं, अन्य अनेक बातें थीं जिनके कारण प्रेक्षागृहों मे खेले जाने वाले नाटकों तक जन साधारण की पहुँच नहीं हो पाती थी। फलत. उन्हे अपने मनोरजन के साधनों, अपने नृत्यों और अभिनयों और नाटकों की ही शरण लेनी पड़ती थी।

प्रादेशिक भाषाओं मे लिखे नाट्य साहित्य के बहुत पहिले से ही

जन नाटकों और लोक रंगमंच की परम्परा रही है। बंगला में जात्राओं की महत्वपूर्ण परम्परा रही है। भोजपुरी में विदेसिया की परम्परा रही है। अवधी, ब्रज, पूर्वी हिन्दी तथा खड़ी बोली के क्षेत्रों में रास, नकल, नौटंकी, स्वांग, भाँड आदि की परम्परा रही है। राजस्थानी में रास, झूमर, ढोलामारु आदि, गुजराती में भवाई, मराठी में ललिते और तमाशा, तेलुगु में भगवत मेल, बुर्रा कथा, हरि कथा, विधि नाटकम् आदि की परम्परा भी थी। इन समस्त नाटकों में संगीत का प्राधान्य था। संगीत और नृत्यों से इन नाटकों की रोचकता और प्रभावोत्पादकता बढ़ जाती थी। शिष्ट नाटकों की तरह इनमें विशिष्ट रंगमंच, आकर्षक और खर्चीले वेष भूषा आदि पर विशेष ध्यान देना सम्भव न था। परन्तु इन सब बातों की कमी गीतों और नृत्यों तथा पद्यमय भाषण शैली से पूरी कर ली जाती थी। हमें इन परम्पराओं का अध्ययन कुछ विवरण के साथ करना होगा।

स्वांग नाटक

'स्वांग भरना' या 'नाटक करना' हमारी बोली का एक वाक्य है। यह वाक्य इतना प्रचलित इसलिए है कि हमारे समाज में 'स्वांग भरने' और 'नाटक करने' की प्रक्रिया बहुत व्यापक रही है। इन 'स्वांगों' की परम्परा बहुत पुरानी है। सिद्धों के साहित्य में, विशेष-तया सिद्ध कण्हपा की निम्नांकित पंक्ति में स्वांग का चर्चा आया है—

"आलो डोंबि, तोए सम करिबय साग, निधिण कण्ह कपाली जोइ लाग।" सिद्ध कण्हपा ने डोमिनी के साथ स्वांग करने का चर्चा यहाँ किया है। कबीर की पंक्ति है :

> कथा होय तंह स्रोता सोवैं, वक्ता मूंड पचाया रे।
> होय जहां कहीं स्वांग तमाशा, तनिक न नींद सताया रे॥

कबीर को शिकायत थी कि लोग कथा वार्ता में तो सो जाते हैं मगर जहां कहीं 'स्वांग तमाशा' होता है वहाँ उनको ज़रा भी नींद नहीं आती।

मलिक मुहम्मद जायसी ने कहा है—

पातुरि एक हुति जोगि सवांगी।
साह अखोर हुत ओहि मांगी।।

स्वाग का चचा जायसी न किया और बताया कि औरतें भी स्वाग मे भाग लिया करती थीं। सत साहित्य में स्वांग शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। अन्य साहित्य में भी स्वाग, रूपक आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। सत्रहवीं शताब्दि में बरकत उल्लाह ने 'प्रेम प्रकाश' ग्रन्थ रचा। इस ग्रन्थ में रूप भरने का प्रयोग आया है। रूप भरना, स्वांग भरना, नकल करना, नक़ल बनाना, स्वांग बनाना, ये सारे शब्द पर्यायवाची माने जाते हैं। बहुरूपियों के बारे में कौन नहीं जानता? थोड़े ही समय पहिले तक बहुरूपियों का प्रचार बहुत अधिक था। बहुरूपिया उनको कहते हैं जो बहुत प्रकार के रूप बनाया करते थे और अक्सर लोगों को धोखे में डाल दिया करते थे। स्वांग करना, नकल करना या नाना प्रकार के रूप बनाना इन विशिष्ट प्रकार के कलाकारों का काम था। ये अत्यधिक लोक प्रिय होते थे और स्वाग भरना ही इनकी जीविका का मुख्य साधन था। स्वाग को नाटकीय ढंग से अभिनय करने के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता था। राजा लक्ष्मण सिंह ने अपने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के अनुवाद की भूमिका में लिखा है, "मेरे पहले अनुवाद में एक विशेष न्यूनता यह रह गयी थी कि मूल के श्लोकों का आशय हिन्दी के छन्दों में नहीं, किन्तु साधारण वार्ता में दिया गया था . . . इस न्यूनता के कारण न तो अनुवाद के पढ़ने वालों का कविता का पूरा स्वाद मिलता था, न ग्रन्थ इस योग्य था कि कि स्वाग रचकर नाटक दिखलाया जाय।"

स्वाग भरने वालों या नक़ल करने वालों का एक वर्णन हमें सम्राट औरंगजेब के समकालीन कवि मौलाना 'गनीमत' की मनसवी 'नौरंगे इश्क' में मिलता है। इस मसनवी की रचना सन् १६८५ ई० में हुई। मौलाना ने इन स्वांग भरने वालों को 'भगत बाज़' कहा है।

उर्दू नाट्य साहित्य के विकास का अध्ययन करते समय 'भगत बाज' शब्द का चर्चा बार बार आता है। भगत शब्द का प्रयोग बने हुए, ढोंग किए, रूप बनाए हुए व्यक्ति के अर्थ में भी होता आया है। इसलिए 'भगत बाज' भभेखिया या रूप बदलने वालों, रूप बनाने वालो को ही समझा जा सकता है। 'गनीमत' ने इन नक्क़ालों को सम्भवतः इसी लिए 'भगत बाज' कहा। निस्सन्देह यह शब्द उनसे पहिले से ही प्रचलित था। 'बगुला भगत' के तरह के शब्दो का प्रयोग तो कबीर और अन्य सतों के साहित्य में भी मिल जाते हैं। 'गनीमत' के वर्णन से पता चलता है कि जनता का अत्यन्त प्रिय मनोरजन तथा आमोद प्रमोद का यह साधन उनके बहुत पहिले से ही प्रचलित था। इन 'भगत बाजों' की मडलियाँ हुआ करती थीं। ये मंडलिया उत्तराखण्ड के इस छोर से उस छोर तक घूमा करती थीं। ये मडलिया किस भाषा का प्रयोग करती थीं? इस सम्बन्ध मे कोई सुनिश्चित बात नहीं कही जा सकती। परन्तु अवश्य ही ये उस समय में प्रचलित घुमक्कड़ी सधुक्कड़ी बोली का प्रयोग करती रही होंगी। हो सकता है कि किसी नवाब आदि के सामने इन्होने कभी फारसी के वाक्यों का प्रयोग किया हो, मगर इनकी भाषा में देशी बोलियों का अधिकतर प्रयोग रहा होगा। यदि भगतबाजों का लिखित साहित्य प्राप्त होता तो हमे उस समय की भाषा के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त हो जाती।

मौलाना 'गनीमत' ने अपनी पुस्तक नैरगे इश्क' में इनका जो वर्णन किया है उसका एक अश हम नीचे दे रहे हैं। इस वर्णन से इन 'भगत बाजो' और स्वाग भरने वालो के सम्बन्ध मे पर्याप्त जानकारी हो जाती।

वर्णन इस प्रकार है—

वशहरे मशब रसीदा तुरफ़े जाम आ।
शरर परवाना हा वर गरदे शाम आ॥

मुक़ल्ला पेशए वा तर्ज़ो अन्दाज़।
मुशाविद सीरतां बा नग़मो साज़।
व इल्मे रक्स ओ तक़लीद ओस्तादां।
मुराद खातिर इशरत न ज़ादा।
हम: खुश बहे जगां नग़्मा परदाज़,
बहरफ़ इस्तलहे मा 'भगत बाज़'।
बफ़न्ने ख़्वविश्तन उस्ताद हर यक।
गहे मर्दो गहे ज़न गहे तिफ़लक।
गहे सन्नासियाने यूं परीशां।
गहे इस्लामियाने अहले ईमां।
गहे दर गुरबतो गाहे वशंगी।
गहे कश्मीरी यो गाहे फिरंगी।
गहे हिन्दू ज़नान ख़्वतना हमदोश।
मुसलमां ज़ाद हा रा ग़ारते होश।
गहे दहक़ां ज़न वगहे पीर दहक़ां।
गहे गिब्र पृत्तरिश ना मुसलमां।
क़ज्ल वाशना गहे अमरो ख़रीदार।
गुलामी गहे तू तूती चरब गुफ़्तार।
गहे रंगे ज़ने नौ ज़ाहद वर ओ।
मदस्ते दाया गरियां ज़ायदे मो।
गहे दीवाना वगहे परी बूद।
क्लामशरा शुनीदन वावरी बूद।
गरज़ क़ौमी निख़्वाही जलया साज़िन्द।
ब हर रंगे कि ख़्वाही इश्वा वाज़िन्द।

"आज शहर में अजब किस्म के लाग आये हैं जो एक नाजो-अन्दाज (विशेष ढंग से) के साथ नकलें करते हैं और नग़्मो साज (सगीत) के साथ शोबदे (आश्चर्य जनक खेल) दिखाते हैं। नाच

और नक़ल में ये उस्ताद हैं। इनकी आवाज़ भी मीठी है। हमारी भाषा में इन्हें 'भगतबाज' कहते हैं। कभी मर्द, कभी औरत और कभी बच्चे की नकल करते हैं। कभी परेशानहाल सन्यासी बन जाते हैं, कभी मुसलमान, कभी कश्मीरी का भेस बना लेते हैं और कभी फिरगी (अंग्रेज़) बन जाते हैं, कभी दहकानी (फूहड़) औरत और मर्द की नकल करते हैं, कभी दाढी मुड़ाकर गिब्र की सूरत में नजर आते हैं, कभी मुगलों की शकल बना लेते हैं, कभी गुलाम बन जाते हैं, कभी ज़च्चा बन जाते हैं जिसका बच्चा दाया की गोद में रोता होता है, कभी देव बन जाते हैं, कभी परी। गरज़ हर कौम का जलवा दिखाते हैं और हर तरह के रश्वा ज़माने से काम लेते हैं।"

मसनवी का यह अंश मैंने श्री सोमनाथ गुप्तकृत 'हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास' से उद्धृत किया है। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि औरंगजेब के जमाने में नकलों या स्वांगों की लोकप्रिय परंपरा थी और यह कला काफी उन्नति भी कर चुकी थी। इन स्वांगों से सबका मनोरंजन होता था। स्वांग भरने वाले ये कलाकार इस स्थान उस स्थान पर घूमा करते थे वे। जनता का मनोरंजन करके अपना पेट पालते थे। काश्मीरियों तथा अंग्रेजों की नक़ल करना यह प्रमाणित करता है कि उनकी पहुँच दूर देशों तक समाज के प्रत्येक स्तर के लोगों तक थी, उनके रहन-सहन वस्त्राभरण स्वभाव आदि से ये भली भांति परिचित थे। इस वर्णन के पढने से ऐसा लगता है कि समाज में इनका महत्व किसी न किसी रूप में स्वीकार किया जाता था। यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि औरंगजेब के बहुत पहिले से ही ये कलाकार लोक प्रिय रहे होंगे।

जैसा कि हमने कहा स्वांग का लिखित साहित्य प्राप्त नहीं है। उसकी परम्परा मौखिक रही है। बाद में उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में स्वांगों की लेख बद्ध परम्परा का परिचय मिला। डाक्टर दशरथ ओझा ने इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तक 'हिन्दी नाटक' के पृष्ठ ४० पर लिखा

है, "पंडित राम गरीब चौबे स्वांग की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखते हैं कि अम्बराम नामक एक गुजराती ब्राह्मण सहारनपुर में निवास करते थे। सर्व प्रथम आधुनिक शैली में उन्होंने स्वांग के गानों की रचना की और सन् १८१६ के आस पास इनका अभिनय हुआ।

"उपलब्ध स्वांग साहित्य हाथरस और रोहतक की दो शैलियों में लिखे जाने के कारण दो रूपों में मिलता है। देहात में यह वार्ता अति प्रचलित है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में दीपचद नामक स्वांगी प्रसिद्ध व्यक्ति था। उसमें काव्य प्रतिभा के साथ साथ अभिनय कला सम्बन्धी गुण भी थे। उसने अश्लील और शृंगारी स्वागो का बहिष्कार करके वीररसपूर्ण स्वागों की रचना की और जनता में वीरता के प्रति उत्साह पैदा किया। उसकी शिष्य परम्परा रोहतक में अभी तक चली आ रही है। (उदाहरण-दीपचद के शिष्य हरदेवा, हरदेवा का शिष्य बाजेनाई, बाजेनई का शिष्य भम्मन, भम्मन का शिष्य मागेराम आदि)। उसके नाटक पौराणिक, राजनैतिक तथा सामाजिक होते हैं। हास्य रस का स्वाद स्थान स्थान पर मिल जाता है।"

आरम्भ में स्वांग में पद्य ही होते थे। उन्हें गीति नाट्य के वर्ग में माना जा सकता है। पर धीरे-धीरे पद्य का प्रयोग कम होने लगा लगा और स्वागों में गद्यांशों की बहुलता होने लगी। वर्तमान समय में अनेक ऐसे स्वांग मिल जाएगे जिनमें केवल गद्य का ही प्रयोग हुआ है। बदली हुई जन रुचि और साहित्यिक नाटकों के प्रभाव का यह प्रमाण है। परन्तु जो स्वांग पुरानी परम्परा के हैं और जन श्रुति के आधार पर ही चलते आए हैं उनमें पद्यांश की ही बहुलता होगी।

स्वांगों के सम्बन्ध में एक बात और कहनी है। अक्सर हम देखते हैं कि हमारे आलोचक स्वांगों तथा इस प्रकार के अन्य लोक नाट्यों के रूपों के प्रति हीन भाव रखते हैं। यह उचित नहीं। हम जिन स्वागों

से परिचित हैं उनका रूप विकृत है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि आरम्भ से ही वे ऐसे ही रहे हैं अथवा उनसे हमारी विकृत आकांक्षाओं की ही पूर्ति होती रही है। हम आज जिन कलारूपों को हेय समझकर तिरस्कृत करते हैं, सम्भव है अपने यौवन काल में उनका रूप वैसा न रहा हो और उनमें जीवन को अधिक आकर्षक, सुन्दर और मगलमय बनाने की कमोबेश क्षमता रही हो। मेरा आग्रह यह है कि इन स्वांगों के सम्बन्ध में अधिक विस्तार और गहराई से खोज बीन होनी चाहिए। इस अनुसधान के बाद ही हम किसी सही नतीजे पर पहुँच सकते हैं और इन स्वागों का सही मूल्यांकन कर सकते हैं।

अनुकृति अथवा नक़ल उतारना साधारण कला नहीं है। अभिनय, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला आदि में जितनी कल्पनाशीलता, तपस्या, साधना और कौशल की आवश्यकता होती है उतनी ही नक़ल करने, स्वाग करने या रूप भरने में होती है। ये सारी कलायें जिस स्तर अथवा दशा में होती हैं उसी दशा में समाज की सस्कृति और सभ्यता भी होती है। स्वाग करने या स्वाग भरने की कला का अब प्रायः लोप सा हो गया है, परन्तु जिस प्रकार अन्य लुप्त होती लोक कलाओं को पुनर्जीवित करने का प्रयास हो रहा उसी प्रकार स्वाग को भी पुनर्जीवित करने का प्रयास होना चाहिये।

दसवाँ अध्याय

इन्दर सभा और रहस

हिन्दी नाट्य साहित्य तथा रंगमंच पर 'इन्दर सभा' का गहरा प्रभाव है, इसलिए इसका अध्ययन आवश्यक है। 'इन्दर सभा' के लेखक सैयद आगा हसन 'अमानत' (सन् १८१६-१८५८ ई०) थे। 'इन्दर सभा' का रचना काल १८५३ ई० है। श्री सोमनाथ गुप्त का कथन है कि 'अमानत' नवाब वाजिद अली शाह के दरबारी कवि थे। वह प्रसिद्ध उर्दू कवि 'नासिख' के शिष्य थे। उन्होंने नवाब वाजिद अली शाह के आदेश पर ही 'इन्दर सभा' नामक गीति-नाट्य (आपेरा) की रचना की और इसके अभिनय के लिए क़ैसर बाग़ में एक रंगमंच तैयार किया गया। स्वयं वाजिद अली शाह ने इसमें राजा इन्द्र की भूमिका अदा की।

श्री सोमनाथ गुप्त ने उपर्युक्त बातें श्रीराम बाबू सक्सेना के 'उर्दू साहित्य के इतिहास' के आधार पर लिखी हैं। मगर सक्सेना जी के इतिहास का अधिकांश अब पुराना पड़ गया है। उनकी अनेक खोजें गलत साबित हो चुकी हैं। 'इन्दर सभा' के सम्बन्ध में ऊपर जो बातें कही गयी हैं वे सबकी सब असत्य और कपोल कल्पित साबित हो चुकी हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग के प्राध्यापक श्री मसीह-उज्जमा अपनी पुस्तक 'ताबीर, तशरीह, तनक़ीद,' में पृष्ठ १३४-१३५ पर लिखते हैं, "लखनऊ के सुल्ताने आलम वाजिद अली शाह को 'फनून लतीफा' से बड़ी दिलचस्पी थी। इस हुक्मरां की अदबी, इल्मी और तहजीबी सरगर्मियों पर एक मुस्तक़िल तस-नीफ की जरूरत है। इसने एक 'रहस खाना' तामीर कराया और दर्जनों औरतें और मर्द ऐसे मुलाजिम रखे जो रक़्स (नृत्य) और

लोगों ने भी इन्दर सभाएँ लिखीं जिनमें मदारीलाल की 'इन्दर सभा', 'जश्ने परिस्तान', 'बज्मे सुलेमान', 'परियों की हवाई मजलिस' ज्यादा मशहूर हुई। बहुत सी नाटक कम्पनियाँ कायम हो गयीं जो अपने-अपने तौर पर 'इन्दर सभाएँ' खेलने और मुल्क में दौरे करने लगीं। 'इन्दर सभा' के बिला मुबालिगा सैकड़ों एडिशन शाया हुए। नागरी और गुजराती हरुफ में भी इसके मुतद्दिद एडिशन निकले। इसके अलावा हिन्दुस्तान और योरप की दूसरी ज़बानों में भी इसके तरजुमे शाया हुए। ब्लूम हार्ट ने फेहरिस्त कुतुब में ऐसे पचास एडिशनों का ज़िक्र किया है जो सिर्फ़ उन्नीसवीं सदी में हिन्दुस्तान, जर्मनी, और फ्रांस में शाया हुए हैं।

'इन्दर सभा' की मकबूलियत रफ़्ता रफ़्ता सारे मुल्क मे फैल गयी। शहर शहर टोलियाँ दौरा करने और लोगों से खिराज तहसीन हासिल करने लगीं। यह देखकर बाज पारसियों को इसमें तिजारत के अच्छे इमकानात नज़र आए। चुनांचे उन्होंने बम्बई, देहली और कलकत्ते में बाक़ायदा ड्रामा कम्पनिया खोल लीं। इस किस्म की सबसे पहिली कम्पनी 'ओरीजनल थियेट्रिकल कम्पनी' थी जिसके मालिक पिस्टन जी फराम जी थे। इसके अलावा बालीवाल की 'विक्टोरिया नाटक कम्पनी', काउस जी की 'अलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' और दूसरी कम्पनियां थी।"

श्री मसीहउज्जमां के इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि 'इन्दर सभा' के लेखक 'अमानत' ने यह नाटक लखनऊ के बादशाह वाजिदअली शाह के कहने पर नहीं बल्कि स्वेच्छा पूर्वक लिखा। यह नाटक वाजिद-अली शाह की देख रेख में नहीं खेला गया। इसमें स्वय उन्होंने कभी भी अभिनय नहीं किया। इसकी प्रसिद्धि इसकी सरल भाषा और इसकी रोमान्टिक विशेषताओं के कारण हुई। इस सम्बन्ध में थोड़ा और अधिक विवरण में जाने की आवश्यकता है क्योंकि इस 'इन्दर सभा' का विकास पारसी रंगमंच में हुआ और उसका गम्भीर प्रभाव हिन्दी

नाट्य परम्परा तथा हिन्दी रंगमंच पर आगे चलकर पड़ा। प्रोफेसर सैयद मसऊद हसन रिजवी ने 'इन्दर सभा' पर अभी अभी एक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक से उर्दू नाट्य साहित्य के इतिहास में आमूल परिवर्तन होगा, जो पुरानी धारणाएं हैं उन्हें बदलकर अब नये सिरे से उर्दू नाट्य परम्परा के विकास का अध्ययन करना होगा। जिस समय 'इन्दर सभा' का यह खेल लोकप्रिय हो रहा था उसी समय या थोड़ा उससे पहिले हिन्दी नाटकों का अभिनय शुरू हो गया था। १८३५ ई० के सितम्बर महीने में ही 'श्री कृष्ण चरित्रोपाख्यान' का अभिनय काठमाण्डू में हो चुका था। 'आनन्द रघुनन्दन' की रचना इससे पहिले हो चुकी थी। 'नहुष' का भी प्रणयन हो चुका था। इसी बीच 'इन्दर सभा' और 'रहस' का प्रणयन और प्रचलन हुआ। पारसी कम्पनियों ने इसके प्रचार में हाथ लगाया। पारसी कम्पनियों का प्रभाव हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच पर भरपूर पड़ा और अनेक प्रकार की धाराओं का विकास साथ साथ होने लगा। इसका विवरण सहित अध्ययन अगले पृष्ठों में किया जाएगा।

श्री रिजवी 'इन्दर सभा का सबब तालीफ' नामक अध्याय में लिखते हैं "एक मुहक्क़िक़ के दिल में सबसे पहिला सवाल यह पैदा होता है कि 'इन्दर सभा' की तसनीफ का महर्रक कौन या क्या था। 'नाटक सागर' के फाज़िल मुसन्निफीन ने इस सवाल का हस्ब ज़ैल जवाब दिया है—

"वाजिद अली शाह और अवध के हालात कौन नहीं जानता ?... उस वक्त का दरबार अवध इश्क और इशरत का गहवारा था... .. सब इसी धुन में लगे रहते थे कि 'रंगीले पिया' के लिए कोई नया सामान तफरीह पैदा करें......इसी सिलसिले में फ्रांसीसी मर्कबि बारगाह ने मगरिबी थियेटरों का नक्शा पेश किया... . यह वह वक्त था कि......फ्रांस बल्कि तमाम योरप आपेरा (यानी वह ड्रामा जो सरासर रक्स व सरूद के जरिये अदा किया जाता है) का गिरवीदा

हो रहा था......ऐसा हुआ कि हिन्दुस्तानी मज़ाक का आपेरा तैयार हो। 'कुर्राएफाल' 'अमानत' के नाम पडा जिन्होंने १२७० हिजरी में इस फर्ज़ को बवजूह अहसन अदा किया। 'इन्दर सभा' की तारीखे तसनीफ इस शेर से निकलती है—

ग़रूवे वज्द बोल उट्ठी परीज़ाद

खलायक़ में है धूम इन्दर सभा की। १२७० हि०

"सैयद इम्तियाज अली 'ताज' ने इन्हीं बातों को दूसरे लफजों में यों दोहरा दिया है, 'मौजूदा उर्दू ड्रामा ने अवध के नवाब वाजिद अली शाह (वाजिद अली शाह बादशाह थे। उनके नाम के साथ नवाब लिखना मुनासिब नहीं—श्री रिजवी) के कैसर बाग की चार दीवारी में जन्म लिया. . उस जमाने में इत्तफाक से किसी फ्रांसीसी को दरबार अवध में बारयाबी हासिल हो गयी। रंगीले पिया के लिए अनोखी तफरीहें बरहम पहुँचाना दरबारियों के लिए एक मुस्तकिल मसला बना रहता था। फ्रासीसी को इसका इल्म हुआ तो उसने योरप के तफरीही ड्रामा का जिक्र किया। ड्रामा में से आपेरा अपनी खसूसियात की वजह से और दरबार अवध के हालात के एतबार से नवाब के सामने पेश करने को मुनासिब मालूम हुआ। चुनांचे पहिले पहिल उर्दू में जो नाटक खेला गया वह खालिस आपेरा था। उसका नाम 'इन्दर सभा' था और उसे सैयद आगा हसन 'अमानत' लखनवी ने लिखा था।'

"इन बयानों का खुलासा यह है कि वाजिद अली शाह ने अपने एक फ्रांसीसी मुसाहिब से मगरिबी थियेटर और फ्रासीसी आपेरा का हाल सुनकर 'अमानत' से इन्दर सभा लिखवाई। इस बात को सही समझने के लिए दो चीज़ों का मान लेना जरूरी ठहरता है। एक यह कि वाजिद अली शाह के मुसाहिबों में कोई फ्रासीसी भी था। और दूसरी यह कि उनके दरबारी शायरों मे 'अमानत' भी थे। मगर हक़ीकत यह है कि अवध के बादशाहों में सिर्फ एक नसीरउद्दीन हैदर थे जो

मगरिब के दिलदादा थे। वह अंग्रेजी पोशाक भी पहिनते थे और अंग्रेजी में दस्तखत भी कर लेते थे। उनके मुसाहिबों में अंग्रेज भी थे और फ्रांसीसी भी। मगर वाजिद अली शाह को अंग्रेज़ियत से कोई लगाव न था। उनके दरबार में फ्रांसीसियों का क्या जिक्र, किसी अंग्रेज को भी दखल न था। कर्नल स्लीमन जो वाजिद अली शाह के अहद में रेजीडेन्ट था और बादशाह के मिजाज से खूब वाक़िफ था, उसने एक मर्तबा अपने नायब मेजर टूड को वाजिद अली शाह के बारे में लिखा कि "उन पर किसी युरोपियन शख्स का कोई जाती असर न कभी था, न कभी होगा।"

"'अमानत' की रसाई भी शाही दरबार में न थी। इस बारे में 'अमानत' के बेटे फसाहत का बयान राक़िमुलहरुफ अपने मजमून इन्दर सभा और शरह इन्दर सभा के ज़मन में अप्रैल १९३७ के रिसाला उर्दू में शाया कर चुका है और वह हस्ब ज़ैल है।

"हज़रत अमानत मरहूम के छोटे बेटे सैयद अब्बास हसन साहब 'फसाहत' बफजले मौजूद हैं। मौसूफ सिन में बूढे मगर तबीयत के जवान हैं। इल्मे मजलिस, लतीफा गोई और बुजला सजी में अगलों की यादगार हैं। आपसे मालूम हुआ कि शाही में छतर मंज़िल के क़रीब बारह इमामों की दरगाह थी। उस दरगाह के सादात को वजीफे मिलते थे। 'अमानत' मरहूम का इस्म भी वहाँ था और उनका वजीफा तीस चालीस रुपये माहवार था। इसके अलावा उनको किसी शाही महकमे या शाही दरबार से कोई ताल्लुक नहीं था।

"शाही दरबार में रसूख उस जमाने में सबसे बड़ा एजाज समझा जाता था। इसलिए दरबार के ज़रा से ताल्लुक को बढ़ा चढ़ाकर बयान करना तो मुमकिन था मगर उसका इनकार मुमकिन न था।

"इस सिलसिले में इस बात पर भी नजर रखना चाहिए कि बीस बरस की उम्र में यानी १२५१ हि० में 'अमानत' की जबान बन्द हो गयी थी। १२६० हि० में खुल तो गयी मगर लुकनत मरते दम तक

बाकी रही। वह लुकनत भी इस हद की थी कि उसकी वजह से 'इन्दर सभा' की तसनीफ के वक़्त तक यानी १२६८ हि० तक वह घर से निकलते न थे। शरह इन्दर सभा में वह खुद कहते हैं "कहीं जाता था न आता था। जबान की बाबस्तगी से घर में बैठे बैठे जी घबराता था।" वाजिद अली शाह १२५७ हि० में वली अहद और १२६२ हि० में बादशाह हुए। यह क्योंकर मुमकिन था कि एक गूंगा या इन्तहा का हकला आदमी जो कहीं जाने आने के काबिल न हो शाही दरबार में रसूख हासिल कर ले?"

प्रोफेसर रिज़वी की इन उपर्युक्त पंक्तियों के बाद इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता कि 'अमानत' ने 'इन्दर सभा' की रचना शाही हुक्म से नहीं अपनी तबियत से की। फ्रांसीसी दरबारी वाली बात भी ग़लत साबित हो चुकी है। 'इन्दर सभा' का कैसर बाग़ में खेला जाना भी किसी प्रकार साबित नहीं किया जा सकता, न यह प्रमाणित किया जा सकता है कि 'इन्दर सभा' में स्वयं बादशाह इन्दर का अभिनय किया करते थे।

तब एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह रह जाता है कि इन्दर सभा का सम्बन्ध क्यों और किस तरह बादशाह के साथ जुड़ गया?

इस सम्बन्ध में खुद 'अमानत' ने 'सबब तालीफ किताब इन्दर सभा' शीर्षक से जो बात कही उसी से सारा रहस्योद्घाटन हो जाता है। 'अमानत ने लिखा है, "वजा के ख्याल से कहीं जाता था न आता था। ज़बान की बाबस्तगी से घर में बैठे बैठे जी घबराता था। एक रोज का ज़िक्र है कि हाजी मिरजा आबिद अली यगाना अजली रफीके शफ़ीक़ मूनिसो गमगुसार क़दीमी जानिसार शागिंद अव्वल मौजू तबियत तखल्लुस इबादत आशिक़े कलामे 'अमानत' उन्होंने अज़राहे मुहब्बत कहा कि बेकार बैठे बैठे घबराना अबस है। ऐसा कोई जलसा 'रहस' के तौर पर तबाजाद नज़्म किया चाहिए कि दो चार घड़ी दिल्लगी की सूरत होवे और खल्क़ में शोहरत होवे। अखी--

रुल अम्र मुआफिक उनकी फरमाइश के बन्दा इसके कहने पर आमादा हुआ।"

'अमानत' के इस वक्तव्य में 'रहस' शब्द आया है। यह रहस (रास या रास लीला) जिसे उदाहरण मानकर 'अमानत' ने अपनी 'इन्दर सभा' की रचना की शाही 'रहस' ही था। चूँकि 'इन्दर सभा' का ढाँचा बहुत कुछ 'रहस' से मिलता जुलता था इसलिये इसे भी 'रहस' ही कहा जाने लगा। 'रहस' का सीधा सम्बन्ध बादशाह अवध वाजिद अली शाह से था। इसलिए धीरे-धीरे उसे लोगों ने उनके नाम के सग जोड़ना शुरू कर दिया। रहस या रास कृष्ण और राधिका तथा गोपियों की लीला, नृत्य आदि के आधार पर बना लोकप्रिय नाटक था जिसे धीरे धीरे पेशेवर लोगों ने अपने हाथ में ले लिया। इन पेशेवर लोगों ने बाद में रास के साथ दूसरे खेल भी खेलना शुरु कर दिये। परन्तु जनता में वे खेल भी रास अथवा रहस ही समझे जाते थे। वाजिदअली शाह ने भी राधा-कृष्ण की लीला के आधार पर रहस तो लिखे ही, उन्होंने दूसरे कथा-नकों को लेकर भी नाटक लिखे। ये सब 'रहस' कहलाए। इस प्रकार 'रहस' शब्द का व्यापक अर्थ हो गया और इसके अन्तर्गत अनेक प्रकार के नाटक आ गए। धीरे धीरे खुद 'इन्दर सभा' भी इस रहस के अन्तरगत मानी जाने लगी। ऐसी स्थिति मे यदि 'इन्दर सभा' का सम्बन्ध वाजिदअली शाह के साथ जुड़ गया या यह किम्बदन्ती प्रचलित हो गयी कि इन्दर सभा में वाजिद अली शाह अभिनय करते थे तो इसमें किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

इन्दर सभा की भाषा

इन्दर सभा की भाषा शिष्ट लखनवी उर्दू तथा अवधी और ब्रज भाषा की मिलावट से बनी है। गद्यांश में अधिकतर उर्दू के शब्दों का प्रयोग हुआ है। पद्यांश में खिचड़ी है। बहुत से गीत ऐसे हैं जिनमें ब्रज या घर मे बोली जाने वाली अवधी का प्रयोग हुआ है।

श्री रिज़वी ने 'इन्दर सभा की ज़बान' नामक अध्याय में तेरह गीतों की तालिका दी है जो इस प्रकार है—

शुमार (संख्या)	*उनवान (शीर्षक)*	*पहला बोल*
(१)	वसन्त ज़बानी पुखराज परी की	रात आई वसन्त अजब बहार
(२)	होली ,, ,, ,,	पालागी कर जोरी
(३)	ठुमरी जबानी नीलम परी की	राजा जी करो मोसे बतियाँ रे
(४)	होली ,, ,, ,,	कान्हा को समझात न कोई
(५)	ठुमरी जबानी लाल परी की	मोरे जोबन में लाल जरे
(६)	सावन ,, ,,	पिया बिन घटा नहि भावे
(७)	होली ,, ,, ,,	लाज रखले स्याम हमारी
(८)	ठुमरी ज़बानी सब्ज परी की	मोरी अँखियां फरकन लागीं
(९)	,, ,, ,, ,,	सुधि लागि रही तोरी आठ पहर
(१०)	ठुमरी ज़बानी जोगन की	मैं तो शहजादे को ढूँढन चलियाँ
(११)	,, ,, ,, ,,	कहाँ पाऊँ कहाँ पाऊँ यार रे मैं
(१२)	,, ,, ,, ,,	कहाँ गै गुइयाँ शहजादा जानी प्यारा
(१३)	,, ,, ,, ,,	जर जाय गुइयाँ ऐसी होरी

'इन्दर सभा' की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन सबसे पहिले रोज़न नामक एक जर्मन विद्वान ने किया। रोज़न के अनुसार इन्दर सभा की गज़लें तो लखनऊ की जबान में हैं। लखनऊ की इस उर्दू ज़बान पर फारसी का बहुत अधिक प्रभाव है। 'इन्दर सभा' के गीतों में दो अलग-अलग बोलियाँ दिखायी देती हैं। एक वह है जो होलियों में मिलती है। वह ठेठ बोली कहलाती है। ठेठ से यहाँ मतलब शुद्ध हिन्दी से है जिसमें अरबी, फारसी या संस्कृत की मिलावट न हो। इसी को ब्रज भाषा समझा गया। रोजन इसकी जाँच करने मथुरा वृन्दावन गया तो वहाँ पता चला कि यह वहाँ की भाषा नहीं है बल्कि यह एक अलग ही भाषा है जो इस प्रकार के गीतों के लिए

बनी थी। ऊपर की तालिका में इसी भाषा के गीतों के पहिले बोल दे दिए गए हैं।

'इन्दर सभा' में एक और बोली मिलती है जिसे रोज़न के अनुसार 'रेख्ती या ज़नानी बोली' कहना चाहिए। उदाहरण के लिए रोज़न ने यह वाक्य लिया है "आई हूँ सभा में छोड़ के घर।" ठेठ यानी ब्रज भाषा और रेख्ती में भेद बताते हुए रोजन ने कहा है "ठेठ या खालिस ब्रज एक सीधी-सादी हिन्दू अकायद वाली देहाती लड़की की ज़बान है। 'रेख्ती' मुसलमान शहरी औरतों की जबान है और उर्दू से सिर्फ इसी कदर मुख्तलिफ है कि सारी ग़ैर हिन्दी आवाजें अपनी-अपनी करीबतरीन हिन्दी आवाजों में तबदील हो गयी हैं। जो फारसी लफ्ज़ ब्रज में आ जाते हैं उनकी आवाजों का भी यही हाल है।"

रोजन ने एक मौलिक बात की ओर सबका ध्यान दिलाया है। उसका कथन है कि जिस प्रकार सस्कृत नाटकों में बड़े लोग, राजा पुरोहित आदि सस्कृत बोलते हैं और साधारण लोग प्राकृत, ठीक उसी प्रकार 'इन्दर सभा' में भी दो प्रकार की भाषाएँ बोली जाती हैं। मगर 'इन्दर सभा' की भाषाओं का दोरगापन सस्कृत के नाटकों से भिन्न है। 'इन्दर सभा' की अस्ल भाषा उर्दू है। उसमें ठेठ (ब्रज) और 'रेख्ती' के टुकड़े जोड़ दिए गए हैं।

प्रोफेसर रिजवी रोजन की सभी बातों को नहीं मानते। आपका कथन है कि "सब हिन्दी गीतों को जबान यकसाँ है।" बाज़ गीतों में उर्दू का भी असर पाया जाता है। इन्दर सभा में तेरह अनियमित गज़लों के अतिरिक्त अठारह बाकायदा गजलें हैं। इनके अलावा दो चौबोले, पाच छन्द, पन्द्रह गीत भी हैं। चौबोलों में से एक में पाच और दूसरे मे सात शेर हैं। "ये दोनो चौबोले मसनवी की सूरत में और हिन्दी दोहों की बहर मे हैं। छन्द हिन्दी के औजान में तीन-तीन शेरों की नजमें हैं। गीतों मे आठ ठुमरिया, चार होलियाँ, एक सावन, एक बसन्त और एक फाग की चीज है। गजलों और गजल-

नुमां मजमूनों की ज़बान लखनऊ की टकसाली उर्दू है, गुफ़्तगूओं और मुकालमों की ज़बान भी उर्दू है। इन्दर, परियां, देव और गुलफाम सभी फ़सीह उर्दू में बात चीत करते हैं। चौबोलों की ज़बान भी उर्दू है। हाँ इनमें 'रे' का प्रयोग (सुनो रे मेरे देवरे) उर्दू का नहीं है। छन्दों की ज़बान भी उर्दू है। छन्दों के पन्द्रह शेरों में चार लफ्ज ऐसे आ गए हैं (चेरी, सुरूप, सुभाव और करतार) जो उर्दू के नहीं है। पन्द्रह गीतों में सिर्फ एक उर्दू में है। पोखराज परी जो ठुमरी गाती है उस पर उर्दू का प्रभाव है। बाकी तेरह गीत अवध के देहात की बोली में है।"

इन्दर सभा के स्रोत

'इन्दर सभा' का नायक इन्द्र है। उसके हुक्मों को देव बजा लाता है। सभा में परियाँ नाचती गाती हैं। एक परी गुलफाम नामक इन्सान से प्रेम करने लगती है। इन्दर को जब यह मालूम होता है तो वह उस परी के पंख नोचवा लेता है और गुलफाम को कुयें में डलवा देता है। परी जोगन बन जाती है और गीत गाती फिरती है। उसकी प्रशसा राजा इन्दर के सामने की जाती है। गाने के लिए जोगन दरबार में हाजिर की जाती है। वह कहती है कि यदि उसके गाने से राजा प्रसन्न हो जायँ तो उसको वह मिले जिसकी वह माँग करे। राजा मान लेता है। और, अन्त में वह परी गुलफाम को बचा लेती है। यह सरल सा कथानक 'इन्दर सभा' का है जो नाना प्रकार के गीतों के ताने बाने में बुनकर रंगमंच पर खेला जाता था।

'इन्दर सभा' में इन्दर, देव और परियों का ही चर्चा है। इन्द्र के सम्बन्ध में, उनकी शक्ति, ऐश्वर्य, संगीत प्रेम, शृंगारिकता आदि के सम्बन्ध में जो धारणाऍं जन साधारण मे थीं उन्हीं के आधार पर 'अमानत ने' एक अत्यन्त शक्तिशाली राजा के रूप मे उनको चित्रित किया।

देव की कल्पना शुद्ध भारतीय नहीं है। गन्धर्वों को इस देव की कल्पना का आधार मानना बहुत सही नहीं है। इसका निर्माण कुछ भारतीय कुछ फारसी तत्वों को मिलाकर हुआ है। परियों को अप्सराओं का रूपान्तर अवश्य मान सकते हैं। अप्सराएँ इन्द्र के दरबार की शोभा बढ़ाया करती थीं और परियाँ राजा इन्दर के दरबार की। गुलफ़ाम साधारण इन्सान है। इन्द्रासन, अमर नगर, अमरावती, इन्द्रपुरी आदि का चर्चा इस बात का प्रमाण है कि 'इन्दर सभा' की रचना कल्पित 'इन्द्र सभा' के आधार पर ही की गयी थी।

'इन्दर सभा' में कुछ स्थानों का चर्चा है जैसे सिंहल द्वीप, परिस्तान, आसमान, अख्तर नगर, हिन्दुस्तान और जमीन। सारी घटनाएँ इन्हीं स्थानों में होती हैं। 'मेरा सिंहल दीप में मुल्कों मुल्कों राज' कहकर स्वयं इन्दर ने बता दिया कि इन्द्रलोक कहाँ है। जिस नगर में वह राज करता है उसका नाम इन्दरपुरी है और जिस सिंहासन पर वह बैठकर राज करता है उसका नाम इन्द्रासन है। जिस सभा में वह दरबार करता है उसका नाम 'इन्दर सभा' है। यह तो सभी जानते हैं कि सिंहल द्वीप की कल्पना 'अमानत' से बहुत पहिले ही रही है। मलिक मुहम्मद जायसी और अन्य सूफियों के यहाँ भी इस कल्पित देश को बड़ी मान्यता मिली थी। 'अमानत' ने अपने इन्द्रलोक को इसी सिंहल द्वीप पर साकार किया। इसी स्थान को अमरावती या अमर नगर भी कहते हैं क्योंकि धारणा यह रही है कि यह मृत्युलोक से अलग कोई ऐसा स्थान है जहाँ के लोग कभी मरते नहीं। 'अमानत' की इस 'इन्दर सभा' में परिस्तान, इन्द्रपुरी, अमरावती और अमर नगर को पर्यायवाची माना गया है। 'इन्दर सभा' नाटक की लगभग सारी घटनाएँ इसी परिस्तान में घटती हैं। आसमान या काफ वह स्थान है जहाँ परियों का घर था। लाल परी राजा इन्दर से कहती है—

बैठी थी मैं क़ाफ़ में चूड़ा पहिने लाल।
यहाँ बुलाकर आपने बढ़ा दिया इक़बाल॥

इसी तरह सब्ज़ परी गुलफाम से कहती है—

रहती हूँ मैं काफ़ में सब्ज़ परी है नाम।
राजा इन्दर के यहाँ नाच है मेरा काम॥

यह काफ इन्सानी दुनिया से अलग और ऊपर है। इसे धरती के मुक़ाबिले में आसमान कह सकते हैं। राजकुमार गुलफाम का महल अख्तर नगर में था। यह अख्तर नगर और हिन्दुस्तान एक ही चीज है। सब्ज परी ने देव को राजकुमार गुलफाम का पता यों बताया था —

जा तू सिंहल दीप से अख़्तर नगर में हां।
सोता है एक माहरु, लाल महल पर वां॥

देव राजकुमार को सोते हुए उठा लाता है और सब्ज परी से कहता है—

लाया शहज़ादे को मैं जाकर हिन्दुस्तान।
तू अपने माशूक़ को सब्ज़ परी पहिचान॥

'इन्दर सभा' के लेखक को सदा यह ध्यान रहा कि यद्यपि उसका नाटक सिंहल द्वीप से सम्बन्धित है जहाँ मानवों का पहुँचना असम्भव है, फिर भी उसे उस नाटक का रंगमच तो धरती ही पर बनाना था और उसका प्रदर्शन भी इन्सानों के सामने ही करना था। इस बात को वह बड़ी खूबसूरती के साथ सम्हालता है। इन्दर के आगमन के अवसर पर वह कहता है—

फ़रोगे हुस्न से आंखों को अब करो रोशन।
ज़मीं पे मेहरे मुनव्वर की आमद आमद है॥
ज़मीं पर आएंगी राजा के साथ अब परियां।
सितारों की महो अनवर को आमद आमद है॥

फिर पोखराज परी के आगमन पर कहता है—

जिसका साया न कभी ख़्वाब में देखा होगा।
आदमीज़ादों में वह आज परी आती है॥

नीलम परी जब आती है तो फिर आवाज आती है—

ज़मीं पर वह परी आती है उस्ताद!
जवाहर से जो रंगत में खरी है।

और 'इन्दर सभा' में नीलम परी कहती है—

उस्ताद ने ज़मीं पे बुलाकर दिया है नाम।
क्योंकर रहे न मेरा दिमाग़ आसमान पर?

इस प्रकार 'अमानत' ने 'इन्दर सभा' को स्वाभाविकता और व्यवहारिकता का रग दे देने का सफल प्रयास किया। 'अमानत' को सदा यह ध्यान रहा कि उनके नाटक को देखने वाली जनता के दिमाग पर किसी प्रकार का जोर न पड़ने पावे। इसलिए वह रगमच पर अभिनय करने वाले पात्रों से ही स्थान, समय आदि का परिचय दिलवा दिया करते थे। ये पात्र अपने कार्य-व्यापार तथा बातचीत और गीतों के माध्यम से सदा यह बता दिया करते थे कि नाटक 'इन्दर-सभा' का है जहां देव, परिया आदि तो रह सकती हैं मगर जहां इन्सान और मृत्यु लोक निवासी नहीं पहुच सकते।

इन्दर सभा का रंगमच

'इन्दर सभा' का रंगमच बहुत सीधा और सरल होता था। इसमें बहुत बड़ी तैयारी की जरूरत नहीं होती थी। मच किसी मैदान या बाग में या बड़े सहन में बन जाता था। सामने केवल एक परदा रहता था जिसे लालरग में रग लिया जाता था। दृश्य बदलने का प्रश्न नहीं था। एक बार मच पर आ जाने के बाद राजा इन्दर वहीं अन्त तक जमा रहता था। विभिन्न दृश्यो की सूचना पर्दे बदलकर नहीं, गीतो के माध्यम से दे दी जाती थी। यह ख्याल गलत है कि 'इन्दर सभा' खेलने के लिए क़ैसर बाग में विशाल रगमच बनवाया

गया था। यदि 'इन्दर सभा' के लिए किसी विशाल रंगमच की आवश्यकता रही होती तो वह इतना लोकप्रिय न होता और गाव गाव तक उसकी पहुँच न हो पाती। रंगमच की सरलता और टेक-नीक के सादेपन के कारण 'इन्दर सभा' का अभिनय अत्यन्त सरल हो गया और जो भी चाहता, थोडी तैयारी कर उसे आसानी के साथ खेल लेता। 'इन्दर सभा' का रंगमच सच्चे अर्थ में लोक रंगमंच था। इसी लोक रग मच पर इन्द्र, उर्वशी और मेनका आदि अप्सराओं को स्वर्गलोक तथा अमरपुरी छोड़कर इन्दर तथा पोखराज परी, लालपरी आदि बनकर अभिनय करना पड़ता था और इस अभिनय से जनता विभोर हो जाया करती थी।

अभिनय का आरम्भ कविता पाठ से होता था। इस कविता से ही नाटक की प्रकृति, रगमच के शिष्टाचार आदि पर प्रकाश पड़ता है—

सभा में दोस्तो ! इन्दर की आमद आमद है।
परी जमालो के अफ़्सर की आमद आमद है।
दो जानू बैठो क़रीने के साथ महफ़िल में।
परी के देव के लश्कर की आमद आमद है।
ग़ज़ब का गाना है और नाच है क़यामत का।
बहारे फ़ित्नए महशर की आमद आमद है।

आरम्भिक कविता के बाद राजा इन्दर अपना परिचय स्वय देते हुए रगमच पर उपस्थित होते हैं—

राजा हूँ मैं क़ौम का और इन्दर मेरा नाम है।
बिन परियों की दीद के मुझे नहीं आराम है।
सुनो रे मेरे देव रे ! दिल को नहीं क़रार।
जल्दी मेरे वास्ते सभा करो तैयार।

इस प्रकार अपनी इच्छा प्रकट कर इन्दर परियों के आगमन के लिए आदेश देते हैं। वे आवश्यक वस्तुओं, नौकरों-चाकरों, नाटक

का समय और कार्य व्यापार के ढग की सूचना स्वय अपने मुँह से दे देते हैं। उसके बाद पुखराज परी आती है। वह भी अपना परिचय देती है और नृत्य तथा गायन का कार्यक्रम आरम्भ हो जाता है। वह ठुमरी, वसन्त, होली, गजल आदि मिलाकर छः गाने गाती है।

'इन्दर सभा' की कथा वस्तु का विकास इसी प्रकार होता था। एक पात्र के हटने पर दूसरा पात्र सामने आ जाता। 'इन्दर सभा' का सारा कथानक इसी प्रकार लिखा गया है।

'इन्दर सभा' का स्वागत हिन्दी प्रेमियों के बीच अच्छा न हुआ। नीलम परी, पोखराज परी आदि शब्द उन्हें बहुत खटके। उन्हें पूरे नाटक मे एक उच्छृखलता, एक सस्तापन नजर आया, जिसे वे वर्दाश्त न कर सकते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'इन्दर सभा' के जवाव में 'वन्दर सभा' लिखी जो हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में, खण्ड ६, सख्या १३ (जुलाई सन् १८७९ ई०) में प्रकाशित हुई। यहाँ हम उसे पाठको की जानकारी के लिये प्रकाशित कर रहे हैं।

बन्दर सभा

(सं० १९३६)

(इन्दर सभा उरदू में एक प्रकार का नाटक है या नाटकाभास है और यह वन्दर सभा उसका भी आभास है)

[आना राजा वन्दर का वीच सभा के]

सभा में दोस्तो बन्दर की आमद आमद है।
गधे औ फूलों के अफ़सर की आमद आमद है॥
मरे जो घोडे तो गदहा यां बादशाह बना।
उसी मसीह के पैकर की आमद आमद है॥
वो मोटा तन व थुंदला मूं व कुच्ची आँख।
वो मोटे ओंठ मुछन्दर की आमद आमद है॥
है खर्च खर्च तो आमद नहीं ख़र मुहरे की
उसी विचारे नए ख़र की आमद आमद है॥१॥

[चौबोले ज़बानी राजा अन्दर के बीच अहवाल अपने के]

पाजो हूँ मैं कौम का वन्दर मेरा नाम।
बिन फुजूल कूदे फिरे मुझे नहीं आराम॥
सुनो रे मेरे देव रे दिल को नहीं क़रार।
जल्दी मेरे वास्ते सभा करो तैयार॥
लाओ जन्नों को मेरे जल्दी जाकर हाँ।
सिर मूड़ें ग़ारत करें मुजरा करें यहाँ॥२॥

[आना शुतुरमुर्ग परी का बीच सभा के]

आज महफिल में शुतुरमुर्ग परी आती है।
गोया महमिल से व लैली उतरी आती है॥
तेल औ पानी से पट्टी है संवारी सिर पर।
मुँह पै मांझा दिये जल्लादो जरी आती है॥
झूठे पट्ठे की है मुवाफ़ पड़ी चोटी में।
देखते ही जिसे आँखों मे तरी आती है॥
पान भी खाया है मिस्सी भी जमाई हैगी।
हाथ में पायँचा लेकर निखरी आती है॥
मार सकते हैं परिन्दे भी नहीं पर जिस तक।
चिड़िया वाले के यहाँ अब वो परी आती है॥
जाते ही लूट लूँ क्या चीज खसोटूँ क्या शै।
बस इसी फिक्र में वह सोच भरी आती है॥३॥

गज़ल ज़बानी शुतुरमुर्ग परी हसब हाल अपने के)

गाती हूँ मैं औ नाच सदा काम है मेरा।
ए लोगो शुतुरमुर्ग परी नाम है मेरा॥
फन्दे से मेरे कोई निकलने नहीं पाता।
इस गुलशने आलम में बिछा दाम है मेरा॥
दो चार टके हो पै कभी रात गँवा दूँ।
क़ारूँ का ख़ज़ाना कभी इनआम है मेरा॥

पहले जो मिले कोई तो जी उसका लुभाना।
बस कार यही तो सहरो शाम है मेरा॥
शुरफ़ा व रुज़ला एक हैं दरबार मे मेरे।
कुछ खास नहीं फैज़ तो इक आम है मेरा॥
बन जाएँ चुगद तब तो उसे मूड़ ही लेना।
ख़ाली हों तो कर देना धता काम है मेरा॥
ज़र मज़हबो मिल्लत मेरा बन्दी हूँ मैं ज़र की।
ज़र ही मेरा अल्लाह है ज़र राम है मेरा॥ ४॥

(छन्द जबानी शुतुरमुर्ग परी के)

राजा बन्दर देस में रहे इलाही शाद।
जो मुझ सी नाचीज़ को किया सभा में याद॥
किया सभा में याद मुझे राजा ने आज।
दौलत माल ख़ज़ाने की मैं हूँ मुहताज॥
रुपया मिलना चाहिये तख़्त न मुझको ताज।
जग में बात उस्ताद की बनी रहे महराज॥ ५॥

(ठुमरी ज़बानी शुतुरमुर्ग परी के)

आई हूँ मैं सभा में छोड़ के घर।
लेना है मुझे इनआम में ज़र॥
दुनिया में है जो कुछ सब ज़र है।
बिन ज़र के आदमी बन्दर है॥
बन्दर ज़र हो तो इन्दर है।
ज़र ही के लिये कसबो हुनर है॥ ६॥

(गज़ल शुतुरमुर्ग परी की बहार के मौसिम में)

आमद से बसन्तों के है गुलज़ार बसंती।
है फर्श बसंती दरो दीवार बसंती॥
आंखों में हिमाक़त का कँवल जब से खिला है।

आते हैं नज़र कूचओ बाज़ार बसन्ती ॥
अफ़्यूं मदक चरस के व चण्डू की बदौलत ।
यारों के सदा रहते हैं ख़ुसार बसन्ती ॥
दे जाम मये गुल के मये ज़ाफ़रान के ।
दो चार गुलाबी हों तो दो चार बसन्ती ॥
तहवील जो खाली हो तो कुछ कर्ज़ मँगा लो ।
जोड़ा हो परी जान का तय्यार बसन्ती ॥७॥

[होली जवानी शुतुरमुर्ग परी के]

पा लागों कर जोरी भली कीनी तुम होरी ।
फाग खेलि बहु रंग उड़ायो और धूर भरि झोरी ॥
घूँघर करी भली हिलि मिलि कै अंधाधुंध मचोरी ।
न सूझत कछु चहुँ ओरी ॥
बने दीवारी के बबुआ घर लाइ भलीबिधि होरी ।
लगी सलोनों हाथ धरहु अब दसमी चैन करो री ॥
सबै तेहवार भयोरी ॥

(फिर कभी)

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने आक्रोश और दृढ़ता के साथ 'इन्दर सभा' का विरोध और भण्डाफोड़ किया क्योंकि उन्हें लगा कि 'इन्दर सभा' के द्वारा प्राचीन और परम्परागत आस्थाओं को ठेस पहुँचाई गयी है, उनका मजाक उड़ाया गया है। अधिक निकट से विश्लेषण करने पर पता चलता है कि उस समय की सामाजिक स्थिति ऐसी थी कि 'इन्दर सभा' से अधिक अच्छे साहित्य की अपेक्षा उस क्षेत्र से किया ही नहीं जा सकता था जहाँ 'इन्दर सभा' का जन्म हुआ। जनसाधारण की मानसिक स्थिति और सांस्कृतिक चेतना का यह हाल था कि अनेक बुराइयों के होते हुये भी 'इन्दर सभा' की लोकप्रियता बहुत बढ़ गयी। इसी से अनुप्रेरित होकर मदारीलाल ने एक और 'इन्दर सभा' लिखी थी। मदारी लाल की 'इन्दर सभा' में नाटकीयता के

गुण 'अमानत' की 'इन्दर सभा' से कहीं ज्यादा थे। इसमें चरित्र चित्रण अधिक स्वाभाविक हुआ था। 'इन्दर सभा' के एक वर्ष पीछे 'नाटक छैल बटाऊ, मोहना रानी' का लिखा गया। इस प्रकार रगमचीय नाटकों के लिए इस गीति नाट्य से उर्वर भूमि तैयार हुई।

कृष्ण लीला, रामलीला, रासलीला, जात्रा, कीर्तनिया नाटक, स्वाग, इन्दर सभा आदि सारी नाट्य-प्रणालियाँ हिन्दी रगमंच के उदय की भूमिका के रूप में मानी जा सकती हैं। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को सारा सस्कृत नाट्य साहित्य और रंगमच अथवा उनके पहिले का हिन्दी नाट्य साहित्य ही उत्तराधिकार में नहीं मिला था, बल्कि हिन्दी रगमंच की भूमिका के रूप में उपर्युक्त नाटकीय रूप और स्वांग तथा गीति नाट्य (आपेरा) भी प्राप्त हुए थे। भारतेन्दु जी ने इन सब परम्पराओं का अध्ययन किया और उनसे लाभ उठाया। उन्होंने हिन्दी नाट्य साहित्य और रङ्गमच में जो नया युग आरम्भ किया उसमें उन्हें इन सारी प्रणालियों का प्रयोग करने और उनसे बल प्राप्त करने में सहायता मिली थी।

ग्यारहवा अध्याय

मैथिल नाटक और रंगमंच

मैथिल नाट्य साहित्य का अध्ययन अत्यन्त रोचक है। परम्परागत मैथिल नाटकों का सस्कृत नाटकों से घनिष्ट सम्बन्ध था और दोनों में अत्यधिक समानता भी थी। उनमें वक्तृताएँ सस्कृत एव प्राकृत में रहा करती थीं। नाटक के बीच बीच में कवितायें रहा करती थीं। साथ ही मैथिल गीत भी यहाँ वहाँ छिटके रहते थे। अक्सर ये गीत पहिले के सस्कृत श्लोकों के अथवा बाद के सस्कृत श्लोकों के अनुवाद हुआ करते थे। उमापति का 'पारिजात हरण' इसका उदाहरण है।

दूसरे प्रकार के मैथिल नाटक वे थे जिनमें आदि से अन्त तक केवल मैथिल गीत और पद्यांश रहा करते थे। उनमें सस्कृत और प्राकृत के अश बहुत कम रहा करते थे। उदाहरण के लिए रत्नपाणि के 'उषा हरण' और जगज्ज्योतिर्मल्ल के 'महाभारत' में हम यही विशेषता पाते हैं।

एक तीसरे प्रकार के नाटक वे थे जो आसाम में लिखे गये थे। ये नाटक परम्परागत मैथिल नाटकों से सर्वथा भिन्न थे। इनमें गद्यांश अधिक होता था। इन नाटको में दशरूपको के नियमों का पालन नहीं होता था।

आधुनिक मैथिल नाटको की रचना में सस्कृत तथा अग्रेजी नाटकों को आदर्श माना गया है। इनमें मैथिल के अलावा और किसी भाषा को स्थान नहीं दिया गया। आरम्भ में गीतों को स्थान दिया गया। धीरे-धीरे गीतों की सख्या भी कम होने लगी। इन गीतों

का काम होना नाटकों के निर्माण में आधुनिकतम नाट्य-आदर्शों को स्वीकार करने का प्रमाण है।

मैथिल नाटकों का विभाजन इस प्रकार कर लेने के बाद उनका अध्ययन और मूल्यांकन सरल हो जायेगा। इसके अतिरिक्त मैथिल नाटकों का निम्नांकित विभाजन भी हो सकता है—नैपाली-मैथिल नाटक, कीर्तनिया मैथिल नाटक तथा अकिया नाटक। नेपाली-मैथिल नाटकों का उद्‍भव और विकास उस समय हुआ जब संस्कृत नाटकों में मैथिल गीतों का प्रवेश धीरे-धीरे होने लगा था। ये नाटक गीति नाट्यों की श्रेणी में आते थे जिनमें मैथिल गीतों की बहुतायत रहती थी। इनमें संस्कृत अथवा प्राकृत के गीत नहीं होते थे। इन नाटकों की रचना में संस्कृत नाटकों के रूप विधान का ध्यान नहीं रखा जाता था।

कीर्तनिया मैथिल नाटकों में ईश्वर नाम कीर्तन को आधार माना जाता जाता था और इनमें आदि से अन्त तक गीतों की भरमार रहती थी। इनमें मैथिल भाषा का प्रयोग अधिकाधिक मात्रा में होता था।

अकिया नाटकों का आधार धार्मिक होता था। इनका प्रयोजन भी धार्मिक होता था। ये नाटक एक विशेष प्रकार के इसलिये होते थे क्योंकि इनमें सामाजिक चेतना नहीं धार्मिक चेतना का ही प्रमाण अधिक मिलता है।

मैथिल नाटकों के उदभव और विकास का अध्ययन करते समय हमें उपर्युक्त सारी बातों को ध्यान में रखना पड़ेगा। संस्कृत नाटकों के अन्त और भाषा नाटकों के जन्म की प्रक्रिया बड़ी रोचक रही है। यह विकास धीरे-धीरे और क्रमश हुआ। मैथिल नाटको के विकास पर नेपाली-मैथिल नाटको का प्रभाव गहरा रहा है। इस विकास क्रम को जानने के लिये जात्राओं (बंगाल), अकिया नाटको (आसाम) और कीर्तनिया नाटकों (मिथिला) का अध्ययन

परमावश्यक है। इन नाटकों में कृष्ण की प्रेम लीला को ही मुख्य आधार माना गया था जो कि वैष्णव धर्म के विस्तार का नतीजा था। इनमें से मैथिल की एक विशेषता यह थी कि कीर्तनिया नाटकों के फलस्वरूप मैथिल रगमच का विकास सहज ही हुआ और एक प्रकार से उसमें नवजीवन आया। कीर्तनिया नाटकों में सबसे अधिक ध्यान सगीत नृत्य आदि पर दिया गया जिससे उनकी लोकप्रियता बहुत अधिक बढ़ गयी। काव्यात्मक सौन्दर्य, पात्रों का मनोवैज्ञानिक विकास तथा क्रिया कलापों पर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना इस बात पर कि ये नाटक लोक प्रिय और मनोरजनकारी कैसे हों। साधारण नाटकों में कथानक की नवीनता पर ध्यान न देने से पुरानी कहानियों की ही पुनरावृत्ति होती रही। फलतः अक्सर नाटककारों ने एक ही कथानक को बार-बार अपने नाटकों में रखा। इन मैथिल नाटकों में अधिकतर राज समाज के लोग ही रुचि लेते थे। परन्तु कीर्तनिया नाटकों को बच्चे-बूढे, अमीर-गरीब, राजा-प्रजा, स्त्री-पुरुष सभी देखते और पसन्द करते थे। इन कीर्तनया नाटकों के पहिले ही मैथिल नाटको का विकास होने लगा। मिथिला के अनेक पडितो और आचार्यों ने संस्कृत में नाटक रचे थे। पक्षधर मिश्र का 'प्रसन्नराघव' अत्यन्त प्रसिद्ध है।

विद्यापति प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने संस्कृत नाटकों में मैथिल भाषा का प्रयोग आरम्भ किया। उनके बाद इस परम्परा को नेपाल स्थित मैथिल नाटककारों ने अपनाया। नेपाल मे लिखे गये नाटकों में मैथिल भाषा का प्रयोग हुआ। इसके बहुत सारे उदाहरण मिलते हैं। मिथिला और नेपाल के राजघरानों का सम्बन्ध पुराना था। दोनों क्षेत्रों मे गहरे रिश्ते थे, लोग सदैव यहाँ से वहाँ आते जाते थे। मिथिला के अनेक विद्वान और पंडित नेपाल आमंत्रित किये गये थे। सम्राट जयस्थितिमल्ल ने कीर्तिनाथ उपाध्याय, रघुनाथ झा, श्रीनाथ भट्ट, महिनाथ भट्ट और रमानाथ झा को शासन और व्यवस्था

कार्यों में रगमच पर प्रस्तुत हो जाते थे। वृन्दवादन का पूरा प्रबन्ध रहता था। अभिनेता अच्छे संगीतज्ञ होते थे।

ये नाटक प्रायः दिन में ही खेले जाते थे। बन्द हाल में नहीं, खुले मैदान में रगमंच बनते थे। जिस दिन जितना अभिनय होता था उतने ही अंक में पूरे नाटक को बांट दिया जाता था। ये नाटक कई दिनों में पूरे होते थे।

नाटककार

भाटगांव में

भटगाव के शासक ने यक्षमल्ल की मृत्यु (१४७४) के उपरान्त सबसे अधिक सख्या में नाटककारों को आश्रय और प्रोत्साहन दिया। विश्वमल्ल के शासनकाल (१५३३) में प्रथम मैथिल नाटक 'विद्या विलाप' लिखा गया। इसमें सूत्रधार कहता है—

"श्रीमन् श्री भक्तपत्तन नगरी सकल गुणी जन शोभित, तार महिमाशुन, श्री श्री विश्वमल्ल नृपती श्री श्री जय विश्वमल्ल देवस्य सभा के महिमाशुन . श्री भक्तपत्तन नगरे विद्याविलाप नाटक प्रवर्त हैलो, ता देखि निमित्त आसे आवो।"

इस नाटक की पूरी पाण्डुलिपि नहीं मिली है। पर विद्याविलाप की कथा पर आधारित यह प्राचीनतम नाटक है। त्रिभुवन मल्ल के शासन काल में एक अपूर्ण मैथिल नाटक का पता चला है जिसका सम्बन्ध कृष्ण चरित्र से है। इसमें दो कवियों रामचन्द्र तथा वीर नारायण का भी चर्चा आया है। इस नाटक पर जयदेव और विद्यापति का प्रभाव स्पष्ट है। इसके बाद नेपाल में नाटक रचना और नाट्याभिनयों की परम्परा अधिक पुष्ट और तेज हो गई। त्रिभुवन मल्ल के उत्तराधिकारी जगज्ज्योतिर्मल्ल विद्या और संगीत के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने पद्मश्री के 'नागर सर्वस्व', 'श्लोक सार संग्रह', 'सगीत सार सग्रह', 'सगीत भास्कर' और 'सगीत चन्द्र' पर भाष्य

लिखवाया। उन्होंने 'सर्वोदय दीपिका' पर नरपति का भाष्य तैयार करवाया। उनके मैथिल नाटकों में सबसे पहिला 'मुदित कुवलयाश्व' (१६२८) है। इसके बाद 'हर गौरि विवाह' (१६२९) और 'कुञ्ज-बिहारी नाटक' लिखे गये। 'कुञ्ज बिहारी नाटक' में राधा, गोपिकाओं और कृष्ण के चरित्र का अत्यन्त सुन्दर नाटकीयकरण हुआ है। डाक्टर बागची ने इसका सम्पादन कर इसे प्रकाशित भी किया है। नाटक का सूत्रधार नाटक का परिचय यों देता है—

कुञ्ज बिहार हरि आज रे।
गोपा सबे हरसित आज रे।

राधा और कृष्ण रंग मच पर इस प्रकार प्रस्तुत किये जाते हैं—

जाहि वहि जमुना तीर, शीतल सुरभि समीर।
नवदले तरुभरे सोह, मधुकर धनि सब मोह।
ताहि बिंदिराबन मांझ, हमर हृदय गुण बांझ।
तहा करिय विलास, जाञ्ञा पहु पुरावए आस।
नृप जगज्ज्योतिमल्ल वाणी, मोर गति एके भवानी।

जगज्ज्योतिमल्लके पौत्र जगत प्रकाश मल्ल ने अपने पिता की परम्परा कायम रखी और मैथिल साहित्य को अत्यन्त समृद्ध बनाया। नाटकों के अतिरिक्त अस्फुट भक्ति परक गीतों की रचना भी वह किया करते थे। नेपाल वाचनालय में ६ नाटक रखे हैं जो उन्हीं के बताए जाते हैं। ये हैं 'उषाहरण', 'नलीय नाटकम्', 'पारिजातहरण', 'पार्वती हरण', 'मलयगन्धिनी' और 'मदन चरित।' नेपाल के राज गुरू हेमराज के संग्रहालय में एक तीन अंकों वाला 'रामायण नाटक' रखा हुआ है। इसके लेखक कोई कृष्णदास हैं जिन्होंने जगत प्रकाश के नाम पर इसकी रचना की। इनमें प्रयुक्त गद्यांश के नमूने देखिये—

सूत्रधार—हे प्रिये एतय आउ।

नटी—हे नाथ हमर प्रणाम। की आज्ञा करै छिअ।

सूत्रधार—हे प्रिय श्री श्री जय जगत प्रकाशमल्ल देवक ज्येष्ठ राज-कुमार श्री श्री जयजितामित्र मल्लक आज्ञा भेल अछि—

—(मदन चरित)

—हे पर्वत मूर्ति, विस्नुदास नाम वैष्णव थिकौं।
—से यथार्थ कहलो अछि।

—(मलय गन्धिनी)

इन नाटकों में गीत प्राय. साधारण और परम्परागत हैं। परन्तु कभी-कभी अत्यन्त सरस और मनोहर गीत भी मिल जाते हैं। यथा—

अथिर कलेवर कमलपातक जलतुले।
भवन कनक जन रजत आदि जप थिर नहिं रह सब जने।
सुतमित सब धन सुख दुख अथिर जानब मने।

—(मदन चरित)

सुमतिजितामित्रमल्ल भी अत्यन्त महत्वपूर्ण नाटककार थे। उनके निम्नाकित नाटक मिलते हैं—'कालीय मथनोपाख्यान', 'मदालसा हरणम्', 'जैमिनीय भरत नाटकम्', 'गोपीचन्द्र नाटकम्' 'उषाहरण', 'नवदुर्गा नाटकम्', 'भाषा नाटकम्' तथा 'भारत नाटकम्'। इनमें 'भारत नाटकम्' सबसे लम्बा है। 'गोपी चन्द्र नाटक' बगला भाषा में है। 'भाषा नाटकम्' में कुछ अश निवाड़ी भाषा में लिखे गये हैं। बाकी नाटक मैथिल मे हैं। सभी नाटकों के आरम्भ में अर्ध नारीश्वर की वन्दना की गयी है। इनकी भाषा साफ सुथरी और अत्यन्त मजी हुई होती थी। यथा—

सकल स्वरूप हर तिनिनयन, तुअ रविशशि अनलहु मूल।

—(भारत नाटक)

विमल रहय शिव सुर सरिधार, नाचत मगन शशि शेखरा।
सुमति जितामित्र कह नृप ईश, देखु सदाशिव अभयवरा।
—(मदालसा हरण)

कुवलयाश्व—प्रियशुन इन्द्र मुखी तेज तोहे मान।
तोरित अधर मधु देह रति दान।
तुअ मम सीमन्तिनी न देखल आन।
दरशने भेल मोर थाकित्ते प्राण।
—(मदालसा हरण)

सुमतिजितामित्रमल्ल के पुत्र भूपतीन्द्र मल्ल भी बहुत अच्छे साहित्यकार और लेखक थे। उनके राज्यकाल में निम्नांकित नाटक रचे और खेले गये—'माधवानल' (१७०४), 'गौरी विवाह नाटक' (१७०६), 'पशुपति प्रादुर्भाव' (१७११) गोपी चन्द्र (१७१२), उषा हरण (१७१३), 'रुक्मिणी परिणय', 'विद्या विलाप', 'महाभारत' दो अन्य नाटकों के अंश, 'कंस वध कृष्ण चरित', 'कोलासुर वधोपाख्यान', 'पद्मावती नाटक', 'जालन्धरोपख्यान', 'जैमिनीय भारत नाटक' तथा 'मनोरंजन नाटक'। इन नाटकों में से कुछ की भाषा निवाड़ी अथवा बंगला भी है। इनमें अनेक रोचक गीत हैं। गीत विविध प्रकार के हैं। यथा—

तोहे प्रभु नागर सगुण आगर, रूपे मदन सयान।
सोलह चौगुन कलाक आगर, रसिक गुणगण जान हे।
नारि अलप मति आन नाहि गति, कामे दहति शरीर।
जनम सफल कर आज पहु मोर, श्री भूपतीन्द्र भनवीर हे।

'रुक्मिणी परिणय' में एक गीत है—

जगत जलधि-तट तरि नहिं होयि।
शिवक भजन बिनु अओर न कोयि।

इन गीतों के बीच-बीच छोटे-छोटे चुभते वाक्य भी मिलते हैं, जैसे—

—हे लोके सभास्थान जायब चलु।
—हे लोके सुनु।
—(सर्वे) महाराज आज्ञा करु

—(माधवानल)

—वेद पुराण नट ने परिपूर नृप परसादे लोक बढ़ शूर।
—केशि हमरहु मने तहने चलू।

—(जालन्धरोपाख्यान)

—जे हिमालयक एक पुत्री होअ से उपाय करु।

—(गौरी विवाह)

—अहे शिष्य सकल अनेक तीर्थ देखिलों, अतः
पर ई काशीच्छाड़िया अन्यत्र कदापि जाइ।

—(गोपीचन्द्रोपाख्यान)

सूत्रधार नटी से—

—हे प्रिय एतय आउ।
—हे इन्द्र त्वरित विजय करु।

—(कोलासुरबधोपाख्यान)

उग्र—हे लोके एहि प्रासाद मनाएक विश्राम करब।
सर्वे—महाराज अवश्य।

—(कंसवध कृष्णचरित्र)

इन नाटकों के अतिरिक्त 'महाभारत' और 'विद्याविलाप' जो कि बंगीय साहित्य परिषद् की ओर से प्रकाशित भी हो चुके हैं, अत्यन्त महत्वपूर्ण नाटक रहे हैं। महाभारत (१७०२) २३ अकों में विभाजित है। इन अकों में महाभारत की प्रायः सभी महत्वपूर्ण घटनायें ले ली गयी हैं। व्यास और संजय को भी रंगमंच पर आना पड़ता है। पात्रों के क्रिया कलाप का पता गीतों से चल जाता है। 'महाभारत' के सातवें अक के खाण्डवदाह प्रकरण को देखिये—

कृष्ण, अर्जुन, अग्नि पैसार ॥

एखने जायब, मा ।

आसावरि ॥ चौ ॥

आज खाण्डव बन कराओब दाह ।

होय न अगिनिक उच्छाह ॥मेपू १४०॥

खाण्डव दाह ॥

इन्द्रोक्ति युद्ध ॥

दाह को मा ॥

पहड़िया ॥ख॥

कओने दरपे तो हो कराओब दाह ।

तुरित करब हमे तुअ मुख स्याह ॥मेपू १४१ ॥

महाभारत के अन्त में धृतराष्ट्र इस प्रकार विलाप करते हैं—

हा भार्यि, मा ॥

भख्यारि ॥चौ॥

रात ओ तनय मोहिते जिकहु गेल, कयल नाक पयान ।

विफल भेल अवे हमर जनम ।

नहि जायि अच्छ मोर प्राण ॥

सुयोधन जियन अधार ॥ध्रु॥

वूढ़ वयस हमें पावल शोक,

हार हरि के करत त्राण ।

करम (ल) लिखल फल दुर (ल) नहि जाय,

जय भूपतीन्द्र नृप भान ॥१६ मेपू ४४६॥

'विद्याविलाप' की कथा मध्यकालीन भारत से अत्यधिक प्रचलित थी। कुमार गगानन्द सिंह ने उसकी जो कथा बतायी है उसका सारांश यह है—उज्जैन में वीरसिंह नाम का एक राजा था। उसकी लड़की का नाम विद्यावती था। वह लड़की कुशाग्र बुद्धि वाली थी। उसका प्रण था कि शास्त्रार्थ में उसे जो हरा देगा उसी से वह विवाह

करेगी। अनेक राज कुमार आये परन्तु हार कर चले गये। इसके पिता इस कारण से अत्यन्त-दुखी थे। उन्होंने राज कुमार सुन्दर को अवसर देना चाहा। राज कुमार सुन्दर पण्डित थे। उन्होंने सुन्दर के पिता कांची के सम्राट गुण सिन्धु के पास अपने राज कवि को भेजा और राज कुमार को अपने दरबार में आमन्त्रित किया। राज कुमार सुन्दर विद्या की ख्याति सुन चुके थे। मन में ही वह विद्या से प्रेम करने लगे थे। बिना किसी को बताये ही वह उज्जैन आ गये। राज कुमार राजा के मालिन के घर ठहर गये और उससे सहायता मांगी। मालिन ने विद्या और सुन्दर को मिला दिया। दोनों एक दूसरे के ऊपर आसक्त हो गये। राजा और रानी को इसका पता चल गया। एक बार सुन्दर पकड़ गया और उसे चोर की सजा दे दी गयी। उसी समय राज कवि कांची से वापिस आया। उसने राजा को बताया कि यह कैदी कांची का राज कुमार सुन्दर ही है। राजा ने उसे मुक्त कर दिया और अपनी बेटी उसे ब्याह दी।

कुमार गंगानन्द सिंह का यह कथन है कि सम्भवतः इस नाटक की कथावस्तु 'चौर पचाशिका' से ली गयी है और इसका नायक स्वयं चौरकवि है। चौरकवि ही 'चौर पचाशिका' के रचयिता माने जाते हैं। दूसरे लोगों का कथन है कि इसके लेखक मैथिल कवि वररुचि हैं। भारतचन्द्र राय ने इस कथानक के आधार पर अत्यन्त रोचक काव्य रच डाला। बंगाल में यह काव्य अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। महाराज यतीन्द्र मोहन टैगोर ने अपने विद्या सुन्दर नाटक के लिये इसी कथानक को चुना और बाद में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसी कथानक के आधार पर अपना विद्या सुन्दर नाटक लिखा।

यह नाटक सात अंकों में विभाजित है। एक दिन में एक ही अंक खेला जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण नाटक सात दिनों में समाप्त होता है। सूत्रधार बहुत देर तक रंगमंच पर नहीं रहता। ऐसे गीत अनेक हैं जिसमें मंच निर्देशन रहता है। यथा—

गुण सागरादि प्रवेश ॥

कन्हर ॥ एक ताति ॥

सागर तुल गुण गुणक निधान ।
विदित भुवन तर केओ नहि आन ॥
कलावति प्रिया संगे करब प्रवेश ।
अनुपम अच्छ मोरि रत्ना पूरि देश ॥
नृप भूपतीन्द्र मल्ल कयल बखान ।
नीति विनय गुण एहे भूप जान ॥ मेपू ६ ॥

जब गुणसागर और दूसरे लोग चले जाते हैं तो—

गुण सागरादिनिस्सार ॥...
आनन्दे जायल चलू कलावति
अपन नगर रहि करब समाज ।

नाटक में पद्यांश ही अधिक है। बीच-बीच में अनेक रोचक स्थल हैं। मालिनी और कुमार का वार्तालाप मनोहारी है। यहाँ वहाँ गीतों की भरमार है।

सम्राट रणजीत मल्ल के काल में नेपाल में अनेक नाटक लिखे गये। कृष्ण चरित (१७३८), कृष्ण कैलाश यात्रोपाख्यान (१७४७), उषाहरण (१७५४), इन्द्रजय नाटकम् (१७६४), मानहारयोपाख्यान (१७६४), कोलासुर वधोपाख्यान (१७६७), अधकासुर वधोपाख्यान (१७६८), कृष्ण चरित्रोपाख्यान, मदन चरित, रामायण नाटक, राम चरित, माधवानल काम कन्दला, नल चरित, रुक्मिणी परिचय, रुक्मिणीहरण, त्रिपुर सुर वधोपाख्यान नाटकम्, पृथूपाख्यान आदि नाटक इसी युग में लिखे गये थे। उषाहरण नाटक इष्टदेव के मन्दिर की मरम्मत के अवसर पर खेला गया। अन्धकासुरवधोपाख्यान उसी इष्टदेव का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये खेला गया। मन्दिर मे जब बड़ा घण्टा लटकाया गया तो उस समय कृष्ण चरित नाटक खेला गया। जब नीलकमल अर्पित किया गया तो उस अवसर पर

कोलासुर बधोपाख्यान नाटक खेला गया। इनमें से कृष्ण कैलास यात्रोपाख्यान, रामायण तथा रामचरित बंगला में हैं। इन नाटकों में अक्सर यहाँ वहा गद्यांश भी हैं।

माधवानल—काम कन्दला का कथानक विद्याविलाप से बहुत कुछ मिलता जुलता है। इसका आधार भी एक प्रसिद्ध लोककथा है। कुमार गगानन्द सिंह ने इसकी जो कथा बताई है उसका साराश यह है—पुष्पवती के राजा गोविन्द चन्द्र के यहाँ माधवानल नाम का ब्राह्मण लड़का काम करता था। वह अत्यन्त सुन्दर तथा सभी कलाओं का ज्ञाता था। सभी उसे बहुत प्यार करते थे। ईर्ष्या-वश दरबारियों ने राजा से कहकर उसे देश निकाला दिलवा दिया। राजा ने उसे सम्मान सहित विदा किया। माधवानल कामवती पहुँचा। महल के फाटक पर पहुँचते ही उसके कानों में नर्तकी काम कन्दला की स्वर लहरी पड़ी। उस समय मृदग गलत बज रहा था। माधवानल ने यह बात कह दी। यह सूचना दरबान ने राजा को दे दी। राजा चकित रह गया। राजा ने सम्मान सहित माधवानल को भीतर बुलाया। नृत्य चलता रहा और लोग मुग्ध होकर देखते रहे। उसी समय एक बर्रे ने काम कन्दला के सीने पर डँक मार दिया। काम कन्दला रुकी नहीं। उसने फूक कर बर्रे को उड़ा दिया। केवल माधवा-नल ने यह देख लिया। खुशी के मारे खुले दरबार में उसने काम कन्दला को उपहार में मिला सारा सामान दे दिया। इससे रुष्ट होकर राजा ने उसे उस नगर से भी निर्वासित कर दिया। मगर काम कन्दला के मन में उसका सम्मान बहुत बढ गया। वह कुछ दिनों तक काम कन्दला के घर में रहा और दोनों में प्रगाढ प्रेम हो गया। एक दूसरे के प्रति स्नेह बनाये रखने का वचन देकर अलग हुये। माधवानल चला तो रास्ते में उसे उज्जैन के शासक विक्रमादित्य का एक आदमी मिला जो कामवती एक समस्या लेकर जा रहा था। माधवानल ने समस्या हल कर दी और उज्जैन की ओर चल दिया। वहा से उसने

काम कन्दला को एक प्रेम पत्र लिखा। रात को वह महाकाल के मन्दिर में सोया। वहीं उसने काम कन्दला के लिये दो श्लोक लिखे। सवेरे सम्राट जब मन्दिर में आया तो उसने उन श्लोकों को देखा। माधवानल का उसने पता लगवाया, पर वह न मिला। दूसरे दिन फिर यही बात हुई। माधवानल का फिर पता लगाया गया और वह मिल भी गया। उसकी सच्चाई की जांच करने के लिये राजा ने कह दिया कि काम कन्दला मर गयी। यह सुनते ही माधवानल के भी प्राण पखेरू उड़ गये। काम कन्दला को जब यह सूचना दी गयी तो उसका प्राणान्त हो गया। राजा को अब सच्चाई का पता लगा। उन्होंने दोनों को फिर से जिलाया और दोनों का विवाह हो गया।

विद्याविलाप के कथानक की तरह इस नाटक का कथानक भी अत्यन्त प्रचलित है। इस पर बंगाल, नेपाल तथा मिथिला में संस्कृत तथा हिन्दी के लेखकों ने अनेक नाटक लिखे है।

काठमाण्डू में

यक्षमल्ल के बेटे रत्नमल्ल ने काठमाण्डू या कान्तिपुर में अपना राज्य स्थापित किया। उसके बेटे अमरमल्ल ने नेपाल में कला को प्रोत्साहन दिया और सात प्रकार के नृत्यों को आरम्भ किया। बाद की पीढियों ने इधर ध्यान नहीं दिया। जब कान्तिपुर और ललितपुर में इस परिवार की दो शाखाओं के शासक राज्य करने लगे तो कान्ति-पुर वाली शाखा में प्रतापमल्ल देव हुये। उनका सम्बन्ध मिथिला से था। उनकी दोनों रानियाँ रूपमती और राजमती मिथिला की थीं। इस शासक ने मिथिला से अनेक पण्डितों को बुलवाया। प्रतापमल्ल देव स्वयं कवि थे और नेपाल के पीठ देवताओं की स्तुति में उन्होंने अनेक कवितायें लिखीं। अपनी कविताओं को उन्होंने पत्थर पर खोदवाकर देवालयों में लगवाया। प्रतापमल्ल देव अपने नाम के साथ 'कवीन्द्र' शब्द जोड़ते थे। इन्हीं के दरबार में वंशमणि झा रहते

थे। इन्होंने जगज्ज्योतिर्मल्ल के दरबार में रह कर 'सगीत भास्कर' (१६३१) जैसी पुस्तक की रचना की थी। इनके लिखे 'गीता दिगम्बर नाटक' (१६५५) दरबार सग्रहालय में और 'मुदित मदालसा' नाटक राजगुरु हेमराज शर्मा के संग्रहालय में रखे हुये हैं। 'गीता दिगम्बर' नाटक की रचना राजा प्रतापमल्ल के महातुलादान के अवसर पर हुई थी। यह चार अकों का नाटक है—इसका विभाजन इस प्रकार हुआ है—अंक १ मुदित महेश, अक २ मानिनीमान भग, अक ३ विरक्तविरूपाक्ष और अंक ४ सकाम कामेश्वर। इसमें पार्वती के प्रति शिव मोह का चित्रण अत्यन्त रोचक ढग से हुआ है। इसमें भाषा के अनेक सुन्दर गीत हैं।

प्रतापमल्ल के पोत्र ने प्रबोध चन्द्रोदय के आधार पर अभिनव प्रबोध चन्द्रोदय नाटक की रचना करवाई। इसकी भाषा मैथिल है परन्तु इसमें बगला की भी मिलावट है।

ललितपुर के शासकों ने मैथिल भाषा और साहित्य को अधिक प्रोत्साहित किया। सिद्धि-नरसिंह देव के समय मे हरिश्चन्द्र नाट्यम् की रचना किसी दामोदर ने की। इसका कथानक प्रायः वही है जो चण्डकौशिक का है। सस्कृत मे केवल कुछ पद्य हैं। आगस्टस कोन रेडी के अनुसार इसकी भाषा मूलतः मैथिल ही है। हाँ, इसमें कहीं कहीं हिन्दी की मिलावट भी है। इसमें नाटकीयता के गुण आदि से अन्त तक हैं। एक दृश्य का नन्हा सा अश देखिये। हरिश्चन्द्र डोम के यहाँ जाते हैं तो वह पूछता है—

कालसेन—हम ज कालसेन थिक तोहे के थिक ?
हम जे ब्राह्मण थिक तोहे अयला की काजते ?

राजा—मोहि आयरा जे एक वहिया खोजिते आयछ।

कालसेन—तन्हिका मूल की थिकः मूल कह रमय वोनेय
तिन्ह करा मूड़ जे चारीस भार सुवर्ण, लेउ।

और, वह स्थल देखिये जब राजा हरिश्चन्द्र अपने मृत पुत्र और पत्नी को पहिचानते हैं—

राजा—अहे चोरिनी (थि) सुन...

कतयक हरिचन्द के सु अ जाति ।
कहि गेल अछल हमर किसान ।

रानी—राय हरिचन्द वेचिय हम गेर । दुन सन्ताप दुख दय गेर
एहि बेनवा के कय आस । अहे महापुरुष हमी राजा
हरिश्चन्द्रेर स्त्री मयनावती अछि । हमार अभाग्यते
परेर दासिनो हैरो अग्नि संस्कार करिवार पुत्र
निया अभी अग्नि अग्निते जायवो ।

यह नाटक अनेक दृष्टियों से उत्कृष्ट और पूर्ण है । सिद्धि नरसिंह देव के वाद श्री निवास मल्ल गद्दी पर वैठे । वह भी कला प्रेमी थे । उनके समय में एक नाटक 'ललित कुवलयाश्व' लिखा गया था । उनके प्रपौत्र विष्णु सिंह मल्ल ने उषाहरण अथवा कृष्ण चरित नामक लम्बा एकांकी नाटक लिखा । यह नाटक अभी राजगुरु हेमराज शर्मा के सग्रहालय में मौजूद है ।

बनिकपुर घराने का काल केवल सौ वर्षों का था । यहाँ के जयराम दत्त ने १४९६ ई० में 'पाण्डव विजय' नाटक लिखा । यह नाटक 'सभापर्व नाटक' के नाम से भी विख्यात है ।

नेपाल में और भी कई नाटक लिखे गये । मगर वे किस भाषा के माने जायेंगे, इसमें सन्देह है । निष्क-नाटक, सभा तरगिणी, कृष्ण चरित्र नाटक, दिक्पालोपाख्यान, भाषा सस्कृत नाटकम्, मुदावती हरण नाटक, मुद्राराक्षस कथा, मूल देव-शशि देवोपाख्यानम्, ययात्युपाख्यानम् , रत्नेश्वर प्रादुर्भावोपाख्यान नाटक, रामचरित नाटक, रामाभिषेक नाटक, रामायण-हनुमन्नाटकादि प्रकरणम्, विक्रणीय-चरित नाटकम्, वीरध्वजोपाख्यान नाटकम्, समरोहिणी-उपाख्यानम्, श्री खण्ड चरित नाटक, सुब्रह्मण्योपाख्यानम्

तथा हरगान कथा आदि लिखे। इनमें से दस बारह नाटक योरप के विभिन्न वाचनालयों-सग्रहालयो में हैं, बाकी नेपाल के दरबार सग्रहालय में रखे हैं।

इस पूरे युग में तीन प्रवृत्तियाँ काम करती रहीं। कुछ नाटक सस्कृत नाटकों के ढाचे पर लिखे गये। इनकी भाषा तो मैथिल थी परन्तु इनका रूप रंग ठीक सस्कृत नाटकों जैसा था। दूसरे नाटक जात्रा नाटकों की तरह के थे। इनमें कृष्णलीला पर बल दिया जाता था। इनमें गीतों की प्रचुरता रहती थी। कथोपकथन के अनेक अश अलिखित ही रहते थे। तीसरे नाटकों का सामाजिक आधार होता था और वे सगीत-नाट्यों से बहुत कुछ मिलते जुलते थे।

नेपाल में रंगमंच का विकास इन्हीं सब नाटकों के साथ साथ हुआ। अभिनेता और कलाकार अक्सर नाटककारों से ऐसे कथानक प्राप्त कर लेते थे जिनमें वे अपने नृत्य और संगीत का प्रयोग कर सकते। कलाकारों को 'हस्त प्रकार निरूपणम्', 'श्री हस्त मुक्तावली', 'खिसम वाद्य शिक्षा' आदि ग्रन्थों से अभिनय तथा नृत्य की शिक्षा मिलती थी। नेपाल बाहरी आक्रमणों से मुक्त था। इसलिये वहाँ कला का विकास स्वाभाविक रूप से हुआ। हमने ऊपर जिन नाटकों का चर्चा किया है, उनके अतिरिक्त नेपाल में अब भी कितनी ही पाण्डुलिपियाँ पड़ी हैं। उनका शोध करने पर नाटक साहित्य की अनेक सामग्री अब भी वहाँ प्राप्त हो सकती है।

आसाम में मैथिल नाटक

जिस प्रकार नेपाल में मैथिल नाटकों का इतना बड़ा कोश है उसी प्रकार आसाम मे भी है। आसाम के विद्वानों ने परिश्रम करके उस प्रदेश में विकसित मैथिल नाटकों का पूरा अध्ययन किया है और अब उन नाटकों के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। सोलहवीं शताब्दी मे आसाम के नाटककारों ने मैथिल भाषा को अपने

नाटकों का माध्यम चुना। ये नाटककार वैष्णव थे और उन पर शंकर देव का गहरा प्रभाव था। शंकरदेव ने विद्यापति के 'देसिल भाषा' पर पूर्ण अधिकार को देखा था। बंगाल में भी मैथिल भाषा का बड़ा मान था। उस समय संस्कृत का प्रभाव अधिक न था। आसाम और बंगाल में लोगों के हृदय में मैथिल भाषा के लिये विशेष आदर का भाव था। विद्यापति ने इस भाषा को ओज और माधुर्य प्रदान किया था। देश के विभिन्न प्रान्तों के विद्वानों और साहित्यकारों का ध्यान मैथिल भाषा की ओर आकृष्ट होने लगा था। उसी समय काम रूप के विद्वान भी मिथिला आये थे। यहाँ उन्होंने इस भाषा को सीखा और आसाम वापिस जाकर उन्होंने वैष्णव साहित्य का सृजन किया। इसी के साथ पुष्कल नाट्य साहित्य का भी सृजन हुआ। इन नाटकों को वैष्णव मत के प्रचार का साधन बनाया गया। साहित्यिक दृष्टि से इस भाषा की मधुरता, अभिव्यंजना शक्ति और ओज में भी वृद्धि हुई।

आरम्भ में इस भाषा को काव्य साहित्य के लिये प्रयुक्त किया गया। धीरे-धीरे वैष्णव आचार्यों ने धर्मोपदेशों और कथाओं में मैथिल भाषा को प्रयुक्त करना आरम्भ किया। आगे चलकर भागवत पुराण के विभिन्न कथा भागों का अभिनय आरम्भ हुआ। कृष्ण और राम से सम्बन्धित कथाएं महाभारत तथा रामायण से चुनी गयीं और उनको रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाने लगा। इस प्रकार आसाम में मैथिल नाटकों का उद्भव और विकास हुआ।

प्रमुख नाटककार

शंकरदेव आसाम के मैथिल नाटककारों में सबसे प्रथम और महान नाटककार हुये हैं। इनके कालीय दमन, राम विजय अथवा सीता स्वयम्वर, रुक्मिणी हरण, केलि गोपाल, पत्नी प्रसाद और पारि-

हुये हैं। परन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि शुद्ध मैथिल में उस समय इससे अच्छे नाटक कम ही लिखे गये थे।

'पत्नीप्रसाद' नाटक में यह प्रदर्शित किया गया है कि अनेक ब्राह्मणियाँ अपने पति के विरोध के बावजूद कृष्ण से प्रेम करती हैं। कृष्ण प्रसन्न होकर उन्हें ईश्वर दर्शन कराते हैं। इस नाटक में यह बताया गया है कि भक्ति से ही भगवत् प्राप्ति होती है; यज्ञ, हवन, पूजादिक से नहीं। जब श्रीकृष्ण ने ब्राह्मणियों को देव दर्शन कराया उसका वर्णन इस प्रकार है—

"श्रीकृष्ण देवता सबक आबिये प्रत्यक्ष देखावल। देवता सब बोल, हे ब्राह्मणी सब तोरा सबक कोन जने असूया असूया करबे नाहिं हामो देवता सब जाना। ओहि बुलि देवता सब अन्तर्ध्यान भेला।"

शकरदेव के बाद माधवदेव गुरु की गद्दी पर बैठे। इन्होंने 'अर्जुन भजन', 'भोजन व्यवहार', 'भूमि लेटोवा', 'भूषण हेरोवा', 'रास झूमर', 'कटोरा खेला', 'गोआल पाड़ा', 'छोराधरा', आदि कृष्ण की बाललीला से सम्बन्धित नाटक लिखे। 'अर्जुन भंजन' में कृष्ण ओखली से अपने को छोड़ाने का प्रयत्न करते हैं। 'छोराधरा' में कृष्ण मक्खन चुराने के लिये गोपियों को दोषी ठहराते हैं। 'भूमि लेटोवा' में कृष्ण यशोदा की उपेक्षा पर धरती में लोट लोट कर अपने बदन में मिट्टी पोत लेते हैं। 'भूमि व्यवहार' में दिखाया गया है कि किस प्रकार कृष्ण ब्रह्मा द्वारा छकाए जाते हैं और किस प्रकार भोजन करते समय सारी गायें और सारे गोप गायब हो जाते हैं। 'रास झूमर' माधव देव के अन्य नाटकों से बिल्कुल भिन्न है। इसमें सूत्रधार नहीं है। इसमें रास लीलाओं की प्रणाली के अनुसार राधा कृष्ण के गीत गाती हैं। यथा—

राधा—हे परमेश्वर! तोहारि चरणक आगुदासु। कर योढि मांगो। हामाक तो हो दान देहु। ताहारि अधर मधुपान विना हामाकु अखरि लागाय नाहि। परम सुकोमल तोहारि चरण पल्लव,

भुवन दुर्लभ। हामार स्तन युग लै .व्याधि बाढ़त, ता हे ओहि
चरणे दूर करत जानि ता हारि घरणक निज दासी भेलों।

गोपाल देव ने, माधव देव के बाद वैष्णव आन्दोलन का नेतृत्व सम्भाला। उन्होंने 'जन्म यात्रा' नामक केवल एक नाटक लिखा। इसमें कृष्ण जन्म और कृष्ण के नन्द के घर जाने का वर्णन है। इसमें कृष्ण जन्म के समय सारे देवता स्तुति करते हैं। यथा—

सूत्र—सोहि समये देवता सब श्रीकृष्णक स्तुति करिते आवल। ता देख शुनह, निरन्तरे हरि बोल, हरि बोल।

(गीत राग कानड़ा—परिताल।)

ध्रुव—आरे चतुरानन परम रङ्गे।
शंकर सुरमुनि गण सङ्गे॥

माधव देव के भान्जे रामचरण ठाकुर ने 'कंस-वध' नाटक की रचना की। इसमें कृष्ण और बलराम कंस तथा अन्य शत्रुओं का वध करके अपने मां बाप को मुक्त कराते हैं।

इन उपर्युक्त नाटककारों के अतिरिक्त कुछ अन्य भक्तों ने भी नाटकों की रचना की। शंकर देव के एक अनामशिष्य ने 'श्यामन्त हरण' नाटक लिखा। 'श्रीकृष्ण प्रयाण नाम नाटकम्', 'कुमारहरण' आदि नाटक इसी परम्परा में लिखे गये।

कीर्तनिया नाटक

मिथिला में रंगमंच और भाषा नाटकों का विकास सोलहवीं शताब्दी के पहिले नहीं हो पाया था। मिथिला पर विदेशी शासकों के अधिकार और प्रभाव के कारण यहाँ के सांस्कृतिक क्षेत्र के नेताओं, कलाकारों और आचार्यों को नेपाल जैसे सुरक्षित स्थान को चला जाना पड़ा था। नेपाल में ही, जैसा कि हमने ऊपर देखा, मैथिल नाटकों का विकास हुआ। इतना होते हुये भी यह बात सर्वथा निर्विवाद है कि मिथिला क्षेत्र में लोक नाट्य परम्परा बनी रही और

यद्यपि दरबारों में नाट्याभिनय का लोप हो चुका था परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में अभिनय का कोई न कोई रू अवश्य मौजूद था और वह चलता भी रहा। आज भी हाटी, लगमा, आलापुर, सरीसव, सेरापुरा आदि में नाट्याभिनय के जो केन्द्र हैं उनकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और अभिनय कला को अक्षुण्ण रूप से बनाये रखने का श्रेय भी इन्हीं केन्द्रों को प्राप्त है।

उस समय अभिनेता अथवा कलाकारों के दल को 'जमाती' कहा जाता था। 'नायक' उसका नेता होता था। वह सूत्रधार और नायक—कृष्ण अथवा हर—की भूमिका किया करता था। स्त्रियां अभिनय नहीं करती थीं। स्त्री पात्रों का अभिनय पुरुष ही किया करते थे। कलाकारों के चुनाव में जाति का प्रश्न नहीं उठता था। ब्राह्मण, कायस्थ, चमार, दुसाध सभी बराबरी की हैसियत से 'जमाती' के सदस्य बनते और अभिनयों में भाग लेते थे। नायक ही अभिनय का सयोजक होता था। कलाकार अभिनय के लिये पारिश्रमिक पाते थे। मगर वे अपनी जीविका के लिये केवल उसी पर निर्भर नहीं रहते थे। विवाह, उपनयन, दुर्गोत्सव आदि के अवसरों पर नायक अपने दल के साथ जाकर नाट्याभिनय किया करता था। अक्सर नायक राजदरबारों में भी बुलाया जाता था। सफल अभिनेता की सबसे बड़ी विशेषता यह होती थी कि वह 'मान', 'नचारी' और 'निरहुती' आदि गा सकता था और भाव प्रदर्शन सफलतापूर्वक कर सकता था।

मिथिला में कई प्रकार के कलाकार थे। कीर्तनिया कलाकार उनमें से एक प्रकार के थे। उनका नाम कीर्तनिया इसलिये पड़ा कि वे कीर्तन प्रणाली के आधार पर ही नाटक प्रस्तुत करते थे। कुछ लोगों का विश्वास है कि मिथिला में कीर्तनिया नाटकों के प्रणेता उमापति उपाध्याय थे जो भगवान् कृष्ण की मूर्ति के सामने गाते और नृत्य किया करते थे। परन्तु कीर्तनिया नाटकों पर

सबसे अधिक प्रभाव बंगाल और आसाम की जात्राओं और कीर्तनों का पड़ा इसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

कीर्तनिया नाटको का अभिनय रात में ही होता था। रगमंच के स्थान पर एक चौकी होती थी। पहिले सूत्रधार आकर नान्दी पाठ करता था। वह जामा, नीमा और पैजामा पहिनता था। पैरों में खड़ाऊँ और सिर पर साठा पाग और हाथ में फूल हत्था लिये रहता था। नटी उसके साथ रहती थी। वह नाटक तथा उसके अभिनय के अवसर आदि का परिचय देता था। 'प्रवेश गीत' में पात्रों का परिचय दे दिया जाता था। नारद, विदूषक आदि इन नाटकों में अवश्य रहते थे। कथोपकथन तथा अन्य अवसरों पर कभी-कभी सस्कृत अथवा प्राकृत का भी प्रयोग होता था। बाकी भागों भाषा गीतों और दोहों का प्रयोग होता था। इन नाटकों में कथोपकथन के अंश बहुत कम होते थे। यदि पार्वती-तपस्या, युद्ध आदि का स्थल आता तो उनका वर्णन गीतों के माध्यम से कर दिया जाता।

नाटकों की पाण्डुलिपियाँ होती थीं और अभिनेता अपनी भूमिका जबानी याद कर लिया करते थे। 'रिहर्सल' भी किसी न किसी रूप में होता था और विद्वान लोग अभिनेताओं का परीक्षण करके ही विद्वन्मण्डली के सामने जाने देते थे। आधुनिक काल में भी हर्षनाथ झा, गणनाथ झा, रघुनन्दन दास, यदुनन्दन झा और कपिलेश्वर झा कीर्तनिया कलाकारों को सिखाया करते थे। वृन्दवादन में नारदीय शैली का प्रयोग किया जाता था। प्रेक्षकों में विद्वान तथा जन साधारण दोनों रहते थे। दोनों मनोरंजन के लिये इन नाटकों को देखते थे। मौखिक तथा वाद्य सगीत के अतिरिक्त विदूषक की चुहल, नायिका के मधुर गीत, गरुड़ के उड़ने के प्रबन्ध, मयूर, ऐरावत आदि के प्रदर्शन तथा कलाकारों के कुशल अभिनयों से प्रेक्षकों का मनोरजन पर्याप्त मात्रा में होता था।

नाटककार

हमने ऊपर मिथिला के कीर्तनिया नाटकों का जो संक्षिप्त वर्णन वर्णन किया है उसी पृष्ठभूमि में मैथिलनाटकों और नाटककारों के विषय में अध्ययन किया जा सकता है। यहाँ मिथिला के कुछ प्रमुख नाटककारों और उनकी रचनाओं के विषय में हम अपने पाठकों को परिचित करायेंगे।

विद्यापति

महाकवि विद्यापति के पहिले ज्योतिरीश्वर, शकर मिश्र, पक्षधर आदि नाटककार हो चुके थे। परन्तु इनमें से किसी ने मैथिलभाषा में नाटक नहीं लिखा था। इसका श्रेय महाकवि विद्यापति को ही है। "श्री विद्यापति सत्कविपुरस्य गोरक्षविजयनाम नाटकनट नाथ महाराजाधिराज श्रीमन्शिव सिंह देवपादः" के अनुसार विद्यापति का सर्वप्रथम मैथिल नाटक 'गोरक्ष विजय' नाटक ही है। यह नाटक मैथिल भाषा का सर्वप्रथम नाटक है। महाराज शिवसिंह ने इसकी रचना के लिये प्रेरणा दी थी। इस नाटक में कथोपकथन और वक्तृताएँ संस्कृत में तथा गीत मैथिल भाषा में हैं। श्री शिवनन्दन ठाकुर के अनुसार विद्यापति ने 'मणि मजरी नाटक' की भी रचना की। यथा—

"आदिष्टोऽस्मि परिषदा यदद्य श्री विद्यापतिनामधेयस्य कवेः कृतरभिनवामणिमञ्जरीनाम नाटिका भवद्भिरस्कदग्रेऽभिनवा मणिमञ्जरी नाम नाटिका भवद्भिरस्मदग्रेऽभिनेतव्येति तद्भवतु तावत् प्रेयसीमाहूय सङ्गीतकं सम्पादयामि।"

ग्रियर्सन के अनुसार विद्यापति ने 'पारिजात हरण' और 'रुक्मिणी हरण' नाटकों की भी रचना की। वेरेडील कीथ और मिश्र बन्धुओं ने ग्रियर्सन के साक्ष्य पर ही यह स्वीकार कर लिया कि विद्यापति ने

इन नाटकों की रचना की। परन्तु अभी तक ये नाटक देखने में नहीं आ सके।

गोविन्द

नाटककार गोविन्द, कवि गोविन्द और गोविन्द दास से भिन्न हैं। इनके पिता का नाम कवि रविकर था। इन्होंने 'नल चरित' नाटक की रचना की। इसमें नल के देश निर्वासन के कथानक को लिया गया है। कथोपकथन संस्कृत तथा प्राकृत में है परन्तु गीत सारे के सारे मैथिल भाषा में है। यथा—

(मन्त्री का प्रवेश)

भेल सुचरित मन्त्रिवर परवेस।
अनुखन जसुमन धरम उदेस॥

अथवा

(दमयन्ती का विलाप)

अपद सकल संपद पहु हारल न मानल कोनहुँ निषेधे।
परिहर परिजन गमन कएल वन दारुण दैव विरोधे॥
यदि न मिलब पहुदहन पै सब मोंहु पिया कैसन नारि।
'गोविन्द' कवि भनवुक मधुसूदन सकल कहो अवधारि॥

अथवा

(जुआ खेलने पर राजा का पाश्चाताप)

हमे जुआरी हमे जुआरी—
जगत विदित हमे जुआरीरे।
हमरी झोरी हमर पास—
धनिक देखि न आव निरास।
जन अरजथि जीवक शेषें—
तत गमावति एक निमेषे।
ठक्क घेटी हमर सारि—
दुअओ धनिक मोरव दुआरि।

गोविन्द भन नरपति देखि—
फारए लागल कोठा लेखि।

रामदास झा

यह महाकवि विद्यापति के वशजों में थे। इनका नाटक 'आनन्द विजय नाटिका' अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह नाटक चार अकों में विभाजित है। प्रथम अक में नायक माधव राधा के प्रति उत्कण्ठित होते हैं। वह अपने मित्र आनन्द कन्द से राधा का निम्नाकित वर्णन सुनते हैं—

आज मधुपुर जाइतें पथ भेटलि राधा।
मानस मीन न रङ्गिनि विहरु अगाधा।
कुन्तल शैवल लोचन अति मधुमद भोरा।
आनन कमल अधर दल कुच के वाजोरा॥

दूसरे अंक में राधा अपनी सहेलियों विचक्षणा और वाचाला के साथ आनन्द कन्द से मिलती हैं। आनन्द कन्द अपने को ज्योतिषी बताता है और उनसे शिव की आराधना के लिये फूल चुनने को कहता है। जब लड़कियां फूल चुनने लगती हैं उसी समय माधव और आनन्द कन्द वहा आ जाते हैं। थोड़ी देर इधर की बातें होती हैं। तभी कृष्ण बुला लिये जाते हैं। यहीं राधा के मन में कृष्ण के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। अब राधा कृष्ण के वियोग में जलने लगती हैं—

माधव विरहें वियोगिनि भेस।
देल वृषभानु दुलहि परवेश॥
मानस आकुल विकल शरीर।
मुख रुचि मलिन नयन ढर नीर॥
थीर चेतनहिं दीघ निसास।
आधि अधीनि आलिजन पास॥

बिनु पुछलहु देश्र उत्तर शयानि ।
पुछलहुँ न कहए समुचित बानि ॥
भनए 'राम' रस बुझ अनुरूप ।
कमला वति पति सुन्दर भूप ॥

अन्त में एक कापालिक राधा को आश्वस्त करता है और उन्हें वृन्दावन में कृष्ण की प्रतीक्षा करने की सलाह देता है। अन्तिम अक में कृष्ण भी विरह पीड़ित दिखाये गये हैं। फिर अपनी सहेलियों की मदद से राधा माधव के पास जाती हैं और राधा कृष्ण का मिलन हो जाता है। इस पूरे नाटक पर विद्यापति का प्रभाव स्पष्ट है।

देवानन्द

यह दक्षिण मिथिला के निवासी पण्डित रघुनाथ के पुत्र थे। इनका एकही नाटक 'उषा हरण' प्राप्त है। नाटक के कुछ पन्ने फट गये हैं। 'उषा हरण' की कहानी से हमारे पाठक भलीभाति परिचित हैं। अनेक नाटककारों ने इस कहानी का उपयोग अपने नाटकों में किया है। देवानन्द कृत 'उषा हरण' नाटक के गीत बड़े ही कारुणिक तथा प्रभाव शाली हैं। नाटक के छठवें अंक में अनिरुद्ध के रूपों के बीच फस जाने पर उषा गाती है—

अनेक यतन सञ्ञ पाओल रे, जन्हि पुरल अभिमान।
से पहु विधि दोपे दुरि रहलरे, पातर परल परान।
विफल मोर जउवन रे !!
मलय पवन तनु तापय रे, हिमकर निछुव अङ्गार।
मुरुछि परिश्र कुसुम पारसिकर रे, विषधर सन भेलहार।
चानन विन्दु तन अनल जनि रे, ते जल सकल सिंगार।
प्रलय करय सखि सवे यामिनि रे, भनसि जयम मोहि मार।
तञो जिव हम पय राखव रे, जञो देखब तन्हि जाए।
आनन्द देवानन्द कवि गावए रे, विरह सङ्गति पय जाए।

अनिरुद्ध भी नाग पाश से मुक्ति प्राप्त करने के लिये श्री भगवती

की जो स्तुति करते हैं वह भी इतना ही प्रभाव पूर्ण है। अनिरुद्ध-उषा की यह जोड़ी हमारे मन के सुकोमलतम भावों को जाग्रत कर देती है।

उमापति उपाध्याय

मध्य कालीन कीर्तनिया नाटककारों में उमापति उपाध्यय का स्थान सर्वोच्च है। उमापति नाम का एक व्यक्ति था या अनेक अथवा उमापति कवि थे या नाटककार या दोनों—इन प्रश्नों पर गहरा मत-भेद है। अपनी पुस्तक मैथिली लिटरेचर के ३०१, ३०२, ३०३,३०४, ३०५, ३०६ पृष्ठों में डाक्टर जयकान्त मिश्र ने इस विवाद की विवेचना की है और अपना मत भी व्यक्त किया है। डाक्टर जय कान्त मिश्र के अनुसार उमापति महाराज नरपति ठाकुर और महाराज राघव सिंह के काल में हुये थे। यह महामहोपाध्याय गोकुलनाथ उपाध्याय के समकालीन और उम्र में उनसे बड़े थे। इन्होंने बुन्देल खण्ड के शासक हिन्दू पति के सरक्षत्व में 'पारिजात हरण' नाटक की रचना की। इस नाटक पर हरिवंश, विष्णु पुराण तथा श्री मद् भागवत के कुछ अशों का प्रभाव स्पष्ट है। इसमें कृष्ण प्रद्युम्न के स्थान पर अर्जुन को इन्द्र से सघर्ष करने के लिये अपने साथ ले जाते हैं। इस नाटक में हास्य और व्यग्य के स्थल अत्यन्त रोचक बन पड़े हैं। नारद और सुमुखि की बातचीत भी मजेदार है। कुछ गीतों में केवल मैथिल भाषा का प्रयोग हुआ है। अन्य गीतों में प्राकृत और सस्कृत का भी प्रयोग हुआ है। बुन्देला शासक को उत्साहित और उत्तेजित करने के लिये मुख्यतया वीररस ही नाटक मे आदि से अन्त तक दिखायी देता है। आरम्भ में भी शक्ति की आराधना की गयी है—

अथ मधु कैटभ मर्दिनि, जय महिषासुर मर्दिनि।
धूमर नयन भस्म मर्षिनि, चण्ड मुण्ड दुहु शिर खण्डिनि।
रक्त विज्रासुर संहारिणि, शम्भु निशुम्भ हृदय दारिणि।
तव सुरशक्ति रूपधारिणि, सेवक सवहुक उपकारिणि।

अनुपम रूपसिह वाहिनि, सबहु समय रहिह दाहिन।
सुमति उमापति आशिषवानी, सकल सभा जय करथु भवानी॥

इस नाटक के गीत कर्णप्रिय और मधुर हैं। इन्हें गाने के लिये कीर्तनिया गायकों को कौशल का परिचय देना पड़ता था। उमापति का यह नाटक अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और इससे कीर्तनिया नाटकों का प्रभाव भी बहुत बढ गया। उमापति का नाम भी इसी नाटक के कारण अमर हो गया।

रमापति उपाध्याय

उमापति की तरह रमापति उपाध्याय ने भी नाटककार के रूप में यश कमाया और इनके सम्बन्ध में काफी जानकारी भी प्राप्त है। इनका 'रुक्मिणी परिणय' नाटक जो कि 'रुक्मिणी हरण' अथवा 'रुक्मिणी स्वयम्वर' के नाम से भी प्रसिद्ध है, सबसे पहिले पण्डितों के समक्ष अभिनीत हुआ। इसका कथानक भी हरिवंश से लिया गया। नाटक के कुल ६ अक हैं। नान्दी में नटराज शिव की वन्दना है।

प्रथम अक में भीष्मक अपनी रानी से यह ज्ञात करते हैं कि रुक्मिणी का वर कौन होगा और अन्त में वे स्वयम्वर कराने का निश्चय करते हैं।

दूसरे अक में रुक्मिणी का भाई रुक्मि चेदिराज शिशुपाल के साथ रुक्मिणी से विवाह पर जोर देता है। फिर कृष्ण और शिशुपाल के पक्ष का समर्थन करने वाले घटक आते हैं। रुक्मिणी कृष्ण पर गोपियों से प्रेम करने तथा अपने मामा का वध करने का अभियोग लगाती है। परन्तु उसके पिता कृष्ण का समर्थन करते हैं। इस पर उसका भाई घर छोड़कर चले जाने की धमकी देता है। अन्त में स्वयम्वर का ही निश्चय होता है।

तीसरे अक में कृष्ण का परिचय उपस्थित समाज से कराया जाता है। उन्हें पहिले भीष्मक का दूत रुक्मिणी का परिचय देता है। इसके बाद कृष्ण सदल चल आते हैं। पाचवें अक में कृष्ण

राजनीतिक चाल चलते हैं। वह भीष्मक से कहते हैं कि रुक्मिणी शिशुपाल को ही दे दी जाय। यह समाचार सुनकर रुक्मिणी विह्वल हो उठती है। इसी समय नारद सामने आते हैं और कृष्ण को सुझाते हैं कि जब रुक्मिणी गौरी पूजन के लिये जाय तो वह उसे हर लें। यही होता है। युवराज इस अपमान को सहन नहीं कर सकता। दोनों में युद्ध होता है जिसका वर्णन रंगमंच पर नारद करते हैं। अन्त में कृष्ण विजयी होते हैं और रुक्मिणी से विवाह करते हैं। इस अंक में व्याह से सम्बन्धित प्रायः सारे गीत गाये जाते हैं। भरत वाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

सारा नाटक भक्ति भावना से ओतप्रोत है। कृष्ण की अलौकिक शक्ति पर बार-बार बल दिया गया है। आदि से अन्त तक नाटक पर मिथिला प्रदेश की विशेष संस्कृति का रंग चढा हुआ है। कल्पना तथा काव्यात्मक सौन्दर्य इस नाटक में आदि से अन्त तक मिलता है। भीष्मक, रुक्मि, नारद, घटक, विदूषक सभी का अपना व्यक्तित्व है जिसके चित्रण में कवि ने अच्छी सफलता प्राप्त की है। कीर्तनिया नाटकों में रमापति का यह नाटक विशेष स्थान रखता है।

लाल कवि

लाल कवि ने 'गौरी स्वयम्वर' की रचना की। इसमें प्राकृत और संस्कृत के अंश बहुत कम हैं। यह नाटक एकांकी है। आरम्भ में गौरी की प्रार्थना है। सूत्रधार नाटक का परिचय देता है। फिर कामदेव मंच पर आता है जिसे त्रिनेत्र शिव जला देते हैं और रति विलाप करती है। फिर गौरी तपस्या करती है। अन्त में अनेक विघ्नबाधाओं के बाद शिव का विवाह होता है। यथा—

> गौरीशंकर मण्डप गेल, बड़ कठिन पुरहित का भेल।
> बाप पितामह नाम नहिं जान, को न परि होयत कन्यादान।
> तिनू नाम वरहिक कहि देल, तें विधि गोत्र उचारण भेल।

पुरहित कयलन्हि अपन छुटानि, महाहरष भय भेल शूलपानि।
सुकवि लाल एहो अचरज मान, एहनो देखल विवाह विधान।

नाटक सुखान्त है। मैथिल भाषा का सबसे छोटा और सबसे अधिक सरल नाटक यही है।

नन्दीपति

मिथिला में नन्दीपति का नाम उतना ही लोकप्रिय है जितना उमापति या रमापति का। वह महाराजा माधव सिंह (१७७६-१८०८) के समकालीन थे। इनका नाटक 'श्री कृष्ण केलिमाला नाटक' अत्यन्त प्रसिद्ध है। आरम्भ में श्री कृष्ण की वन्दना की गयी है, फिर पात्रों का नाम दे दिया गया है। इसी नाटक के बाद से पात्रों की नामावलि दे देने की प्रथा स्थायी रूप से चल गयी। प्रस्तुत नाटक में श्री कृष्ण के जन्म से ही कथा शुरू हो जाती है। जन्म के बाद वसुदेव कृष्ण को नन्द यशोदा के पास पहुँचा देते हैं। पूतना तथा कंस वध का वर्णन अत्यन्त रोचक है। शकट भंग, राधा कृष्ण की प्रेम लीला, बकासुर वध, अघासुर वध, गोवर्द्धन लीला आदि का जो वर्णन आया है वह मैथिल साहित्य में अद्वितीय है। इस नाटक का तीसरा अंक सबसे महत्वपूर्ण है। इसमें कृष्ण की यौवन लीला का वर्णन है। चीर हरण, गोपियों से छेड़ छाड़ आदि का विवरण रोमाच उत्पन्न कर देता है—

छोड़ छोड़ आंचर मोरा। माधव मोर निहोरा॥
किए विलमावहु मोंही। भल न कहत केओ तोंही॥
हमें वृषभानु दुलारी। एत नहि उचित मुरारी॥
परिहरु कान्ह कुरीती। हठे नहिं होइति पिरीती॥
ऐसन करम मोर मन्दा। देलहु कक्कर दन्दा॥
नएक धारिअ कौड़ी। न हम तोहर नौड़ी॥

राधा कृष्ण के सयोग-वियोग-सयोग के वर्णन में सर्वाधिक सफलता कवि को मिली है। मैथिल साहित्य के सबसे लोकप्रिय नाटकों

में इस नाटक की गणना होती है। इसमें संस्कृत तथा प्राकृत के बहुत कम अंश हैं। नाटक में गीतों को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। उलझाव कहीं नहीं है। कथा की गति कहीं रुकती नहीं। नारद, नटी, सूत्रधार सभी रंगमंच पर आते हैं। कृष्ण का मानवीय रूप तो सामने आता ही है, ईश्वरीय रूप भी भुलाया नहीं जाता। यह नाटक सत्य-मेव नन्दीपति के नाम को स्थायी बनाने में सफल हुआ है।

गोकुलानन्द

गोकुलानन्द के सम्बन्ध में हमारी जानकारी कम है। इन्होंने अपना परिचय प्रायः नहीं के बराबर दिया है। इनके नाटक का नाम 'मान चरित' नाटक है। यह नाटक सात अंशों में विभाजित है। अभी इसका अनुसंधान पूरी तरह नहीं हो सका है। इसमें आदिशक्ति की प्रतिष्ठा और पूजा है।

जय जय भारति भगवति देवि।
छ(क) ने मुदित रहतुअ पद सेधि॥
चन्द्र धवल रुचि देह विकास।
श्वेत कमल पर करहु निवास॥

नाटक का अन्त ब्रजभाषा के एक गीत से होता है जिसमें राधा और कृष्ण के संयोग का वर्णन है।

शिवदत्त

शिवदत्त के सम्बन्ध में अन्तिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इनका काल क्या था अथवा यह नन्दीपति के पूर्वज थे या नन्दीपति के बहुत बाद में हुये इसके सम्बन्ध में हमारी जानकारी बहुत कम है। इनके दो नाटक 'पारिजात हरण' और 'गौरी परिणय' मिलते हैं। 'पारिजात हरण' में घटनायें तेजी से बदलती हैं। भाषा के स्थल काफी अधिक हैं। मङ्गलाचरण में सूत्रधार शक्ति की आराधना करता है और नटी पात्रों का परिचय देती है। कथानक प्रायः वही है जो उमापति के 'पारिजात हरण' नाटक का है।

'गौरीपरिणय' नाटक की सबसे सबसे बड़ी सफलता यह है कि वह हमारी भावनाओं को जाग्रत करता है। गौरी की यह पंक्ति "आहे सखि बाढ़ल शिव क सिनेह गेह नहिं जाएब हे" किसे नहीं करुणा विगलित कर देगी? 'कुमार सम्भव' की गौरी की भांति यह गौरी छद्मवेशी शिव पर क्रुद्ध होती है। शिव को पहिचान लेने पर उसकी प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती। इस अवसर पर सारी प्रकृत हर्षोत्फुल्ल हो उठती है। फिर शिव ध्यानमग्न होते हैं। कामदेव उन्हें छेड़ता है और भस्म होता है। रति विलाप करती है। फिर शिव विवाह का प्रश्न सामने आता है। गौरी की माँ बूढ़े वर से विवाह करने से इनकार कर देती है। कवि मौका पाकर मिथला में प्रचलित अनमेल विवाह पर आक्रमण भी करता है—

सिरहुति रिति मनमानी। वृद्ध वरं कर चटु जानी।
मैथिल लौकिक देखी। निश्रमन रोख उपेखी।

जब शिव का विवाह होता है तो कवि मिथिला में प्रचलित रीतियों के अनुसार ही यह कार्य सम्पादित कराता है। अन्त में शिव की वन्दना है—

सखि सब मंगल गाओल। गौरि उचित वर पाओल।
शीवदत्त इहो पद भान। तोरित पुरह शिव मोर मान।

कर्णजयानन्द

इनका एक ही नाटक 'रुक्माङ्गद नाटक' मिलता है। नाटक शिववन्दना से आरम्भ होता है। इसमें शिव के अर्धनारीश्वर रूप का वर्णन है।

मनसि विकारन वारन कारण मनसिज कएल विदेह।
तैअओ देव अर्ध नारि सुर पत वड गौरि सिनेह।

अन्त में रुक्माङ्गद अपने पुत्र धर्माङ्गद के राज्यारोहण का उत्सव मनाते हैं—

आज सुदिन हरि दरसन पुरल मनोरथ मोर।

प्रस्तुत नाटक की पूरी पाण्डुलिपि प्राप्त होने पर ही उसकी विवेचना की जा सकेगी।

श्रीकान्त गणक

'श्री कृष्ण जन्म रहस्य' के रचयिता श्रीकान्त गणक के समय का ठीक पता नहीं चलता। प्रस्तुत नाटक की रचना सम्भवतः 'विष्णु जन्म रहस्य' के आधार पर हुई। इस नाटक में संस्कृत का प्रयोग नहीं हुआ है। वर्णन के अनेक स्थल गद्य में हैं। नाटक आरम्भ होता है कस के दरबार में नारद के प्रवेश से। वहीं नारद यह घोषणा करते हैं कि देवकी का पुत्र कस का बध करेगा। नारद की सलाह से कस वसुदेव देवकी को कारागार में डाल देता है। दूसरे अंक में देवकी अपने अन्य बच्चों की हत्या पर विलाप करती है। नारद देवकी को कृष्ण की प्रार्थना करने की सलाह देते हैं। कृष्ण भगवान देवकी को दर्शन देते हैं और उसकी गोद में जन्म लेने का वचन देते हैं। कृष्ण जन्म के बाद वसुदेव कृष्ण को नन्द के घर ले जाते हैं। कंस को कृष्ण जन्म का पता चलता है। वह देवकी को क्षमा नहीं कर पाता। उधर यशोदा के घर बधाइयाँ वजती हैं और हर्षोल्लास होता है।

इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता है इसकी सरलता। कृष्ण जन्म के कथानक को बड़ी सफलतापूर्वक इस नाटक में नाटकीय रूप दिया गया है। गीत मधुर और रोचक हैं और कीर्तनिया नाटकों के गीतों में विशिष्ट स्थान रखते हैं।

कान्हा रामदास

इन्होंने 'गौरी स्वयम्वर' नाटक की रचना की थी। यह नाटक समस्त कीर्तनिया नाटकों में अपना अलग स्थान रखता है। नाटक गणेश वन्दना से आरम्भ होता है। परन्तु मूल कथानक तब शुरू होता है जब नारद कहते हैं कि गौरी का विवाह एक पागल के साथ होगा। गौरी की मां बहुत दुखी होती हैं। हिमालय सुझाते

हैं कि गौरी तपश्चर्या के बल पर शिव को प्राप्त करे। गौरी तपस्या करती है। वह फूल चुनने के लिये वन-वन में घूमती है। उधर शिव सती को खो कर पाश्चात्ताप करते हैं। वह विष्णु के ध्यान में मग्न हो जाते हैं। विष्णु उसी समय दर्शन देते हैं और शिव से कहते हैं कि वह गौरी से विवाह कर लें। उधर सप्तर्षि उमा के प्रेम की परीक्षा लेते हैं। वे उमा की सत्यता में विश्वास कर लेते हैं। उमा घर वापिस जाती है। दूसरे दृश्य में शिव अजब रंग ढंग से उमा के घर पहुँचते हैं और उमा को देखते हैं। ताड़कासुर के वध के लिये यह जरूरी था कि उस पर शिव गौरी का पुत्र आक्रमण करे। जब कामदेव शिव के पास भेजा गया तो शिव ने उसे भस्म कर दिया। रति को पति वियोग सहना पड़ा। फिर इन्द्र ने शिव को गौरी से विवाह करने के लिये राजी किया। शिव के विवाह में सभी सर, सरिता, गिरि, पर्वत, सागर, वन निमन्त्रित किये जाते हैं और उल्लास-पूर्ण वातावरण में शिव का विवाह होता है। कान्हाराम की इस रचना में नाटकीयता के गुण वर्तमान हैं। उनका यह नाटक, अनेक कमियों के बावजूद, अत्यन्त सफल माना जाता है और कीर्तनिया नाटकों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

रत्नपाणि

इनकी कीर्ति १८३३—१८५३ में महाराज महेश्वर सिंह के काल में चरम सीमा को पहुँची। इन्होंने मैथिल भाषा में 'उषा हरण' नाटिका लिखी। इस नाटिका से उनकी विद्वता और मर्यादा-शीलता का पता चलता है। नाटिका के बीच बीच में लम्बे संस्कृत के गीत भी हैं। इसीलिये यह नाटिका कुछ शास्त्रीय सी लगती है। कथा विकास, वर्णन शैली और शब्दावली की दृष्टि से यह नाटिका अपना विशेष स्थान रखती है। नाटिका चार भागों में बँटी है। पहिले भाग में गौरी की कृपा से वाणासुर की बेटी उषा अनिरुद्ध को स्वप्न में देखती है। अपनी सहेली चित्रलेखा की सहायता से वह

कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध का परिचय प्राप्त कर लेती है। चित्रलेखा अनिरुद्ध के पास उषा का प्रेम सन्देश लेकर जाती है। रास्ते में चित्रलेखा की भेंट नारद से हो जाती है। नारद अनिरुद्ध के पास पहुँचने में आने वाली कठिनाइयों का वर्णन करते हैं। वह जादू द्वारा अनिरुद्ध को गायब कर देने का तरीका बता देते हैं। इस प्रकार उषा और अनिरुद्ध का मिलन और गान्धर्वविवाह हो जाता है।

उधर बाणासुर को अनिरुद्ध के छिपकर आने की सूचना मिल जाती है। वह अनिरुद्ध के वध की आज्ञा दे देता है। परन्तु अनिरुद्ध युद्ध में सबको पराजित कर देता है। तब बाणासुर माया युद्ध आरम्भ करता है और अनिरुद्ध को सांपों से बँधवा कर कारागार में डाल देता है। उषा अपने प्रियतम के वियोग में सूखकर काटा हो जाती है। नारद सारा समाचार कृष्ण के पास पहुँचाते हैं। वह कारागार को तोड़ देते हैं। बाणासुर की सहायता के लिये भगवान शिव स्वयं आते हैं। कृष्ण शकर से कहते हैं—

> बाणासुर अरि विदित शंकर, तकर कारण आज।
> तखन मोहिं तोहिं युद्ध संभव, हकर होइछ लाज॥

शिव उत्तर देत हैं—

> भक्तवश हम जगत जानय, सुनिय यादव राज।
> कहल से फेर जखन फेरब, तखन की जिव काज॥

फिर दोनों में घोर युद्ध होता है। देवतागण इस युद्ध से घबरा जाते हैं। जब शिव को ख्याल आता है कि उनमें और कृष्ण में कोई अन्तर नहीं है तो वह मैदान छोड़ देते हैं। परन्तु कार्तिकेय मैदान में आ डटते हैं। गोरी कार्तिकेय को भी रोकती हैं। तब बाणासुर को कृष्ण की शक्ति का पता चलता है। वह कृष्ण से क्षमा याचना करता है।

दूसरे भाग मे बाणासुर शिव की प्रार्थना करता है और उसकी रानी, मन्त्री आदि कृष्ण की प्रार्थना करते हैं। फिर उषा अनिरुद्ध की

शादी होती है। नारद कृष्ण को नई नीति का पालन करने की सलाह देते हैं।

तीसरे भाग में कृष्ण सभी वन्दियों को मुक्त कर देते हैं और राज्य भी वापिस कर देते हैं। वह उषा और अनिरुद्ध को लेकर द्वारिका वापिस आते हैं।

चौथे भाग में द्वारिका पहुँचने पर कृष्ण, अनिरुद्ध, उषा आदि का खूब स्वागत होता है। हरिवंश में दी गयी कथा के आधार पर विरचित रत्नपाणि का यह 'उषा हरण' नाटक अत्यन्त सफल हुआ है। इसकी मॅजी हुई परिष्कृत शैली है। वाणासुर के पतन तथा कृष्ण विजय के दृष्य प्रभाव पूर्ण और रोचक हैं। इस नाटक में 'तटस्थ' की वक्तृताएँ कथा भाग को आगे ले चलने में सहायक सिद्ध हुई हैं।

भानुनाथ झा

भानुनाथ झा ने 'प्रभावती हरण' नाटक की रचना की। चार अंकों का यह नाटक इहामृग रूपक की कोटि में आता है। इसमें कृष्ण के वेटे प्रद्युम्न और वज्रपुर के दैत्य की वेटी प्रभावती के मिलन की कथा का वर्णन है। इस नाटक में विद्यापति के गीतों से प्रभावित कुछ गीत हैं, परन्तु नाट्य कला की दृष्टि से इसमें कोई विशेषता नहीं है।

हर्षनाथ झा

इनका जन्म १८४७ मे हुआ। १८९८ में इनका देहान्त हो गया। सस्कृत तथा मैथिल भाषा में इन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की। 'उषा हरण' तथा 'माधवानन्द' परम्परागत मैथिल नाटक हैं। 'उपा हरण' की कथा रत्नपाणि के 'उषा हरण' नाटक से मिलती है। यह नाटक पांच अकों मे बॅटा हुआ है। प्रथम अक में उपा गौरी से पति प्राप्त करने का वरदान पा जाती है। दूसरे अक मे वाणासुर को यह वरदान मिल जाता है कि उसकी समानशक्ति वाले शत्रु से लड़ने की कामना पूरी हो जायेगी। तीसरे अंक में चित्रलेखा की सहायता से उपा-अनिरुद्ध का मिलन गुप्तरूप से हो जाता है। इस स्थल पर

हर्षनाथ ने अनेक शृंगारिक गीतों की रचना की है। प्रातः काल का यह वर्णन देखिये—

धीवर अंक मयंक तरणि चढि शशिकर जाल पसार।
उडुगन मीन बझाय चलल जनि गगन पयोनिधि पार।

चौथे अक में वाणासुर को मालूम हो जाता है कि अनिरुद्ध उषा के महल में गुप्तरूप से आया था। वाणासुर अनिरुद्ध को कैद कर लेता है। अन्तिम अक में कृष्ण-वाणासुर युद्ध होता है। अन्त में कृष्ण विजयी होते हैं और उषा-अनिरुद्ध को लेकर द्वारिका चले जाते हैं।

'माधवानन्द' नाटक 'रास पचाध्यायी' के आधार पर लिखा गया है। विषय वस्तु नन्दीपति के 'कृष्ण केलि' नाटक से समानता रखती है। इस नाटक के वर्णनो में चित्रात्मकता तथा शक्ति बहुत है। कल्पना की रगीनी और गीतों की रसमयता का क्या कहना ! कवि ने सस्कृत के चित्रों का तो सहारा लिया ही है, मौलिक कल्पनाओं की भी कमी नहीं है।

हर्षनाथ को अन्तिम महान कीर्तनिया नाटककार माना जाता है। उन्होंने मैथिल नाट्य परम्परा को प्रायः आधुनिक युग तक पहुँचाया। हर्षनाथ इस गौरवशाली परम्परा के अन्तिम प्रदीप थे। इनके बाद जो लोग आये उनमें न वह प्रतिभा थी, न मौलिकता, न कल्पनाशक्ति।

विश्वनाथ झा

हर्षनाथ के बाद विश्वनाथ झा ने 'रामेश्वर चन्द्रिका' नाटक लिखा। इस नाटक की रचना १८६६-१६०० में हुई थी। आरम्भ में वन्दना है, फिर राधा आती हैं और कृष्ण के साथ रासलीला करती हैं। फिर विरह-वियोग के गीत गाये जाते हैं। इन गीतो पर विद्यापति का प्रभाव स्पष्ट है। यथा—

तरुण वैस सखि पहु रहु दूरे।
छन-छन तनिविन होअ तनु झूरे।

उद्धि सुता सुत तसु हम हारे।
लागत मोहिं कुलिस सम सारे।
मलयज लेपन पावक अङ्गे।
सभक उचित फल गेल हरि सङ्गे।
वसन विचित्र भाव मोहिं कैसे।
साखा मृग रिपु लागै जैसे।

अन्त में राधा—कृष्ण सयोग और मिलन का दृश्य आता है। यहाँ भी गीतों की बहुलता है। 'मान' सम्बन्धी गीतों की भी बहुतायत है। इसमें नाटकीयता कम और गीतों की अधिकता है। यदि अन्त मे 'इति नाटिका समाप्त' न लिखा होता तो इसे नाटक कहने में सकोच होता। इस रचना को हम सरस गीत संग्रह अधिक पाते हैं। इसे नाटक की किस कोटि में रखा जाय यह कहना मुश्किल है।

चन्दा झा

चन्दा झा का 'अहल्या चरित' नाटक १६१२ में प्रकाशित हुआ। गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या की जीवन कथा और राम द्वारा उनके उद्धार का आधार लेकर ही इस नाटक की रचना की गयी है। चन्दा झा ने इस नाटक में अपने गीतों के अतिरिक्त जयदेव और विद्यापति के गीतों को भी शामिल कर लिया है।

बलदेव मिश्र

इस परम्परा के अन्तिम जीवित नाटकार बलदेव मिश्र हैं। इस समय वह दरभंगा के राज पण्डित हैं। इन्होंने 'राजराजेश्वरी' नाटक तथा 'रमेशोदय' नाटक की रचना की। 'राजराजेश्वरी' नाटक नौ अकों में विभाजित है। इसका आधार स्कन्द पुराण का काशिका खण्ड है। इसका सबसे प्राणवान स्थल वह है जहाँ पार्वती तपस्या करती हैं। यह नाटक तीन दिनों में अभिनीत होता था। नाटक का आरम्भ ताडका के क्रूर शासन से होता है। देवता मणिद्वीप की भुवनेश्वरी देवी के पास सहायता के लिये जाते हैं। भुवनेश्वरी देवी वचन देती

ग्रथों, लक्षण ग्रथों, भाष्यों और नाटकों की रचना इतनी बड़ी सख्या में हो सकी। इसके लिये हमें वैष्णव आन्दोलन का भी कृतज्ञ होना चाहिये। जिस प्रकार व्रज में उस समय कृष्ण भक्तिधारा में स्नात वैष्णव समुदाय श्रेष्ठतम साहित्य की सृष्टि कर रहा था उसी प्रकार जगन्नाथ पुरी से कामरूप और नेपाल तक यह पवित्र प्रक्रिया चल रही थी। जिस प्रकार भक्ति आन्दोलन के फलस्वरूप व्रज भाषा और अवधी में उत्कृष्ट काव्य की रचना हो रही थी उसी प्रकार मिथिला, नेपाल, आसाम, बगाल और उडीसा में भी श्रेष्ठ साहित्य का सृजन हो रहा था। सस्कृत नाटकों के अतिरिक्त इन क्षेत्रों में निर्मित भाषा नाटको को यदि हम देखें तो उनमें काव्य की प्रचुरता हमको मिलेगी। कीर्तनिया नाटकों में तो हम यह प्रभाव देखकर अक्सर उन्हें गीति-नाट्य कहने को विवश हो जाते हैं। भक्ति का सम्बन्ध हृदय से है और काव्य का स्रोत भी हृदय ही है। इसलिये जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति आदि को हम युग निर्माता महाकवियों के रूप में देखते हैं। इन महाकवियों ने जो प्रकाश, शक्ति और प्रेरणा लोगों को दी उसी के फलस्वरूप शुद्ध सस्कृत नाटकों, मिश्रित सस्कृत नाटकों और शुद्ध मैथिल नाटकों की रचना हो सकी। यहीं हम श्रद्धा के साथ श्री चैतन्य महाप्रभु को भी याद करते हैं। यद्यपि श्री चैतन्य मूलतः भक्त थे, परन्तु उनके अनुग्रह और प्रेरणा से कितने ऊँचे साहित्य का सृजन हुआ यह सभी लोग जानते हैं।

आज मैथिल नाटकों का क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त है। इस दिशा में डाक्टर जय कान्त मिश्र का प्रयत्न स्तुत्य है। उनकी कृपा से मैथिल नाटकों के विकास क्रम की झांकी हमें आसानी के साथ मिल सकती है और रास नाटकों की ही भाँति हम इन मैथिल नाटकों का अध्ययन करके भारतीय नाट्य परम्परा की खोई कड़ियों को पुनः जोड़ सकते हैं।

वाल्मीकि की भूमिका में रवीन्द्र

बारहवां अध्याय

बङ्गला नाटक और रंगमंच

वगला नाट्य साहित्य और रंगमच पर संस्कृत, अपभ्रश, जात्रा और अग्रेजी नाट्य साहित्य और रगमच का पूरा प्रभाव पड़ा है। वगाल में, नाट्य साहित्य और नाट्य कला के प्रति गहरा मोह है। स्वभाव से ही वगाली जाति भावुक है। प्रकृति ने भी श्यामलाचला वगाल को अपनी सम्पूर्ण कृपा और स्नेह का पात्र बनाया है। इसलिए इस जाति में कला प्रियता उसके स्वभाव का अविभाज्य अंग है। यदि यह कहा जाय कि प्रत्येक बंगाली किसी न किसी कला के प्रति स्वाभाविक आकर्षण और मोह रखता है तो अनुचित न होगा। यात्राओं का इतिहास अति प्राचीन है। यात्राओं में नाच रग रस भावना का जो उद्रेक और अभिव्यक्ति होती है वह इसकी लोक प्रियता के कारण ही है। बंगालियों में काली और कृष्ण की पूजा की अति प्राचीन परम्परा है। यद्यपि जात्राओं का प्रचलन चैतन्य महाप्रभु के पहिले ही से था, परन्तु श्री चैतन्य ने कृष्ण चरित्र के विभिन्न भागों को लीला के रूप में प्रदर्शित करने की उपयोगिता देखी और उन्होंने इन यात्राओं को एक साधन के रूप में प्रयुक्त किया। इस कारण यात्राओं की परम्परा का पूरा इतिहास अलग अध्याय में दिया गया है। श्री चैतन्य के शिष्य श्री रूप गोस्वामी ने सस्कृत में 'विदग्ध माधव' और 'ललित माधव' दो नाटक श्री कृष्ण के चरित्र को लेकर लिखे। श्री रूप गोस्वामी स्वय वृन्दावन गए। वहां उनकी भेंट कृष्ण भक्त वैष्णवों से हुई और वृन्दावन की रास लीलाओं को भी उन्होंने देखा और उनसे प्रेरणा ग्रहण की। श्री चैतन्य ने कृष्ण चरित्र से सम्बन्धित एक नाटक का अभिनय स्वय संगठित किया था। कवि कर्णपुर ने 'चैतन्य चन्द्रोदय'

की रचना की। 'चैतन्य चरितामृत' में एक ऐसा वर्णन आता है जिसमें शिष्यों से कहा गया है कि वे दूसरे लोगों द्वारा लिखे गए नाटकों को देखें। एक गैर बंगाली सज्जन राय रामानन्द ने 'जगन्नाथ वल्लभ' की रचना की। ये सारी रचनाएँ संस्कृत में थीं और इनका अध्ययन करना धार्मिक कृत्य समझा जाता था। वैष्णवों की दृष्टि में कृष्ण का जो स्वरूप है वही इन नाटकों में प्रदर्शित किया गया है। अब तक सभी यात्राओं का रूप कृष्ण यात्रा का हो गया। बिना कनु के गीत कैसा, सगीत कैसा? यह धारणा सर्वमान्य हो गयी। इन यात्राओं से जनता का मनोरजन तो होता ही था, इनसे उनकी धामिक भूख भी मिटती थी। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में बंगाल से नेपाल तक नाट्य साहित्य पहुँचा। उस समय के नेपाली नाटकों को देखा जाय तो उनपर बगाली नाटकों का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देगा। नेपाल ही में अनेक बगाली नाटक भी लिखे गए। उस समय बगाल में यात्राओं का प्रचलन बहुत ही अधिक था। इस समय नेपाल में जो चार बंगाली नाटक लिखे गए उनकी भाषा में नेपाली की भी मिलावट थी। उनमें से तीन तो बिल्कुल सस्कृत नाटकों की तरह ही लिखे गए थे। नान्दी, सूत्रधार, अक आदि सब कुछ वैसे ही थे। कृष्णदास के 'महाभारत' में तेईस अक थे। इनमें से एक विद्या और सुन्दर के प्रणय से सम्बन्धित था।

इन यात्राओं के सम्बन्ध में बाद में (६ मई सन् १८७६ ई० में) 'इगलिशमेन' पत्र ने लिखा था, "धार्मिक अवसरों पर बडे लोगों के घरों में देहाती 'जात्राओं' का प्रदर्शन होता था। नगर की हिन्दू जनता को इन अभिनयों में बड़ा आनन्द आता था। इन जात्राओं को हम खण्ड काव्य के अधिक निकट पाते हैं, नाटकों के निकट नहीं। अतीत के इन अपूर्ण अवशेषों के अतिरिक्त अथवा भविष्य की धूमिल सूचना देने वाले अन्य कृतियों के अलावा या फिर लखनऊ में 'आपेरा' (सगीत नाट्य) के दिशा में किए गए कुछ प्रयत्नों को

छोड़कर, अभी कुछ दिनों पहिले तक, भारत के इस भाग में, सही अर्थ में नाटक नहीं थे। अब भी बहुत थोड़े से लोग हैं जो इस कार्य में थोड़ी बहुत रुचि रखते हैं। कलकत्ता के बाहर उसे कहीं भी वह स्थान नहीं मिला जो कि उसे मिलना चाहिए था।" 'इंगलिशमैन' का यह कथन सर्वथा नहीं तो बहुत अंश में असत्य है। उसके कथन में यदि सत्य की मात्रा कुछ भी है तो केवल इस बात में कि हम नाटक और रंगमंच को जिस रूप में आज देखते हैं उस रूप में वह समय नहीं था। परन्तु इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। स्वयं शेक्सपियर के पहिले इंगलैण्ड में नाट्य साहित्य और रंगमंच का जो रूप था वह शेक्सपियर के समय में नहीं रह गया। शेक्सपियर के बाद तो उसमें इतनी तीव्र गति से परिवर्तन हुआ कि उसका सम्बन्ध शेक्सपियर के पहिले के नाट्यरूपों से कायम करना प्रायः असम्भव हो गया।

प्रोफेसर विल्सन की पुस्तक 'दी थियेटर आफ हिन्दूज' के अन्त में परिशिष्ट में 'चित्र यज्ञ' नाम के एक नाटक का उद्धरण दिया गया है। इसके सम्बन्ध में प्रोफेसर विल्सन कहते हैं, "यह असम्बद्ध कृति नदिया के एक पंडित की है जिनका नाम वैद्यनाथ वाचस्पति भट्टाचार्य है। नदिया के राजा ईश्वर चन्द्र के आग्रह पर गोविन्दोत्सव पर अभिनीत होने के लिए ही यह लिखा गया था। यह कृति इस अर्थ में मूल्यवान है कि इससे यह अनुमान हो सकता है कि बंगाल के हिन्दू नाटक रचने में किस प्रकार का प्रयत्न किया करते थे। बंगाली भाषा में हम जिन जात्राओं को देखते हैं वे प्रायः 'चित्रयज्ञ' के आधार पर ही निर्मित होते हैं। इटली में कभी 'इम्प्रोविस्ता कामेडिया' लिखा जाता था जिसमें मुख्य कथानक तो लेखक लिखता था। मगर कथोपकथन स्वयं कलाकार तैयार कर लिया करते थे। इन जात्राओं में भी यही होता था। कथोपकथन के बीच में गाने भी होते थे जिन्हें कलाकार याद कर लिया करते थे। बाद में इनमें

कुछ सुधार हुआ और कथानक के अनुसार अभिनय करना शुरू हुआ। कथोपकथन का अश लेखक कलाकारों को स्वय बताने लगा।" प्रोफेसर विल्सन ने इस उद्धरण में अठारहवीं सदी के अन्त में प्रचलित जात्राओं को ध्यान में रखकर यह बात कही है।

परन्तु इन उपर्युक्त पक्तियों में अग्रेज अथवा विदेशी विद्वानों ने जो कुछ कहा उससे बगला नाट्य साहित्य के उदय काल पर सम्यक् प्रकाश नहीं पड़ता। इसलिए इस युग के नाट्य साहित्य और रगमच का अध्ययन अधिक गहराई से करना चाहिए।

वैसे 'वेणीसहार' ही बगाल का सर्व प्रथम नाटक माना जाता है। कहते हैं कि बगाल का तत्कालीन शासक आदि सूर राजसूय यज्ञ के समय कान्यकुब्ज देश से पाच ब्राह्मणों को अपने साथ लाया था। उनमें 'वेणीसंहार' के रचयिता भट्ट नारायण भी थे। बंगाल का द्वितीय नाटक जयदेव कृत 'प्रसन्नराघव' माना जाता है। चण्डीदास के 'कृष्ण कीर्तन' में भी नाटकीय तत्व मिलते हैं। विद्यापति के गीतों में भी प्रश्न उत्तर के रूप में नाटक के तत्व मिलते हैं।

महाप्रभु चैतन्यदेव ने बंगला नाटक का पुनरोद्धार किया। चैतन्यदेव की रुचि नाट्य कला में अत्यधिक थी। वह स्वयं अत्यन्त सुन्दर अभिनय करते थे। उनके अभिनय और नृत्य को देखकर दर्शक सुध बुध खो देते थे। उन्हीं की प्रेरणा से उनके शिष्यों ने अनेक धार्मिक नाटक लिखे। वृन्दावनदास ने 'चैतन्य भागवत' में लिखा है कि श्री चैतन्य भक्तों के सामने कृष्ण लीला किया करते थे। वृन्दावन दास का जन्म श्री चैतन्यदेव के समय में ही हुआ था।

गया से वापिस लौटकर एक दिन श्री गौराग ने बुद्धिमन्त खान से कहा कि, "चन्द्रशेखर के घर मे अभिनय होगा। चोली, चूड़ियां, रेशमी कपडे, आभूषण और सबके पहिनने के लिए वस्त्र एकत्र करो।" इसके बाद एक मण्डप बना। हरीदास ने कोतवाल का पार्ट किया। श्री भास पण्डित नारद बने। श्री राम ने स्नातक का पार्ट किया।

नित्यानन्द ने वराई का, अद्वैत ने एक भक्त का और स्वय श्री गौराग ने रुक्मिणी का अभिनय किया। चन्द्रशेखर के घर पर जब अभिनय हुआ तो गौरांगदेव की माता शचीदेवी भी अभिनय देखने आयी थीं। साथ में उनकी पतोहू विष्णु प्रिया भी थीं। अभिनय के आरम्भ में नान्दी मुख हुआ। श्री भास जिस समय नारद का अभिनय कर रहे थे दर्शक आनन्द के मारे चीख़ उठे। श्री गौराग की माता जी तो बेहोश ही हो गयीं। उधर श्री गौरागदेव रुक्मिणी की भांति वस्त्राभूषण पहिनने के बाद आत्मविभोर हो गये। वह स्वयं अपने को नहीं पहिचान सके। प्रायः आधीरात को श्री गौराग मच पर आए थे। प्रातःकाल तक उनका नृत्य और अभिनय चलता रहा। रात कब बीत गयी, किसी को पता न चल सका। कहते हैं कि ऐसा अभिनय बगाल के रगमच के इतिहास में इसके पहिले कभी भी नहीं हुआ था। यह परम आदर्श और महत्वपूर्ण अभिनय सन् १५०७ ई० में हुआ था।

एक बार जगन्नाथ पुरी में श्री चैतन्य जमेश्वर टोला चले जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने किसी को गीत गोविन्द का पद गाते हुए सुना। श्री चैतन्य उधर ही बढ चले जिधर से वह मधुर स्वर लहरी आ रही थी। उनके पाँवों में काँटे धँस गये मगर उन्हें कुछ पता न चला। जब उनके सेवक गोविन्द ने बताया कि इस पद को गाने वाली महिला एक देवदासी है तो श्री चैतन्य चौंक पडे। उन्होंने इस चेतावनी के लिए अपने सेवक गोविन्द को धन्यवाद दिया। अपने इसी प्रकार के कार्यों के कारण श्री चैतन्य ने सबकी श्रद्धा अर्जित कर ली।

श्री चैतन्य की प्रेरणा ही से उनके शिष्य रूपगोस्वामी ने राधाकृष्ण के जीवनचरित्र से सम्बन्धित अनेक नाटक लिखे। रूप गोस्वामी के नाटक सस्कृत में थे, बगला में नहीं। उस समय उड़ीसा पर एक हिन्दू शासक राज्य करता था। वहाँ के शासक की उदारता के कारण उस समय वहाँ नाट्य कला की निर्बन्ध प्रगति हो रही थी।

रामानन्द के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। वह देव दासियों को अभिनय, नृत्य आदि की शिक्षा दिया करते थे। वह नाटककार ही नहीं अच्छे निर्देशक भी थे। रामानन्द के नाटक का नाम 'जगन्नाथ वल्लभ' है। यह नाटक भी संस्कृत में था। श्री चैतन्य देव इस नाटक को वडे चाव से पढते थे। श्री चैतन्य भद्दे, अश्लील नाटकों से घृणा करते थे, परन्तु अच्छे नाटकों की बड़ी प्रशंसा किया करते थे। रूप गोस्वामी कृत 'विदग्धमाधव' की नान्दी वाणी, महाप्रभु के आदेश से रामानन्द राय के सामने पढ़ी गयी। उन्होंने इसकी अत्यधिक प्रशसा की। सबसे पहिले यह नाटक वृन्दावन में केशितीर्थ में अभिनीत हुआ। यदुनन्दन दास ने इसका अनुवाद बंगला में किया। १५५३ ई० में रूप गोस्वामी ने एक 'दानकेलि नाटक' नाम का एकाकी लिखा।

'दान केलि नाटक' के वाद 'चैतन्य चन्द्रोदय नाटक' लिखा गया। इसके लेखक थे परमानन्द सेन। परमानन्द गौराग के अनन्य भक्त थे। संस्कृत का यह नाटक १५७६ ई० में रचा गया था। श्री चैतन्य ने परमानन्द सेन का नाम 'कविकर्णपूर' रख दिया था। 'चैतन्य चरितामृत' के लेखक कृष्ण दास कविराज ने 'चैतन्य चन्द्रोदय' से अनेक उद्धरण लिए। इस नाटक में चैतन्य महाप्रभु को अवतार के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इसमें कलि, अधर्म आदि पात्र के रूप में आए हैं। उधर नित्यानन्द, अद्वैत आदि भक्तों ने चैतन्य का प्रचार भगवान के रूपमे करना शुरू किया। सन् १७०३ई० में प्रेम दास (पुरुषोत्तम मिश्र) ने स्वप्न मे चैतन्य देव को देखा और उन्होंने 'चैतन्य चन्द्रोदय' का अनुवाद बंगला में कर डाला। वैष्णवों की प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रेमविलास' में चर्चा आया है कि गोविंद दास (१५३७-१६१२ ई०) ने 'सगीत माधव' नाम का एक नाटक लिखा जिसके लिए उन्हें राय सतोपदत्त ने आदेश दिया था। इसमें

पूर्व राग (राधा और कृष्ण के मिलन के पहिले की कामना) का वर्णन है।

इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि श्री चैतन्य के समय में बंगाल में नाटक अच्छी तरह लिखे जाने लगे थे। मगर इनका विकास उन्नीसवीं में हुआ। बंगाल में तो अंग्रेजों के आने के पूर्व तक जात्रा, कवि, पांचाली, कीर्तन और कथकता का प्रचलन था। आधुनिक बंगाली नाटकों और प्राचीन संस्कृत नाटकों के बीच की कड़ी इन उपर्युक्त नाट्य रूपों से ही जुड़ सकती है। जात्राओं को उपर्युक्त नाट्य परम्परा की कड़ी में जोड़ लेना सर्वथा उचित नहीं है। मुस्लिम शासन काल में, जब कि नाट्याभिनयों पर प्रतिबन्ध लग जाने के कारण उनका ह्रास हो गया था, उस समय जात्राओं तथा इसी प्रकार की अन्य अभिनय प्रणालियों ने उनका स्थान लिया। मूलतः ये प्रणालियाँ लोक रुचि का परिचायक थीं। वैसे मुस्लिम शासक शायद उन पर भी रोक लगा देते मगर चूंकि इनका रूप धार्मिक था इसलिए शासकों को यह डर था कि इन पर रोक लगाने से प्रजा के हृदय पर आघात पहुचेगा। इसीलिए उन्होंने जात्राओं आदि पर कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं लगाया और अंग्रेजी शासनकाल के आरम्भ तक ये चलती रहीं।

अब तक आधुनिक बंगला रंगमंच की भूमिका के रूप में हमने संस्कृत नाटकों, कुछ बंगला नाटकों और जात्राओं का चर्चा किया। अगली पंक्तियों में हम आधुनिक बंगला नाट्य साहित्य और रंगमंच के उद्भव और विकास का चर्चा करेंगे।

आधुनिक बंगला नाट्य साहित्य तथा रंगमंच का विकास सीधे पश्चिम के प्रभाव के अन्तर्गत हुआ। बंगाली रंगमंच का मूल स्रोत संस्कृत की परम्परा में है, परन्तु उसने धीरे धीरे पश्चिम की अनेक वस्तुओं को अपना लिया। यह प्रक्रिया उस समय आरम्भ हुई जब कि अंग्रेजों ने कलकत्ते में आकर बसना शुरू किया और उन्हें अपने मनोरंजन के लिए साधन जुटाने की चिन्ता हुई। धन कमाने और

व्यापार करने से जो समय इन बनिया व्यापारी शासकों को मिलता था उसका उपयोग वे नृत्य, सगीत, दावत आदि में किया करते थे। प्लासी के युद्ध के बाद अग्रेजी सत्ता पूर्ण रूप से भारत में जम गई। अब उन्हें नये प्रकार के मनोरजन की सूझी। सबसे पहली अग्रेजी रग-शाला (प्ले हाउस) लाल बाज़ार स्ट्रीट और मिशनरी के चौराहे के पूरब तरफ सेन्ट ऐन्ड्यूज चर्च के सामने वाले मैदान में बनी। इसके बाद सन् १७७६ ई० में एक नयी रगशाला 'कलकत्ता थियेटर' के नाम से बनी। आज जहाँ राइटर्स बिल्डिग्ज के पीछे लेयारेंज और क्लाइव स्ट्रीट का चौराहा है वहीं कलकत्ता थियेटर बनाया गया था। बंगाली रंगमच के निर्माण में कलकत्ता थियेटर का ही सबसे अधिक हाथ था। इसके बनाने में एक लाख रुपये लगे थे। इसके रगमच पर उतरने वाले कलाकार सम्भ्रान्त तथा प्रतिष्ठित परिवारों के लोग थे। ये लोग निःशुल्क कार्य करते थे। गवर्नर जेनरल, चीफ जस्टिस, कौंसिल के सदस्य आदि सभी ने इस रगशाला के निर्माण के लिए चन्दे दिए थे। इस रंगशाला में दर्शक आठ रुपये से लेकर सोने के मोहर तक का टिकट खरीद कर नाटक देखते थे। इसकी सजावट बहुत अच्छी थी और मोमबत्ती तथा लैम्पों से इसे प्रकाशित किया गया था। इसमें पेशेवर कलाकार भाग नहीं ले सकते थे।

इस रगशाला में अग्रेजी नाटक खेले जाते थे। १७८० ई० के हिकीज़ बगाल गजेट के प्रथम अक में एक विज्ञापन छपा था जिसमें 'वो' के खेले जाने की सूचना दी गयी थी। उसी गज़ेट में साल भर बाद दूसरे नाटक 'ट्रेजेडी आफ़ वेनिस प्रेजर्वड' और 'म्यूजिकल लेडी' की आलोचना भी छपी थी जिसमें अभिनय की भूरि भूरि प्रशसा की गयी थी। कलकत्ता गजेट में भी इस रगशाला में प्रस्तुत किए गये अनेक नाटकों और अभिनयों की प्रशसा प्रकाशित हुई। २५ जनवरी और १ फरवरी १७८८ को 'रिचर्ड तृतीय' का सफल अभिनय हुआ। २ अक्टूबर १७८८ ई० को 'ट्रेजेडी आफ

मोहम्मद' और २६ अक्टूबर को 'सुल्तान एन्ड दी अपहोल्स्टर' खेले गए। ८ फरवरी १७८८ को 'हेनरी चतुर्थ भाग १' खेला गया और २२ फरवरी को 'हेनरी चतुर्थ भाग २' खेला गया। इस प्रकार कलकत्ता थियेटर में शेक्सपियर के अनेक नाटक खेले गये। शेक्सपियर के नाटकों के अतिरिक्त वहाँ अनेक हल्के फुल्के नाटक भी प्रस्तुत किए गए।

कलकत्ता थियेटर में आरम्भ में पुरुष ही स्त्रियों का भी पार्ट किया करते थे। १७ दिसम्बर १७८८ को इसके मंच पर प्रथम बार एक महिला ने अभिनय किया और समाचार पत्रों में उनके अभिनय की बड़ी प्रशंसा हुई। इसके बाद धीरे धीरे महिलाओं ने रंगमंच पर आना शुरू कर दिया।

१५ अक्टूबर १७८६ को 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया। इस संस्कृत नाटक का अत्यन्त सफल अनुवाद अंग्रेजी में किया गया था और रंगमंच पर अभिनीत होने के बाद उसकी बहुत प्रशंसा हुई थी। इसके बाद इस रंगशाला में पचासों नाटक खेले गए। इस प्रकार इस थियेटर की ख्याति बढ़ती रही। कई वर्षों के बाद जब इसकी ख्याति घटी और इस पर कर्ज चढ़ने लगा तो इसे नीलाम कर दिया गया। बाद में इस इमारत को बाबू गोपी मोहन टैगोर ने खरीद लिया।

होर्मोनिकन टेवर्न नाम का मनोरंजन का स्थान कभी वहाँ था जहाँ इस समय लाल बाजार का थाना है। उस समय कलकत्ता की सबसे सुन्दर इमारत यही थी। यहाँ रस, राग, रंग, वैभव, श्री की रंगरेलियाँ सदैव हुआ करती थीं। इसी के पास ही लन्डन टैवर्न नाम का भी एक मनोरंजन केन्द्र था।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया और दर्शकों की रुचि का परिष्कार होता गया त्यों-त्यों इस बात की भी आवश्यकता अनुभव हुई कि रंगमंच पर महिलाओं की भूमिका महिलाएँ ही करें। तरुण कलाकार

चाहे जितना सुन्दर हो और अपनी कला में चाहे जितना कुशल हो, वह नारी की भूमिका कदापि पूर्णतया सफल नहीं हो सकता। कलकत्ता के लोगों ने इस तथ्य को अच्छी तरह पहिचाना।

क्रामवेल ने १६४७ ई० में पार्लियामेन्ट की दो धाराओं के अन्तर्गत सभी नाटकों को बन्द करा दिया था। मगर सम्राट चार्ल्स द्वितीय के शासन काल में श्रीमती सान्डर्सन रंगमंच पर अवतरित हुई। उसी समय एक अन्य कम्पनी में श्रीमती नेलग्वायन नाम की एक महिला ने रंगमंच पर अभिनय किया।

इधर कलकत्ता में श्रीमती ब्रिस्टो ने अपने घर में ही निजी रंगशाला बनवायी और उन्होंने अन्य महिलाओं के साथ उसके मंच पर अभिनय किया। मिस पोप और श्रीमती कार्रगिल ने भी उस समय रंगमंच पर अभिनय करके कीर्ति प्राप्त की।

लेबेदेफ़ का बंगाली रंगमंच

जैसा कि हम जानते हैं, हमने अब तक जिन रंगशालाओं का चर्चा किया है वे सब भारत के अंग्रेज प्रवासियों के मनोरंजनार्थ निर्मित हुई थीं। इनकी सफलता देखकर एक रूसी व्यक्ति को बंगाली थियेटर आरम्भ करने की बात सूझी। इस व्यक्ति का नाम हेरेसिम लेबेदेफ था। उसे बाबू गोलोकनाथ दास नाम के एक बंगाली भाषाविद् की सहायता प्राप्त हो गयी।

लेबेदेफ के सम्बन्ध में पहले अनेक प्रकार की धारणाएँ थी। परन्तु १६२३ ई० में कलकत्ता रिव्यू के अक्तूबर अंक मे जब सर जार्ज ग्रियर्सन का लेख प्रकाशित हुआ तो उसमें लेबेदेफ के थियेटर के सम्बन्ध में पूरी बात लिखी गयी। ग्रियर्सन ने ही श्री गोलोक नाथ दास के सम्बन्ध में अच्छी तरह छान-बीन की। ग्रियर्सन के भी बहुत पहिले श्री डब्ल्यू० एच० केरी ने १८८२ ई० में निम्नांकित बातें लेबेदेफ के थियेटर के सम्बन्ध में लिखी थीं।

(१) लेबेदेफ का थियेटर १७६५ ई० में मौजूद था।

(२) पुराने चाइना बाजार से निकलने वाली एक गली डोम तल्ला मे यह थियेटर स्थित था।

(३) इसमें पहिला नाटक 'दी डिसगाइज' खेला गया था।

(४) थियेटर बंगाली ढग से सजाया गया था।

(५) इस थियेटर के लिये गवर्नर जेनरल सर जान शोर की स्वीकृति प्राप्त की गयी थी।

(६) कलाकार पुरुष और स्त्रियाँ दोनों थे।

(७) उसमें कवि भारतचन्द्रराय के गीतों की धुनें बांधी गयी थीं।

प्रश्न यह है कि उस थियेटर में किस भाषा में नाटक खेला गया था। इसका उत्तर स्वय लेवेदेफ ने दिया है। लेवेदेफ की एक पुस्तक 'सस्कृत ग्रामर' १८०१ ई० में लन्दन में छपी। इस पुस्तक की भूमिका के आवश्यक अंश ग्रियर्सन ने १९२३ ई० में कलकत्ता रिव्यू मे प्रकाशित अपने लेख में उद्धृत किये हैं। लेवेदेफ ने उस भूमिका में लिखा है—

"मैने बगला भाषा मे अग्रेजी के दो नाटकों 'दी डिसगाइज' और 'लव इज दी बेस्ट डाक्टर' का अनुवाद किया... ..जब मेरा अनुवाद प्रकाशित हुआ तो मैंने अनेक विद्वान पंडितों को उसका पर्यालोचन करने के लिये निमत्रित किया। तभी मुझे पता चल सका कि कौन से वे वाक्य थे जो उन पडितों को बहुत अच्छे लगे और जिनसे उनकी भावनाए जाग्रत हो सकीं। मै समझता हूँ कि मैं बहुत आत्म प्रशंसा नहीं कर रहा हूँ जब मैं यह कहता हूँ कि इस अनुवाद से हास्यपूर्ण तथा गम्भीर दोनों स्थल बहुत ऊँचे उठ गए और उनकी नकल करना किसी अन्य योरोपीयन लेखक के लिए फिजूल होगा क्योंकि उसे ऐसा पथ निर्देशक न प्राप्त हो सकेगा जैसा कि अत्यधिक सौभाग्य के कारण मुझे प्राप्त था। जब पडितों की आशसा प्राप्त हो चुकी तो मेरे भाषा विद् श्री गोलोक नाथ दास ने मुझसे यह प्रस्ताव किया कि यदि मैं इस नाटक को रंगमंच पर उतारना चाहूँ तो वह मुझे स्थानीय

निवासियों मे से स्त्री और पुरुष पात्र ढूँढ देंगे। मुझे यह विचार बहुत ज्यादा पसन्द आया। इसलिए योरोपियन जनता को अपनी योजना से शीघ्र लाभान्वित करने के लिए मैंने गवर्नर जेनरल सर जान शोर से (अब लार्ड टेनमाउथ) से नियमित लाइसेन्स के लिए प्रार्थना की और उन्होंने बिना हिचकिचाहट वह लाइसेन्स मुझे दे दिया।

"इस प्रकार सरक्षण प्राप्त करके और अभिनय की उत्सुकता के कारण मैंने कलकत्ता के केन्द्र डोमतल्ला में अपनी योजना के अनुसार एक विशाल थियेटर बनवाना शुरू कर दिया। इधर मैंने अपने भाषा विद् मित्र को तीन महीने के भीतर स्त्री और पुरुष पात्रों को प्राप्त करने का भार भी सौंप दिया। अब मेरा थियेटर तैयार हो गया और मुझे 'दी डिसगाइज' का बगला अनुवाद प्रदर्शित करने का अवसर मिला। यह नाटक २७ नवम्बर १७९५ ई० को खेला गया। यही खेल दोबारा २१ मार्च १७९६ ई० को भी खेला गया।"

इस प्रकार रूसी कलाकार लेवेदेफ ही आधुनिक बंगला नाट्य साहित्य और बगला रगमच के आदि लेखक तथा सस्थापक के रूप में प्रतिष्ठित हुये। हेरेसिम लेवेदेफ रूस देश के यूक्रेन प्रान्त के एक किसान थे। यात्रा का इनको बहुत अधिक शौक था। नाच रग में भी यह बहुत अधिक रुचि रखते थे। यह १७७५ ई० में नेपुल्स स्थित रूसी राजदूतावास में कर्मचारी होकर पहुँचे। वहाँ से यह पेरिस और लन्दन गए। लन्दन से यह मद्रास बैन्ड मास्टर होकर आए। अगस्त १७८७ ई० में यह कलकत्ता पहुँचे। मद्रास तथा कलकत्ता में सफल वायोलिन वादक के रूप में इनकी ख्याति थी। कलकत्ता में अक्सर यह मनोरजन का आयोजन किया करते थे। इन आयोजनों से इनको अच्छी खासी आमदनी हुई। इसी आमदनी से इन्होंने डोमतल्ला में रगमच और रगशाला बनवाकर उसे बिल्कुल बगाली ढग से सजाया। खेल के आरम्भ में भी हिन्दुस्तानी बाजे बजे। प्रसिद्ध बगाली कवि भारत चन्द्र राय 'गुणाकर'

के कुछ गीत भी धुनों में बाँध कर गाए गए। यह तो हम जानते ही हैं कि श्री गोलोकनाथ दास की सहायता से इस नाटक में स्त्री तथा पुरुष पात्र रंगमंच पर उतरे थे। इसके बाद बंगाल के रंगमंच पर प्राय. १८७३ ई० तक महिलाओं के उतरने के प्रमाण नहीं मिलते। हाँ, १८७३ ई० में बाबू नवीन कृष्ण बोस ने अपने श्याम बाज़ार स्थित निवास स्थान पर जब 'विद्यासुन्दर' का अभिनय किया था उसमें कुछ महिलायें भी रंगमंच पर आई थीं।

लेबेदेफ के इस न्यू थियेटर के बाद अनेक छोटे-छोटे थियेटरों का जन्म हुआ। १८०८ ई० में चन्द्र नगर थियेटर बना। १८१३ ई० में दी अथीनियम का जन्म हुआ। १८१५ ई० में दी किदिरपुर थियेटर निर्मित हुआ। १८१७ ई० में दी दम दम थियेटर का निर्माण हुआ। १८२७ ई० में बैठकखाना थियेटर आरम्भ हुआ। १८१३ ई० में चौरंगी थियेटर शुरू किया गया। इसका अत्यधिक प्रभाव बंगाल के लोगों पर पड़ा। इसी की देखा देखी बाबू प्रसन्न कुमार टैगोर ने हिन्दू थियेटर को जन्म दिया और बाबू नवीन कृष्ण बोस ने 'विद्या सुन्दर' के अभिनय के लिए रंगमंच तैयार किया।

चौरंगी थियेटर

चौरंगी थियेटर और सान्सभूशी थियेटर से बंगाली रंगमंच को बहुत अधिक प्रोत्साहन और प्रेरणा मिली। बाद में इसी प्रोत्साहन के फलस्वरूप बेलगछिया में स्थायी रंगमंच का निर्माण हुआ। चौरंगी थियेटर ने बंगाल के और विदेश के भी बडे बडे विद्वानों, कलाकारों और सम्भ्रान्त लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया। कैप्टेन डी० एल० रिचार्डसन, डाक्टर होरेस हेमन विल्सन. हेनरी मेरेडिथ पार्कर, जे० एच० स्टाकेलर, सर जे० पी० ग्रान्ट, विलियम लिन्टन, जार्ज शिनरी, थामस ऐलसाप, कैप्टेन डब्लयू० डी० प्लेफेयर, कैप्टेन जार्ज क्लेयरेन्स आदि अति सम्मान्ति विद्वान तथा शासक चौरंगी थियेटर के सहायक थे। इनमें से अनेक स्वयं अच्छे कलाकार और

सगीतज्ञ थे। इस प्रकार यह थियेटर १८३८ तक शान बान से चलता रहा। मगर ३१ मई १८३६ को इसमें आग लग गई और यह जल कर खाक हो गया।

सान्स सूशी थियेटर

१८३६ में चौरगी थियेटर नष्ट हुआ। इसके एक महीने बाद श्रीमती लीच कलकत्ता आयीं। चौरगी थियेटर का हाल सुनकर उन्हें बहुत दुःख हुआ। तुरन्त उन्होंने वाटरलू स्ट्रीट पर गवर्नमेन्ट प्लेस ईस्ट के पास सान्स सूशी नाम का एक थियेटर आरम्भ कर दिया। आज उस स्थान पर एज़रा मैन्शन है। इस इमारत के ऊपरी मंजिल में सेन्ट एन्ड्रूज लाइब्रेरी थी। नीचे की मजिल में ४०० व्यक्तियों के बैठने का हाल तैयार कर लिया गया और २१ अगस्त १८३६ ई० को शेरीडन नोलेसका 'हचबैक' खेला गया जिसमें श्रीमती लीच ने जूलिया की भूमिका की। साल भर तक इसी हाल में अभिनय होता रहा। इसके बाद आज जहाँ सेन्ट जेवियर कालेज है, वहीं एक बड़ी रगशाला बनवायी गयी है। इसका हाल २०० फीट लम्बा और ५० फीट चौड़ा था। इसके बनाने और सजाने में ८०,००० हजार रुपये लगे। ८ मार्च १९४१ को इस रंगशाला में शेरीडन नोलेस का नाटक 'दी वाइफ' खेला गया। इस अवसर पर गवर्नर जेनरल लार्ड आकलैन्ड भी उपस्थित थे।

इसके बाद इस रगशाला में अनेक नाटक अभिनीत हुए। श्रीमती लीच की ख्याति अत्यधिक बढी और उन्हें भारतीय रगमच की रानी कहा जाने लगा। एक बार 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' के अन्तिम अश के आधार पर लिखे 'दी हैन्डसम हस्वेन्ड' का अभिनय हो रहा था। लन्डन का प्रसिद्ध अभिनेता जेम्स वाइनिग उसमें शाइलाक की भूमिका कर रहा था। हाल खचाखच भरा हुआ था। चारो तरफ आनन्द का वातावरण था और करतल ध्वनियाँ हो रही थीं। श्रीमती लीच अपना पार्ट आरम्भ होने का इन्तजार कर रही

थीं कि उनके दामन में लैम्प से आग लग गयी। पहिले तो उन्हों ने स्वय आग बुझाने की कोशिश की, फिर सहायता के लिए आवाज़ लगायी। पर्दा गिर गया और आग किसी प्रकार बुझाई गयी। मगर श्रीमती लीच बुरी तरह जल गयी थीं। उनका देहान्त २२ नवम्बर १८४३ ई० को हो गया। श्रीमती लीच की इस प्रकार की मृत्यु से हाहाकार मच गया। इसके बाद इस थियेटर की उन्नति नहीं हो सकी।

२४ अप्रैल १८४४ ई० में इसी थियेटर में 'ओथेलो' खेला गया फिर यह एक फ्रान्सीसी के हाथों में चला गया। १८४६ ई० में यह इमारत बिक गयी। कुछ दिनों तक श्री वेरी 'शान्स सूशी' के ही नाम पर अपने घर पर अभिनय करते रहे। इनके अभिनयों में बंगाली तरुण भी भाग लिया करते थे। मई १८४९ ई० में यह भी खत्म हो गया। इसके बाद वनगोल्डर का 'लिरिक थियेटर', 'दी लाइसियम आन दी मैदान,' 'लेविस थियेटर' और 'आपेरा हाउस' नाम के थियेटर खुले। मगर इन थियेटरों की देन बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि आधुनिक बगला रगमच के पहिले इन अंग्रेजी और योरोपियन थियेटरों की एक लम्बी और उत्साहवर्द्धक परम्परा रही है जिसका पूरा प्रभाव बगाली रंगमच पर पड़ा। 'चौरगी थियेटर' और 'शान्स सूशी' थियेटर को प्रिन्स द्वारिका नाथ टैगोर ने बड़ी सहायता दी थी। बगाली दर्शक अच्छी सख्या में अंग्रेजी नाटकों को देखने के लिए जाया भी करते थे। इस पकार सस्कृत नाटकों, जात्राओं तथा अंग्रेजी नाटकों की परम्परा आधुनिक बंगाली रगमंच और नाट्य साहित्य की पूर्व पीठिका के रूप में थी और इन सबसे आधुनिक बगाली रगमच को पर्याप्त शक्ति और प्रेरणा मिली।

हिन्दू थियेटर

'हिन्दू थियेटर' को ही प्रथम बगाली रंगमंच के रूप में माना जाता है। यद्यपि कतिपय विद्वानों ने इस सम्बन्ध में मतभेद प्रकट किया है

मगर आधुनिक अनुसधानों के फलस्वरूप अब इस मान्यता में सदेह नहीं रह गया है। 'हिन्दू थियेटर' को श्री प्रसन्न कुमार टैगोर ने स्थापित किया। उसकी व्यवस्थापिका सभा के सदस्य थे बाबू प्रसन्न कुमार टैगोर, श्री श्रीकृष्ण सिंह, श्रीकृष्णचन्द्र दत्त, श्री गगा चरण सेन, श्री माध्यम चन्द्र मल्लिक, श्री ताराचन्द्र चक्रवर्ती तथा श्री हर-चन्द्र घोष। २८ दिसम्बर १८३१ ई० को इसके रगमच पर प्रोफेसर विल्सन द्वारा अनूदित 'उत्तर रामचरित' के कुछ अशों और 'जूलियस सीजर' के कुछ भागो का अभिनय हुआ। इस अवसर पर सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य योरोपीय अतिथि उपस्थित थे।

जैसा कि स्वाभाविक था, भारतीयो के इस अभिनव प्रयास से प्रभु जाति के कुछ लोगों को चिढ हुई। उन्होंने ऐसी हिम्मत करने के लिये उनकी कटु आलोचना भी की। परन्तु ऐसे भी योरोपियन व्यक्ति और पत्र थे जिन्होंने इस शुभ प्रयास का स्वागत किया। स्वय डाक्टर विल्सन ने कलाकारों का निर्देशन किया। यह स्वीकार करना पडेगा कि प्रोफेसर रिचार्डसन और डाक्टर विल्सन ने अपने शिष्यो को सदैव इस कार्य मे भाग लेने के लिए उत्साहित किया और उन्होंने बगाली रगमच निर्मित करने में पूरा सहयोग दिया। सर एडवर्ड रेयन, राजा राधा कान्त देव आदि परम सम्भ्रान्त व्यक्तियों के सहयोग के फलस्वरूप ही इस रगमच का निर्माण हो सका था।

शामबाजार थियेटर

शाम बाजार थियेटर का जन्म इसके बाद हुआ। शाम बाजार थियेटर को भी बहुत से लोग प्रथम बगाली थियेटर कहते हैं। पाठकों को स्मरण होगा कि लेबेदेफ ने 'बगाली थियेटर' नाम की सस्था को जन्म दिया था और एक अग्रेजी नाटक का बगला अनुवाद करके उसे रगमच पर प्रस्तुत किया था। बाबू नवीन कृष्ण बोस ने 'हिन्दू थियेटर' के जन्म के कुछ महीनो बाद 'शाम बाजार थियेटर' आरम्भ किया और बंगाली जनता के लिए बंगाली भाषा में नाटक

प्रस्तुत किया। प्रथम नाटक भारत चन्द्र राय 'गुणाकार' कृत शृंगार प्रधान 'विद्या सुन्दर' था। इसमें बादल बिजली आदि को दिखाने के लिए नवीन बाबू ने विलायत से सामान मंगवाया। चूंकि इस नाटक के लिए विशेष रंगमंच नहीं बना था इसलिए दर्शकों को स्वयं उठ उठकर अभिनय स्थलों पर जाना पड़ता था। उदाहरणार्थ, सुन्दर बकुल वृक्ष के नीचे एक तालाब के किनारे बैठा हुआ है। नवीन बाबू के बाग का तालाब इस दृश्य मे दिखाया गया था। इस दृश्य को देखने के लिए दर्शकों को वहाँ जाना पड़ा था।

इस नाटक में सुन्दर की भूमिका बाराह नगर के अति सुन्दर तरुण श्री श्यामचरण बन्धोपाध्याय ने की थी। राधामणि नाम की एक हिन्दुस्तानी महिला ने विद्या की भूमिका की थी। राजकुमारी ने सहचरी और जय दुर्गा ने रानी की भूमिका की थी। यह याद रखने की बात है कि इसी समय श्रीमती लीच अपने अद्भुत अभिनयों से अपार यश अर्जित कर रही थीं। इसी समय मणिपुरी अभिनेता अभिनेत्रियों का दल भी यहाँ आया था और वह कृष्ण तथा गोपियों की लीलाओं का प्रदर्शन किया करता था। इस प्रकार उस समय कलकत्ता में बंगाली नाटकों तथा रगमंच का प्रचलन अच्छी तरह हो गया था। नवीन बाबू ने महिलाओ को बंगाली रगमच पर लाने मे अपूर्व सफलता प्राप्त की और राधामणि का अभिनय तो बरसो तक लोगों को याद रहा।

हिन्दू थियेटर प्राय. दो वर्ष चलकर बन्द हो गया। नवीन बाबू का श्याम बाजार थियेटर भी अन्त में बन्द हो गया। नवीन बाबू ने इसे बनाने मे अपने को मिटा दिया। उन्हें दो लाख रुपयों का घाटा हुआ। उन्होंने पूर्वी तथा पाश्चात्य रंगमंच के समन्वय से अभिनव बगाल रंगमच की स्थापना की और कलकत्ते के सांस्कृतिक जीवन में एक बहुत बड़ा कार्य कर डाला, यद्यपि इस कार्य के फल-स्वरूप उनका सर्वस्व नष्ट हो गया। नवीन बाबू तो मिट ही गए

राधामणि जो कि सत्यमेव बंगाली रंगमंच पर अभिनय करने वाली सर्वप्रथम यशस्विनी महिला थी जीवन के अन्तिम दिनों में दर दर भिक्षाटन करती फिरी।

बंगाली विद्यार्थियों के रंगमंच

कलकत्ता में पाश्चात्य रंगमंच का प्रभाव ज्यों-ज्यों बढ़ता गया त्यों त्यों शिष्ट समाज में भी उसके लिए रुचि पैदा होती गयी और कलकत्ता का विद्यार्थी समाज इससे अछूता न रह सका। १८३७ ई० में हिन्दू कालेज और संस्कृत कालेज के विद्यार्थियों ने शेक्सपियर के विभिन्न नाटकों के चुने हुए अंशों का अनेक स्थलों पर पाठ किया। उसी वर्ष ३० मार्च को डाक्टर विल्सन की देख रेख में विद्यार्थियों ने अनेक नाटकों के चुने हुए अंशों का अभिनय गवर्नमेन्ट हाउस में किया। प्रोफेसर रिचार्डसन और डाक्टर विल्सन का सहयोग तो इन विद्यार्थियों को प्राप्त था ही। फ्रान्सीसी विद्वान हरमन जेफरी ने भी विद्यार्थियों को बहुत उत्साहित किया। १८५२ ई० में बड़तल्ला में विद्यार्थियों ने अनेक नाटक संस्थाएँ बनायीं। मेट्रोपालिटन एकेडमी में १८५२ ई० में विद्यार्थियों द्वारा 'जूलियस सीजर' का अभिनय हुआ। १५ फरवरी १८५३ ई० को डेविड हेयर एकेडमी में 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का अभिनय किया गया। उस समय रंगमंच पूरी तरह सजा हुआ था। उसमें 'शायलाक' का पार्ट सबसे अच्छा हुआ था। अभिनय को देखने के लिए ६०० से अधिक अंग्रेज़ तथा भारतीय दर्शक उस समय उपस्थित थे।

१८५३ ई० में बाबू प्रियानाथ दत्त ने बाबू दीनानाथ घोष, बाबू सीताराम घोष तथा ओरियन्टल सेमीनरी के अनेक पुराने छात्रों का सहयोग प्राप्त करके 'ओरियन्टल थियेटर' आरम्भ किया। उन्होंने चितपुर रोड स्थित एक स्कूल में रंगमंच बनाया। कुछ ही दिनों में बाबू केशव चन्द्र गांगूली तथा माइकेल मधुसूदन दत्त भी इस दल से आ मिले। केशव चन्द्र और प्रियानाथ बेलगाछिया और पाथर घाटा

थियेटर में प्रमुख रह चुके थे। बगाली रगमच के निर्माण में इनका बहुत बड़ा हाथ था। वह थियेटर १८५५ ई० तक चलता रहा। बङ्गाल हरकारा ने १६ फरवरी १८५५ ई० में लिखा था, "ओरियन्टल थियेटर केवल भारतीय लोगों के प्रयत्नों का फल था। यह इस बात का अन्तिम प्रमाण है कि हमारे देशवासी किसी भी श्रेष्ठ कार्य को कितनी सहनशीलता और परिश्रम के साथ पूरा करते हैं। और यह कि वे राष्ट्रीय मनोरजन के प्रति कैसी रुचि रखते हैं हमें यह जानकर सतोष हुआ कि हिन्दुओं में शिष्ट भावनाओं का उदय कितनी तेजी के साथ हो रहा है। आधी शताब्दी पहिले मुस्लिम निरंकुशता ने राष्ट्र को केवल राजनीतिक निष्क्रियता में ही नहीं दबा रखा था, बल्कि उसको नैतिक निष्क्रियता का भी गुलाम बना दिया था.. मगर अब विकास का कार्य आरम्भ हो गया है और उन्हें अपने व्यक्तित्व का विकास करते देखकर हमें प्रसन्नता होती है।"

'ओरियटल थियेटर' का सुनाम जिस समय फैल रहा था उसी समय वाराणसी घोष स्ट्रीट में 'जुलियस सीजर' का भी अभिनय हुआ। यह अभिनय बाबू नवीन कृष्ण बोस के भतीजे बाबू प्यारी मोहन बोस के घर पर हुआ था। ३ मई १८५४ ई० को यह अभिनय जनता के सामने अत्यन्त सफल उतरा। इस अभिनय का बहुत सुन्दर वर्णन मिलता है। "प्यारी बाबू का निवासस्थान दीपमालिका से जगमगा रहा था। उसकी सजावट बड़ी भली लगती थी। यद्यपि उस समय पानी बरस गया था फिर भी चार सौ दर्शक आये थे। बाबू मोहेन्द्रनाथ बोस ने 'सीजर' की, क्रिस्टोधन दत्त ने ब्रूटस की और जादूनाथ चैटरजी ने कैसियस की भूमिका की। इस नाटक मे भाग लेने वाले सभी कलाकार सम्भ्रान्त कुल के सुसभ्य लोग थे। अभिनय अत्यन्त सुन्दर हुआ और कुछ लोगों का कहना था कि इन लोगों ने "ओरियन्टल थियेटर' को भी मात दे दी। रगमंच, दृश्यपट, सजावट

सभी कुछ बहुत अच्छा था। बाबू जादूनाथ चैटरजी, जो कि ओरियन्टल सेमीनरी के विद्यार्थी रह चुके थे, प्रशसा और यश के भागी बने। उन्होंने रोमन षड़यन्त्रकारी का अभिनय पूर्ण सफलता के साथ किया।

मगर, यहीं यह बात समझ लेनी चाहिए कि अंग्रेजी नाटको में पूर्ण सफलता प्राप्त करने के बावजूद बङ्गाल और कलकत्ता के नौजवान बगाली नाटकों और बगाली दर्शकों के इच्छुक थे। उन्हें अंग्रेजी नाटकों से पूरा सतोष नहीं प्राप्त होता था। इनके इस सतोष का नतीजा था कि धीरे-धीरे कलकत्ता में राष्ट्रीय रगमच का उदय हुआ और वह समय पाकर विकसित होने लगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक बगाली नाटक सस्कृत की सीधी परम्परा में आते हैं। भारत के विभिन्न भागों में इसके चिह्न मिले हैं। 'पारिजात मजरी नाटिका' गुजरात में एक काले पत्थर पर उत्कीर्ण मिली है। 'पारिजात हरण' और 'विद्या विलाप' आसाम मे मिले। श्री चैतन्य के उदय ने इसे बहुत बल दिया। श्री चैतन्य तथा उनके शिष्यों ने स्वय अभिनय किया। उनके मित्र और शिष्य रामानन्द राय तथा रुपगोस्वामी ने क्रमश. 'जगन्नाथ वल्लभ' तथा 'विदग्ध माधव' और 'ललित माधव' नाटक लिखे। इसके बाद जात्राओं, कृष्ण कीर्तनो, कवियों तथा पाचालियों का युग आया। यदि मुस्लिम शासकों ने जोर दमन आदि न किया होता तो सम्भवत. सस्कृत नाटकों की परम्परा चलती रहती। वह परम्परा तो न चल सकी। मगर उपर्युक्त लोक नाट्य की परम्पराएँ चलती रहीं। प्लासी के युद्ध के बाद भी यह परम्परा चलती रही। अब अंग्रेजी थियेटरों का युग आया जिसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। इनको बगालियों ने देखा और इनमे भाग भी लिया। फलतः उन्हें पूर्णतया स्वदेशी रगमच निर्मित करने की बात सूझी और आधुनिक बगाली रगमच की नींव पड़ी। जैसा कि हम जानते हैं लेबेदेफ ने सर्व प्रथम एक अंग्रेजी नाटक 'डिसगाइज़' का बगला रूपान्तर करके उसे

अभिनीत किया था। इसके बाद डा० विल्सन और कैप्टेन रिचार्डसन का समय आया जिन्होंने विद्यार्थियों को इस क्षेत्र में आने के लिए बहुत उत्साहित किया। श्री प्रसन्न कुमार टैगोर ने १८३१ ई० में हिन्दू थियेटर आरम्भ किया। मगर सत्यमेव प्रथम बंगाली थियेटर बाबू नवीन चन्द्र बोस का ही था जिसे उन्होंने श्याम बाजार में १८३३ ई० में शुरू किया था।

'विद्या सुन्दर' के प्रसिद्ध लेख भारतचन्द्र ही बंगला भाषा के सर्व प्रथम नाटककार थे। इन्होंने अपने जीवन के अंतिम दिनों में 'चन्डी' नाम के नाटक की रचना आरम्भ की परन्तु उसे समाप्त करने के पहिले ही उनका देहान्त हो गया। 'चन्डी' नाटक में संस्कृत नाट्य परम्परा का ही पालन किया गया है। नान्दी श्लोक में सूत्रधार ने भारत चन्द्र के संरक्षक कृष्ण नगर के तत्कालीन राजा कृष्ण चन्द्र की प्रशंसा की है। इस नाटक में चन्डी देवी हैं, उनका शत्रु महिषासुर है और उनकी प्रजा है। सूत्रधार संस्कृत में बोलता है, परन्तु नटी बंगला में उत्तर देती है। चन्डी संस्कृत में बोलती है, परन्तु महिषासुर तथा अन्य पात्र बंगला भाषा का प्रयोग करते हैं। नाटकों में उच्च कोटि के पात्र संस्कृत तथा निम्नकोटि के पात्र प्राकृत में बोलते हैं। 'चन्डी' नाटक के कथोपकथन में संस्कृत, हिन्दी और फारसी शब्दों का सम्मिश्रण पाया जाता है। इस नाटक की रचना १७६० ई० में हुई थी।

बीस बरस बाद नदिया के पंडित विद्यानाथ वाचस्पति भट्टाचार्य ने बंगला के द्वितीय नाटक 'चित्रयज्ञ' की रचना की। यद्यपि विद्वानों में इस नाटक का रूप ठहराने में मतभेद है—बाबू काली प्रसन्न सिन्हा इसे संस्कृत नाटक मानते हैं तथा श्री एच० एच० विल्सन इसे किसी विशेष नियम में बंधी हुई नाट्य रचना नहीं मानते—फिर भी अधिकतर विद्वान इसे संस्कृत का दूसरा नाटक ही मानते हैं और विल्सन साहब स्वयं कहते हैं, "इसका मूल्य इस

लिए बहुत अधिक है कि इससे मालूम होता है कि उस समय के हिन्दू बंगाली नाट्य रचना के सम्बन्ध में कैसा प्रयास कर रहे थे। बाद में यात्राओं ने इसी 'चित्रयज्ञ' नाटक का अनुकरण किया। इस नाटक के कथोपकथन में जोड़ने घटाने की पूरी स्वतंत्रता कलाकारों को रहती थी।

इसके बाद लेवेदेफ ने 'दी डिसगाइज' का अनुवाद किया जिसका चर्चा हम कर चुके हैं। चौथा नाटक हम 'कलि राजार यात्रा' को मान सकते हैं। पाँचवा नाटक कौन था पता नहीं चलता मगर उसके सम्बन्व में आलोचनाएँ मिलती हैं। छठवाँ नाटक 'कामरूप' यात्रा था। इसके मूल लेखक थे विलियम फ्रैंकलिन। इसका बंगला अनुवाद भवानीपुर के बाबू जगमोहन बोस ने किया था और यह ६ मार्च १८२२ ई० को उसी स्थान के निवासी बाबू श्याम सुन्दर दास के घर पर खेला गया था। इसके बाद कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक का नाम आता है जिसका बंगला अनुवाद १८२२ ई० में 'आत्म तत्व कौमुदी' के नाम से छपा। इसके अनुवादक थे सर्वश्री काशी नाथ तर्कपंचानन, गदाधर न्यायरत्न तथा रामकिंकर शिरोमणि। इसमें ६ अंक थे। ब्रिटिशम्युजियम की पुस्तक सूची में इसका नाम है। यह चन्द्रिका प्रेस मे छपा था। इसका दाम दो रुपया था।

रेवरेन्ड जे० लाग ने १८५२ ई० मे ग्यारह सौ बंगाली पुस्तकों की सूची मे 'हास्यार्णव' तथा 'कौतुक सर्वस्व नाटक' का चर्चा किया है। 'हास्यार्णव' हास्य रस का नाटक था। बंगला भाषा मे १८२२ में इसका अनुवाद किया गया। 'कौतुक सर्वस्व' भी संस्कृत का ही अनुवाद है। अनुवादक थे श्री रामचन्द्र तर्कालंकार। इसका अभिनय भी हुआ था। यह विश्वास किया जाता है कि १८२६ ई० के लगभग किसी सरकारी कर्मचारी ने शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' का भी बंगला मे अनुवाद किया था। मगर इसकी कोई

प्रतिलिपि प्राप्त नहीं है। १८३३ में भारत चन्द्र का 'विद्यासुन्दर' नवीन बाबू के घर पर खेला गया। १८४० ई० में श्री रामतर्क भट्टाचार्य ने कालिदास कृत शकुन्तला का अनुवाद प्रकाशित किया। इसी समय नीलमणि पाल ने संस्कृत नाटक 'रत्नावली' का अनुवाद बंगला में किया। श्री पंचानन बैनरजी कृत 'रमणी' नाटक १८४८ ई० में प्रकाशित हुआ। 'कीर्ति विलास' नामक नाटक की रचना श्री जी० सी० गुप्त ने की। श्री रामगति न्यायरत्न ने १८४६ ई० में 'महानाटक' की रचना की। श्री पंचानन बैनरजी ने 'प्रेम' नाटक की भी रचना की थी। इसका प्रकाशन १८५३ ई० में हुआ था। 'रमणी' तथा 'प्रेम' नाटक को कुछ लोग नाटक नहीं मानते, केवल काव्य मानते हैं। १८५०-५२ ई० में बाबू हरचन्द्र घोष ने 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का अनुवाद 'भानुमतीर चित्त विलास' के नाम किया। इन्होंने 'कौरव विजय' नाटक की भी रचना की थी। भद्रार्जुन नाटक १८५२ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके लेखक थे श्री तारा चरण सिकदार। इसमें सुभद्रा हरण का चर्चा है। अब तक जितने नाटक बंगाल में अनुदित हुए अथवा मौलिक रूप से लिखे गये थे। सभी पर संस्कृत का प्रभाव पूरा पूरा था। श्री ताराचरणसिकदार का 'भद्रार्जुन' नाटक सम्भवतः प्रथम नाटक है जिसे हम सर्वथा और पूर्णतः मौलिक कह सकते हैं। भूमिका में स्वयं सिकदार बाबू ने कहा है, "पुस्तक सर्वथा नवीन ढंग से लिखी गई है। इसलिए उसके सम्बन्ध में थोड़े में, कुछ बातें हम बता देना चाहते हैं। नाटकीयता तथा परिस्थितियों के चुनाव में यह नाटक योरोपीय नमूने के अनुसार तैयार किया गया है। मैंने संस्कृत नाटकों के नान्दी, सूत्रधार नटी आदि को हटा दिया है। 'विदूषक' को भी मैं नाटक में नहीं ले आया। दृश्य के लिए मैंने 'संयोग स्थल' शब्द का प्रयोग किया है।" उस समय सुभद्रा के सम्बन्ध में कवियों और साहित्यकारों में विशेष रुचि थी। माइकेल मधुसूदन दत्त ने 'सुभद्रा' नाम का

अपूर्ण नाटक लिखा था। 'रैवतक' और 'कुरुक्षेत्र' में नवीन चन्द्र ने सुभद्रा के चरित्र पर विशेष बल दिया था। 'विश्वाकर्ष' में बंकिम चन्द्र ने भी सुभद्रा के चरित्र पर विशेष ध्यान दिया था। परन्तु श्री सिकदार ने 'भद्रार्जुन' नाटक मे सुभद्रा के साथ पूरा न्याय किया और उसकी रचना में सर्वथा नवीन टेकनीक और भाषा का प्रयोग किया। इस दृष्टि से बंगला नाट्य साहित्य में श्री सिकदार का यह प्रयोग सर्वथा नवीन था।

१८५३ ई० में श्री प्रेमदास ने 'चैतन्य चन्द्रोदय' नाटक की रचना की। इस नाटक में श्री चैतन्य महाप्रभु के चरित्र का नाटकीकरण हुआ है। उस समय के सबसे प्रसिद्ध कवि और लेखक श्री ईश्वरचन्द्र गुप्त ने 'बोधेन्दु विकास' नाटक की रचका की। इसमें कथोपकथन और गीत दोनो हैं और इसकी रचना संस्कृत प्रणाली के अनुसार ही हुई है। इसका आधार सस्कृत का प्रसिद्ध नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' है। इसके कुछ अंश १८५९ ई० में प्रकाशित हुए थे। परन्तु श्री हेमेन्द्रदास गुप्त के अनुसार इसका प्रकाशन १८५३ ई० में ही हो गया था। श्री ईश्वरचन्द्र गुप्त ने 'कलि' नाम का एक और अपूर्ण नाटक लिखा था। इसके बाद बाबू काली प्रसन्न सिनहा ने 'विधवा उद्भव' नाटक की रचना की। इनकी रचना १८५५ ई० के पहिले हो चुकी थी।

इस युग का सबसे प्रसिद्ध नाटक 'कुलीन कुल सर्वस्व' था जिसे श्री राम नारायण तर्करत्न ने लिखा था। इसका प्रकाशन १८५४ ई० मे हुआ। इस नाटक की बड़ी प्रशसा हुई। राशिका और फूलकुमारी का चरित्र चित्रण बहुत सुन्दर हुआ। ब्राह्मणी की बातें अत्यत स्वाभाविक रहीं। धर्मशील के चरित्र का समर्थन पुराणों में प्राप्त होता है। जैसा कि हम जानते हैं 'डिसगाइज' का अनुवाद (१७९५ ई०) बंगला नाट्य साहित्य का प्रथम अनूदित नाटक था। 'कलिराजार यात्रा' (१८२१ ई०) हास्य रस की एक रचना थी।

'विद्या सुन्दर' (१८३३ ई०) गीति नाट्य था। परन्तु सच्चे और सम्पूर्ण अर्थ में· 'कुलीन कुल सर्वस्व' ही बगला भाषा का सर्व प्रथम नाटक था और इसे १८५६ ई० में रगमच पर प्रस्तुत किया गया था। इसका अभिनय ज्यास्क हाउस (टैगोर कैसल रोड) में हुआ था जिसके सहन मे रगमच बनाया गया था। इसमें ६००-७०० दर्शक उपस्थित थे जिनमें बाबू किशोरी चन्द्र मित्तर, प्यारी चन्द्र मित्तर, क्षेत्रेश चन्द्र घोष, डाक्टर राजेन्द्र लाल मित्तर और नागेन्द्र नाथ टैगोर भी थे। इस नाटक को देखने के लिए श्री ईश्वर चन्द्र विद्या-सागर भी गए थे। इसका सख्त विरोध कट्टर पंथी हिन्दुओं की ओर से हुआ था। परन्तु इसका प्रभाव बहुत अधिक पड़ा। कुलीनों के विरोधों के बावजूद इसकी लोकप्रियता बढ़ती गयी। इसका अभि-नय अत्यन्त सफलता पूर्वक हुआ था। लगभग इसी समय 'स्वर्ण शृखला' नाटक का भी अभिनय हुआ था।

'शकुन्तला नाटक' का अभिनय ३० जनवरी और २२ फरवरी १८५७ ई० को छातू बाबू के घर पर हुआ। शकुन्तला का बगला का अनुवाद बाबू नन्दन लाल राय ने किया था। ४०० दर्शक आये थे। श्री ओ० सी० दत्त ने इसके लिए गीत लिखे थे और रगमच की व्यवस्था की थी। इसमें शकुन्तला का अभिनय तत्कालीन सर्वप्रसिद्ध कलाकार बाबू शरतचन्द्र घोष ने किया था। इन्होंने ही बाद में 'बगाल थियेटर' की स्थापना की थी। संस्कृत के कादम्बरी काव्य के आधार पर लिखित 'महाश्वेता' नाटक की रचना श्री मणिमोहन सरकार ने की थी। बाद में इन्होंने 'उषा अनिरुद्ध' नाम की यात्रा भी लिखी थी। इसका अभिनय प्रथम बार सितम्बर १८५७ ई० में हुआ था। बाद में इसका अभिनय श्रीगिरीश चन्द घोष ने भी किया था।

१८५७ ई० में बाबू काली प्रसाद सिनहा 'विद्योत्साहिनी थियेटर' आरम्भ किया। इन्होंने बगला मे सस्कृत नाटकों की प्रणाली पर ही नाटकों की रचना की और बाबू शरत्चन्द्र घोष के 'शकुन्तला'

नाटक का अनुसरण किया। उन्होंने शुद्ध भारतीय रंगमंच का निर्माण किया। इन्होंने 'वेणीसंहार' 'मालती माधव' और 'विक्रमोर्वशी' नाटकों के अभिनय की व्यवस्था की। दर्शकों में भारतीय तो थे ही, अनेक योरोपियन भी थे। भट्टनारायण के 'वेणी संहार' नाटक का बंगला अनुवाद बाबू रामनारायण तर्करत्न ने किया था। इसका अभिनय ११ अप्रैल १८५७ ई० को शनिवार के दिन हुआ था। काली प्रसन्न बाबू उस समय १६, १७, वर्ष के थे। उन्होंने राजकुमारी भानुमाती की भूमिका की थी। उनके बदन पर उस समय एक लाख रुपये से ऊपर के वस्त्राभूषण थे। अभिनय सफल हुआ था।

'विक्रमोर्वशी' कालिदास के इसी नाम के नाटक का स्वतंत्र अनुवाद था। इसकी रचना १८५७ ई० में हुई और यह उसी साल प्रकाशित भी हुआ। विद्योत्साहिनी थियेटर में यह नाटक बहुत शान बान से खेला गया इस नाटक में सूत्रधार नहीं था। काली प्रसन्न ने इसमें पुरूरवा का अभिनय किया था। श्री उमेशचन्द्र बनर्जी उस समय तेरह वर्ष के थे। उन्होंने भी इस नाटक में अभिनय किया था। यह नाटक भी आशातीत रूप से सफल हुआ था। १८५८ ई० में श्री कालीप्रसन्न सिनहा ने 'सावित्री सत्यवान' नाम का नाटक लिखा और यह नाटक ५ जून १८५८ ई० को अभिनीत हुआ। पात्रों का चुनाव बहुत अच्छा था, दृश्य भी बहुत अच्छे और आकर्षक थे। कथोपकथन चुस्त था और शैली भी बहुत सुन्दर थी। १८५६ ई० में काली प्रसन्न ने 'मालती माधव' नाटक लिखा और प्रकाशित किया। यह नाटक भवभूति कृत इसी नाम के नाटक के आधार पर लिखा गया था। काली बाबू ने इसके लिखने में रंगमंच का विशेष ध्यान रखा था। माइकेल मधुसूदन के पहिले ही इस महान् नाटककार ने इन नाटकों तथा अन्य कार्यों द्वारा समाज के सामने नए आदर्शों और नये सुधारों को पेश करके महत्वपूर्ण कार्य किया और जनप्रियता प्राप्त की।

बेलगछिया थियेटर

बंगाल के सांस्कृतिक विकास में इस संस्था का अत्यधिक महत्व-पूर्ण स्थान है। बेलगछिया थियेटर से ही बगाल में स्थानीय रंगमंच का आरम्भ होता है। इसके पहिले के जितने भी प्रयत्न थे, वे महत्व पूर्ण होते हुए भी अस्थायी थे। परन्तु इस सस्था के आरम्भ होते ही बंगाल के सामाजिक जीवन में एक महत्वपूर्ण मोड़ आया, वहा के बुद्धि जीवियो में राष्ट्रीय नाटक तथा राष्ट्रीय रगमंच के लिए सच्चा प्रेम जाग्रत हुआ। इसी संस्था के माध्यम से माइकेल मधुसूदन दत्त का उदय हुआ और बंगला काव्य, साहित्य, रगमंच और सार्वजनिक जीवन में नवीन युग आरम्भ हुआ। जिस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने नवयुग का आरम्भ किया और समस्त प्राचीन धाराओं को नयी दिशा दे दी उसी प्रकार माइ-मधुसूदन दत्त ने बगला साहित्य में भी किया था। कवि के रूप में तो वह सर्वश्रेष्ठ थे ही, उन्होंने नाट्य साहित्य में भी 'कृष्ण कुमारी' लिखकर नया स्तर और मानदण्ड कायम कर दिया।

जिस समय बाबू आसुतोष देव के निवास स्थान पर 'शकुन्तला' का अभिनय हो रहा था, वहाँ महाराजा जतीन्द्र मोहन टैगोर, राजा ईश्वर चन्द्र सिंह और उनके भाई प्रताप चन्द्र सिंह भी उपस्थित थे। उप-युक्त अवसर देखकर टैगोर महोदय ने बंगाल में स्थायी रंगमंच निर्मित करने का चर्चा चलाया और राजा ईश्वर चन्द्र तुरन्त राजी हो गये। डेढ वर्ष के कठिन परिश्रम के बाद ३१ जुलाई १८५८ ई० को ८-३० बजे रात को 'रत्नावली' नाटक का अभिनय हुआ। इसी नाटक से बेलगछिया थियेटर का जन्म हुआ। सर फ्रेडरिक हेलीडे, श्री ह्यूम, श्री गुरुदास चक्रवर्ती, श्री काली कृष्ण बहादुर, श्री रामगोपाल घोष, श्री प्यारीचन्द्र मित्तर, श्री किशोरी चन्द्र मित्तर, श्री रामनारायण तर्करत्न आदि उपस्थित थे। इनमें से भाग लेने वाले कलाकार आगे चलकर समाज के कर्णधार बने और उच्च से उच्च पद प्राप्त किया

निम्नांकित कलाकारों ने भाग लिया। राजा उद्‌यन—प्रियनाथ दत्त, वासन्तक—केशव चन्द्र गांगूली, रमणवान—राजा ईश्वरचन्द्र सिंह, यौगन्धरायण—बाबू गौरव दास ब्यास्क। वाभ्रण्य—नवीन चन्द्र मुखरजी, वहुभूति—गिरीश चन्द्र चैटरजी, वासवदत्ता—महेन्द्रनाथ गोस्वामी, रत्नावली—हेमचन्द्र मुखरजी, सुसगता—अधीर चन्द्र दिघारिया, सूत्रधार—क्षेत्र मोहन गोस्वामी, संगीतकार—महाराजा जतीन्द्र मोहन आदि। इनमें भी श्री केशव चन्द्र गांगूली का अभिनय सर्वश्रेष्ठ हुआ था। इसे सफल बनाने में डाक्टर राजेन्द्र लाल मित्तर, पंडित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, श्री रामप्रसाद राय, श्री द्वारिका नाथ मल्लिक और श्री ताराचरन गुहा ने अत्यधिक परिश्रम किया था। इस नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करने में दस हजार रुपये खर्च हुए थे। रंगमंच की सजावट अभूतपूर्व थी और आदि से अन्त तक दर्शक किसी मोह निद्रा में ठगे से पड़े रहे। बाद में माइकेल मधुसूदन दत्त ने अपना नाटक 'कृष्ण कुमारी' श्री केशव चन्द्र को ही समर्पित किया।

'रत्नावली' के बाद माइकेल मधुसूदन दत्त कृत 'शर्मिष्ठा' का अभिनय हुआ। इसमें माढव्य की भूमिका श्री केशव चन्द्र ने की थी। प्रियनाथ दत्त ने ययाति और कृष्टोधन मुखरजी ने 'शर्मिष्ठा' की भूमिका की। यह नाटक भी रंगमंच पर अत्यन्त सफल उतरा। इस सफल नाटक को देखकर मधुसूदन दत्त के गुरु बाबू रामचन्द्र मित्र ने कहा "ओह मधु। सच मधु, मेरे बच्चे, सचमुच तुमने कमाल किया। ओह, कितना सुन्दर है यह नाटक!" इस नाटक में माइकेल मधुसूदन दत्त ने अंग्रेजी परिपाटी का अनुसरण किया था। आरम्भ में उन्होंने एक गीत दिया था जो इस प्रकार था—

> मरि होय कोथा से सुखे रसमय।
> जे समय, देशमय, नाट्यरस सविशेष छिलो रसमय।
> सोना गो भारत भूमि, कत निद्रा यावे तुमि।
> आर निद्रा उचित न हय।

उठ त्याग घुमा घोर, हेला हेला भोर।
दिनकर प्राची ते उदय।
कोथाए वाल्मीकि व्यास, कोथा तव कालिदास।
कोथा भवभूति महोदय।
अलीक कुनाट्यरंगे, मजे लोक राढ़े भंगे।
निरखिया प्राणे नाहि सय।
सुधारस अनादरे, विषवारि पान करे।
ताहि होय तन मन चय।
मधु कहे जागो मागो, विभुस्थाने एई मागो।
सरसे प्रवृत्त ह'क तव तनय निशय।

'शर्मिष्ठा' का अन्तिम अभिनय २२ सितम्बर १८५६ ई० को वेलगछिया थियेटर मे हुआ। इसे देखने के लिए बंगाल के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर भी आए थे। अनेक योरोपीय तथा भारतीय गण्य मान्य सज्जनों ने 'शर्मिष्ठा' का सफल अभिनय देखा और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। इस प्रकार 'कुलीन कुल सर्वस्व', 'शकुन्तला', 'रत्नावली' और 'शर्मिष्ठा' ने बंगाल के नाट्य साहित्य में क्रान्ति उपस्थित कर दी और रेवरेन्ड जे० लांग के शब्दों में 'नाटक कला के लिये शिक्षित हिन्दुओं में एक विशेष प्रकार की रुचि उत्पन्न हो गयी और वे अंग्रेज़ी नाटकों के अनुवाद से अधिक महत्त्व प्राचीन हिन्दू नाटकों को देने लगे।'

मधुसूदन दत्त ने 'शर्मिष्ठा' के बाद 'पद्मावती' नाटक की रचना की। यह नाटक भी उच्च कोटि का था, मगर इसका अभिनय न हो सका। १८६० ई० में इन्होंने दो लघु हास्य नाट्य 'एई कि बोले सभ्यता' तथा 'बुड़शालिकेर घारे रओ' लिखे। इन रचनाओं की भी बड़ी प्रशंसा हुई। बंकिम चन्द्र चैटरजी ने १८७१ ई० में कलकत्ता रिव्यू में बाबू हरमोहन मुखरजी के नाम से एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने माइकेल मधुसूदन दत्त के नाटकों की आलोचना की

और इन हास्य नाट्यों की बहुत प्रशसा की। मगर तरुणों ने पहिले नाटक का विरोध किया और वृद्धों ने दूसरे का। फलतः ये लघुनाट्य भी रगमच पर प्रस्तुत न किये जा सके। इसके बाद माइकेल ने 'सुभद्रा' नाम का नाटकीय काव्य लिखा। तदनन्तर 'रजिया' नाम का नाटक लिखने का निश्चय करके उसका खाका केशवचन्द्र आदि के पास भेजा। उन लोगों ने कहा कि यदि राजपूतों के इतिहास में से कोई सामग्री लेकर नाटक लिखा जाय तो सम्भवत. खेला जा सकेगा। माइकेल मधुसूदन दत्त ने एक महीने में 'कृष्ण कुमारी' नाटक लिख डाला। इसके गीतों की रचना महाराजा जतीन्द्रमोहन ने की थी। इन्होंने ही इसे प्रकाशित भी कराया था। बगाल के नाट्य साहित्य में यह प्रथम दुखान्त नाटक था। इस प्रकार इस महान कलाकार ने बगाली साहित्य में सर्व प्रथम पौराणिक नाटक लिखा, सर्वप्रथम दुखान्त नाटक की रचना की, सर्व प्रथम समाज की बुराइयों का भन्डाफोड़ करने वाला हास्य नाट्य रचा और सर्व प्रथम ऐतिहासिक नाटक का प्रणयन किया। बगाल नाट्य साहित्य और रगमच इसके लिये माइ-केल मधुसूदन दत्त का सदैव ऋणी रहेगा।

रगमंच और केशवचन्द्र सेन

विद्यार्थी जीवन से ही केशव चन्द्र सेन को नाटकों से बहुत प्रेम था। उन्होंने १८५७ ई० के आस पास रेवरेन्ड प्रताप चन्द्र मजूम-दार तथा बाबू नरेन्द्र नाथ सेन के साथ 'हेमलेट' में पार्ट किया था। इसमें हेमलेट का पार्ट खुद केशवचन्द्र सेन ने किया था। नरेन्द्रनाथ सेन ने ओफीलिया की भूमिका की थी और रेवरेन्ड प्रताप चन्द्र मजूमदार ने 'लियरतिस' का पार्ट किया था। यह नाटक कई बार खेला गया। इसके बाद 'विधवा विवाह' नाटक की बारी आई। वैसे केशव चन्द्र सेन ब्रह्म समाजी थे और अत्यन्त पवित्र जीवन व्यतीत करते थे। मगर नाट्य कला से उन्हें सदैव प्रेम रहा। उन्हे इस नाट्य मडली को सम्हालने की जिम्मेदारी दी गयी थी। केशव

बाबू नाटकों को केवल मनोरंजन का नहीं, समाज सुधार का बहुत प्रभाव शाली साधन मानते थे। १८५६ ई० के आरम्भ में यह नाटक रंगमच पर लाया गया। यह इतना करुणिक था कि पंडित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर तथा सारे दर्शकों को बार बार रोना पड़ा था। इस नाटक की रचना बाबू उमेशचन्द्र मित्रा ने की थी। २७ अप्रैल १८५६ ई० को जब यह नाटक खेला गया तो उसे देखने के लिए लगभग ५०० व्यक्ति आए थे। नाटक आठ बजे शुरू हुआ और प्रातः तीन बजे तक चलता रहा। इसमें महेन्द्रनाथ सेन, प्रतापचन्द्र मजूमदार, कृष्ण बिहारी सेन, नरेन्द्र नाथ सेन आदि सर्वमान्य व्यक्तियो ने अभिनय किया था। सुलोचना का पार्ट श्री बिहारी लाल चैटरजी ने इतनी सफलता पूर्वक किया कि लोगों को भ्रम हो गया कि मच पर कोई महिला अभिनय कर रही है। इस नाटक के गीतों की रचना श्री द्वारिकानाथ राय ने की थी।

इसके बाद श्री त्रैलोक्यनाथ सान्याल कृत 'नव वृन्दावन' नाटक खेला गया। इसमें केशव बाबू ने 'पहाडी बाबा' का पार्ट किया था। बाद में १९१६ ई० में जब यह नाटक खेला गया तो 'पहाड़ी बाबा' का पार्ट केशव बाबू के नुपुत्र ऐस० सेन ने किया था। यह नाटक १८८२ ई० में भी खेला गया था।

दीनबन्धु युग

बाबू दीन बन्धु मित्र कृत 'नीलदर्पण' ने कभी बंगाल और देश के राजनीतिक जीवन में एक हलचल मचा दी थी। इसी नाटक के कारण इस युग का नाम 'दीन बन्धु युग' पड़ गया। श्री मित्र के सम्बन्ध में बंकिम बाबू ने लिखा है, "सरकारी काम से उन्हें मणिपुर से गजाम तक और दार्जीलिंग से समुद्रतट तक लगातार यात्रा करनी पड़ती थी। उन्हें गाव गांव घूमना पड़ता था। उनमे गाँव वालों के साथ घुलमिल जाने की अपूर्व क्षमता थी। वह सहर्ष प्रत्येक वर्ग के लोगों के साथ मिलते जुलते थे। क्षेत्रमिण की तरह गाँव की नीच जाति

की लड़कियों से भी उनकी घनिष्टता थी। अदुरी की तरह की बुढियों, तोरप के तरह के किसानों, नील फैक्टरी के दीवानों, अमीनों आदि को वह भली भाँति जानते थे। 'नील दर्पण' में लेखक के अनुभव और सवेदना का पूर्ण समन्वय हुआ है। 'नील दर्पण' उनके सभी नाटकों सबसे अधिक शक्तिशाली बन पड़ा है।"

नाटक की क्षेत्रमणि नदिया की वह किसान लड़की हारामणि थी जो अपने कृष्ण नगर की सर्व सुन्दरी तरुणी मानी जाती थी। इसी को लोग कुलची कत्ता फैक्टरी में जो कि छोटा साहब आर्चो बाल्ड हिल्स की देखरेख में चलती थी उठा ले गये थे। वहाँ साहब के सोने के कमरे में यह लड़की रात को बहुत देर तक बन्द रखी गयी थी। नाटक में इसके आगे जो स्थल आए, जो घटनाएँ दिखाई गयीं सभी का आधार सत्य था। श्री रमेशचन्द्र दत्त ने इस नाटक के सम्बन्ध में लिखा था, "दीन बन्धु नदिया जिले के चन्बरिया गाँव में पैदा हुए थे। उन्हें नीलहे साहबों और कर्मचारियों के कारनामों को देखने का खूब अवसर मिला था। अन्त में १८६० ई० में उन्होंने अपना नाटक 'नील दर्पण' लिखा, जिस पर उन्होंने अपना नाम नहीं दिया। इसमें वे सारे तथ्य और घटनाएँ आ गई थीं जिन्हें उन्होंने देखा था। इन्हीं घटनाओं के सहारे सच्चे कलाकार के कौशल का प्रयोग करके उन्हों ने इस नाटक का कथानक तैयार किया।"

ढाका में ही इस नाटक का जन्म हुआ था। वहाँ इस नाटक को अनेक बार रगमच पर प्रस्तुत किया गया और जब जब यह नाटक जनता के सामने आया एक हलचल सी मच गयी। इसका संदेश बिजली की तरह सारे देश में पहुँच गया। उस समय पडित शिवनाथ शास्त्री ने लिखा था, "जब प्रसिद्ध देश भक्त हरिश्चन्द्र मुखर जी ने 'हिन्दु पैट्रियट' में इस विषय पर अपनी लेखनी उठायी तो पाप का दुर्ग दहल उठा। लोग उत्तेजित थे ही। इसी समय दीन बन्धु मित्र का प्रसिद्ध नाटक 'नील दर्पण' प्रकाशित हुआ।

इसके कारण बंगाली समाज में जो उथल पुथल मच गयी उसे हम कभी नहीं भूल सकते। हममें से हर प्राणी, बालक, वनिता, वृद्ध पागल सरीखा हो गया। घर घर में इसी का चर्चा था। लगा बंगाल में इस छोर से उस छोर तक भूचाल सा आ गया और वह कांप उठा। इसी उथल-पुथल का फल था नीलहों का अत्याचार सदैव के लिए समाप्त हो गया।''

यही नहीं 'हिन्दू पेट्रियट' में उस समय यह समाचार प्रकाशित हुआ था जो अपनी कहानी खुद कहता है, 'टाइम्स आफ इंडिया' से हमें पता चला कि 'बाम्बे समाचार दर्पण' के सम्पादक ने 'ग्रान्ट रोड थियेटर' में 'नील दर्पण' को रंगमंच पर प्रस्तुत करने का प्रबन्ध कर लिया है। क्या वहाँ 'इंगलिशमैन' के सम्पादक की तरह का कोई सम्पादक नहीं है जो इस सम्पादक के ऊपर हतक इज्जती की कार्यवाई करने की माँग करता और उसे सबक सिखाता ?'' इस उद्धरण में उस घटना की चर्चा है जिसमें 'इंगलिशमैन' के सम्पादक श्री वाल्टर ब्रेट के संकेत पर रेवरेन्ड जे० लाग पर अंग्रेजों को बदनाम करने का आरोप लगाकर दंडित किया गया था। रेवरेन्ड लाग ने माइकेल मधुसूदन दत्त से १८६१ ई० में इसका अनुवाद अंग्रेजी में करवाया था। इस अनुवाद की ५०० प्रतियाँ बंगाल कार्यालय में ली गयी थीं जिनमें से २०२ प्रतियां सरकारी मुहर से बन्द करके इंगलैंड भेजी गयी थीं और चौदह प्रतियां भारतवर्ष में वितरित की गयी थीं। रेवरेन्ड जेम्स लांग ने इसकी अत्यन्त विद्वत्ता पूर्ण भूमिका लिखी थी और उसे अपने नाम से छपाया था। इसके मुद्रक श्री सी० एच० मैनुयल ने जुर्म स्वीकार कर लिया और उन्हें दस रुपये जुर्माना करके छोड़ दिया गया। १९ जुलाई १८६१ ई० को रेवरेन्ड लांग पर मुकदमा चलाया गया। उन्होंने जुर्म स्वीकार कर लिया और अपने कार्य के औचित्य में एक लम्बा वक्तव्य दिया। उन्होंने निलहा विरोधी आन्दोलन से अपनी सहानुभूति प्रकट की,

कहा कि यह नाटक लोगों की सच्ची भावनाओं को अभिव्यक्त करता है और यह भी बताया कि नीलहों का काम कितना घातक है। न्यायाधीश ने रेवरेन्ड लांग तथा 'नीलदर्पण' दोनों की भर्त्सना की, उसे गन्दा और घृणित रूप से अपमानजनक कहा और रेवरेन्ड लांग को एक महीने की सजा तथा १००० हजार रुपया जुर्माना किया। सजा सुनते ही उन्होंने कहा, "मैंने जो किया वह फिर करूँगा।" 'विद्योत्साहिनी' रंगमंच के संस्थापक बाबू काली प्रसन्न सिनहा ने एक हजार रुपये का जुर्माना अदा कर दिया। इस प्रकार एक, न्यायप्रिय मानवतावादी विदेशी व्यक्ति ने सत्य की रक्षा और न्याय की प्रतिष्ठा के लिए अपनी आहुति चढा दी और 'नील दर्पण' नाटक नीलहे आततायियों के विरुद्ध विद्रोह का प्रतीक बन गया। भारत में अपनी तरह का यह पहिला राजनीतिक मुकदमा था और इसका चर्चा बंगाल में ही नहीं सारे देश में हुआ। इसके सम्बन्ध मे अनेक गाने बन गए और सब ओर नीलहे साहबों का मखौल उड़ाया गया। एक अत्यन्त लोकप्रिय गीत था—

असमये हरीश मालो,
लागेर होइलो कारागार,
नील बादरे सोनार बागला,
काल्लो भाए चारखार।

(हरीश असमय ही अलग कर दिया गया, लाग को कारागार मे बन्द कर दिया गया। नीलहे बन्दर सोना के देश बगाल को नष्ट भ्रष्ट कर रहे हैं !)

लाग महोदय ने तो 'नील दर्पण' का अंग्रेज़ी अनुवाद किया ही था। श्री एफ० एच० स्कीन ने भी इसका अनुवाद किया था। इसे लन्दन मे सिमकिम मार्शल एन्ड कम्पनी नामक प्रकाशकों ने प्रकाशित भी किया था। मगर लन्दन के इन प्रकाशकों पर कोई मुकदमा न चला। भारतवर्ष की अनेक भाषाओ में तो इसका अनुवाद हुआ

ही था, योरोप की भी अनेक भाषाओं में 'नीलदर्पण' का अनुवाद हुआ। श्री दीन बन्धु मित्र की यह कृति उस समय देश की दयनीय स्थिति, निलहे साहबों के अत्याचार और भारतवासियों के हृदय में विद्रोह की सुलगती हुई आग का दर्पण बन गयी। 'नील दर्पण' के ही कारण उस युग को 'दीन बन्धु युग' कहा जाता है।

'नील दर्पण' के बाद 'सधवार एकादशी,' 'नवीन तपस्विनी', 'कमलकामिनी' 'बिये पागला बुढो,' 'जामाई बारिक' की रचना हुई। इन नाटकों में जीवन की सच्चाइयों और नाटकीयता के गुणों का समावेश करके दीन बन्धु मित्र सत्यसेव माइकेल मधुसूदन दत्त से बहुत आगे बढ गए। इस प्रकार रामनारायण से मधुसूदन दत्त और मधुसूदन दत्त से दीनबन्धु मित्र तक की नाट्य साहित्य और रंगमंच की विकास धारा का अत्यन्त रोचक इतिहास रहा है। सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को उभारने, समाज को नेतृत्व प्रदान करने, उसके अन्तरमन में छिपी-दबी भावनाओं को व्यक्त और मुखर करने में नाटकों का सहयोग कितना बडा और महत्वपूर्ण हो सकता है 'नील दर्पण' नाटक इसक प्रमाण है।

पाथुरिया घाटा थियेटर

'पाथुरिया घाटा थियेटर' महाराजा जतीन्द्र मोहन टैगोर द्वारा उन्हीं के राजमहल में स्थापित किया गया और श्री गिरीश चन्द्र चैटर्जी की देखरेख में दृष्य दृष्यावलियों का अंकन हुआ। श्री जतीन्द्र मोहन टैगोर ने बेलगाछिया थियेटर के आर्केस्ट्रा को बुला लिया। केशव चन्द्र तथा प्रियानाथ जैसे प्रसिद्ध कलाकारों का भी सहयोग प्राप्त कर लिया गया। इस प्रकार महाराजा जतीन्द्र मोहन ने अपने रंगमंच को प्रत्येक दृष्टि से सम्पन्न और स्थायी बनाया और प्रायः पच्चीस वर्षों तक यह रंगमंच अपना महत्वपूर्ण कार्य करता रहा।

राज जतीन्द्र मोहन ने १८५८ ई० में ही 'विद्यासुन्दर' का नया संस्करण तैयार कराया था। इसने इन्होंने कुछ अश्लील अंशों को

'सितार शिक्षा' के लेखक श्री कृष्णधन बैनरजी ने भी अपना पूरा सहयोग दिया। राजा सौरेन्द्र मोहन ने हिन्दू संगीत को फिर से जीवित किया। उन्होंने १८८१ ई० में 'बंगाल एकेडमी आफ म्युज़िक' की स्थापना की। उन्हें आक्सफोर्ड तथा फिलाडेल्फिया विश्व विद्यालयों ने 'डाक्टर आफ़ म्युजिक' की उपाधि से विभूषित किया। 'मालती माधव' में सर्व प्रथम भारतीय संगीत शामिल किया गया। इसी समय वीणा, सितार, तानपूरा, ढोलक, खोल, ढोली, नगाड़ा, बाया, तबला, मञ्जीरा, करताल, कानसी, नूपुर, मोहन बंशी, शंख आदि पर विशेष अनुसन्धान हुआ और इनका प्रयोग भी नाटकों में हुआ। २५ फरवरी १८७३ को जब 'रुक्मिणी हरण' और 'उभयसंकट' का अभिनय हुआ था, तो उसे देखने के लिए अत्यन्त सम्भ्रान्त लोगों के साथ लार्ड नार्थ ब्रुक भी आए थे। यहाँ का आर्केस्ट्रा उन्हें बहुत भाया था। लार्ड तथा लेडी रिपन इस थियेटर के संगीत से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। इस प्रकार राजा जतीन्द्र मोहन ठाकुर तथा उनके भाई सौरेन्द्र मोहन ठाकुर के प्रयास से 'पथुरिया घाटा थियेटर' ने बंगाल के एक राष्ट्रीय संस्था का रूप ले लिया। उसने विस्मयकारी सफलता प्राप्त की।

जोड़ासाको थियेटर

बंगाली रंगमंच के विकास में जोड़ासांको ठाकुर बाड़ी का सहयोग किसी भी संस्था से कम नहीं है। महर्षि देवेन्द्र नाथ के भतीजों और लड़कों ने इस संस्था को चलाया। आज लगभग सौ वर्षों से टैगोर परिवार ने नाट्य कला के प्रदीप को जीवित और जगमगाता रखा है। हम जानते हैं कि किस प्रकार प्रिंस द्वारिका नाथ ने 'चौरंगी' तथा 'सान सूशी' थियेटरों को जीवित रखा था। इनके बेटे बाबू गिरीन्द्र नाथ ने एक नाटक 'भाव विलासी' लिखा और टैगोर घराने में ही वह अभिनीत भी हुआ। उन्हीं के एक बेटे नगेन्द्र नाथ ने एक थियेटर की स्थापना की थी। इसी परिवार के ज्योतिरन्द्री

नाथ टैगोर बहुत बड़े संगीतज्ञ और नाट्यकार हो गये हैं। इनके 'पुरो विक्रम', 'अश्रुमती' और 'सरोजिनी' नाम के नाटक बाद में 'ग्रेट नेशनल थियेटर' तथा 'बंगाल थियेटर' में खेले गये थे। ये अपने समय के आत्म को कंपा देने वाले नाटक थे। बाबू अवनीन्द्र नाथ टैगोर जगत प्रसिद्ध कलाकार हो गये हैं। और, रवीन्द्र नाथ टैगोर का क्या कहना है! जीवन के अन्तिम समय तक इनका संबंध रंग-मंच से रहा। इनके कुछ अति प्रसिद्ध नाटक 'राजा ओ रानी', 'विसर्जन', 'अचलायतन', 'तपति', 'चिर कुमार सम्भव', 'चित्रागदा' आदि हुए हैं जिनकी ख्याति सारे संसार में है। इस प्रकार टैगोर परिवार की सेवा इस क्षेत्र में अत्यन्त प्राचीन काल से रही है।

'जोड़ा साको थियेटर' टैगोर परिवार द्वारा ही संचलित होता था और इस परिवार के सदस्य तथा उनके मित्र ही इसके रंगमंच पर अभिनय करते थे। आरम्भ में इस परिवार के बच्चे छोटा सा मंच बनाकर अभिनय किया करते थे। बाद में रंगमंच की ठीक व्यवस्था हुई और बाबू रामनारायण लिखित 'नव नाटक' जिसे पंडित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर तथा बाबू राजकृष्ण बैनरजी ने पसन्द कर लिया था, ५ जनवरी १८६७ ई० को खेला गया। यह नाटक आठ बार दोहराया गया। इस थियेटर में अभिनय कला, संगीत तथा गीतों की जिस उत्कृष्टकता का उदाहरण रखा गया वहाँ तक पहुँचना, उस ऊँचाई को छूना दूसरों के लिए असम्भव हो गया। इन अभिनयों तथा संगीत के कार्यक्रमों को देखने के लिए प्रायः सभी सम्भ्रान्त भारतीय तथा योरोपियन आया करते थे। 'नव नाटक' के बाद 'मनोमयी' और 'अल्लेक बाबू' खेले गये। १८६७ ई० में जोड़ासाको नाट्य समाज बन्द हो गया। मगर इन टैगोरों ने उस समय नाट्य साहित्य तथा अभिनय कला के लिये जो कुछ किया उसका महत्व आज तक सभी लोग मानते हैं। टैगोर

दिसम्बर १८७४ ई० में मनमोहन बाबू का तीसरा नाटक 'हरिश्चन्द्र' खेला गया। इसके बाद ही चुन्नीलाल बसु की स्त्री तथा पुत्र का देहात होने के कारण रग में भंग हो गया। इस प्रकार इस थियेटर का भी काम रुक गया। अमृत बाजार पत्रिका के १५ मई १८७३ ई० के अक में 'जानकी हरण' नाटक का भी चर्चा आया है। पहिले यह नाटक बाउ बाज़ार के श्री कनाईलाल सील के घर पर खेला गया, फिर इसका अभिनय राम लाल मतीलाल के घर पर हुआ।

इस स्थल पर गीति नाट्यों का चर्चा कर लेना उचित होगा। तत्कालीन पतन शील जात्राओं का स्थान इन गीति नाट्यों ने लेकर जनरुचि को विकृत होने से बचाया। इनका यही महत्व है। बगाल का प्रथम गीति नाट्य बाबू आनन्द प्रसाद बैनरजी कृत 'शकुन्तला' नाट्य था जिसके गीत अत्यन्त परिष्कृत और प्रौढ़ थे। इसी समय (१८६५ ई०) राम नारायण कृत 'रत्नावली,' काली प्रसन्न कृत 'सावित्री सत्यवान,' मधुसूदन कृत 'पद्मावती,' 'पान्डव गौरव' 'सती' नाटक आदि गीति नाट्य के रूप में अनेक स्थलों पर प्रदर्शित किए जा रहे थे। 'जानकी विलाप' नामक गीति नाट्य का भी चर्चा इसी काल में मिलता है।

यह एक प्रकार का सक्रमण काल था। जात्राओं का पतन हो रहा था और उनकी अश्लीलता बढती जा रही थी। उधर बेलगाछिया, पाथरिया घाटा, जोड़ा साको, शोभा बाज़ार और बाउ बाजार थियेटर से प्रेरणा प्राप्त करके कलकत्ता तथा मोफस्सिल में नाट्य सस्थाएँ खुलती जा रही थीं। इनमें पचानन मित्र का बड़तला थियेटर भी एक था जिसमे माइकेल मधुसूदन दत्त का 'पद्मावती' नाटक १८६७ ई० के सितम्बर महीने में खेला गया था। बाग बाज़ार में १८६८ ई० में 'नल दमयन्ती' नाटक खेला गया था। पताल डागा मे 'शकुन्तला' का अभिनय हुआ था। यहीं १८६६ ई० में 'महाश्वेता' और 'बुरो शालिकेर घरे रओ,' 'चन्द्रावली' तथा

'एनरा—ई—आवार बड़ा लोग' नाटक भी खेले गये थे। भवानीपुर में 'सीतार बनवास' अभिनीत हुआ था। चोर बागान में १८६७ ई० में 'ऊपा और अनिरुद्ध' नाटक खेला गया था। इसी युग में विभिन्न संस्थाओं के सदस्यों में आपसी मन मुटाव भी हुआ और एक दूसरे के ऊपर कीचड़ भी उछालते थे। प्रगति और क़दम बढ़ाने के स्थान पर इस समय एक प्रकार की स्थिरता भी आ गयी थी। उधर जिन नाटकों का चर्चा हम ऊपर कर आए हैं उनको देख पाना जन साधारण अथवा मध्यम श्रेणी के लेखकों के लिए बहुत कठिन था। उन तक उनकी पहुँच ही नहीं हो पाती थी। इसलिए मध्यम श्रेणी के नाटक प्रेमी लोग ऐसे रंगमच के आविर्भाव की प्रतीक्षा कर रहे थे जिसे वे सचमुच अपना कह पाते और जिसे निर्मित कर पाना उनके लिए सम्भव हो पाता।

श्री गिरीश चन्द्र घोष

इसी समय एक ऐसे नायक एवं महापुरुष ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया जिसने अपने जीवन भर के परिश्रम, अपने निर्देशन, अपनी कला तथा अपनी प्रतिभा के कारण बंगाली रंगमंच को राष्ट्रीय दृष्टि से पुनर्संगठित किया और रगमच को ऐसी संस्था का रूप दे दिया कि वह सर्व सुलभ बन सके और राष्ट्र निर्माण के कार्य में उसका सहज सहयोग प्राप्त हो सके। शिक्षा, मनोरंजन तथा सांस्कृतिक विकास के लिए जिस साधन की तलाश जन साधारण को थी, वह साधन इसी मनीषी तथा परिश्रम-शील कलाकार के प्रयत्नों के फलस्वरुप उन्हे प्राप्त हो गया। इस प्रकार बंगाली रंगमंच के विकास क्रम में एक नये युग का आरम्भ हुआ। इस महत्त्वपूर्ण नाट्य कला विशारद का नाम श्री गिरीश चन्द्र घोष था।

बात १८६७ ई० की है। इस समय गिरीश बाबू की उम्र बाईस तेईस वर्ष की थी। गिरीश बाबू से एक व्यक्ति मिला जिसने इस बात पर बड़ी उत्फुल्लता प्रकट की कि एक रईस के घर में नाटक देखने के

लिए उसने टिकट प्राप्त कर लिया। उसने यह भी बताया कि इस टिकट को प्राप्त करने के लिए उसे क्या-क्या करना पड़ा। गिरीश बाबू इस प्रकार की अनेक घटनाएँ सुन चुके थे। वह सुन चुके थे कि रईसों के घरों पर नाटक देखने वाले साधारण लोग किस प्रकार दरबानों द्वारा धकियाकर निकाल दिये जाते हैं। इन घटनाओं को सुनकर गिरीश बाबू के स्वाभिमान को बहुत चोट लगी और उन्होंने प्रण किया कि वर्ष भर के भीतर वह जन साधारण के लिए रगमच स्थापित करके ही दम लेंगे।

इसी वर्ष गिरीश घोष ने माईकेल मधुसूदन दत्त के 'शर्मिष्ठा' नाटक को यात्रा का रूप देकर प्रदर्शित किया। उसमें अनेक गीत भी जोडे गये। बाबू प्रिय माधव मल्लिक से गीत लिखने के लिये कहा गया था। मगर जब उन्होंने गीत नहीं लिखे तो गिरीश बाबू ने गीतों की रचना स्वय कर डाली। यात्रा का प्रदर्शन सफल हुआ और लोगों को भी रगमच का आनन्द सुलभ हो गया। गिरीश बाबू इससे बहुत अधिक उत्साहित हुए। उनके साथ बाबू नगेन्द्रनाथ बैनरजी, बाबू राधा माधव कर, श्री अरुण चन्द्र हलधर और श्री महेन्द्रनाथ बैनरजी भी हो गए। १८६८ ई० में बाग बाजार अमेचर थियेटर आरम्भ हुआ। खेलने के लिए 'साधवार एकादशी' नाटक चुना गया। इस नाटक में तरुण बगाल का सजीव चित्र उपस्थित किया गया था। नीम चन्द्र इसका नायक था। कहते हैं नीम चन्द्र का निर्माण मधुसूदन दत्त के चरित्र के आधार पर हुआ था। बकिम बाबू ने कहा था कि "इस नाटक के सभी पात्र जीवित व्यक्तियों के प्रतिरूप हैं। विषय तत्व का आधार भी सत्य है।" इस नाटक में गिरीश चन्द्र बाबू ने सूत्रधार, नटी, गीत आदि जोड़ दिया था। बाग बाज़ार में बाबू प्राण कृष्ण हालधर के घर पर यह नाटक १८६८ ई० में खेला गया। गिरीश बाबू ने नायक नीमचन्द्र की भूमिका की थी। इस नाटक का निर्देशन भी उन्होंने ही किया था। इसका दूसरा अभियन शाम पुकुर

में बाबू नवीन चन्द्र देव के घर पर हुआ था। इसका तीसरा अभिनय बाबू जगन्नाथ बोस के घर पर हुआ था। ऐतिहासिक दृष्टि से चौथा अभिनय अत्यन्त महत्वपूर्ण था। इस अवसर पर लेखक स्वय अपने सम्मानित मित्रों के साथ अपने नाटक का अभिनय देखने आया था। यह अभिनय फरवरी १८७० ई० का सरस्वती पूजा के अवसर पर शाम पुकुर के राय राम प्रसाद मित्र के निवास स्थान पर हुआ था। नीम चन्द्र का अभिनय सब को अत्यधिक पसन्द आया। स्वयं लेखक स्तम्भित था। जिस समय उनके सामने नाटक का अभिनय हो रहा था, उनकी आँखों से आँसुओं की धारा प्रवाहित हो रही थी। नाटक समाप्त होने पर गिरीश घोष को गले लगाते हुए उन्होंने कहा था, "नीमचन्द्र तुम्हारे ही लिये लिखा गया था। तुम न होते तो यह नाटक खेला ही नहीं जा सकता था।" विद्वानों और पारखियों का मत था कि "बंगाल का गिरीश किसी भी देश के गैरिक से कम नहीं है।" इसके पैंतालिस वर्ष बाद जब गिरीश घोष का देहान्त हुआ तो 'बंगाली' ने निम्नांकित श्रद्धांजलि अर्पित की थी—

नीमचन्द्र भूमिकाए तुमि सुधीजन,
निद्रा शेषे यावे तुमि हाले जागरित,
देखिले जयरे ध्वनि कांपाये पवन.
गृहपथ रंगमंच करे मुखरित।

सचमुच दीनबन्धु मित्र कृत 'साधवार एकादशी' नाटक गिरीश चन्द्र घोष जैसे महान निर्देशक और सफलतम अभिनेता के हाथों में पड़कर धन्य हो गया था। इसी भूमिका के कारण गिरीश घोष 'नट गुरु' कहे जाने लगे थे। यहीं से उनके कलाकार जीवन का आरम्भ हुआ।

राष्ट्रीय रंगमंच की दृष्टि से भी 'साधवार एकादशी' नाटक का बहुत बड़ा महत्व है। इसकी स्थापना का ही फल था कि चार बरस बाद ही जनता के लिए रंगमंच तैयार हो गया। गिरीश घोष ने तो

दीन-बन्धु मित्र के प्रति इसके लिए कृतज्ञता ज्ञापित की ही, नाट्याचार्य अमृत लाल बोस ने भी आभार प्रदर्शित किया। 'शान्ति कि शास्ती' की भूमिका में, चालीस वर्ष बाद गिरीश घोष ने दीनबन्धु मित्र को पुस्तक समर्पित करते हुए कहा कि "जिस समय 'साधवार एकादशी' अभिनीत हुआ, उस समय बिना रईसों की सहायता के कोई भी नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था क्योंकि कपड़ों तथा अन्य वस्तुओं का खर्च उठाना साधारण लोगों के लिये बहुत कठिन था। परन्तु आपके सामाजिक नाटक 'साधवार एका-दशी' में इस प्रकार का खर्च नहीं हुआ। इसलिए साधारण स्थिति के तरुण लोगों ने इसका अभिनय करने का निश्चय किया। यदि आपके नाटक न होते तो ये नौजवान 'नेशनल थियेटर' आरम्भ करने की हिम्मत न कर पाते। इसी लिए बंगाली रंगमंच के स्थापक के रूप में मैं आपका अभिवादन करता हूँ।

"बहुत दिनों से मेरी इच्छा थी कि मैं अपनी कृतज्ञतापूर्ण अभ्य-र्थना पेश करूँ। मगर मैं अब तक ऐसा न कर सका क्योंकि मैं आपकी स्वीकृति योग्य नाटक अब तक नहीं लिख सका था। अब मैं देखता हूँ कि मेरे दिन गिने हुए हैं। अब मेरी अभिलाषा कब पूरी होगी? मैंने सोचा कि सर्वथा अनुपयुक्त कृति को ही आपकी सेवा में अर्पित करने का साहस करूँ। मैंने यही सोचकर संतोष कर लिया है कि भग-वान की सेवा में तुच्छ से तुच्छ पुष्प भी भेंट किया जा सकता है।

वाग बाज़ार
तृतीय पौष १३१५

आपका
सदैव कृतज्ञ
गिरीश चन्द्रघोष

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ रामनारायण तथा माइकेल मधुसूदन दत्त के नाटक अमीरों के लिए थे वहीं, दीनबन्धु मित्र के नाटक जन साधारण के लिए प्रयुक्त होते थे। 'सधवार एकादशी' से जन साधारण के नाटकों का अभ्युदय हुआ। इस प्रकार दीनबन्धु

मित्र तथा गिरीश चन्द्र राष्ट्रीय रंगमंच और बंगाल के जन नाट्य के प्रथम आचार्य और संस्थापक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इसी समय दो और व्यक्ति सामने आए। बाबू अर्धेन्दु शेखर मुस्तफी ने अपने अभिनय कौशल से दीनबन्धु मित्र तथा गिरीश घोष का ध्यान आकृष्ट किया। धर्मदास सुर रंगमंच के सफल व्यवस्थापक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। 'सधवार एकादशी' का अभिनय अनेक स्थलों पर अनेक बार हुआ। इसके अभिनय से बंगाली रंगमंच के इतिहास में नवयुग का आरम्भ हुआ।

जून अथवा जुलाई १८७१ ई० में दीनबन्धु कृत 'लीलावती' का अभिनय नेशनल थियेटर द्वारा हुआ। यह नाटक चार रातों तक लगातार होता रहा। इसी समय बंकिम बाबू के नेतृत्व में चिनसुरा में यही नाटक खेला जा रहा था। आरम्भ में अनेक कठिनाइयाँ आईं। परन्तु गिरीश घोष के हाथ लगाते ही, कठिनाइयाँ दूर हो गयीं और अभिनय हुआ। इसमें गिरीश घोष, अर्धेंदु, महेन्द्र लाल बोस आदिने भाग लिया। अभिनय अत्यन्त सफल रहा और दर्शकों ने बहुत बड़ी संख्या में इसे देखा और आनन्द लिया। 'लीलावती' के अभिनय से अनेक दिशाओं में नेशनल थियेटर की ख्याति अत्यधिक बढ़ गयी। अन्त में गिरीश घोष ने 'नील दर्पण' को अभिनय के लिये चुना। धर्मदास ने दृश्यों को चित्रित किया। रिहर्सल का काम भी आगे बढ गया। परन्तु अभिनय देखने के लिए टिकट रखा जाय या नहीं इस पर आपस में झगड़ा हो गया और गिरीश घोष अलग हो गये। अर्धेन्दु शेखर मुस्तफी ने उनका स्थान लिया। पहिली रात को सात सौ रुपये के टिकट बिके। १८७२ ई० के दिसम्बर के पहिले सप्ताह में नाटक खेला गया। अर्धेन्दु का पार्ट बहुत अच्छा हुआ, मगर गिरीश घोष की कमी सब को अखरी। सत्यमेव यह पहिला थियेटर था जिसमें जन साधारण को नाटक देखने का अवसर मिला था। इसमें अर्धेन्दु, नगेन्द्र, धर्मदास, बेलबाबू, अमृतलाल तथा महेन्द्र को चमकने

का अवसर मिला। अर्धेन्दु को छोड़कर किसी ने भी एक पैसा नहीं लिया था। अमृतलाल बोस ने प्रथम बार अभिनय किया था। उन्होंने 'सैरिन्ध्री' की भूमिका की थी। 'नेशनल पेपर,' 'अमृत बाजार पत्रिका,' 'मध्यस्थ' और 'इन्डियन मिरर' ने इस अभिनय की बड़ी प्रशसा की थी। 'नील दर्पण' के अभिनय की अनुज्ञा कैसे प्राप्त हुई इस पर सबको हैरानी हुई। अभिनय के दूसरे दिन बाबू नगेन्द्रनाथ बैनरजी ने इसके खेलने की सफाई भी दी। परन्तु सब कुशल पूर्वक हो गया।

रामनारायण कृत 'येमन कर्म तेमन फल' का अभिनय २२ जनवरी और 'नव नाटक' का अभिनय २५ जनवरी १८७३ ई० को हुआ। इसके बाद बाबू शिशिर कुमार घोष कृत 'नै शोरुपिया' नाटक ८ फरवरी १८७३ ई० को अभिनीत हुआ। उस समय अमृत बाजार पत्रिका ने लिखा था, "किसी अन्य नाटककार ने अब तक मानव मन के गहराइयों की थाह इतने नीचे उतरकर नहीं लगाई थी। 'नैशो रुपिया' के लेखक इसमें अद्वितीय रहे। दीनबन्धु की भाँति हँसाने और मधुसूदन की भाँति काव्यात्मक भावनाओं को जगाने में वह सर्वथा सफल रहे।" इसमें अर्धेन्दु ने सतूलाल, अमृत बाबू ने रंजन और चेत्र गागुली ने सरला का अभिनय किया था। गिरीश घोष का मत था कि अर्धेन्दु ने अपना पार्ट जिस खूबी के साथ अदा किया, वैसा करना किसी के लिए भी सम्भव न था। हास्य रस का उनका रोल अत्यन्त निखरा हुआ होता था। इसी समय डेबकारसन नाम के एक अंग्रेज़ ने 'बगाली बाबू' नाम का एक हास्य रस प्रधान नाटक खेला। वह विशेषतया योरोपियनों के लिये इस प्रकार मनोरजक कार्य क्रम तैयार किया करता था। ७ दिसम्बर १८७२ ई० को जोड़ासाको में जन साधारण के लिये थियेटर खुला। डेबकारसन ने उसी दिन 'बगालो बाबू' का प्रदर्शन किया। बाबू अर्धेन्दु शेखर मुस्तफी ने डेबकारसन का जवाब दिया। उन्होंने 'मुस्तफी साहब का पक्का

तमाशा' आरम्भ किया और अंग्रेजों तथा योरोपियनो की खिल्ली उड़ाने वाले अभिनय करने लगे। यह सस्था 'डेबकारसन साहब का पक्का तमाशा' का जवाब थी।

१५ फरवरी १८७३ ई० को 'अमृत बाजार पत्रिका' के सम्पादक बाबू शिशिर कुमार घोष ने 'भारत मातार विलाप' नाटक रगमच पर प्रस्तुत कराया। यह नाटक 'नेशनल थियेटर' की ओर से हिन्दू मेला में प्रदर्शित किया गया था। इसमें भारत माता उदास, पीत मुखी और परम दुखिनी के रूप में दिखायी गयी थी। भारत माता के बेटे भी सुस्त, करुण और अकर्मण्य प्रदर्शित किये गये थे। इस नाटक में जिस समय गाया जाता था—

"मलिन मुखचन्द्र मा भारत तुमारी।" उस समय उपस्थित जनता रो रो पडती थी। अमृत बाजार पत्रिका में यह सम्पूर्ण नाटक प्रकाशित कर दिया गया था। हिन्दू मेला में १५ फरवरी १८७३ ई० को जिस समय यह नाटक खेला गया, १५०० की सख्या में उपस्थित सम्पूर्ण जनता की आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी और वह रोमांचित हो गयी थी। इसमें भारत माता के अतिरिक्त दो योरोपियन सतोष तथा हिम्मत पात्र थे। नाटक का अभिनय अत्यन्त सफल हुआ था। यद्यपि 'नील दर्पण' जैसा युग प्रवर्तक नाटक इसके पहिले ही अभिनीत हो चुका था, मगर 'नीलदर्पण' में कोई राज नीतिक सन्देश नहीं था। उसमें केवल नीलहे साहबो के अत्याचार तथा जन साधारण की कारुणिक स्थिति का सच्चा चित्रण था। उसमे किसी राजनीतिक उद्देश्य अथवा ध्येय की स्थापना नहीं की गयी थी। किसी आदर्श की प्रतिष्ठ नहीं की गयी थी। यद्यपि 'नील दर्पण' का सन्देश परोक्ष रूप से यही था कि ऐसे अत्याचारों का अन्त होना चाहिए, मगर उसे स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया था। पर 'भारत मातार विलाप' में ये सारी बातें थीं। इसीलिए बगाल में इस नाटक को प्रथम राष्ट्रीय नाटक की संज्ञा मिली है।

इसके बाद माइकेल मधुसूदन दत्त का 'कृष्ण कुमारी' नाटक खेला गया जिसमें गिरीश घोष ने भीम सिंह की भूमिका की। जिस समय गिरीश घोष रंगमंच पर आए, राजकुमार का पूरा वस्त्र पहिने, अत्यन्त कीमती तलवार लिए, रत्न जड़ित पेटी लगाए—वह सत्यमेव भीमसिंह लग रहे थे। माइकेल स्वयं वहाँ पर उपस्थित थे और उन्हों ने गिरीश घोष के अभिनय की प्रशंसा की थी। उनकी आवाज इतनी गम्भीर थी कि एक बार जब उन्होंने तड़पकर 'मान सिंह, मान सिंह' पुकारा तो दो दर्शक बेहोश हो गये थे। और जब उन्होंने अपनी पत्नी से कहा 'महिषि, तोमार कृष्ण के देखो।' तो सारे दर्शक पिघल गये थे। जिस समय महेन्द्र बाबू ने अहल्या का अभिनय किया, दर्शकों की आँखों से आँसू की धारा बह रही थी। चैत्र गांगुली का अभिनय भी इतना अच्छा था कि स्वयं माइकेल ने कह दिया, "कृष्ण कुमारी, तुमने अभिनय कला को सम्पूर्णता तक पहुँचा दी।" धर्मदास ने भी बाद में कहा था, "कलकत्ता की सम्पूर्ण जनता ने तथा वहाँ के रईसों ने भी हमें जो प्रोत्साहन दिया उसका शतांश प्रोत्साहन अब कोई नहीं देता।"

मगर इस अपूर्व सफलता के बाद नेशनल थियेटर में विघटन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। उस समय श्री शिशिर कुमार घोष तथा गिरीश बाबू ही ऐसे व्यक्ति थे जो 'नेशनल थियेटर' को सम्हाल सकते थे। इस समय गिरीश घोष थियेटर के डाइरेक्टर बने और उन्होंने कलाकारों में एकता स्थापित की। कई रातों तक अभिनय होते रहे। ८ मार्च १८७३ ई० को कुछ मूक अभिनय तथा माइकेल मधुसूदन दत्त के हास्य नाटकों के बाद गिरीश घोष की कविता के माध्यम से थियेटर ने दर्शकों से अन्तिम विदा ले ली। वैसे तो वर्षा के कारण ही थियेटर का काम स्थगित किया गया था, मगर आन्तरिक झगड़ों ने उसे बुरी तरह क्षत-विक्षत कर दिया था। 'नेशनल थियेटर' के कुछ कार्यकर्ताओं ने 'हिन्दू नेशनल थियेटर' की स्थापना कर

डाली। एक बार 'नीलदर्पण' का अभिनय दोनों थियेटरों ने किया और गिरीश घोष तथा अर्धेन्दु ने अलग अलग मि० उड का पार्ट किया। 'हिन्दू थियेटर' कलकत्ता से ढाका अभिनय करने गया तो वहां 'नेशनल थियेटर' भी पहुँचा। मगर वहाँ 'नेशनल थियेटर' को गहरा धक्का लगा। वहाँ 'नेशनल थियेटर' ने 'नीलदर्पण' तथा बंकिम के 'कपाल कुन्डला' नाटकों का अभिनय किया। 'हिन्दू नेशनल' ने भी अपने कार्य क्रम जनता के सामने रखे। मगर 'नेशनल' को वहाँ से 'हिन्दू नेशनल' के पास अपना सामान बेचकर वापिस आना पड़ा। यह घटना अप्रैल—मई १८७३ ई० की है। इसके बाद उनमे फिर एकता स्थापित हुई और १० जुलाई को दोनों ने मिलकर 'कृष्ण कुमारी' नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किया। इससे जो आमदनी हुई वह माइकेल मधुसूदन दत्त के परिवार वालों को दे दी गयी। माइकेल का देहान्त २६ जून १८७३ ई० को हो गया था। अब थियेटर ने दिघा पाटिया, राजशाही, मुर्शिदाबाद आदि स्थानों पर अनेक बार अभिनय किया। ७ दिसम्बर को 'नेशनल' और 'हिन्दू नेशनल थियेटर' ने पब्लिक थियेटर का वार्षिकोत्सव मनाया। जोड़ासाको में १३ दिसम्बर को हरलाल राय कृत 'हेमलता' नाटक खेला गया। २० दिसम्बर को 'कमल कामिनी' और २७ दिसम्बर को फिर 'हेमलता' नाटक खेला गया। उसी समय ग्रेट नेशनल थियेटर' की स्थापना हुई।

इस प्रकार सक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि गिरीश घोष के पहिले जो नाटक कला जन साधारण से दूर थी और जो रंग मंच लोकमंगल का नहीं, विशिष्ट वर्ग के मनोरंजन का साधन था वही धीरे धीरे लोकरंजन और लोक संग्रह का साधन बनने लगा। इसके लिये बंगाल की जनता सदैव गिरीश घोष के प्रति कृतज्ञ रहेगी। सत्य यही है कि गिरीश घोष आधुनिक बंगाली रंगमंच के पिता के रूप में प्रतिष्ठित हैं। बाबू अमृतलाल बोस ने खुले आम इस सत्य को स्वीकार किया और अब तो सारा बंगाल इस बात को मानता है।

और 'प्रणय परीक्षा' का अभिनय १७ जनवरी को किया गया। 'ग्रेट नेशनल थियेटर' का पर्याप्त प्रभाव जब जनता पर न पड़ सका तब गिरीश घोष को फिर से याद किया गया। २४ जनवरी को 'कृष्ण कुमारी' तथा ७ जनवरी को 'कपाल कुन्डला' नाटक खेले गये। उसी के बाद गिरीश घोष ने बंकिम के दो प्रसिद्ध उपन्यास 'मृणालिनी' तथा 'विषवृक्ष' को नाटक का रूप दिया। उन्होंने निर्देशन भी किया। 'नेशनल' तथा 'ग्रेट नेशनल थियेटर' के सारे कलाकार आपस में मिल गए। 'मृणालिनी' का अद्वितीय और अभूतपूर्व अभिनय १४ फरवरी १८७४ ई० को हुआ। गिरीश बाबू ने उसमें भूपति की भूमिका की। इनका अभिनय अत्यन्त सफल हुआ।

इसके बाद इस दल ने ७ मार्च १८७४ ई० को 'विषवृक्ष' का अभिनय किया। इसमें गिरीश घोष ने नगेन्द्रनाथ की भूमिका की। ४ अप्रैल को 'कपाल कुन्डला' नाटक खेला गया। ३० मई को 'कमलिनी' नाटक खेला गया। इसके बाद यह दल अन्य स्थानों पर भी अभिनय करने गया और सुयश प्राप्त किया। यह सब होते हुए भी महिला कलाकारों के न होने के कारण 'ग्रेट नेशल' का काम आगे न बढ़ सका। फलतः उसे अपनी नीति बदलनी पड़ी और जब १४ सितम्बर १८७४ ई० को 'सती कि कलंकिनी ?' नाटक अभिनीत हुआ तो राजकुमारी, क्षेत्रमणि, जादूमणि, लक्ष्मी मणि, नारायणी तथा हरीमती नामक महिला पात्रों को लाना पड़ा। इस नाटक का अभिनय अत्यन्त सफल हुआ। इसके बाद अनेक सफल अभिनय हुए। गिरीश घोष ने इनकी बड़ी प्रशंसा की। ढाका, बेरहमपुर, कृष्णनगर, रानाघाट, वीरभूमि और बोगरा आदि स्थानों पर अनेक अभिनय हुए। 'पुरु विक्रम' तथा 'रुद्रपाल' नाटक भी बड़े सफल उतरे। १४ नवम्बर १८७४ ई० को 'सती कि कलंकिनी ?' तथा २१ नवम्बर को 'आनन्द कानन' नाटक खेले गए। इसके बाद कुछ कलाकारों ने यह संस्था छोड़ दी और आपसी मन मुटाव के कारण इस संस्था को गहरी क्षति पहुँची। १२

दिसम्बर को 'शत्रु सहार' तथा २६ दिसम्बर १८७४ ई० को 'बंगेर सुखावसान' नाटक खेले गए। कुछ समय बाद पुराने कलाकार इस सस्था में पुन: लौट आए। अब 'ग्रेट नेशनल' ने दिल्ली, लाहौर, मेरठ, आगरा, वृन्दावन, लखनऊ आदि नगरों में अपने नाटकों को रगमंच पर प्रस्तुत किया। १८७५ ई० की गर्मियों में यह यात्रा की गयी थी। ३ जुलाई को 'पद्मिनी' का अभिनय हुआ। २३ दिसम्बर को 'हीरक चूर्ण' और ३१ दिसम्बर १८७५ ई० को 'सुरेन्द्र विनोदिनी' नाटक खेले गये। ८ जनवरी १८७६ ई० को 'प्राकृत बन्धु' नाटक खेला गया।

सकट काल

इसके बाद का युग बंगाली रगमंच के लिए सत्यमेव संकट, सघर्ष और विजय का युग रहा है। हमने अभी 'नील दर्पण' के अभिनय का चर्चा किया है। अन्य नगरों में होकर जब 'ग्रेट नेशनल थियेटर' लखनऊ पहुँचा तो वहाँ पर एक दुर्घटना हो गयी। इसके पहिले जहाँ कभी 'नील दर्पण' प्रस्तुत किया गया था जनता में हाहाकार मच गया था। सरकार के भी कान खडे हो गए थे और गुप्तचर विभाग के लोग इस थियेटर के पीछे लग गए थे। लखनऊ मे भी यह नाटक शान बान से आरम्भ हुआ। लखनऊ में जब वह नाटक प्रस्तुत किया गया तो बाबू नीलमाधव चौधरी गोलक बोस की, नगेन्द्र बैनरजी नवीन की, बाबू अर्धेन्दु शेखर मिस्टर उड की, बाबू मतीलाल सूर तोरप की, बाबू अविनाश चन्द्र कर मिस्टर रोग की, चेत्रमणि सावित्री की, कादम्बिनी सैरिन्ध्री की, विनोदिनी सरलता की, लक्ष्मी चेत्रमणि की और नारायणी पद्मारानी की भूमिका कर रही थी। उनका अभिनय देखकर दर्शक दग रह गए। मगर जब नाटक का वह स्थल आया जब मिस्टर रोग चेत्रमणि पर टूट पडे और वह बेचारी लडकी चिल्लाकर, गिड गिडा कर कहने लगी "साहब, तुनि

नाटक विरोधी ऐक्ट

इसी बीच प्रिंस आफ वेल्स (बाद में सम्राट एडवर्ड सप्तम) २३ दिसम्बर को कलकत्ता आये। वह बकुल बगान निवासी बाबू जगदानन्द मुखरजी के घर भी गए और वहाँ की स्त्रियों ने उनका स्वागत किया और उपहार स्वरूप उन्हें अनेक बहुमूल्य रत्न जणित आभूषण भी दिये। यद्यपि यह बात साधारण सी थी मगर इसको लेकर सारे देश में एक तूफान सा खड़ा हो गया और चारों ओर बाबू जगदानन्द की घोरतम निन्दा की गयी। अमृत बाजार पत्रिका ने लिखा, "हिन्दू समाज सब कुछ सह सकता है मगर वह अपनी नारियों का अपमान नहीं सह सकता। जो व्यक्ति विदेशियों द्वारा अपने परिवार को कलङ्कित होने दे सकता है वह समाज का कलङ्क ही नहीं, वह हिन्दू समाज का शत्रु भी है।"

'ग्रेट नेशनल थियेटर' ने इस घटनाओं को हाँथ से जाने न दिया। उपेन्द्र बाबू ने एक हास्य रस का नाटक लिखा जिसका नाम 'गजदानन्द' था। १६ फरवरी १८७६ ई० को यह नाटक 'सरोजिनी' नाटक के साथ ही खेला गया। इसके गीत गिरीश घोष ने लिखे थे। सरकार इस नाटक से बहुत रुष्ट थी। २३ फरवरी १८७६ ई० को 'सती कि कलकिनी' नाटक के साथ इसे फिर बदले हुए नाम से खेला गया। २६ फरवरी को 'कर्नाट कुमार' नाटक के साथ यह नाटक 'हनुमान चरित्र' के नाम से फिर खेला जाने वाला था। परन्तु पुलिस ने रोक लगा दी। पहिली मार्च को 'सुरेन्द्र विनोदिनी' नाटक के साथ इसे 'पुलिस आफ पिग एन्ड शीप' के नाम से खेलने की व्यवस्था की गयी। दर्शक भी बहुत बड़ी सख्या में उपस्थित थे। अब सरकार मौन नहीं रह सकती थी। उसने भी 'प्रिन्स आफ वेल्स' के मेजमान के सम्मान की रक्षा करने का निश्चय किया। बगाल सरकार की प्रार्थना पर लार्ड नार्थ ब्रुक ने एक आर्डीनेन्स जारी किया जिसमें भारत सरकार ने बगाल सरकार को नाटकीय प्रदर्शनों पर रोक

लगाने का अधिकार दे रखा था। आर्डीनेन्स दो महीने के लिए था। इस अधिकार को प्राप्त कर डिप्युटी कमिश्नर मिस्टर लेम्बर्ट, पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट मिस्टर लैम्ब तथा शाम पुकूर थाना के इन्सपेक्टर श्री अमृतलाल दत्त १ मार्च १८७६ ई० को ग्रेट नेशनल थियेटर में पहुंचे। उस समय अभिनय हो रहा था। उन्होंने श्री अमृत लाल बोस को यह आदेश दिया कि 'गजदानन्द' नाटक 'हनुमान चरित' अथवा किसी अन्य नाम से न खेला जाय। आज्ञा का उल्लंघन करने पर दण्डित होना पड़ेगा। अनेक समाचार पत्रों ने इस आर्टीनेन्स का सख्त विरोध किया। १ मार्च १८७६ ई० के अमृत बाजार पत्रिका ने लिखा, 'नेशनल थियेट्रिकल कम्पनी ने 'गजदानन्द एन्ड दी प्रिन्स' नाम का हास्य रस का नाटक खेला। दर्शकों की बड़ी सख्या ने इन अभिनयों का आनन्द लिया। जगदानन्द के मित्रों ने यह शोर मचाया कि यह नाटक अश्लील और राजद्रोही है। हमने इसे पहिले देखा था। अब हम इसे फिर देख चुके हैं। हम इसे बिलकुल निर्दोष साहित्य मानते हैं। इस प्रकार मज़ाक उड़ाये जाने पर जगदानन्द और उनके मित्रों को चाहे जितनी चोट लगे, यह नाटक न तो राजद्रोही है, न अश्लील। वाइसराय ने लेफटीनेन्ट गवर्नर को आर्डीनेन्स के अन्तर्गत अधिकार दे दिये हैं। मगर फैसला कौन करेगा? क्या पुलिस वाले यह फैसला करेंगे कि कौन सा नाटक अश्लील है और कौन सा अश्लील नहीं है? लार्ड नार्थब्रुक का दूसरा कदम यह है कि बल पूर्वक तमाम नाटकों का समाप्त कर दिया जाय जिसे सरकार किसी भी प्रकार आपत्तिजनक समझती है।"

१५ मार्च १८७६ ई० को सुप्रीम लेजिस्लेटिव कौंसिल में भारत सरकार के ला मेम्बर हानरेबुल मिस्टर हाबहाउस ने 'ड्रामेटिक परफार्मेन्सेज़ बिल', पेश किया और उस घटना का ज़िक्र किया जिसके कारण इतना तूफान उठ खड़ा हुआ था। 'गजदानन्द' के अतिरिक्त उन्होंने 'चाकर दर्पण' नाटक का भी चर्चा किया। यह नाटक

'नील दर्पण' के ही आधार पर लिखा गया था। इसे रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं किया जा सका। सरकार ने 'नील दर्पण' को तो जब्त नहीं किया मगर 'चाकर दर्पण' को जब्त कर लिया। इसके बाद 'सुरेन्द्र विनोदिनी' नाटक की बारी आयी। इसकी रचना भी उपेन्द्र बाबू ने की थी। बंगाल थियेटर द्वारा यह अभिनीत हो चुका था। जब यह १ मार्च १८७६ ई० को अभिनीत हुआ तो इस पर रोक लगा दी गयी। इस नाटक में दिखाया गया था कि जब अंग्रेज मैजिस्ट्रेट मैकक्रिम्बल ब्रजमोहिनी के साथ बलात्कार करने की कोशिश करता है तो वह छत से कूद जाती है। बाद में जब मैजिस्ट्रेट उसे खून से लथपथ सीढी पर लाता है तो कहता है "बापरे, सचमुच यह छत से कूद पड़ी थी। मगर यह औरत कितनी प्यारी है।" ब्रजमोहिनी का खून से लथपथ रंगमंच पर आना ही पुलिस वालों के मुकदमा चलाने का एक बहाना बन गया। उस अभिनय में पुलिस अधिकारी मिस्टर राबर्टसन सादे कपड़े में मौजूद थे। उन्होंने जाकर रिपोर्ट की कि "नाटक आपत्तिजनक और अश्लील है। इसमें यह दिखाया गया है कि किस प्रकार एक योरोपियन मैजिस्ट्रेट ने, जो कि शैतान का पुतला है, एक लड़की के साथ बलात्कार किया और खून के ये दाग इसी कारण पड़े। और, यह भी दर्शाया गया है कि चूँकि वह लड़की कुंवारी थी, इसलिए कोई भला हिन्दू उससे विवाह नहीं करेगा।"

इस रिपोर्ट के आधार पर ही मुकदमा चलाने का हुक्म हो गया। सर्व श्री भुवन मोहन नियोगी, उपेन्द्रनाथ दास, अमृतलाल बोस, मतीलाल सूर, महेन्द्र लाल बोस, अमृतलाल मुखरजी, शिवनाथ चैटरजी, गोपाल चन्द्र दास, रामरतन सान्याल और बाँके बिहारी दास के ऊपर गिरफ्तारी के वारन्ट भी निकल गये। सारे लोग चार मार्च को थियेटर में ही गिरफ्तार कर लिए गए। उस वक्त 'सती कि कलंकिनी' नाटक का अभिनय हो रहा था। गिरफ्तारियों के कारण तहलका मच गया और महिला कलाकारों ने रोना शुरू किया।

५ मार्च १८७६ ई० को मैजिस्ट्रेट के यहाँ इन पर मुकदमा चला और अनेक सम्मानित नागरिकों ने अदालत के सामने बयान भी दिया। अदालत में भीड़ इतनी अधिक हो जाती थी कि कभी कभी पुलिस को बल प्रयोग करना पड़ता था। ८ मार्च को अन्य सभी अभियुक्त रिहा कर दिए गए। केवल उपेन्द्र बाबू और अमृत लाल को एक एक महीने की सादी कैद की सजा मिली। दोना अभियुक्तों ने शान और शांति के साथ सजा सुनी। श्री उमेश चन्द्र बैनरजी की कोशिश से हाई कोर्ट ने इन्हें जमानत पर रिहा कर दिया। अपील के खर्च के लिए 'सरोजिनी' नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया। लोगों ने भी दिल खोलकर टिकट खरीदे। २० मार्च को ये दोनों कलाकार रिहा कर दिये गये। लाल बाज़ार के जमादार और जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट ने इन लोगों के साथ बहुत अच्छा व्यवहार किया था।

एक तरफ तो न्यायाधीश फियर और मार्कबी ने इन अभियुक्तों को रिहा किया, दूसरी तरफ उसी दिन मिस्टर हाबहाउस ने लेजिस्लेटिव कोंसिल में 'ड्रामेटिक परफार्मेन्सेज कन्ट्रोल बिल' सेलेक्ट कमेटी में भेजा। और अन्त में 'ड्रामेटिक परफार्मेन्सेज़' एक्ट के नाम से वह पास हो गया। १६ दिसम्बर १८७६ ई० को नये वाइसराय लार्ड लिटन ने इसे अपनी स्वीकृति दे दी और उसे कानूनी रूप मिल गया। उस समय अमृत बाजार पत्रिका ने तड़पकर कहा था, "इस समय हम शासकों के अत्याचारों के भार से दबे हुए हैं। यदि हमारे ऊपर सरकार इसी तरह के काले कानूनों के जरिये राज्य करती रहेगी तो हमें ऐसा क्षेत्र चुनना पड़ेगा जहां वर्तमान शासकों की धोखाधड़ी की हमें पर्वाह नहीं रहेगी।"

यह एक्ट सारे भारत में लागू हुआ। स्थानीय सरकारों को इस कानून से ऐसे अधिकार मिल गए कि जिस भी नाटक को वह अश्लील, राजद्रोहात्मक अथवा आपत्तिजनक समझती थी उसे वह

जब्त कर सकती थी और उसका अभिनय रोक सकती थी। इलाहाबाद हाईकोर्ट के लखनऊ बेंच ने अब इस एक्ट को रद कर दिया है। इस कानून ने नाट्य साहित्य और राष्ट्रीय रगमच के विकास पर रोक लगा दी थी। इससे राष्ट्रीय भावनाओं के विकास को गहरा धक्का पहुँचा था। फलत उसके बाद यद्यपि राष्ट्रीय आन्दोलन तीव्रतर हुआ मगर राष्ट्रीय रगमच का विकास अथवा नाट्य साहित्य की प्रगति में शिथिलता आ गयी। बगाल मे १९०५ में स्वदेशी आन्दोलन चला। इससे हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को बड़ा बल मिला। कानूनी सख्तियों और दमन के बावजूद युग परिवर्तनकारी नाटक 'सिराजुद्दौला' और 'मीर क़ासिम' लिखे गये। गिरीश घोष ने इन नाटकों को लिखा ही नहीं, इनका अभिनय भी अनेक बार किया। नाटक बडे प्रभावशाली थे। जो प्रभाव दस भाषणों का नहीं पड़ सकता था वह एक नाटक का पड़ता था। सरकार इससे चौंकी भी थी।

पश्चिमी इतिहासकारों ने अठारहवीं सदी के बहुमुखी राष्ट्रीय आन्दोलन का एक दम गलत और एकागी रूप सामने रखा है। रंगमंच का राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास में कितना बड़ा हाथ रहा है इस पर बहुत कम प्रकाश पड़ा है। गिरीश घोष ने 'छत्रपति शिवा जी' नाटक भी लिखा था। पडित खिरोद प्रसाद विद्याविनोद ने 'पलाशीर प्रायचित्त' तथा 'नन्दकुमार' नाटक भी लिखे। श्री द्विजेन्द्र लालरायने 'शाहजहाँ', 'मेवाड़ पतन' और 'दुर्गादास' नाटक लिखे। इन नाटको ने राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करने में बहुत बड़ी सहायता दी। १९०४-१९०९ के युग में इन नाटकों ने तूफान मचा दिया था। फलतः १९१०-११ में ये नाटक जब्त कर लिये गए। सरकार की वक्र दृष्टि के कारण इनका खेलना असम्भव हो गया।

जैसा कि हम जानते हैं इस एक्ट ने हमारे राष्ट्रीय रंगमच की हत्या कर दी। इस एक्ट के पास होने के तीन ही महीने बाद 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' पास हुआ और राष्ट्रीय समाचार पत्रों का भी गला

घोंट दिया गया। थोड़े ही दिनों बाद यह एक्ट लार्ड रिपन की सरकार द्वारा वापिस ले लिया गया। इस प्रकार यह युग सचमुच संकट और संघर्ष का युग रहा है। मगर संतोष की बात है कि समस्त सरकारी दमन और अन्याय के बावजूद दीनबन्धु मित्र और गिरीश घोष की स्वस्थ गर्वीली परम्परा मरी नहीं, समाप्त नहीं हुई। कुछ समय के लिए उसकी गति में शिथिलता अवश्य आयी मगर उसका विकास क्रम यथावत चलता रहा, उसकी विजय यात्रा भी स्थगित नहीं हो पायी।

स्टार थियेटर

बंगाल के नाट्य साहित्य और रंग मच के आन्दोलन को कुछ थियेटरों से बहुत अधिक मिला था। 'स्टार थियेटर' उन नाट्यशालाओं में के एक था। इस थियेटर के निर्माण तथा विकास की कहानी अत्यंत रोमांचकारी और अविस्मरणीय है। नेशनल थियेटर में विनोदिनी नाम की एक सुन्दरी महिला थी। बाबू गुरुमुख राय नाम के एक सम्पत्तिशाली धनवान व्यापारी विनोदिनी पर आसक्त हो गये। वह विनोदिनी के नाम पर एक थियेटर चलाना चाहते थे। उस समय विनोदिनी को चौबिस परगना के एक नामी जमींदार से एक बड़ी रकम वजीफे में मिलती थी। जमींदार महोदय चाहते थे कि विनोदिनी रंग मच पर आना छोड़ दे। उधर गुरुमुख राय विनोदिनी के लिये बड़ी से बड़ी रकम खर्च करने को प्रस्तुत थे। उनकी इच्छा थी कि विनोदिनी अभिनय करना न छोड़े। गिरीश घोष के लिये यह स्वर्ण अवसर था। उधर जमींदार महोदय विवाह करने के २४ लियेपरगना चलेगये। गिरीश घोष ने विनोदिनी को इस बात के लिये राजी कर लिया कि वह जमींदार का साथ छोड़ दे और बंगाल में एक आदर्श थियेटर निर्मित करने में अपना सहयोग दे। जब तक सारी व्यवस्था पूरी न हो गयी, विनोदिनी रानीगंज, चिनसुरा आदि स्थानों में घूमती रही। प्रारम्भिक व्यवस्था समाप्त होने पर विनोदिनी कलकत्ता आयी। जब

गुरुमुख राय से थियेटर के लिये विनोदिनी ने रुपये माँगे तो उन्होंने आनाकानी की। उन्होंने कहा, "थियेटर बनवाने की क्या जरूरत है? तुम मेरे पास रहो। मैं तुम्हें शुरू के खर्च के लिये पचास हजार रुपये दूँगा।" उन्होंने अपनी जेब से रुपयों के कुछ बन्डल निकाले भी। वैसे विनोदिनी किसी उच्चकुल की पवित्र आचरण वाली महिला होने का दावा नहीं कर सकती थी। परन्तु इस समय विनोदिनी ने जिस आदर्शवादिता और चारित्रिक दृढता का परिचय दिया वह सत्यमेव रोमाचकारी था। गुरुमुख राय के इस आनाकानी से विनोदिनी को गहरा धक्का लगा। उसने दृढ़ता पूर्वक किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता लेने से इनकार कर दिया। विनोदिनी स्पष्ट कहा, "मैं रगमंच को उसकी कला के लिये प्यार करती हूँ। मैं अपनी कला के लिये सब कुछ का बलिदान कर सकती हूँ। आप अपने रुपये रखे रहें।"

जब गुरु मुखराय ने समझ लिया कि विनोदिनी किसी भी मूल्य पर रगमच को छोड़ने के लिये तैयार नहीं है तो उन्होंने 'स्टार थियेटर' के निर्माण में सहायता देनी आरम्भ कर दी। जहाँ किसी समय एमरल्ड, क्लासिक और कोहनूर थियेटरों का दबदबा था वहीं, ६८ वेडन स्ट्रीट के पास, जमीन ली गयी और 'स्टार थियेटर' की इमारत बनी। अब वह इमारत गिरा दी गयी है और चितरजन ऐवेन्यू का विस्तार वहा तक हो गया है।

इमारत के निर्माण का काम जोर शोर से शुरू हुआ। मच व्यवस्थापक बाबू जहर लाल धर ने शीघ्रतापूर्वक काम कराना आरम्भ किया। उनकी सहायता बाबू दासू चन्द्र नियोगी भी करने लगे। बाबू हरी प्रसाद बोस ने हिसाब किताब सम्हाला। सर्व श्री अनृतलाल बोस, अमृत मित्रा, नील माधव चक्रवर्ती तथा प्रबोध घोष ने रिहर्सल मे सहायता देनी शुरू की। विनोदिनी ने किस प्रकार इस भवन के निर्माण कार्य में हांथ बॅटाया यह उसी के शब्दों में इस प्रकार है—

"थियेटर के गौरव और प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिये गिरीश बाबू सिखाने और रिहर्सल कराने में इतने व्यस्त थे कि उन्होंने विवश होकर विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न विभागों का कार्य सम्हालने के लिये सहेज दिया। हम लोगों में बहुत जोश था। रिहर्सल बाबू वनमाली चक्रवर्ती के बेडेन स्ट्रीट स्थित मकान में होता था। उधर गिरीश बाबू ने हम लोगों के लिये नाटक लिखना शुरू किया। पूरी व्यवस्था भी उन्हीं के हाथ में थी। हम लोग २ से ३ बजे तक रिहर्सल में खर्च करते। फिर थियेटर में चले जाते। जब दूसरे लोग चले भी जाते तब भी मैं मिट्टी के बड़े बड़े ढोके ढोकर गढ़ों को भरा करती, जिससे इमारत के बनने में जल्दी हो सके। रात को बहुत देर तक हम लोग इस प्रकार कार्य करते रहते। इस तरह हम लोगों के कठिन परिश्रम के फल स्वरूप निर्माण कार्य पूरा हो गया।

"यहां मैं एक बात कहना चाहती हूँ। मेरे मालिकों ने कहा था कि थियेटर का नाम मेरे नाम पर रखा जायेगा। बाद में मुझे यह जान कर बड़ी हैरानी और पीड़ा हुई कि अब उसका नाम 'स्टार थियेटर' रखा जायेगा। मालिक तो मेरे ही नाम पर इसका नाम रखना चाहते थे, मगर दूसरे सहयोगियों को यह बात मंजूर न थी।'

जो भी हो, यह तो सभी ने स्वीकार किया है कि 'स्टार थियेटर' के निर्माण के लिये जितना श्रेय श्री गिरीश घोष को है उससे कम श्रेय विनोदिनी को नहीं है। यदि विनोदिनी ने अपने प्रोज्ज्वल रंगमंच प्रेम तथा अद्वितीय चारित्रिक दृढ़ता का परिचय न दिया होता तो बंगला रंगमंच की स्वर्ण शृंखला की एक गौरवपूर्ण कड़ी जुड़ने से रह जाती। विनोदिनी को समकालीन व्यक्तियों ने चाहे जिस रूप में देखा हो, परन्तु रंगमंच के इतिहास के विद्यार्थी तो उसकी तुलना केवल सुतनुका देवदासी से ही करेंगे जिसने आज से २३०० वर्ष पहिले अपने स्नेह के स्मारक स्वरूप अपने प्रेमी कलाकार देवदत्त के नाम पर सीताबेंगा गुफा में प्रेक्षागृह तथा जोगीमारा गुफा में

चित्रशाला बनवायी और नृत्य, नाट्य, अभिनय तथा चित्रकला की परम्परा को दृढता प्रदान की। सुतनुका और विनोदिनी की सामाजिक स्थिति में तो समानता थी ही, उदारता, कर्तव्य निष्ठा, अभिनय प्रेम और कला के प्रति आदर में भी दोनों में विचित्र समानता थी। रंगमच के प्रति दोनों की सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी।

'स्टार थियेटर' के निर्माण के साथ ही गिरीश घोष की नाट्य रचना की प्रतिभा भी मुखर हो उठी। २१ जुलाई १८८३ ई० को 'स्टार थियेटर' का उद्घाटन 'दक्ष यज्ञ' से हुआ। इसमें 'दक्ष' की भूमिका स्वय गिरीश घोष ने की थी। बाबू अमृतलाल मित्र ने महादेव की, भूनी बाबू ने दधीचि की, विनोदिनी ने सती की, कादम्बिनी ने प्रसूति की, गंगामणि ने तपस्विनी की, नील माधव चक्रवर्ती ने ब्रह्मा की; अघोर पाठक ने नन्दी की, प्रोबोध घोष ने भृ गी की, माथुर चैटरजी ने नारद की और क्षेत्रमणि ने भृ गी-पत्नी को भूमिका की। यह अभिनय अत्यन्त सफल हुआ। गिरीश घोष के वे वाक्य, 'कि कौशले करी भावे प्रजार स्थापन' तथा 'अपमान मान आछे जार, भिखारीर, मानकिरे, भिकारिणी!' हफ्तों तक लोगों के कानों में गूँजते रहे। इसी प्रकार अमृत लाल मित्र के इस वाक्य—

'केरे देरे सती दे अमार'

सती, सती, कोथा सती!' ने दर्शकों को सचमुच हिला दिया था। अमृत लाल के इस एक वाक्य को वर्षों तक लोगों ने याद रखा। उनका अभिनय, उनका स्वर, उनकी भाव भगिमा सब बगला रगमच के गौरवशाली इतिहास का अविभाज्य अग बन गयीं। विनोदिनी ने भी अपनी भूमिका अत्यन्त सफलता पूर्वक की। स्वय गिरीश बाबू ने विनोदिनी के अभिनय की प्रशसा करते हुये कहा था, "आदि से अन्त तक विनोदिनी ने अपनी अभिनय कला के पूर्ण कौशल का प्रमाण दिया। उसने यह प्रश्न 'बियेकि मा?' बड़ी सफलता पूर्वक किया। सत्यमेव इतने कुशल अभिनय तथा शुद्ध

उच्चारण के लिये बहुत बड़ी प्रतिभा की जरूरत थी।" 'दक्ष यज्ञ' की इस अभूतपूर्व सफलता से गिरीश घोष की नाट्य कला को चार चांद लग गये। इनकी करुणा, इतना व्यापक दृश्य! पूरा नाटक कितना सजीव, कितना ओज पूर्ण, कितना मनोरम था! गिरीश घोष की कल्पनाशीलता, सुयोग्यता, कौशल और अध्यवसाय के फलस्वरूप यह नाटक इतना सफल हुआ था।

'दक्ष यज्ञ' के बाद 'ध्रुव चरित' का अभिनय हुआ। उसके बाद 'नल दमयन्ती' नाटक रगमंच पर प्रस्तुत किया गया। अब गुरु मुख राय ने इस थियेटर को बेचना चाहा। गिरीश घोष की राय से उन्होंने इस थियेटर को सर्व श्री अमृत लाल मित्र, दासू बाबू, हरि गोपाल बोस तथा अमृत लाल बोस के हाथ ११००० रुपयों में बेच दिया। इस प्रकार यह थियेटर गिरीश बाबू के शिष्यों के हाथ में आ गया। इसके बाद १८८४ के २६ मार्च को 'कमल कामिनी' नाटक 'स्टार थियेटर' के रगमच पर प्रस्तुत किया गया। 'कमल कामिनी' के बाद 'चैतन्य-लीला' नाटक अभिनीत हुआ।

विनोदिनी ने अपने ससमरण में 'चैतन्य लीला' का चर्चा करते हुये लिखा है, "उधर 'स्टार थियेटर' की ख्याति बढने लगी और इधर गिरीश बाबू मुझे अधिकाधिक शिक्षा देने लगे। 'चैतन्य लीला' नाटक लिखा गया और तुरन्त उसकी शिक्षा शुरू हो गयी। रिहर्सल में 'अमृत बाज़ार पत्रिका' के सम्पादक तथा प्रसिद्ध वैष्णव बाबू शिशिर कुमार घोष भी अक्सर आते और मुझे 'श्री गौराग देव के चरणों का ध्यान करने' की शिक्षा देते। उनके आदेश का पालन करके मै श्री गौर के चरणों का स्मरण करती। मैं कहती, 'हरि गौर, मुझ पतिता नारी की लाज रखो।' मुझे सदा इस बात का भय बना रहता कि कैसे मैं इन कठिनाइयो को पार कर सकूँगी। जिस दिन अभिनय होने वाला था उसकी पहिली रात को मुझे नींद नहीं आयी। अभिनय की चिंता मुझे खाये जा रही थी। सवेरे मैं गगा

चित्रशाला बनवायी और नृत्य, नाट्य, अभिनय तथा चित्रकला की परम्परा को दृढ़ता प्रदान की। सुतनुका और विनोदिनी की सामाजिक स्थिति में तो समानता थी ही, उदारता, कर्तव्य निष्ठा, अभिनय प्रेम और कला के प्रति आदर में भी दोनों में विचित्र समानता थी। रंगमंच के प्रति दोनों की सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी।

'स्टार थियेटर' के निर्माण के साथ ही गिरीश घोष की नाट्य रचना की प्रतिभा भी मुखर हो उठी। २१ जुलाई १८८३ ई० को 'स्टार थियेटर' का उद्घाटन 'दक्ष यज्ञ' से हुआ। इसमें 'दक्ष' की भूमिका स्वयं गिरीश घोष ने की थी। बाबू अमृतलाल मित्र ने महादेव की, भूनी बाबू ने दधीचि की, विनोदिनी ने सती की, कादम्बिनी ने प्रसूति की, गंगामणि ने तपस्विनी की, नील माधव चक्रवर्ती ने ब्रह्मा की, अघोर पाठक ने नन्दी की, प्रोबोध घोष ने भृंगी की, माथुर चैटरजी ने नारद की और क्षेत्रमणि ने भृंगी-पत्नी की भूमिका की। यह अभिनय अत्यन्त सफल हुआ। गिरीश घोष के वे वाक्य, 'कि कौशले करी भावे प्रजार स्थापन' तथा 'अपमान मान आछे जार, भिखारीर, मानकिरे, भिकारिणी!' हफ्तों तक लोगों के कानों में गूँजते रहे। इसी प्रकार अमृत लाल मित्र के इस वाक्य—

'केरे देरे सती दे अमार'

सती, सती, कोथा सती!' ने दर्शकों को सचमुच हिला दिया था। अमृत लाल के इस एक वाक्य को वर्षों तक लोगों ने याद रखा। उनका अभिनय, उनका स्वर, उनकी भाव भंगिमा सब बंगला रंगमंच के गौरवशाली इतिहास का अविभाज्य अंग बन गयीं। विनोदिनी ने भी अपनी भूमिका अत्यन्त सफलता पूर्वक की। स्वयं गिरीश बाबू ने विनोदिनी के अभिनय की प्रशंसा करते हुये कहा था, "आदि से अन्त तक विनोदिनी ने अपनी अभिनय कला के पूर्ण कौशल का प्रमाण दिया। उसने यह प्रश्न 'बियेकि मा ?' बड़ी सफलता पूर्वक किया। सत्यमेव इतने कुशल अभिनय तथा शुद्ध

उच्चारण के लिये बहुत बड़ी प्रतिभा की जरूरत थी।" 'दक्ष यज्ञ' की इस अभूतपूर्व सफलता से गिरीश घोष की नाट्य कला को चार चांद लग गये। इनकी करुणा, इतना व्यापक दृश्य! पूरा नाटक कितना सजीव, कितना ओज पूर्ण, कितना मनोरम था! गिरीश घोष की कल्पनाशीलता, सुयोग्यता, कौशल और अध्यवसाय के फलस्वरूप यह नाटक इतना सफल हुआ था।

'दक्ष यज्ञ' के बाद 'ध्रुव चरित' का अभिनय हुआ। उसके बाद 'नल दमयन्ती' नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया। अब गुरु मुख राय ने इस थियेटर को बेचना चाहा। गिरीश घोष की राय से उन्होंने इस थियेटर को सर्व श्री अमृत लाल मित्र, दासू बाबू, हरि गोपाल बोस तथा अमृत लाल बोस के हाथ ११००० रुपयों में बेच दिया। इस प्रकार यह थियेटर गिरीश बाबू के शिष्यों के हाथ में आ गया। इसके बाद १८८४ के २६ मार्च को 'कमल कामिनी' नाटक 'स्टार थियेटर' के रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया। 'कमल कामिनी' के बाद 'चैतन्य-लीला' नाटक अभिनीत हुआ।

विनोदिनी ने अपने संस्मरण में 'चैतन्य लीला' का चर्चा करते हुये लिखा है, "उधर 'स्टार थियेटर' की ख्याति बढ़ने लगी और इधर गिरीश बाबू मुझे अधिकाधिक शिक्षा देने लगे। 'चैतन्य लीला' नाटक लिखा गया और तुरन्त उसकी शिक्षा शुरू हो गयी। रिहर्सल में 'अमृत बाजार पत्रिका' के सम्पादक तथा प्रसिद्ध वैष्णव बाबू शिशिर कुमार घोष भी अक्सर आते और मुझे 'श्री गौरांग देव के चरणों का ध्यान करने' की शिक्षा देते। उनके आदेश का पालन करके मैं श्री गौर के चरणों का स्मरण करती। मैं कहती, 'हरि गौर, मुझ पतिता नारी की लाज रखो।' मुझे सदा इस बात का भय बना रहता कि कैसे मैं इन कठिनाइयों को पार कर सकूँगी। जिस दिन अभिनय होने वाला था उसकी पहिली रात को मुझे नींद नहीं आयी। अभिनय की चिंता मुझे खाये जा रही थी। सवेरे मैं गंगा

स्नान करने गयी। मैंने १०८ बार दुर्गा का नाम जपा। मैंने श्री गौर से भी प्रार्थना की। मैंने सफलता का वर माँगा। फिर भी मैं डर रही थी। अभिनय के समाप्त होने के बाद मैंने जाना कि प्रभु के चरणों का भरोसा मैंने ठीक ही किया था। बाल लीला में ज्योंही मैंने गाना शुरू किया—'राधा बोले नाम आमार, राधा बोले बाजाओ वशी'—मेरे मन में जाने कहा की शक्ति भर गयी और सारे शरीर में स्फूर्ति छा गयी। जब मालिनी से पूछ रही थी—'तुम क्या देख रही हो मालिनी!' तो मेरी वाह्य दृष्टि बन्द हो जाती थी और मैं भीतरी प्रकाश देखती थी। बाहर मुझे कुछ नहीं दीखता था। मैं केवल श्री गौर के श्री चरणों को अपने हृदय में स्थापित देखती थी। मुझे लगता था कि श्री गौर स्वयं मेरा निर्देशन कर रहे हैं। मेरा सारा शरीर आनन्द से नाच रहा था।

"एक रात जब कि दर्शकों की बहुत बड़ी भीड़ जमा थी मैं चैतन्य की भूमिका करते करते आनन्दातिरेक में अचेतन हो गयी। उस समय फादर लाफान थियेटर में उपस्थित थे। दृश्य पट के गिरते ही वह भीतर आये। गिरीश बाबू से उन्होंने मेरा हाल सुना। वह मेरे पास आए। होश आने पर मैंने देखा लम्बी दाढी वाला एक बूढ़ा आदमी मेरे सिर और शरीर पर हाथ फेर रहा है। मैंने उन्हें दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम किया उन्होंने अपना हाँथ मेरे सिर पर रख दिया। एक ग्लास पानी पीने के बाद मेरा स्वास्थ्य ठीक हो गया।"

'चैतन्य लीला' के कारण गिरीश घोष की ख्याति देश भर में फैल गयी। यहाँ तक कि इसका अभिनय देखने के लिये एक बार स्वामी रामकृष्ण परमहस देव स्वय अपने शिष्यों के साथ पधारे थे। जब एक शिष्य ने पूछा, "गुरुदेव! आप को यह अभिनय कैसा लगा?" तो श्री रामकृष्ण ने कहा था, "मुझे तो यह अभिनय सत्य जैसा ही लगा।" नाटक के अभिनय के उपरात श्री रामकृष्ण परमहस देव कार्यालय के कमरे मे आए। वहाँ विनोदिनी ने उनका दर्शन

किया और उनके चरण छुये। उस समय परमहंस जी आनन्द से नाच उठे और 'हरि हरि' गाने लगे। बाद में उन्होंने विनोदिनी को आशीर्वाद दिया—"तुम चैतन्य पद प्राप्त करो।"

'चैतन्य लीला' के बाद 'निमाई सन्यास', 'विल्व-मगल,' 'वुद्धदेव' और 'रूप सनातन' नाटक खेले गये। और जब १८८६ ई० में वेडेन स्ट्रीट स्थित यह थियेटर बन्द हुआ और बाबू अमृत लाल बोस ने दर्शकों मे अन्तिम विदा ली तो दर्शकों की आँखो से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी।

इस प्रकार उस 'स्टार थियेटर' का अन्त हुआ जिसके निर्माण में गिरीश घोष और उनके शिष्यों तथा साथियों ने अपना सब कुछ लगा दिया था और जिसके जन्म तथा विकास में विनोदिनी जैसी सर्व-गुण सम्पन्ना महिला के अगणित आँसू तथा स्वेद बिन्दु लगे थे। 'स्टार थियेटर' के विघटन के बाद बगाल के नाट्यकला सम्बन्धी आन्दोलन में नवीन मोड़ आया और नवीन प्रकार की रचनाएँ की जाने लगीं। धीरे धीरे लोगों के हृदय में बनी रंगमंच सम्बन्धी धारणाएँ भी बदलने लगीं।

इस युग में बंगाल का नाट्य साहित्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा। परिमाण तथा गुण दोनों दृष्टियों मे गिरीश घोष के युग तक का नाट्य साहित्य अपने ऐतिहासिक महत्ता, सामाजिक उपयोगिता और राजनीतिक प्रयोजनीयता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जायेगा। यदि हम इस युग के विभिन्न नाटकों की तालिका देखें तो उससे हमारी इस बात की पुष्टि होगी।

आधुनिक बंगाली रंगमंच

बंगाल का आधुनिक रंगमच गिरीष घोष की राष्ट्रीय परम्परा को तो कायम रखे ही हुये है, उसमे पिछले वर्षों मे ऐसी अनेक विशेषताएँ दिखलाई पडी हैं जिनके आधार पर यह बलपूर्वक कहा जा

सकता है कि बङ्गाल का नाट्य साहित्य और रङ्गमञ्च सत्यमेव संघर्ष-शील जन-जीवन का दर्पण बन गया है। गिरीश घोष ने ऐसे रङ्ग-मञ्च का स्वप्न देखा था जो जन साधारण की पहुँच के बाहर न हो। उन्होंने नाटकों की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक उपयोगिता पर बल दिया था। उन्होंने 'नीलदर्पण' तथा 'साधवार एकादशी' की परम्परा को पुष्ट करने और उसे अधिक समृद्ध बनाने का निश्चय किया था। जीवन पर्यन्त वे अपने इस महान और पवित्र कार्य में जुटे रहे। उधर टैगोर परिवार नाट्य साहित्य और रङ्गमञ्च के कलात्मक पक्ष पर बल देता रहा। विशेषतया रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपने नाटकों में संगीत, दृश्य-दृश्यावलियों, रङ्गमञ्च, कथोपकथन, घटना-क्रम—सब में नवीनता उत्पन्न कर दी। नाटकों में पहिले जिस साज सामान की आवश्यकता पड़ती थी, जितना रुपया रङ्गमञ्च के निर्माण में खर्च होता था वह सब कम होने लगा। रङ्गमञ्च का का आकर्षण अब चमक दमक, पर्दे आदि से नहीं बढ़ता था। अब मञ्च पर पात्रों को अस्वाभाविक रूप से चिल्लाने-शोर मचाने की भी जरूरत नहीं रह गयी थी। प्रयत्न यह हुआ कि पात्र स्वाभाविकता का ध्यान रखें और नाटककार भी कथानक तथा घटनाक्रम के संयोजन में जीवन की यथातथ्यता को न भूलें। यह सही है कि ऐतिहासिक नाटकों में अतिरञ्जना और अतिशयोक्तियों का सहारा अब भी लेना पड़ता था—द्विजेन्द्र लाल राय तथा उनके जैसे नाटककारों की कृतियों का रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करने के लिये यह सब करना पड़ता था—परन्तु साधारणतया लोगों की रुचि में परिवर्तन और परिष्कार होने लगा था। राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव भी अब अन्य साहित्यों और कलाओं की ही भाँति नाट्य साहित्य और अभिनय कला पर पड़ने लगा था। जन जीवन सङ्कट और सङ्घर्ष से गुज़र रहा था। बङ्गाल क्रान्तिकारी आन्दोलन का नेतृत्व कर रहा था। बंगला साहित्य प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से इस आन्दोलन से पूरी तरह प्रभावित हो

रहा था। बङ्गाल का रङ्गमञ्च इस सार्वजनीन क्रान्ति तथा आन्दोलन के प्रभावों से बच नहीं सकता था। इसलिये बङ्गाल में नाट्य साहित्य और रङ्गमञ्च के विकास में एक सर्वथा नवीन मोड़ आया। 'नील दर्पण', 'साधवार एकादशी', 'भारत मातार विलाप' और चाकर दर्पण' में चोट खायी हुई भारतीय आत्मा तिलमिला कर चीत्कार कर उठी थी। अब, इस नवीन युग में वह अपने राष्ट्रीय स्वाभिमान की रक्षा कर रही थी। वह दुर्दमनीय राष्ट्रीय आन्दोलन को यथाशक्ति बल प्रदान कर रही थी। इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति तक बङ्गाल के रङ्गमञ्च का विकास होता रहा।

सन् १९२३ में अपरेशचन्द्र की अध्यक्षता में नव सङ्गठित 'स्टार थियेटर' का कार्य ठाठ के साथ आरम्भ हुआ। १९२३ ई० के ३० जून को 'कर्णार्जुन' नाटक खेला गया। पुराने नाटक तो इस मञ्च पर बार बार खेले ही गये—रवीन्द्र नाथ के 'चिर कुमार सभा' और 'गृह प्रवेश', सौरीन्द्र मुखोपाध्याय का 'लाख टका', अपरेशचन्द्र का 'ईरानेर रानी', 'श्री कृष्ण', 'चण्डीदास', 'मगेर मुलुक', 'मन्त्रशक्ति' और श्री गौरांग' आदि नाटक भी इस मञ्च पर प्रस्तुत किये गये। अब शिशिरकुमार भादुड़ी अमेरिका से वापिस आ चुके थे। उन्होंने दानी बाबू के साथ मिलकर 'नाट्य-निकेतन' के मञ्च पर अनेक नाटकों को प्रस्तुत किया। अनुरूपा देवी का 'पोष्य पुत्र' भी 'स्टार' में अभिनीत हुआ। 'आर्ट थियेटर' में अपरेश बाबू का 'विद्रोहिणी' नाटक, रवीन्द्र मित्र का 'मान मयी गर्ल्स स्कूल' तथा अन्य दो नाटक खेले गये। इसके बाद 'आर्ट थियेटर' समाप्त हो गया।

शिशिर बाबू ने १९२३ ई० की ईडन गार्डेन की प्रदर्शिनी में द्विजेन्द्र लाल राय लिखित 'सीता' में अभिनय किया था। 'नाट्य-मन्दिर' के उद्घाटन के अवसर पर रवीन्द्रनाथ का 'विसर्जन' नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया। इसके उपरान्त शरत् बाबू का 'षोडशी' नाटक और रवीन्द्रनाथ का 'शेष रक्षा' नाटक खेला गया। इसके

बाद योगोश बाबू का 'दिग्विजयी', रवीन्द्रनाथ का 'तपती' और उपेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय का 'शखध्वनि' नाटक रगमच पर प्रस्तुत किया गया। इसी साल के सितम्बर मास में शिशिर बाबू सदल बल न्यूयार्क गये। वहाँ से वापिस आकर उन्होंने 'सिराजुद्दौला', ज्योति वाचस्पति के 'समाज', 'रगमहल' और 'विष्णु प्रिया' में अभिनय किया। १६३४ ई० में 'नव नाट्य मन्दिर' के मंच पर शिशिर बाबू ने शरत् चन्द्र के 'विराज बहू' और 'विजया', शचीन सेनगुप्त के 'देशेरदावी' और सुरेन्द्र वन्द्योपाध्याय के 'सरमा' नाटक में अभिनय किया। १६३५ में जलधर चट्टोपाध्याय के 'रीतिमत नाटक' में अभिनय किया और १६३६ ई० में रवीन्द्रनाथ का 'योगायोग' नाटक प्रस्तुत किया। इसके बाद शिशिर बाबू का स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया। स्वास्थ्य ठीक होने पर उन्होंने 'नाट्यनिकेतन' को पुनर्संगठित किया और 'जीवन रग' नामक नाटक प्रस्तुत किया। इसके बाद शचीन सेनगुप्त के 'जननी' नाटक, अनुरूपादेवी लिखित तथा अपरेश बाबू द्वारा नाट्य रूपान्तरित 'माँ' नाटक की बारी आयी। ये दोनों नाटक अत्यत प्रसिद्ध हुये। १६३४ ई० में मनोरजन भट्टाचार्य ने 'चक्रव्यूह' नाटक लिखा। मन्मथराय का 'रचना' १६३५ ई० में अभिनीत हुआ। मन्मथराय के 'सती' तथा 'मीरक़ासिम' नाटक तथा शरत्चन्द्र कृत 'पथेरदावी' का नाट्यरूपक अत्यन्त सम्मानपूर्वक अभिनीत हुये। १६४१ ई० मे ताराशकर वन्द्योपाध्याय ने 'कालिन्दी' नाटक की रचना की। इसके बाद उन्हीं का 'माइकेल' नाटक तथा तुलसी लाहिड़ी का 'दुःखीर ईमान' नाटक सामने आए। प्रभावती देवी के 'बांगलार मेये' अनुरुप-देवी के 'पथेर साथी' नाटक रचे गये। १६३६ ई० में 'नन्दरानीर ससार' अभिनीत हुआ। 'मेघमुक्ति' का अभिनय भी अत्यन्त सफल हुआ। शचीन सेन गुप्त का 'तटिनीर विचार' भी सफलतापूर्वक अभिनीत हुआ। १६४० ई० में प्रभात मुखोपाध्याय के 'रत्नदीप' उपन्यास का नाट्य रूपक रगमच पर प्रस्तुत किया गया।

१९३९ ई० में 'नाट्य भारती' नाम की संस्था बनी। इसके मंच से शचीनसेन गुप्त का 'संग्राम और शान्ति' और 'धातृ पन्ना' नाटक अभिनीत हुये। इसी मंच पर जलधर चट्टोपाध्याय का हास्यरस का नाटक 'पी० डब्ल्यु० डी०', महेन्द्र गुप्त का 'कनकावतीर घाट', तारा शंकर बन्द्योपाध्याय का 'दुई पुरुष' एवं 'पथेर डाक' और शरत्चन्द्र का 'देवदास' खेले गये। इन सभी नाटकों ने बंगाल के रंगमंच को जाग्रत और कीर्तिवान बनाया। इस युग में अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद भी प्रकाशित हुये। उपन्यासों का नाट्य रूपान्तर हुआ। कहानियों को भी नाटकों में परिवर्तित किया गया। पौराणिक कथाओं तथा ऐतिहासिक घटनाओं को नाटकों के रूप में फिर से प्रस्तुत किया गया। अनेक विदेशी नाटकों के छायानुवाद हुये। रवीन्द्रनाथ कृत 'वाल्मीकीर प्रतिभा', 'डाकघर', 'नटीर पूजा', 'विसर्जन', 'रक्त करबी' जैसे नाटकों और 'चण्डालिका', 'श्यामा', 'चित्राङ्गदा' जैसे नृत्य नाट्यों का महत्व कितना अधिक है, यह तो सभी जानते हैं। बिना इन नाटकों का चर्चा किये आधुनिक बंगला नाट्य साहित्य का इतिहास ही पूरा नहीं हो सकता। तुलसी लाहिड़ी के 'छेंड़ातार' और 'पथिक' नाटकों को शम्भु मित्र ने रंगमंच पर प्रस्तुत करके बड़ा काम किया। सलिल सेन का 'नूतन यहूदी', मन्मथ राय का 'धर्म घट' और 'महाभारती' उल्लेखनीय नाटक हैं। इसी प्रकार विभूति भूषण का 'आदर्श हिन्दू होटल', निरुपमा देवी का 'श्यामली', नरेन्द्र मित्र का 'दुर्भाषिणी' आदि नाटकों का प्रणयन विभिन्न उपन्यासों का सहारा लेकर हुआ। ये भी महत्वपूर्ण हैं।

१९४२ ई० में बंगाल के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये। जिस प्रकार उस समय सारे देश में विद्रोह की एक तेज लहर दौड़ रही थी उसी प्रकार बंगाल में भी। युद्ध चल रहा था और हमारे अंग्रेज शासक अपने जीवन मरण के संघर्ष में लगे हुये। उसी समय सरकारी अधिकारियों और इजारादारों

के षड्यन्त्र से बगाल में भयानक अकाल आया जिसमें लगभग पैंतीस लाख आदमी अनाज के लिये तड़प-तड़प कर मर गये। बगाल की आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी, नैतिक जीवन नष्ट भ्रष्ट होने लगा। लगा यह महान् जाति नष्ट ही होने वाली है।

इसी समय बगाल के जननाट्य सघ ने अपने कर्तव्य को पहिचाना और जनजीवन की रक्षा के लिये, उसे शक्ति और उत्साह प्रदान करने के लिये वह आगे आया। प्रसिद्ध कलाकार, अभिनेता और नाटककार मनोरजन भट्टाचार्य ने १६४४ ई० में 'होमियोपेथी' नाटक लिखा और यह नाटक रगमच पर प्रस्तुत किया गया। इसके साथ विजन भट्टाचार्य का 'जहाँ धन्धी' नाटक भी खेला गया जिसम ज्योतिरेन्द्र मोइत्रा का प्रसिद्ध गीत 'मधु वशीर गली' भी शामिल था। बगाल के अकाल ने बगाल के नाट्य प्रेमियों को हिला दिया। 'नवान्न' नाटक ने बगाल ही नहीं, पूरे देश के नाट्य आन्दोलन में क्रान्ति उपस्थित कर दी। कला, दृश्य-दृश्यावलियों, सन्देश, अभिनय, व्यवस्था—प्रत्येक दृष्टि से 'नवान्न' अद्वितीय नाटक सिद्ध हुआ। इसकी स्मृति बरसों तक बनी रही। विजनभट्टाचार्य ने शम्भु मित्र के सहयोग से और मनोरजन भट्टाचार्य तथा गौर घोष की सहायता से 'नवान्न' लिख कर उसे रगमच पर प्रस्तुत किया। चार अंकों का यह नाटक अपनी कथा वस्तु, घटनाक्रम, चुनौतियों और सदेश के कारण सीधे 'नील दर्पण' की परम्परा में आ गया। 'नवान्न' में बगाली कृषक समाज के उस समय के जीवन का चित्र उपस्थित किया गया है जब कि बगाल भूख और महामारी का शिकार था। जैसा कि अमृत बाजार पत्रिका ने 'नवान्न' के प्रथम अभिनय पर कहा था, "इतना सामयिक नाटक दूसरा हो नहीं सकता था। दीन बन्धु मित्र के 'नील दर्पण' के बाद प्रथम बार बगाल के रगमच पर बगाल के टूटते बिखरते कृषक जीवन का सच्चा चित्र उपस्थित किया था। अकाल की स्थिति का चित्रण रगमच पर करना सरल काम नहीं

'भूखा बंगाल' का एक दृश्य

के षड्यन्त्र से बंगाल में भयानक अक
लाख आदमी अनाज के लिये तड़प-
आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गय
लगा। लगा यह महान् जाति नष्ट ह

इसी समय बंगाल के जननाट
पहिचाना और जनजीवन की रक्षा के
प्रदान करने के लिये वह आगे आया।
नाटककार मनोरंजन भट्टाचार्य ने १६
लिखा और यह नाटक रंगमंच पर प्र
विजन भट्टाचार्य का 'जहाँ धन्धी' ना
तिरेन्द्र मोइत्रा का प्रसिद्ध गीत 'मधु
बंगाल के अकाल ने बंगाल के न
'नवान्न' नाटक ने बंगाल ही नहीं,
क्रान्ति उपस्थित कर दी। कला, दृश्य-
व्यवस्था—प्रत्येक दृष्टि से 'नवान्न'
इसकी स्मृति बरसों तक बनी रही।
सहयोग से और मनोरंजन भट्टाचार्य
'नवान्न' लिख कर उसे रंगमंच पर
नाटक अपनी कथा वस्तु, घटनाक्रम,
सीधे 'नील दर्पण' की परम्परा में
कृषक समाज के उस समय के जीवन
है जब कि बंगाल भूख और महाम
अमृत बाज़ार पत्रिका ने 'नवान्न'
"इतना सामयिक नाटक दूसरा हो
के 'नील दर्पण' के बाद प्रथम बार
टूटते बिखरते कृषक जीवन का
अकाल की स्थिति का चित्रण र

है। ऐसे कथानक को लेकर कला की मांगों को पूरा करना कठिन बात थी।" दूसरे समाचार पत्र ने कहा, "जनता का यह सच्चा चित्र है। सन् ४२ के अगस्त आन्दोलन की पृष्ठ भूमि में निर्मित बाढ़, अकाल, महामारी से पीड़ित जनता के जीवन का रोमाचकारी करुण चित्र! केवल अपनी मौलिकता के कारण ही इस नाटक ने इतना यश नहीं अर्जित किया। इसका सबसे अधिक महत्व इस बात में है कि इस विभीषिका की दारुण स्थिति में भी इस नाटक में पीड़ित मानवता के प्रति सहानुभूति और भाई चारे की भावना को उभारा गया है।" यह नाटक कलकत्ता में तो खेला गया ही। आस पास के इलाकों में भी इसकी धूम रही। 'नवान्न' ने 'डूबते के लिये तिनके का सहारा' जैसा काम किया। इसने टूटे हुये जन जीवन को फिर से व्यवस्थित और शक्तिशाली बनने की प्रेरणा दी। इसमें जो सन्देश दिया गया था वह लोगों के दिलों की रोशनी और आँखों का तारा बन गया।

बंगाल में नाट्यसाहित्य और रंगमंच इस समय फिर पनप रहा है। बीच में सिनेमा तथा अन्य कारणों से जो शिथिलता आगयी थी वह धीरे धीरे दूर हो रही है। पेशेवर नाटक कम्पनियां प्रायः समाप्त हो गयी हैं। मगर गैर पेशेवर नाट्य कला प्रेमी फिर रंगमंच की ओर झुक रहे हैं। नाटक प्रेमी जनता भी अब फिर रंग मंच की ओर आकृष्ट हो रही है। 'नवान्न' में कृषक जनता के जीवन को चित्रित करके जो नवीन परम्परा शुरू की गयी थी वह पुष्ट होती जा रही है। लोक नाट्य के विभिन्न रूपों को फिर से सजाया और संवारा जा रहा है। कलाकार, नर्तक, अभिनेता, गीतकार और नाटककार धीरे धीरे अनुभव करने लगे हैं कि जन जीवन से अलग रह कर न उनकी कला का परिष्कार हो सकता है, न उसमें शक्ति ही आ सकती है। यह भी एक अत्यन्त शुभ बात है कि संस्कृत अथवा पाश्चात्य देशों के नाटकों से और रंगमंच से प्रेरणा ग्रहण करने के बजाय अब रंग-

मंच प्रेमी लोगों का ध्यान अधिकाधिक लोक जीवन और अभिनय के लोक रूपों की ओर आकृष्ट हो रहा है और वे इनसे ही प्रेरणा और शक्ति ग्रहण कर रहे हैं।

वगाल में लोक प्रिय रगमच और जनोपयोगी नाट्य साहित्य के निर्माण में इस समय जो कठिनाइयां हैं उन्हें हम थोडे में यों रख सकते हैं (१) अर्थाभाव—साधारण से साधारण नाटक खेलने में भी कम से कम दो सौ रुपये खर्च होते हैं। साधारण हाल और मंच के किराये के लिये एक हजार रूपये चाहिये। इतने रुपयों का प्रवन्ध कौन करे ? कलाकारों को ही रिहर्सल करना पड़ता है, सारी तैयरियाँ करनी पड़ती हैं और टिकट भी वेचना पड़ता है। इससे श्रम और शक्ति दोनों का अपव्यय होता है। नाटक की तैयारिया और रिहर्सल के लिये अवकाश नहीं मिल पाता। इसका बुरा प्रभाव अभिनय कला पर भी पड़ता है। (२) रगमचोपयोगी नाटकों का अत्यधिक अभाव है। कलाकारों और नाटककारों में आपसी सम्बन्ध न होने से एक दूसरे की आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रख पाते, न एक दूसरे अनुभवों से लाभ ही उठा पाते हैं। फलत· जो नाटक लिखे जाते हैं, वे पाठ्य क्रम में भले ही स्थान पा जाय, रगमच के लिये वे बिल्कुल वेकार होते हैं। (३) प्रयोग सम्बन्धी अज्ञान अथवा अल्पज्ञता भी बहुत बड़ी वाधा है। आलोक का प्रबन्ध दृश्य-सज्जा, रूप सज्जा आदि की पूर्ण जानकारी न होने से अच्छे नाटक लिखे अथवा खेले नहीं जा सकते। इस सम्बन्ध की पूरी शिक्षा और जानकारी अत्यावश्यक है। परन्तु अब तक इस प्रकार की टेकनीकल शिक्षा का कोई प्रबन्ध कहीं नहीं है। जहा कहीं ऐसा तात्कालिक प्रबन्ध हो पाता है वहा अभिनय का स्तर ऊँचा उठ जाता है। (४) कलाकारों में शिक्षा का अभाव अब नाट्य आन्दोलन के विकास में वाधक हो रहा है। दुख की बात है कि अब भी कलाकारों में यह मिथ्या धारणा काम कर रही है कि लिखने पढ़ने का काम नाटककार

का है, अभिनेता का नहीं। वे नाट्य साहित्य और रंगमंच के इतिहास का अध्ययन करना, नाट्य कला सम्बन्धी जानकारी हासिल करना, टेकनीकल बातों की शिक्षा लेना अथवा अन्य सहयोगियों के अनुभवों से लाभ उठाना आवश्यक नहीं समझते। फलत वे कला के उस स्तर को नहीं छूपाते जिसकी आशा उनसे की जाती है। वे अपने अभिनयों में सत्नमेव प्राण प्रतिष्ठा नहीं कर पाते। वे अपने उत्तरदायित्व और समाज तथा अपनी कला के प्रति अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर पाते। इन सब कारणों से वे अपना वह ऐतिहासिक कार्य नहीं कर पाते जो अनेक कारणों से उनके ऊपर आ पड़ा है।

इन सब बातों की ओर नाटककारों और कलाकारों को ध्यान देना चाहिये। प्रतियोगिताओं, अनुभवों के आदान प्रदान, शिक्षा, कर्मनिष्ठा, जन सेवा की सच्ची लगन और कला के प्रति असीम स्नेह तथा प्यार के बल पर ही बंगाल में रंगमंच का पुनर्निर्माण किया जा सकता है और उसे राष्ट्र निर्माण के महत्वपूर्ण कार्य में नियोजित किया जा सकता है।

बंगला के कुछ नाटककार और उनके नाटक

अन्नदा चरण बन्द्योपाध्याय

१ शकुन्तला-१८६५ २. शकुन्तला गीताभिनय-१८७४ ३. ऊषा हरण गीताभिनय-१८७४ ४ ऊषा हरण-१८७५।

अमृत लाल वसु

१. हीरक चूर्ण नाटक-१८७५ २. चोरेर ऊपर बाट पार-१८७६ ३. तिलतर्पण-१८८१ ४. व्रज लीला-१८८२ ५. डिसमिस-१८८३ ६. विवाह विभ्राट-१८८४ ७. चाटुज्ज्ये ओ बाडुज्ज्ये-१८८६ ८. ताज्जुब व्यापार-१८९० ९. तरुबाला-१८९१ १०. विलाप! वा विन्ध्या सागरेर स्वर्गे आवाहन-१८९१ ११. सम्मति संकट-१८९१ १२ राजा बहादुर-१८९१ १३. काला पानी वा हिन्दूमते समुद्र यात्रा-१८९२ १४.

विमाता वा विजय वसन्त-१८९३ १५ बाबू-१८९४ १६. एकाकार-१८९४ १७. बहू-मा-१८९७ १८ ग्राम्य विभ्राट-१८९८ १९ हरिश्चन्द्र-१९९९ २० शाबाश आटाश-१९०० २१. कृपणेर धन-१९०० २२. आदर्श बन्धु-१९०० २३ जादूकरी-१९०१ २४. वैजयन्तीवासत-१९०१ २५ नवजीवन-१९०२ २६. अवतार-१९०२ २७. बाह्वा वातिक-१९०४ २८ शाबाश बंगाली-१९०६ २९ खासदखल-१९१२ ३०. नवयौवन-१९१३ ३१ व्यापिका विदाय-१९२६ ३२. द्वन्द्वे मातनम्-१९२६ ३३. याज्ञसेनी-१९२८ ।

ईश्वरचन्द्र गुप्त

बोधेन्दु विकास नाटक १८६३ ।

उपेन्द्रनाथ दास

१. शरत्-सरोजिनी-१८७४ २. सुरेन्द्र विनोदिनी-१८७५ ३. दादा ओ आमि-१८८८ ।

उमाचरण चट्टोपाध्याय

विधवोद्धार नाटक-१८५६ ।

उमेशचन्द्र मिश्र

१. विधवा विवाह नाटक-१८५६, २ सीतार बनवास-१८६६ ।

कालिदास सान्याल

१. नलदमयन्ती-१८६८, २ विद्यासुन्दर अभिनय-१८८१ ।

कालिपद चैटरजी

प्रभावती-१८७१ ।

कालीप्रसन्न सिंह

१. वापू नाटक-१८५३ २. विक्रमोर्वशी-१८५७ ३. सावित्री सत्यवान नाटक-१८५८ ४ मालती माधव नाटक-१८५९ ।

किरण चन्द्र वन्द्योपाध्याय

१. भारतमाता-१८७३ २. भारते यवन-१७७४ ३. गोपन चुम्बन-१८७८ ।

कुञ्जविहारी वसु

१. भारत अधीन !-१८७४ २. शत्रुसिंह नाटक-१८७५ ३. कांचन कुसुम वा गुलबकावली-१८८१ ४. कृष्णलीला वा मथुरा विहार-१८८४ ५. शकुन्तला-१८८६ ६. श्रीराम नवमी-१८६२ ७. श्रीवत्स चिन्ता-तिथि पता नहीं।

गणेन्द्रनाथ ठाकुर

विक्रमोर्वशी नाटक-१८५६।

गिरीश चन्द्र बन्द्योपाध्याय

इन्दुप्रभा-१८५८।

चन्द्रकाली घोष

कुसुम कुमारी नाटक-१८५८।

जगतबन्धु भद्र

देवलदेवी-१८७०।

ज्योतिरीन्द्रनाथ ठाकुर

१ किंचित जलयोग-१८७२ २. पुरुविक्रम नाटक-१८७४ ३. सरोजिनी वा चित्तौड़ आक्रमण नाटक-१८७६ ४. एमन कर्म आर करबो ना-१८७७ ५. अश्रुमती नाटक-१८७६ ६. स्वप्नमयी नाटक-१८८२ ७. हठात् नवाब-१८८४ ८ हिनेविपरीत-१८६६ ६. पुनर्वसन्त-१८६६ १०. अभिज्ञान शाकुन्तल-१८६६ ११. वसन्तलीला-१६०० १२ ध्यान भंग-१६०० १३. अलोक यात्रू-१६०० १४. उत्तर चरित-१६०० १५. रत्नावली नाटक-१६०० १६. मालती माधव-१६०० १७. मृतच्छकटिक-१६०१ १८. मुद्राराक्षस-१६०१ १६. विक्रमोर्वशी-१६०१ २०. मालविकाग्निमित्र-१६०१ २१. महावीर चरित-१६०१ २२. चण्ड कौशिक-१६०१ २३. वेणीसंहार नाटक-१६०१ २४. प्रबोध चन्द्रोदय नाटक-१६०२ २५ नागानन्द-१६०२ २६. दाये पडे दार ग्रह-१६०२ २७. रजतगिरि-१६०४ २८. धनञ्जय विजय-पता नहीं २६. विद्धशाल भञ्जिका-पता नहीं ३०

कर्पूर मञ्जरी-१६०४ ३१. प्रियदर्शिका-१६०४ ३२. जुलियस सीजर-१६०७ ।

ताराचरण शिकदार

भद्रार्जुन-१८५२ ।

तारिणीचरण पाल

भीमसिंह-१८७५ ।

दीनबन्धु मित्र

१. नीलदर्पण नाटक-१८६० २. नवीन तपस्विनी नाटक-१८६३ ३ विये पागला बूढो-१८६६ ४. सधवार एकादशी-१८६६ ५ लीला वती-१८६७ ६ जामाई-वारिक-१८७२ ७ कमल कामिनी नाटक-१८७३ ।

दुर्गादास कर

स्वर्ण शृखला नाटक-१८६३ ।

देवेन्द्र नाथ वन्द्योपाध्याय

स्वर्णलता नाटक-१८७४ ।

नगेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय

१. मालती माधव-१८७० २. सती कि कलङ्किनी-१८७४ ३. पारिजात हरण-१८७५ ४. १८७५ ५. किन्नर कामिनी ।

नन्द कुमार राय

अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक-१८५५ ।

निमाई चांद शील

१. कादम्बरी नाटक-१८६४ २. एराई एवार वड़लोक-१८६७ ३. चन्द्रावती-१८६६ ४. ध्रुव चरित्र-१८७२ ५. तीर्थ महिमा-१८७३ ।

प्रमथ नाथ मित्र

१. नग नलिनी-१८७४ २ जयपाल-१८७६ ३. शुंभ सहार-१८८० ४ प्रेमपारिजात वा महाश्वेता-१८८० ५. वीर कलङ्क नाटक-१८८१ ।

प्राणनाथ दत्त

१. प्राणेश्वर नाटक-१८५३ २. संयुक्त स्वयंवर नाटक-१८५७।

प्रिय माधव वसु

बुझले किना-१८५५।

बटु बिहारी वन्द्योपाध्याय

हिन्दू महिला नाटक-१८५६।

विपिन मोहन सेन गुप्त

हिन्दू महिला नाटक-१८५८।

व्रजेन्द्र कुमार राय

प्रकृत बन्धु-१८७६।

भोलानाथ मुखोपाध्याय

१. कनेर मा कांदे आर टाकार पूंटलि बांधे-१८५३ २. किछू किछू बूझि-१८५७ ३. प्रभास मिलन नाटक-१८७० ४. मैथिली मिलन नाटक-१८७१ ५. आकाट मूर्ख-१८७३ ६. नल दमयन्ती नाटक-१८७४ ७. ध्रुव योगाख्यान नाटक-१८७३ ८. महन्तेर चक्र भ्रमण नाटक-१८७४ ९. दुर्वासार प्रण-१८७६ १०. रामेर राज्य प्राप्ति-१८७६ ११. कृष्णान्वेषण नाटक-१८७६ १२. कलंक भजन-१८७६ १३ मान भिक्षा-१८७६ १४. वामन भिक्षा-१८७६ १५. पाण्डवेर अज्ञातवास-१८७६ १६. स्यालारे मोर बाप १८७५ १७ सीतार वनवास-१८७९ १८. निकुञ्ज कानन-१८७९।

मणिमोहन सरकार

१. महाश्वेता-१८६६ २. ऊषानिरुद्ध नाटक-१८५३।

मदन मोहन मित्र

१. मनोरमा नाटक-१८७२ २. वृहन्नला नाटक-१८७४ ३. विचित्र मिलन नाटक-१८७६ ४. शरद प्रतिमा-१८७८।

मनोमोहन वसु

१. रामाभिषेक नाटक-१८५७ २. प्रणय परीक्षा नाटक-१८५९

सुखावसन नाटक-१८७४ ४. रुद्रपाल नाटक-१८७४ ५. कनकपद्म-१८७६ ।

हरिमोहन कर्मकार

१. रत्नावली गीताभिनय-१८५६ २. श्री वत्स चिन्ता-१८५५ ३. जानकी विलाप-१८५७ ४. भाग सर्वस्व-१८७० ५. इन्दुमती-१८७३ ६. मानिनी-१८७६ ७. पर्वत कुसुम-१८७८ ।

हीरालाल मित्र

आलोलेर घरेर गुलाल-१८५६ ।

उपर्युक्त नाटकों के अतिरिक्त बगला में अनेक अन्य नाटक भी लिखे गये। गिरीश घोष, रवीन्द्र नाथ टैगोर, द्विजेन्द्र लाल राय आदि के दर्जनों अपने नाटक तो थे ही, उनकी परम्परा पर चल कर अन्य लोगो ने भी अनेक रगमचोपयोगी नाटकों की रचना की। ये नाटक सामियक, समाजोपयोगी और उत्कृष्ट थे। इनमें से कई नाटकों का परिचय हम ऊपर दे चुके हैं। वगला के बहुसख्यक नाटक हिन्दी में अनूदित तथा अभिनीत हो चुके हैं। आज के बंगला नाट्य प्रेमी कलाकारों के पास बहुत बड़ी निधि है जिनके आधार पर तथा अपनी प्रतिभा की सहायता से वे बगला नाट्य साहित्य और रगमच को समृद्ध बना सकते हैं।

नृत्य की हस्त मुद्रायें
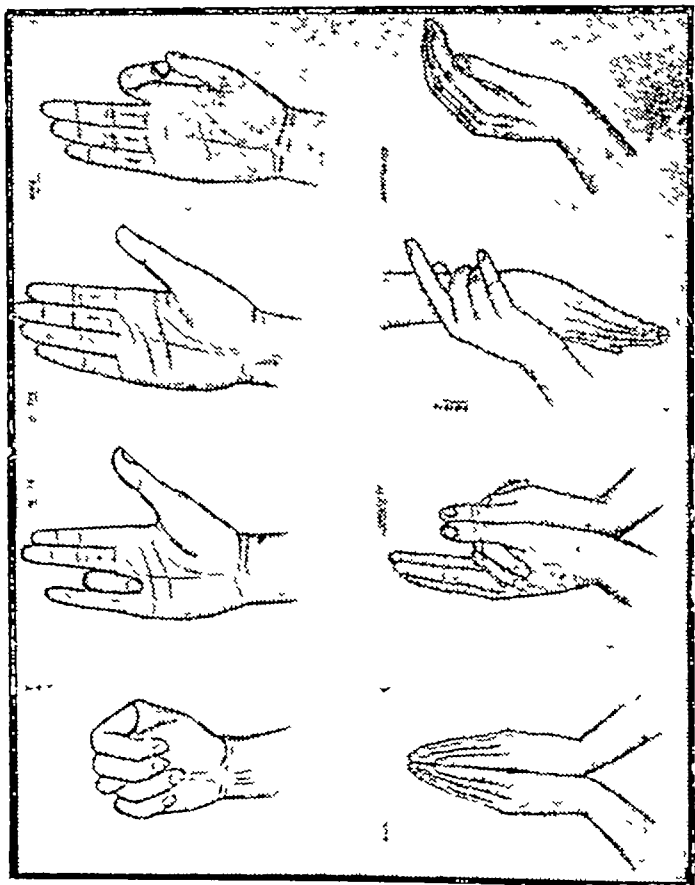
तेरहवाँ अध्याय

दक्षिण भारतीय रंगमंच

भारत के दक्षिणी पश्चिमी कोने में मलय पर्वत और पश्चिमी समुद्र तट के बीच का भूभाग अतीव सुन्दर है। कहते हैं इसे ब्राह्मण वीर परशुराम ने बसाया था। इसका ऐतिहासिक अर्थ यह समझा जाएगा कि इन्होंने केरल के विषय में आर्यों को बताया और आर्य सभ्यता और संस्कृति का यहाँ प्रवेश कराया। इसीलिए उनको यहाँ के ग्रामों[1] का संगठनकर्त्ता, मंदिरों का प्रमुख संस्थापक, वैदिक, तान्त्रिक और मांत्रिक आचारों का व्यवस्थापक और सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक 'धर्म' का स्रष्टा कहा गया है। आर्य सभ्यता का इस भूभाग में प्रवेश कब हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु प्राप्य प्रमाणों और परम्परा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ईसा-युग के बाद कभी भी आमूल परिवर्तनकारी बात यहाँ नहीं हुई। अपनी एकाकी भौगोलिक परिस्थिति के कारण इसे किसी क्रूर विदेशी आक्रामक का शिकार नहीं होना पड़ा, जो प्रो० सर विलियम रिजवे के अनुसार 'जहाँ कहीं भी गए, जिस भूभाग को विजित किया उसकी रीतियों को उन्होंने बदल दिया।" ऐसा उत्तर भारत में भी हुआ है। यह बात नहीं कि केरल का और कहीं से संबंध नहीं था, विपरीत इसके ईसा-युग के पूर्व, इतिहास के प्रारम्भिक समय में यहाँ का व्यापार निकट के और दूर के देशों के साथ होता था। यहाँ के बन्दरगाहों में मिस्र, ग्रीस और रोम के जहाज़ पश्चिम से और मलय और

---

१. ग्राम एक सामाजिक और धार्मिक इकाई है। यह गांव से भिन्न है। सम्पूर्ण केरल प्रदेश चौंसठ ग्रामों में विभक्त है।

चीन से पूर्व के जहाज यहाँ आते थे। ये लोग आक्रामक नहीं व्यापारी बनकर आए थे, इसलिए अन्य स्थानों के विपरीत वैदेशिक प्रभाव ने सास्कृतिक विनाश और परिवर्तन की ओर न जाकर सस्कृति के विकास और एक दूसरे में मिल जाने की राह प्रशस्त की। इसीलिए आर्य सभ्यता जब से यहाँ आई, तब से फूलती फलती गई। इन्हीं कारणों से यहाँ के सांस्कृतिक विकास का अध्ययन महत्वपूर्ण है। इसके साथ आदिम काल से चली आई कुछ परम्पराएँ हैं जो यहाँ के सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन में व्याप्त हैं। इसलिये केरल के सांस्कृतिक विकास का अध्ययन पुरातत्वशास्त्र के साथ कला, शिल्प, धर्म और दर्शन के विद्यार्थी के लिए भी महत्वपूण हो जाता है।

उन कई पहलुओं में से जिनमें इस सास्कृतिक विकास का दर्शन होता है एक रगमंच भी है। भारतीय सस्कृति में केरल के रंगमच की अपनी देन है। इस रगमच का पुराणपथी वर्ग इसके निकट धार्मिकता का पुट देता है और इस प्रकार सस्कृत के पुनर्निर्माण में भी सहायक होता है। यहाँ की भाषा में भी नाटकीयता के प्रारभिक लक्षण पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त रगमंच ने स्थानीय देशी भाषा को साहित्यिक भाषा का स्थान दिला दिया। केरल के लोगों के स्वभाव और प्रकृति की पूरी तस्वीर इसमें मिल जाती है। यह स्मरणीय है कि रगमच का अर्थ आँखों के सामने होने वाले हर तरह के मनोरजन से है, जिसमें एक या एक से ज्यादा लोग जनता के बीच उनके मनोरजन के लिए विशेप पहनावे में आते हैं और जिसका इससे सबधित कुछ साहित्य भी है।

परिचय

नाटकीय मनारजन से दो उद्देश्य हैं—इसके माध्यम से शिक्षा देना और मनोरजन करना। रगमंच निश्चय ही लोक-शिक्षा का बड़ा महत्व पूर्ण साधन है। साथ ही यह समाज सुधार के लिए भी बड़ा सशक्त

माध्यम है। पुराने जमाने में तो, जो कार्य आज प्रेस और प्लेटफार्म द्वारा होता है, वह बड़े संतोष पूर्ण ढंग में नाटकों द्वारा होता था। उन दिनों धर्म का प्रचार नाटकों का मुख्य उद्देश्य था। इसलिये वह आनंद का अनंत स्रोत है। नाटककार के उद्देश्य के साथ नाटक भी बदल जाते हैं। भक्ति परक नाटक कथानक पर अधिक ध्यान देते हैं और सभी संस्कृत नाटकों में यह सत्य पाया जाता है। जिनका उद्देश्य समाज सुधार होता है वे वाक् चातुर्य और हास्य से पूर्ण होते हैं। धार्मिक नाटक में अलौकिकता की प्रचुरता होती है। जिन नाटकों का मनोरंजन मुख्य उद्देश्य होता है उनमें सही अभिनय, वस्त्र, संगीत और दृश्य आदि पर विशेष जोर दिया जाता है। इस प्रकार यहाँ के रंगमंच के संस्कृत वाले हिस्से ने हिन्दू-दर्शन का प्रचार किया है और उस भाषा का भी जिसमें वे लिखे गए हैं। इससे संस्कृत के लिए साहित्यिक अभिरुचि का भी विकास हुआ जिसने साहित्यिक कृतियों की संख्या और गुण में वृद्धि हुई। इसी प्रकार स्थानीय भाषा वाले भाग ने एक देशी भाषा को साहित्यिक भाषा बना दिया। केरल का रंगमंच एक हजार वर्षों तक अनवरत रूप से बना रहा है और संस्कृत और मलयालम दोनों ही के लिए उसमें काफी सामग्री है। जो लोग प्राचीन संस्कृति के विषय में जानना चाहते हैं उनके लिए इसका अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण है।

अन्य भाषाओं के रंगमंच से केरल का रंगमंच भिन्न है क्योंकि इसमें अभिनय और नृत्य पर विशेष जोर दिया जाता है। संस्कृत में नाटक और नाट्य जैसे शब्द इसको और स्पष्ट करते हैं। महर्षि भरत ने अभिनय कला के अपने वैज्ञानिक विश्लेषण में जिन कई नृत्य मुद्राओं का वर्णन किया है, उनके उदाहरण केरल के कलाकारों में हमेशा पाए गए हैं। इस प्रकार यहाँ का रंगमंच हिन्दू रंगमंच की परंपरा के आदर्शों के सन्निकट पड़ता है।

यहाँ के रंगमंच में तीसरी विशेष बात मुद्रा-भाषा का प्रयोग

है। कई किस्मों में तो अभिव्यजना का यही साधन है, भाषा नहीं। इन मुद्राओ के तीन प्रकार होते हैं—(१) प्राकृतिक मुद्राएँ, जैसे वक्ता भावना के प्रवाह में इतना बह जाता है कि अनजाने ही कुछ मुद्राएँ विशेष अभिव्यक्ति के लिए आ जाती हैं और उनका प्रयोग किया जाता है। इसमें ऐसी मुद्राएँ भी आती हैं जो आओ, जाओ, खाओ, आदि शब्दो को अभिव्यक्ति करती हैं, (२) अनुकरणात्मक मुद्राएँ जो किसी वस्तु या व्यक्ति के विशेष गुणों का अनुकरण करती हैं, जैसे शेर, हाथी, चीते वगैरह की विशेषताएँ। (३) ऐसी मुद्राएँ जो सनातनी तात्रिक और मांत्रिक सकेतों के आराधना, अभय, दान, आह्वान आदि के लिए प्रयुक्त होती हैं। ये तीन मुद्राएँ वैज्ञानिक ढग से एकत्रित और क्रमबद्ध की जाने पर भगिमा की भाषा बनती हैं। इनमें से अन्तिम तो प्राकृतिक मुद्राओं से विकसित हुई होगी।

जहाँ तक सस्कृत के रगमच का सबध है, इस मुद्रा-भाषा का प्रयोग भी देव भाषा-सस्कृत के प्रचार के लिए किया गया होगा। एक और प्रकार के उद्देश्य की सिद्धि भी इससे हुई। सनातनी नियमों के अनुसार ब्राह्मणों के लिये अपने नित्य प्रति के पूजा पाठ में जन-भाषा का प्रयोग वर्जित है, परन्तु उन्हें अम्बलवासियों[२] के सम्पर्क में तो आना ही पड़ता है। सस्कृत के माध्यम से यह कार्य हो नहीं सकता था इसीलिए नामपुतरी (केरल ब्राह्मण) लोगों ने इस मुद्रा-भाषा का विकास किया।

इसकी उत्पत्ति के पीछे चाहे जो भावना रही हो, इस माध्यम से साधारण अशिक्षित जनता में नाटक और उसकी भाषा की समझ का विकास हुआ। चैक्यड़ लोगो द्वारा प्रयुक्त मुद्रा-भाषा

---

२. अम्बलवासी लोग नामपुतरी और नायर लोगों के बीच की जाति हैं और उनका मुख्य काम मन्दिर में अर्चना-वन्दना करना है। चैक्यद लोग अम्बलवासी हैं।

कथाकली से ज्यादा सरल है। पहले में अभिनेता को हाथों के बीच की दूरी ही में अपने को सीमित रखना पड़ता है। पर दूसरे में उसको खुली बाहों की पहुँच तक की दूरी मिलती है। कथाकली में अधिक स्थान की प्राप्यता इसकी मुद्राओं को अशिक्षित जनता के लिए भी ज्यादा सुन्दर और ग्राह्य बना देती है। एक दूसरे को समझने की दृष्टि से मुद्रा की भाषा काफी पुरानी मालूम पड़ती है, 'कुट्टु' से भी पुरानी। प्रारम्भ में इसके संकेत बहुत सरल रहे होंगे। धीरे धीरे अभिनेताओ के द्वारा एक ही जैसे प्रयोगों के कारण अभिनेताओं की भाषा के रूप में वह अधिक सांकेतिक हो गयी होगी और सर्वत्र एक ही रूप में प्रयोग में आने लगी होगी।

इस प्रकार विविधता का प्राचुर्य्य, अभिनय को दी गई प्रधानता और संकेतपूर्ण मुद्रा-भाषा का प्रयोग केरल में संस्कृत और भाषा रंगमंच की विशेषताएँ बन गयी हैं।

(ब) वर्गीकरण

प्रायः सभी दृश्य मनोरंजन में कुछ धार्मिकता का पुट होता है। इसके आधार पर धार्मिक, अर्द्ध-धार्मिक और धर्म निरपेक्ष तीन प्रकारों में इन्हें विभक्त किया जा सकता है। धार्मिक में (१) भगवती पट्टु (२) तियाट्टु (३) पण (४) पट्टु (५) कणियाड़ कली और (६) मुटि-येट्टु हैं। धर्म निरपेक्ष में (१) एलामुट्टी पुगपट्टु (२) तुल्लल (३) कोराट्टियाट्टम् (४) मोहिनियाट्टम् (५) कयुकोट्टिकली (६) पयकन् और (७) कथाकली रखे जा सकते हैं। अर्ध-धार्मिक में (१) सन कली (२) कुट्टु और (३) कृष्णाट्टम हैं। पहले दो विशुद्ध देशी भाषा में और अर्ध-धार्मिक मुख्यतया संस्कृत में लिखे जाते हैं। इनका वर्गीकरण अन्य तत्वों के आधार पर भी हो सकता है। कथाकली और कुट्टु में अभिनय बहुत महत्वपूर्ण है, कोराट्टियाट्टम् और मोहिनियाट्टम् में नृत्य महत्वपूर्ण है, जब कि कयुकोट्टिकली में सिर्फ गायन और एक सरल नृत्य रहता है।

(स) *रंगमंच की आवश्यकताएँ*

कुट्टु और कृष्णाट्टम् को छोड़कर, अभिनय और अभिनेताओं पर बहुत कम निषेध लगाए गए हैं। कहीं भी खुली जगह में टिन का एक छप्पर रंगमंच का और रंगीन कपड़ा परदे का काम करते हैं और रंगमंच तैयार हो जाता है। प्रकाश का विशेष प्रबन्ध कभी नहीं किया जाता, बस तीन फुट ऊँचा पीतल का दीपक किसी ओर रख दिया जाता है। वाद्य संगीत से ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति का काम नहीं लिया जाता। संगीत के नाम पर असुर वाद्यों और गाने वालों और अभिनेताओं के कंठ से गीत ही सुनने को मिलते हैं। जन प्रिय और बहु प्रशंसित परन्तु इतने अपूर्ण रंगमंच को सफल बनाने के लिए अभिनेताओं को स्वयं ही अधिक परिश्रम करना पड़ता है। यह कितना श्रेयस्कर है कि आज भी न सिर्फ गंवार लोग अपितु शिक्षित लोग भी इनके अभिनय से आनन्द और मनोरंजन प्राप्त करते हैं!

धार्मिक

भगवती पट्टु, तियाट्टु, पण, पट्टु, कणियाड़ कली और मुटियेट्टु नाट्य की ये छः किस्में धार्मिक कही गई हैं, क्योंकि या तो ये मन्दिर के वार्षिकोत्सव के रूप में या समय समय पर भक्त ग्राम वासियों द्वारा मन्दिर में या अपने घर ही में देवी भगवती की आराधना में खेली जाती हैं। इनका उद्देश्य भगवती सम्प्रदाय को ऊँचा उठाना और उसका प्रचार करना है। इनकी मुख्य कथा दारिका का काली द्वारा वध या शिव पर पार्वती की विजय है। इनकी भाषा देशी होती है और इनमें हिन्दुओं में से नीच जाति के लोग अभिनय करते हैं। कहीं-कहीं तांत्रिक और मांत्रिक श्लोकों का भी प्रयोग भगवती पूजन में होता है। ये श्लोक आर्यों से संबंध के पश्चात् आर्यों द्वारा धार्मिक कृत्य में शामिल कर लिए गए हैं।

(१) भगवती पट्टु

यह प्राय. केरल के ब्राह्मणों के घरों में या मन्दिरों में खेला जाता है। भगवती की प्रतिमा जमीन पर रंगीन आटे से बनाई जाती है। इसमें सिर, हाथ आदि शरीर के सब अंग होते हैं। कुरुप लोग उसके चारों ओर बैठकर किसी वाद्य यंत्र को बजाते हुए भगवती की प्रशंसा में गाते हैं। गाना चलता रहता है और कथा उस समय चरम स्थल पर पहुँचती है जब मंदिर के कुमारम्[3] के शरीर में देवी प्रवेश करती है और वह अपने एक हाथ में सिलाम्बू और दूसरे में तनी तलवार लेकर नृत्य आरम्भ करता है। वह देवी के रूप में उनके विचार, उनकी शक्ति, महानता और कल्याणकारिता, उनकी इस भक्ति में प्रसन्नता, लोगों का इस या उस दिशा में भक्ति दिखाने में असफलता, पट्टु खेले जाने से उनकी प्रसन्नता और रक्षा के वरदान का वर्णन करता है। जब तक वह नृत्य चलता रहता है गीत और वाद्य यंत्र चलते रहते हैं। थोड़ी देर, बाद कुमारम् चुप हो जाता है और उत्सव समाप्त होता है।

(२) तिय्याट्टु

यह पहले की ही तरह है। किन्तु जब गाने अपनी पांचवीं अवस्था पर पहुंचते हैं, तो कुमारम् क्रोध में अग्नि में कूद जाता है और कुछ कदम नाचता है। पहला नाच तो पारिवारिक होता है, पर यह समूचे गांव का अथवा सामूहिक होता है। इस अभिनय की दृष्टि से इसमें संगीत का होना सबसे महत्वपूर्ण बात है। इस संगीत के साथ एक व्यक्ति नाचता है जो अपने को देवी प्रतिनिधि दिखाने की कोशिश करता है।

---

३ कुमारम् पृथ्वी पर देवी भगवती का प्रतिनिधि माना जाता है, जिसे वेलिचका पट्टु भी कहते हैं। यह प्राय नायर लोगों में से चुना जाता है।

(३) पण

यह तिय्याट्टु की तरह ही होता है। इसकी दो किस्में हैं— या तो केवल एक कुमारम् इसमें भाग लेता है (जिस मन्दिर में यह नाच होता है कुमारम् उसी का होता है) अथवा जब यह सामूहिक रूप में मनाया जाता है, तो आस पास के मन्दिरों के जितने भी कुमारम् होते हैं, वे सभी इसमें भाग लेते हैं। वे अपने विशेष पहनावे में असुर वाद्य[४] यन्त्रों के सगीत के साथ एक अजीब किस्म का नाच करते हैं। इसकी तीसरी किस्म भी है जिसमें नायर जाति के नीचे वर्ग के लोग जिन्हें काट्टुपोट्टन कहते हैं, शराब के नशे में आकर देवी देवताओं के रूप में सजे बजे भगवती की मूर्ति के सम्मुख नाचते हैं। यह पैशाचिक अभिनय समस्त गाव की ओर से वर्षा के लिए आयोजित किया जाता है। निश्चय ही इस नृत्य-नाट्य की उत्पत्ति द्रविड़ों से होगी, जो भगवती के नाम पर अब भी किया जाता है।

(४) पट्टु

यह उपर्युक्त वर्णित नृत्यों से नाम मात्र को ही भिन्न है। यह धनी परिवारों में विवाह आदि उत्सवों में किया जाता है। मंगलाचरण के अनेक उपादानों से युक्त और तान्त्रिक ढग से निर्मित पीठ पर पार्वती की प्रतिमा बनाई जाती है, इसकी थाली और चाकू की आवाज के सगीत पर पुष्पिणी औरतें, जो अम्बलवासिनी वर्ग की होती हैं, गाने गाती हैं। धार्मिक उत्सवों के उपयुक्त परिधान पहनकर कुछ स्त्रिया पार्वती की प्रतिमा के सम्मुख खड़ी रहती हैं और जैसे जैसे गाने चलते जाते हैं, वे देवियो धारण करती जाती हैं। वे प्रतिमा के चारों

---

४. असुरवाद्य सेंडा, कोम्बु, कुजल आदि वाद्ययंत्रों को कहते हैं जिनसे निकला हुआ सगीत बहुत तेज़ और कर्कश होता है।

ओर घूम घूम कर नृत्य करने लगती हैं और देवी की आज्ञाएँ लोगों को सुनाती हैं। इसमें भी धार्मिकता की ही प्रधानता है, फर्क यह है कि इसमें एक स्त्री ही देवी रूप में खेलती है।

(५) कणियाड़ कली

उत्तरी कोचीन के भगवती मन्दिरों में यह नृत्य प्रचलित है। मन्दिर में एक सजे सजाए पंडाल के बीच एक बड़ा दीपक रखा जाता है, जिसके चारों तरफ महाकाली और महाकाल के नृत्य के अनुकरण पर कुछ लोग स्वर और वाद्य संगीत के ताल पर नाचते हैं। यह तीन दिनों तक चलता है और प्रत्येक दिन का संगीत पहले ही से निश्चित और भिन्न होता है—पहले दिन आदि कुट्टु, दूसरे दिन वाल्लुवोन पट्टु और तीसरे दिन मलम पट्टु, जो क्रमशः शिव-पुत्र सुब्रह्मण्य, ऋषि और दार्शनिक वाल्लुवोन और सम्भवतः पर्वत की प्रशंसा में हैं। इन गानों में भक्ति-भावना का प्राचुर्य और सामाजिक घटनाओं का पुट होता है। इसके बाद एक प्रहसन में नीच जातियों के दुर्गुणों का मजाक उड़ाया जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य हास्य और व्यंग होता है। इसमें संगीत-स्वर और वाद्य, नृत्य और अभिनय तीनों ही होते हैं। सभी अभिनेता मन्दिर में फिर पूजा करते हैं और चले जाते हैं। इसे पोराट्टु कहा गया है। इसमें बच्चे, स्त्रियां और युवा सभी भाग ले सकते हैं और यह भी भगवती सम्प्रदाय की प्रधानता सिद्ध करने के लिए है।

(६) मुडियेट्टु

ऊपर वर्णित सभी प्रकारों से यह भिन्न है। यही एक ऐसी किस्म है जिसमें सिर्फ दो अभिनेता होते हैं—एक दारिका के रूप में और दूसरा काली के रूप में। यह भी भगवती के मन्दिरों में खेला जाता है और इसमें अन्त्यजातियों की एक छोटी जाति कुरुव भाग लेती है। ये लोग दोपहर में ही मन्दिर में आ जाते हैं और काली की

एक भयंकर तस्वीर बनाते हैं। मन्दिर में शाम की पूजा के साथ ही ये लोग अपने नृत्य और गायन से लोगों का मनोरजन करते हैं। मन्दिर में पूजा-उत्सव के बाद काली की मूर्ति का जुलूस निकाला जाता है और मन्दिर का कई चक्कर लगाने के बाद उसे मन्दिर के प्रागण में रख दिया जाता है। पहला दृश्य नारद और शिव के सवाद से आरभ होता है। नारद शिव को यह बताते हैं कि पृथ्वी दारिका के अत्याचारों से कराह रही है और शिव काली द्वारा उसके वध का वचन देते हैं। काली और दारिका के वेश में दो अभिनेता फिर आते हैं और दारिका काली को चुनौती देता है। तब काली प्रवेश करती हैं। इसके लिए कोई रगमच नहीं होता। मन्दिर के पूरे अहाते में यह युद्ध होता है और काली दारिका को मार डालती हैं। अन्तिम दृश्य बड़ा प्रभावशाली होता है और दर्शक खौफ से भर जाते हैं। दारिका का यह वध प्रातःकाल में सूरज निकलने पर होता है। अन्तिम दृश्य में काली अपनी तलवार दारिका के पेट में घुसेड़ देती हैं और अपने शरीर को उसके खून से नहला लेती हैं। वह उसे पीती भी हैं और उसकी पेट की नसों[५] का जाल पहन लेती हैं।

अभिनय की सफलता इस दशा में, कलाकारों की कुशलता पर ही निर्भर करती है क्योंकि इसके साथ और कोई मनोरंजक वस्तु तनाव को कम करने के लिए नहीं आती। इसे बहुत ही धार्मिक श्रद्धा के साथ देखा जाता है, इसलिए इसकी आलोचना भी नहीं की जाती और प्रत्येक दर्शक को कहना ही पड़ता है कि अभिनय बहुत अच्छा था। इसमें प्रयुक्त पहनावा कथाकली के पहनावे से बहुत मिलता

---

५. काली के रूप में अभिनेता के वस्त्रों मे एक बरतन छिपा रहता है जिसमें लाल तरल पदार्थ होता है और नसों की तरह की जंजीर जैसी कोई चीज होती है।

ऐसी देवी की पूजा है, जिसने समाज को एक दुष्ट के अत्याचारों से मुक्त किया। यदि यह ध्यान में रखा जाय कि इस युद्ध में काली तलवार और ढाल से लड़ती हैं और दारिका लकड़ी से, तो इससे यह आशय भी निकाला जा सकता है कि यह युद्ध प्रागैतिहासिक काल के लकड़ी और लोहे के युगों के संघर्ष का प्रतीक है। किन्तु यह इस अध्याय के विषय के बाहर की वस्तु है, परन्तु इसका विशद अध्ययन मलयालियों की प्रागैतिहासिक संस्कृति के विषय में सहायक हो सकता है।

धर्मनिपेरक्ष नृत्य-नाट्य

इसकी मुख्य किस्में (१) एलामुट्टी-पुराप्पट्ट, (२) तुल्लल, (३) कोराटियाट्टम, (४) मोहिनियाट्टम, (५) काय्युकोट्टिकाली, (६) पथकम् और (७) कथा कली हैं। नृत्य, संगीत और विशेष वस्त्र पहन कर जनता के बीच अभिनय करना इसमें सम्मिलित है। धार्मिक किस्मों के अभिनयों की तरह इनमें भी रंग मंच नहीं होते, किन्तु परदा होता है और मन्दिर के स्थान पर खुली जगह ही में ये अभिनीत होते हैं। नाटकों की सूचना भी अजीब ढंग से दी जाती है। सेन्दा करण, वाद्य संगीतकार, अपने बाजे को केलीकोट्टु ढंग से बजाता है, जो दो मील दूर तक चारों तरफ सुनाई देता है। इसका प्रचार भी अजीब-ढंग से किया जाता है। जब कोई नाटक पार्टी गांव में आती है, तो पहले वह गांव के मन्दिर में 'सेवाकली' अभिनय करती है, जिसे मंदिर के अधिकारी और प्रोत्साहन देते हैं। इससे प्रचार भी हो जाता है और गांव के देवी-देवता का आदर भी हो जाता है। इन सभी, पहले वर्णित भी, अभिनयों में कोई टिकट नहीं लगता। गांव के लाभ के लिए धनी मानी लोग एक एक करके इस समूचे दल को अपने घर में बुलाते हैं और सब खर्च स्वयं ही बरदाश्त करते हैं। अभिनय के बाद गांव के जमींदारों आदि से चन्दा उसी स्थान पर लिया जाता है जिसे पोली कहते हैं।

(१) एलामुट्टी-पुराप्पट्टु

यह अम्बलवासियों के घरों में धार्मिक उत्सवों के अवसर पर होता है और इसमें केवल अम्बलवासी और नाम पुतीर जाति वाले ही भाग ले सकते हैं। रात में खाना खाने के बाद एक बड़े दीपक के चारों तरफ नाटक पार्टी के लोग बैठते हैं, जिनमें से प्रत्येक एक विशेष भूमिका में कुशल होता है। फिर एक बाजा बजाया जाता है और एक कलाकार उठ कर कुछ गाता है जिसमें प्रश्न किया जाता है और दूसरे आदमी से उसका उत्तर मांगा जाता है और अगर वह उत्तर दे नहीं पाता, तो उससे अभिनय का कोई भी अंश वेश भूषा के साथ या उसके बगैर ही खेलने को कहा जाता है और वह तुरत अभिनय शुरू कर देता है। इसमें शराबी से लेकर सीता के प्रेम मे आसक्त रावण तक का अभिनय किया जाता है। इसमें हमेशा यह ध्यान रखा जाता है कि जो आदमी जिस अभिनय को अच्छा करता है, उसे ही वह मिले।[६] इसमें कोई स्त्री भाग नहीं लेती। एलामुट्टी शब्द का अर्थ सात पात्र होता है। शायद पहले सात ही लोग इसमें भाग लेते थे, इसीलिए यह नाम पड़ा।

२. तुल्लल

एक बार एक चैक्यड़ जब एक नाटक खेल रहा था, तो कवि-अभिनेता कुजन नाम्बियार ने, जो उसमें मिलावु बजा रहे थे, गलत धुन बजा दी। इस पर वह चैक्यड़ अभिनेता बहुत नाराज हुआ और वहीं नाम्बियार को दर्शकों के सामने डाँटने लगा। इससे दुःखी होकर नाम्बियार ने अभिनय का एक नया रूप निकाला और नाटक के समाप्त होने पर सारी रात इसी नये रूप का अभ्यास करता रहा। यह बिल्कुल नयी चीज थी, हालांकि प्रबधम् कुट्टु और पथकम् के मेल पर

---

६. यह अंग्रेजी खेल 'Forfeits' से लगभग मिलता जुलता है।

यह बना हुआ है। नाम्बियार ने नयी वेश भूषा भी निकाली, जो चैक्यड से अच्छी थी। अगली शाम जब चैक्यड ने अपना कुट्टु आरभ किया, तो उधर नाम्बियार ने अपना नया नाटक शुरू किया और सारे दर्शक यहीं चले आए। इस प्रकार सैद्धातिक मतभेद से इस नयी प्रणाली का जन्म हुआ।

इसमें दृश्य और संगीत पर जोर कम दिया जाता है। तुल्लल की विभिन्न किस्मों के लिए भिन्न-भिन्न पहनावे हैं। अभिनेता के साथ एक सगीतकार भी होता है, जो मदलम् वजाता है। सगीतकार गीत गाता है, जिसे अभिनेता दुहराता है और साथ ही साथ वह अभिनय भी करता है। अभिनेता को गाना होता है, अभिनय करना होता है, भाव के अनुसार मुद्राएँ बदलनी होती हैं और साथ ही साथ नृत्य भी करना होता है। अपनी सरल और जन भाषा के कारण, स्थान और व्यक्ति विशेप के अभिनय पर किसी प्रकार की रोक न होने के कारण, अभिनेता के एक विशेष पहनावे में होने के कारण, और वाद्य और स्वर सगीत के एक साथ होने के कारण यह कुट्टु से अधिक प्रसिद्ध और पथकम् से अधिक आकर्षक है। इसमें भावनाओं के साथ छद के रूप भी वदलते हैं। कुजन नाम्बियार न केवल प्रथम वल्कि तुल्लल के सबसे अच्छे कवि हो गये हैं।

तुल्लल की तीन किस्से हैं—ओत्तन, पारायण और सीताकण। इनमें वेश-भूषा की अपेक्षा भाव और भाषा के प्रयोग में ज्यादा अन्तर है, सीताकण में अभिनेता नारियल के कोमल पत्तो के बने गहने पहनता है। गायन के साथ ये 'वैलेड' की तरह खेले जाते हैं। कविता का विषय बन जाने से पौराणिक कथाएँ भी नूतन रचना मालूम पड़ती हैं। कोई परदे नहीं होते और जब अभिनेता आराम लेना चाहता है, तो दर्शकों की ओर अपनी पीठ कर लेता है। स्पष्ट है कि इसमें सिर्फ एक ही अभिनेता होता है। उसका मुह प्रायः रगा होता है और वह एक पगड़ी बाँधता है, जो साँप के फन की तरह

होती है। उसे संगीतकार के साथ मिलकर न केवल गाना ही पड़ता है, बल्कि उसे सारे शरीर को हिला डुला करके अभिनय भी करना पड़ता है। संगीत की ताल पर उसके पाँव थिरकते हैं। उसकी आँख और चेहरे से गीत के भाव की अभिव्यक्ति होती है और। उसकी बाहों की हरकतें इस भाव को संकेत देते हैं। यह आरंभ से। ही एक बड़ा प्रचलित मनोरंजन रहा है।

३. कोराट्टियाट्टम

एक और प्रकार का नृत्य कोराट्टियाट्टम है, जिसे 'जिप्सी' नृत्य भी कहा जा सकता है। शिव और विष्णु की गलियों के रूप में दो अभिनेता, एक संगीतकार के साथ जो वाद्य-यंत्र के साथ गाता है, इन गीतों को संकेत की भाषा में, आवश्यक मौखिक अभिव्यंजना और नृत्यों के साथ, अभिनीत करते हैं। ये दोनों ही शिव और विष्णु के गुणों और अवगुणों का वर्णन अपने संवादों में करते हुए यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि एक का स्वामी दूसरे के स्वामी से बड़ा है। ये दोनों अभिनेता, नृत्य और मुद्राओं से जिस बातचीत की क्रिया को व्यक्त करते हैं, उसको संगीतकार स्पष्ट करता है।

४. मोहिनियाट्टम

यह मनोरंजन का बहुत प्रचलित साधन था, जो अब पूर्णतया समाप्त हो गया है। इसमें एक स्त्री नृत्य और गीत से दर्शकों का मनोरंजन करती है। इसका कथानक विष्णु का मोहिनी के रूप में शिव को मुग्ध करने की कथा पर आधारित है। यह मनोरंजन का अति उत्तम साधन है। किन्तु जो स्त्रियाँ इस प्रकार जनता के बीच आती थीं, दुर्भाग्यवश उनका चरित्र बहुत गिरा हुआ होता था। फलस्वरूप अब यह आधुनिक मनोरंजन के साधन के रूप में प्रचलित नहीं है। अब अभिनय का यह रूप समाप्त हो गया है।

५. काय्यु कोट्टिकल

यह दूसरी ऐसी किस्म है जिसमें स्त्रियाँ मनोरजन के लिये जनता के बीच आती हैं। इसमें कई नवयुवतियाँ एक साथ गाते हुए और गीत के ताल पर हाथों को हिलाते हुए गोलाई में नाचती हैं। यह छोटा नागपुर की मुण्डा जाति के लोगों के जापी-नृत्य से मिलता-जुलता है। अगरेजी पढ़ी लिखी औरतें इसको नीची नजरों से देखती हैं और यह भी मोहिनियाट्टम की तरह समाप्तप्राय है। लेकिन यह पुन लड़कियों की शारीरिक शिक्षा के लिये प्रयोग में लाया जा रहा है। साहित्य की दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण है क्योंकि इसने मलयालम में अच्छे साहित्य को सृष्टि में सहायता दी है। यह नाटक और नृत्य के बीच में माना जा सकता है। यह ध्यान देने की बात है कि यह लोक-नृत्य शिव के हाथों काम के दमन का प्रतीक माना जाता है और लोक-उत्सवों में बहुत प्रचलित है।

६. पथकम्

इसमें आधी सस्कृत और आधी मलयालम का प्रयोग होता है। अपने रूप और स्वभाव में यह कुट्टु के प्रबन्धम्-कुट्टु किस्म से मिलता-जुलता है और सम्भवत वहा से इसकी उत्पत्ति है। इसमें पुराणों की किसी घटना का भाषा में वर्णन होता है और पद्य सस्कृत में होते हैं। रगमच के लिये इसमें किसी खास तरह के नियम नहीं है। बस अभिनेता के सामने एक दीप सदैव जलता रहता है। अपनी सरलता के कारण दक्षिण-भारत मे यह एक बहुत ही प्रचलित मनोरजन का साधन है। इसके अभिनेता में बहुत विद्वत्ता, कुशाग्रता और विश्लेषणात्मक शक्ति होनी चाहिये। इनके साथ ही यदि मधुर स्वर भी हो तो वह आदर्श अभिनेता माना जायेगा। पहनावा बड़ा सरल होता है। सिर पर पगड़ी होती है जो रगे हुए कपडे से भी बाँधी जाती है। उसके वक्ष पर हार और अन्य प्रकार के आभूषण होते हैं।

इसमें किसी पर्दे का प्रयोग नहीं होता और दर्शकों से रंगमंच को भिन्न करने के लिये दीपक-मात्र का प्रयोग होता है।

अभिनेता दर्शकों के सम्मुख खडा होता है और मंगल-पाठ करता है जिसमें सस्कृत और मलयालम के चरण मिले होते हैं। फिर वह एक लम्बे वक्तव्य मे ऐसे नाटकों के औचित्य का वर्णन करता है जिसका उद्देश्य बडे सरल ढग से धार्मिक शिक्षा देना होता है। इसके बाद स्थानीय भाषा में वह यह वर्णन करता है कि कथा कहाँ से आरम्भ होती है। इस प्रकार दर्शकों को भूमिका बताकर वह संस्कृत में कथा कहता है और बाद में स्थानीय भाषा में आजकल वर्तमान सामाजिक तत्वों और व्यक्तियों का उदाहरण देते हुए उन्हीं का वर्णन करता है। अभिनय बहुत कम होता है। किन्तु इस वर्णन को स्पष्ट करने के लिये मुद्राओं का सहारा लिया जाता है।

कुट्ट की प्रबन्धम्-कुट्टु किस्म से यह भिन्न नहीं है क्योंकि दोनों में नाटकीयता होती है और दोनों के उद्देश्य लगभग एक से हैं। फिर भी पथकम् प्रबन्धम्-कुट्टु का एक ढाचा-मात्र है। स्थानीय भाषा की प्रधानता, अभिनय में दी गई स्वतंत्रता, अभिनेता और अभिनय का स्थान इससे अधिकाधिक प्रचलित बनाने के लिये ज्यादा सरल कर दिया गया है। यह अच्छा ही हुआ क्योंकि इससे सस्कृत के ज्ञान का प्रकाश साधारण लोगों तक पहुँचा। साथ ही सस्कृत में लगभग ३०० पृष्ठों के तीस ग्रन्थ इसी कारण बने। इनको प्रबन्धम् कहा जाता है। सस्कृत साहित्य को केरल की यह एक निश्चित देन है। आश्चर्य की बात है कि इनका प्रकाशन देवनागरी मे नहीं हुआ है। मलाबार में साहित्यिक आलोचकों का एक दल इसकी व्याख्या में सहायता करने के लिये आगे आया है और वह भी साहित्यिक आलोचना में अपनी देन निरन्तर दे रहा है। इस प्रकार पथकम् और प्रबन्धम्कुट्टु ने शिक्षित और अशिक्षित लोगों को समान रूप से न

केवल उत्तम मनोरंजन का साधन दिया बल्कि अपनी मौलिक रचनाओं और अमूल्य टीकाओं द्वारा सस्कृत साहित्य में वृद्धि की है।

७. कथाकली

कथाकली मनोरजन का बहुत पुराना साधन नहीं है। कालीकट के एक सुप्रसिद्ध जमोरिन ने सम्भवत' जय-देव के 'गीत-गोविन्द' के आधार पर कृष्णट्टम् सगठित किया। यह बहुत प्रसिद्ध हुआ और निकट के एक दूसरे जमोरिन ने इस दल को अपने दरबार में अभिनय करने के लिये आमंत्रित किया। किन्तु ये दोनों जमोरिन परस्पर विरोधी थे इसलिये पहले ज़मोरिन ने इस दल को यह कहकर भेजने से इनकार कर दिया कि दक्षिण के दरबार में ऐसा कोई नहीं है जो इस नाटक को समझ सके। इसके उत्तर में दूसरे जमोरिन ने रमणट्टम् नाम का दल सगठित किया जिसे कथाकली अथवा अट्ट-कथा कहते हैं। इस प्रकार राजनीतिक द्वन्द से यह साहित्यिक कृति उत्पन्न हुई। यह निश्चित है कि कृष्णट्टम् लगभग १६५७ ई० में पहली बार अभिनीत हुआ। इस प्रकार कथाकली सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आरम्भ हुई होगी। रमणट्टम् के आरम्भिक पद्य के इन चरणों से भी इस तथ्य का प्रतिपादन होता है।

> माप्तानन्दघनश्रिया· प्रियतमा श्री रोहिणी जन्मना ।
> वशाकस्म वरवीर केरल विभो· रजनस्व सुस्नंदन ।
> शिष्येण भवरेण शंकर कवे' रामायणं वर्ण्यते।
> कारुण्येन कथागुणेन कवयः कुर्वन्तु तत्कर्मयो· ।

इस पद्य से यह तात्पर्य निकलता है कि राजकुमार कोट्टणक्कण जो इसके रचयिता हैं त्रिवांकुर के वीर केरल वर्मा के भतीजे और शकर कवि के शिष्य थे। इस नाम के एक राजकुमार का पता १६६५ ई० के आस-पास लगता है। इसलिये यह सम्भव है कि नाट्य की यह प्रणाली सत्रहवीं शताब्दी के छठवें दशक में कभी आरम्भ हुई होगी।

रमणट्टम् में रामकथा का वर्णन रहता है। यह वर्णन दशरथ के पुत्र-कामेष्टि यज्ञ से आरम्भ होकर लका की विजय में समाप्त होता है। इसमें वेश-भूषा कृष्णट्टम् से मिलती-जुलती है और बनावटी चेहरों का प्रयोग किया जाता है। यह सात अकों मे विभक्त था जो सात दिनों में खेला जाता था। सर्वप्रथम कोट्टणक्कण के गणपति मन्दिर मे पारिवारिक रगमंच पर यह खेला गया। सस्कृत और मलयालम का प्रयोग मुख्यतया क्रमशः पद्यों और गद्यों में किया जाता था। आलोचकों का कहना है कि इसमें उत्तम साहित्यिक गुण नहीं है। किन्तु मलयालम साहित्य के लिये राजकुमार कोट्टणक्कण की इस रूप में सेवा अविस्मरणीय है कि इससे मलायलम का साहित्यिक स्थान ऊँचा हुआ। कथाकली रमणट्टम् से उत्पन्न हुई। नाटक की घोषणा केलिकोट्टु द्वारा की जाती है। इसमें विशद बनाव शृंगार और वेश-भूषाएं विभिन्न पात्रों के लिये आवश्यक हैं। इसलिये मुख्य अभिनेता प्रातःकाल ही नेपथ्य-गृह में चले जाते हैं। सस्कृत नाटकों की तरह इसमें भी पूर्वरंग होता है जिसमें कुछ पद्य गाये जाते हैं। इसके पश्चात् पर्दा उठता है और नाटक के नायक और नायिका दर्शकों के सम्मुख आकर मंगलाचरण करते हैं। इसे टोट्टायमपुरप्पट्ट कहते हैं और यह सस्कृत नाटकों के पूर्वरग और नान्दी पाठ से बहुत मिलता-जुलता है। नाटक रात भर चलता है और मुख्य-पात्र अर्धरात्रि के बाद ही आते हैं। अभिनेताओं में ब्राह्मण कम और नायर लोग अधिक होते हैं जिन्हें पाँच वर्ष तक शिक्षा दी जाती हैं। विभिन्न मुद्राओं और मौखिक अभिव्यक्ति की स्पष्टता में कथाकली के अभिनेता भारत के उच्चतम मानदण्डों को भी संतुष्ट करते हैं। भरत द्वारा प्रतिपादित अभिनय-कला और रंगों के प्रयोग में इन्होंने लगभग पूर्णता प्राप्त कर ली है। फिर भी ये आंख मूंद कर केवल नकल नहीं करते। यद्यपि भरत ने द्वन्द्व, मृत्यु, प्रीतिभोज, चुम्बन, आलिंगन इत्यादि का रगमच पर दिखाना वर्जित किया है किन्तु ये अभिनेता इसे नहीं मानते और

जैसा कि आधुनिक रंगमंच पर होता है ये भी इन्हें दिखाते हैं। कथानक साधारणतया हिन्दू धर्मकथाओं और पुराणों से लिये जाते हैं। दुःख की बात है कि स्थानीय स्त्री पुरुषों की जीवनियों का नाटकीकरण नहीं किया गया जब कि ऐसे पुरुष पुर्तगालियों के आने के पश्चात् और उनके विरुद्ध युद्धों में वीरता के कार्य करने के कारण बड़े प्रसिद्ध हुए।

इन नाटकों का साहित्यिक साचा तीन स्पष्ट तत्त्वों के आधार पर बना होता है। पद तो मुख्यतया संस्कृत में होते हैं। किन्तु संस्कृत नाटकों के विपरीत ये पद कथानक को बाँध देते हैं और समय और स्थान का परिचय भी देते रहते हैं। इस रूप में ये शेक्सपीअर के हेनरी पाँचवे के सहगान से मिलते हैं। इन्हें सदैव गाया जाता है, अभिनय इनके साथ बहुत कम होता है। दण्डकम्—यह संस्कृत और मलयालम का मिला-जुला संगीतमय गद्य है जिसका उद्देश्य लगभग पदों जैसा ही है। तीसरा पदम् कहा जाता है जो मुख्यतया मलयालम में होता है। यही अभिनय का विषय है। ये सम्वाद के रूप में लिखे होते हैं। इनमें भावों पर जोर देने के लिये स्वरों पर जोर दिया जाता है। ये अलंकारी गद्य में कुछ नियमों के साथ व्यंजनों के विस्तार पर आधारित होते हैं। गीतों को मात्रा के आधार पर बनाया जाता है। विषय के आधार पर पदम् को कई भागों में बाटा जा सकता है, जैसे शृंगार, चुनौती, आत्म प्रशंसा, संदेश इत्यादि। कुछ सुप्रसिद्ध नाटकों को देखने से ज्ञात होता है कि इनके विभिन्न रूप थे और यह बात इस धारणा से मेल खाती है कि कथाकली की उत्तरी और दक्षिणी दो किस्मे थीं। पहली मालाबार के उत्तरी जिलों में दूसरी दक्षिण में चलती थी। यह अन्तर अब नहीं है।

यहां वेष-भूषा के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। जब यह पहली बार कोट्टणकरा के दरबार में खेला गया था तो पात्रों ने साधारण वेश-भूषा का प्रयोग किया था। उन्होंने किसी रंग का प्रयोग

नहीं किया था, बल्कि लाल, काले चेहरे लगा रखे थे। वेट्टात स्वरूपम् के राजकुमार ने सिर ढंकने के लिये पगड़ी पहनना, चेहरा रंगना और कोट जैसी चीजें पहनना आवश्यक बनाकर पहिला परिवर्तन किया। संगीत में सेंदा का प्रयोग आरम्भ हुआ और पात्रों के अतिरिक्त अलग से एक गायक रखा गया। इस परिवर्तन के बाद जो विधि हो गई, उसे वेट्टात विधि कहते हैं। इस प्रकार पहिले परिवर्तन से चेहरों के लगा लेने के कारण एक ही तरह की अभिव्यक्ति और तेजी से बदलते भावों की चेहरे पर विलुप्तता सम्बन्धी त्रुटि दूर हो गई और दूसरे द्वारा गायक के अलग हो जाने से पात्रों को अभिनय पर ही ध्यान केन्द्रित करने का अवसर मिला। आगे चलकर नाम पुतीर लोगों ने कुछ और परिवर्तन किये। एक तो यह कि विभिन्न पात्रों के लिये भिन्न भिन्न पहनावे हों। अलवट्टम् और वेनशामर जैसे मुख्य पात्रों के लिये जिनमें दैविक या राजकीय वैभव पर जोर दिया जाता है भिन्न प्रकार के वस्त्राभरण हों। असुर पात्रों का चेहरा दूसरी प्रकार से रंगा जाय और उनकी नाक का सिरा उठा हुआ और गोल हो। चरणों की हरकत, मुख का शृंगार और निनम अनिणाल का प्रयोग—इन्हें मिला कर कपलिंगत्त या उत्तरी विधि कहा गया है। दक्षिणी विधि भंगिमा की भाषा, नृत्य के चरण, संगीत आदि में भिन्न है। दोनों में तात्विक अन्तर यह है कि जहाँ पहले में मौखिक भावाभिव्यक्ति पर जोर दिया गया है दूसरे में नृत्य और पैरों की सचालन क्रिया द्वारा और जान डाली गई है। आज के रगमंच पर वे दोनों विधियां एक साथ मिली हुई हैं। फलस्वरूप इन चारों पर बराबर ध्यान दिया जाता है।

तीन प्रकार के पात्र रगमच पर आते हैं मिणुक्कु, टेप्पु और ताती। इनमें दूसरा दो प्रकार का होता है—पक्का और कट्टी और तीसरा तीन प्रकार का होता है—कारी अथवा करट्टा ताती, वेल्ला ताती या वेलुट्टा ताती और कोकण ताती।

मिणुक्कु इन सब में सरल है। इसमें मुह पर लाल और पीले रंग का पाउडर मिलाकर लगाया जाता है जिन पर इधर उधर सफेद रेखाएँ होती हैं। आँखों के नीचे काजल लगाया जाता है और आँख का सफेद कोया और होंठ कुण्डप्पुव से लाल कर लिया जाता है। ललाट पर 'गोपी' का चिन्ह लगा दिया जाता है। साधारणतया स्त्रियों, ऋषियों और ब्राह्मणों का यही साज है।

पक्का में मुह का सामने का भाग हरे मे रग लिया जाता है और इसके चारों तरफ एक इच की चौड़ाई में सफ़ेद किनारा होता हैं। पगड़ी इसी के ऊपर बधती है। आँख और होटों की सजावट पहले जैसे की जाती है। इस तरह का शृ गार नायक और ऐसे पात्र जो राजकुमार या भले आदमी बनते हैं किया जाता है।

कात्ती में पक्का में छोड़े गये किनारे के बीच में नाक के चारों तरफ एक और कुट्टी होती है, इसके तथा नाक के बीच की जगह को लाल रग में और नाक को हरे रग में रगा जाता है। इसके अतिरिक्त नाक की नोक पर एक गेंद जिसे कुट्टीपुव्वु कहते हैं सफेद रंग की रखी जाती है। यह चेहरा अमतौर से एक भयानक पात्र का होता है और रगमच पर बड़ा प्रभावशाली होता है। यह खल नायकों या उन लोगों के लिये जिनमें असुर रक्त होता है, बनाया जाता है।

ताती की तीन किस्में होती हैं—कोकण ताती अथवा लाल दाढी वाला, वेलुट्ट ताती या सफेद दाढी वाला और कारी या कारुट्टा ताती या काली दाढी वाला। विभिन्नता दाढियों के रग के कारण है जो पात्रो के वेश-भूषा का आवश्यक अंग है। इसमें कुट्टी नाक के चारों तरफ होने के बदले आँखों के चारों तरफ होकर कुट्टी नाटा तक पहुँचती है। आँखों के आस पास के भाग को हल्का काला रगा जाता हैं। मुंह के और सब भाग पहली किस्मों के तरह ही

रगे जाते हैं। कोकण ताती ऐसे दुष्ट पात्रों के लिये एक विचित्र वेश-भूषा है जो कि बुराइयाँ करने पर तुले होते हैं।

मुँह को इस प्रकार रंगने से अनेक प्रकार के रसों और भावों को व्यक्त करने में विभिन्न पात्रों को सहायता मिलती है। कथाकली एक ऐसा नाटक है जिसमें प्रबल भावनाएँ अधिक होती हैं। स्त्री पात्रों की अधिक सरलता से यह ज्ञात होता है कि नाटक में उनका बहुत थोड़ा भाग होता है। किन्तु जब उन्हें साहसिक अभिनय करना पड़ता है तो वे भी इन्हीं के अनुसार वेश-भूषा धारण करती हैं। इसी प्रकार जब प्रेम दिखाना होता है तो वह हमेशा वासनात्मक या निराशाजनक होता है।

ठीक इन्हीं के अनुसार पहनावों पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है जिनमें पगड़ी, कवच, उत्तरीयम् आदि मुख्य हैं। पगड़ी दो प्रकार की होती हैं केशाभरण किरीटम् और मुटी। इसमें पहली दो प्रकार की होती हैं जिनमें अन्तर उनकी गोलाई की छोटाई और बड़ाई के कारण है। बड़ी पगड़ी निश्चित रूप से दुष्ट पात्र पहनते हैं जो कि भयानक होते हैं और जिनमें कुछ शाही झलक होती है। किन्तु छोटी पगड़ी अन्य पात्रों द्वारा पहनी जाती है। ये दोनों प्रकार की पगड़ियाँ केवल पुरुष-पात्र ही पहनते हैं। दूसरे प्रकार की पगड़ी जिसे कुट्टी कहते हैं मुख्यतः दो पात्र पहनते हैं जैसे सन्त, ऋषि और दैविक प्रतिनिधि और सहायक जैसे हनुमान, नान्दीकेश्वर इत्यादि। श्री कृष्ण और श्री राम द्वारा पहनी गयी मुट्टी मोर पंखों से सुसज्जित रहती है। इसके नीचे का भाग कुट्टी नाटा से बधा होता है। कानों में दो आभूषण होते हैं—कुण्डलम् और सेवी कुट्टु। ये दोनों ही पक्का और कुट्टी पात्रों द्वारा पहने जाते हैं। ताती और नारी-पात्र केवल कुण्डल पहनते हैं जिसे टुक्कू भी कहते हैं।

शरीर के लिये वस्त्र साधारण होते हैं। जिसमें मुख्य कोटूलारम् होता है। यह धागों के सहारे पर अपने स्थान पर बंधा रहता है।

सन्यासी पात्र मालाएँ पहनते हैं। कन्धों के नीचे उत्तरीयम् धारण किया जाता है जिसमें से एक लाल रग का बाहु के ऊपरी भाग में केयूरम् के सहायता से लगा होना चाहिये। इसके अतिरिक्त कम से कम एक सफेद उत्तरीयम् भी होना चाहिये। किन्तु इसकी ठीक सख्या पात्र की प्रमुखता पर निर्भर करती है। बाहु का निचला भाग कटकम् से आभूषित होता है और उसमें कुछ बाला पहने जाते हैं। नारी-पात्र उत्तरीय नहीं पहनते। कमर में वे कमरबन्द पहनाते हैं।

कुर्ता लम्बे सफेद कपडे का जिसके किनारे पर लेस चढाया रहता है बना रहता है। इसके टुकडे एक फुट चौडे होते हैं और इस प्रकार बहुत चुस्त सिले होते हैं कि एक ओर तो कुर्ता सुन्दर दिखाई देता है और दूसरी ओर पैरों का अभिनय और नृत्य करते समय हरकत में कोई बाधा नहीं पहुँचती। कुर्ता के दोनों तरफ कसीदा कढे हुए कपडे लगे होते हैं और सामने मुन्ति लटकती है।

सक्षेप में कथाकली के पात्रों की यही वेश-भूषा है। कुछ हद तक तो यह आदिम है। भारी वेश-भूषा पात्रों की हरकत को धीमी कर देते हैं। किन्तु मुद्रा और स्थान में तीव्र परिवर्तन की सम्भावनाएँ इसमें अधिक हैं। यह वेश-भूषा सांकेतिक अभिनय सम्बन्धी हिन्दू विचारों के अनुकूल है। याथार्थवादी दृष्टिकोण से हो सकता है कि यह ठीक न हो; किन्तु रस और भाव के स्वाभाविक और स्वतत्र प्रदर्शन के लिये यह अद्वितीय है। किसी पात्र का दर्शन मात्र उसके स्वाभाविक गुणों और उसके अभिनय की आन्तरिक प्रवृतियो को स्पष्ट कर देता है। बडे-बडे आलोचको को भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि कथाकली की वेश-भूषा उसके पात्रो का प्रतिनिधित्व करती है।

वाद्य-यत्रो मे 'सेंडा', 'सेन्कीला' और 'इलाट्टलम्' प्रमुख हैं। 'सेंडा' लकडी की गोल वस्तु है जिसके दोनों खुले किनारे चमडे से ढके होते हैं जिसे ढोल कहा जाता है। 'सेन्कीला' एक धातु की

तश्तरी है जो ढोलक के साथ ही बजायी जाती है, और इन दोनों के साथ 'इलाट्ट लम्' को बजा कर अभिनय और पांवों की हरकत के लिये स्वर सगीत के साथ सकेत प्रदान किया जाता है। एक पर्दा भी होता है जिसे दो आदमी पकडे रहते हैं। रगमच के लिये एक छप्पर बना लिया जाता है और दर्शक खुली जगह में बैठते हैं। प्रकाश के लिये अभिनेता के सम्मुख पीतल का एक बड़ा दीप रखा जाता है जिसमें चारों तरफ बत्तियाा होती हैं।

८. निष्कर्ष

यहाँ पर पोरट्टु कली और आधुनिक नाटकों का विवरण दे देना भी आवश्यक है। इसमें पहला दक्षिण के हिन्दुओं की निचली जाति के लोगों में बहुत प्रचलित है। वेश-भूषा और अभिनय में यह कथाकली से भिन्न है। ऐसा लगता है कि यह पूर्वी किनारे के लोगों में प्रचलित हुआ और फल स्वरूप इसका सौन्दर्योन्मूलक साहित्यिक और नाटकीय स्तर ऊँचा नहीं उठ सकता। जहां तक आधुनिक नाटक का सम्बन्ध है दक्षिण में कथाकली, तुल्लल आदि के प्रचलन के कारण इसका विकास नहीं हो पाया है। इसका विकास बहुत बाद में हुआ है जिसकी दो अवस्थायें हैं। पहली मे सगीत और दृश्य का प्राचुर्य तमिल नाटक का आधार रहा है और यथार्थ का अभिनय कम ही रहा है। यह थोड़े ही दिनों तक जीवित रह सका। अगरेजी शिक्षा अपने साथ आधुनिक रगमंच और उपन्यास का ज्ञान ले आई और प्रसिद्ध उपन्यासों के सुन्दर दृश्य रगमच पर लाये जाने लगे। जैसे जैसे दिन बीतते गये वर्त्तमान सामाजिक जीवन पर आधारित प्रहसनों की सख्या बढ़ती गई। ऐसा लगता है कि दक्षिण में आधुनिक नाटकों का विकास गद्यात्मक नाटकों की दिशा में हुआ है। रंगमंच के उद्देश्यों में सहयोग देने वाले उपन्यासों में से मेनन का 'इन्दु लेखा', पिल्ले का 'मार्त्तण्ड वर्मा' और अप्पन थाम

पुरम् का 'भूतरयार' मुख्य हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि केरल के नाटकों में धर्म निरपेक्ष वर्ग धार्मिक वर्ग की तरह धनी है। कथाकली और तुल्लल साहित्यिक और नाटकीय दृष्टिकोण से बहुत महत्व-पूर्ण हैं। दोनों ही का उद्भव झगडे के कारण हुआ और दोनों ही से स्थानीय भाषा का विकास हुआ है। नाटक शास्त्र के विद्यार्थियों के लिये तो कथाकली बहुत ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि यहा अभिनय और नृत्य की कला का और भरत के वैज्ञानिक और विशद ढग से लिखे हुए नाट्य शास्त्र का पूर्ण समन्वय हुआ है। इन दोनों ने दक्षिण के रंगमच और साहित्य निर्माण के क्षेत्र में अपूर्व देन दी है।

अर्ध-धार्मिक

सघकली, कृष्णट्टम और कुट्टु इस वर्ग की तीन किस्में हैं और तीनों ही अपने अपने ढग से महत्वपूर्ण हैं। सघकली एक राष्ट्रीय मनोरजन है। इसका आधार धार्मिक होते हुए भी उद्देश्य सम्भवतः राजनीतिक है। कृष्णट्टम हिन्दू नाटक के विकास पर प्रकाश डालता है। इसका एक पक्ष बगाल की यात्राओं[७] में विकसित पाया जाता है। यह इसलिये बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे एक विशेष प्रकार के मनोरजन की सृष्टि हुई जिसे कथाकली कहा गया है। कुट्टु इनमें सबसे महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें हिन्दू नाट्य शास्त्र की सनातनी परम्परा जीवित रूप मे है।[८] इसने भाषा-समस्या को स्पष्ट करने में योग दिया है। इन तीनों को अर्द्ध-धार्मिक कहा गया है क्यों

---

७ 'जी थाकुर्ता इस पर सन्देह करते हैं। यात्रा और सस्कृत नाटक के सम्बन्ध में उनके 'बंगाली ड्रामा' का आरम्भिक अध्याय देखिये।

८. श्री पिशोरती की (१) दी भाषा प्रोबलेम—आई० एच० क्यु- भाग'९, पृष्ठ १०३—११, ३३०—३४. (२) 'दी भाषा थ्योरी अगेन— ए रिप्लाई टु कीथ', आई एच० क्यु भाग (३), न० ३ पृष्ठ ५५२- ''८

कि इनमें कुछ धार्मिक वातावरण तो अवश्य है किन्तु तात्विक रूप में इसमें कुछ भी धार्मिक नहीं है।

१. संघकली

संघकली की उत्पत्ति निश्चित रूप से नहीं बतायी जा सकती। किन्तु परम्परा के अनुसार राजनीतिक या धार्मिक उद्देश्य से मिलने वाले संघों के दल को संघकली कहते हैं; जो अपने मन बहलाव के लिये कुछ दृश्य-मनोरंजन का प्रबंध करते थे। इसके कई नाम हैं: संघकली,स्वस्तिकली, शस्त्रकली और यात्राकली।[९] इसे सघकली इसलिये कहा जाता है क्योंकि इसमें कई संघ भाग लेते हैं। इस कली के खेलने से धन बढ़ता है इसलिये इसे स्वस्तिकली कहते हैं। इसे शास्त्रकली इसलिये कहते हैं क्योंकि यह शास्त्रीय अध्ययन के आरम्भ सम्बन्धित है। इसे यात्राकली इसलिये कहते हैं क्योंकि इसमें वैदेशिक तत्वों के आवागमन की बात आती है।

इस कली की उत्पत्ति इस प्रकार हुई। जब बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ तो दक्षिण के लोगों ने इस विदेशी धर्म को रोकने के लिये उपाय सोचे। इसलिये वैदिक पुरातनवादियों ने 'जंगम्-महर्षि' की राय पर ६ मिमांसा विद्वानों को आमन्त्रित किया और शास्त्रीय अध्ययन के लिये बौद्ध धर्म का विरोध करने के उद्देश्य से एक संस्था स्थापित की[१०]। अगर इस बात में कोई तथ्य हो तो मनोरंजन के इस साधन का प्रारम्भ ईसा के आरम्भिक शताब्दियों में कहीं पड़ेगा।[११]

इसके नामों की व्याख्या करने से इसकी परम्परा, इसके उद्गम

---

९ दी बंगाली ड्रामा पृष्ठ ८

१०. आई० एच० क्यु० भाग ४ न० ४ पृष्ठ ७१२-१४ पर श्री पिशोरती का 'रिलिजन एण्ड फिलासफी इन केरल' नामक लेख देखिये

११ वही, नोट ९

और विकास पर प्रकाश पड़ता है। इससे स्पष्ट होता है कि जब इसका जन्म हुआ तो केरल में बौद्ध धर्म का जोर था। दूसरे, यदि बौद्धधर्म के साथ सघों को जोड़ दिया जाय तो मानना पडेगा कि इसे बौद्ध धर्म के बढाव को रोकने के लिये सगठित किया होगा। तीसरे, यह सम्पूर्ण केरल में एक राष्ट्रीय उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के लिये खेला जाता था। चौथे, इसके साथ विदेशियों का आगमन सम्बन्धित था।[१२] चाहे यह जैसे भी उत्पन्न हुआ हो किन्तु अब तो यह विस्मृति के गर्भ में है और इस समय यह जिस प्रकार से खेला जाता है उससे इस बात पर बड़ा सन्देह होता है कि इसका सम्बन्ध अपने मौलिक उद्देश्य से अब कुछ रह गया है अथवा नहीं। ऐसा लगता है कि इस विशेष नाट्यरूप में किसी धार्मिक या राजनीतिक विजय पर मनाये गये राष्ट्रीय उत्सव की परम्परा रक्षित है।

कली के पाँच विभिन्न भाग हैं: (१) केलि (२) नालुपदम्-वैयक्कल (३) पण (४) आग्यगल और (५) हास्यगल। इनमें से दूसरा बहुत महत्वपूर्ण है। यह धनी हिन्दू परिवारों में पारिवारिक उत्सव मनाने के लिये खेला जाता है। इस अवसर पर सघों के कई प्रतिनिधि आते हैं और एक चौडे खुले मुँह वाले तांबे के बर्त्तन, जिस 'सेम्बू' कहते हैं, के चारो तरफ बैठते हैं और इस बर्त्तन को बजाते हुए गीत गाते हैं। इसमें से कोई देव प्रभाव में होकर नाचने लगता है। इसका अन्तिम कार्यक्रम एक नारियल के फल को फोड़ना होता है जिसके बाद देव-प्रभाव में आया व्यक्ति शान्त हो जाता है। इसको 'केलिकोट्टु' नामक मनोरजन कहते हैं।

इसके आगे का कार्यक्रम नालुपदम्—वैयक्कल है जिसमें कुछ ब्राह्मणों का एक दल एक मलयाली गीत गाता हुआ एक जलते दीप के चारो तरफ चक्कर लगाता है। इसके बाद लोग खाने चले जाते

---

१२. वही, नोट ९

हैं। फिर लौट कर आने पर बाहर ये एक खुले कमरे में एकत्रित होते हैं और 'उलिक्कल' की व्यवस्था होती है। फिर ये लोग आंग्य-गल खेलते हैं जिसमें तलवारें नचायी जाती हैं। इसके बाद हास्यागल होता है जिसमें मुख्यपात्र मूर्खाधिराज का प्रतिरूप होता है। पहले वह तलवार लेकर आता है, फिर मछली लेकर और उसका मजाक उड़ाया ज़ाता है। अब पात्र भी आते हैं जिनमें मन्नन् और मन्नाती, धोबी और धोबिन, अपेक्षाकृत ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। एक और नर्तकी होती है जो अपने नृत्य से दर्शकों का मनोरजन करती है। इसे पूणतोत्तम् के नामपुतीर परिवार के ही लोग कर सकते हैं।

इसमें किसी पर्दे या रगमच की आवश्यकता नहीं होती। प्रकाश के लिये पीतल का नीलविलाक्कु दीप जलाया जाता है जिसमें चारो तरफ बत्तियाँ होती हैं। इसके वेश भूषा और गाने आदि महत्वपूर्ण हैं। किन्तु इसकी स्वाभाविकता, सरलता और इसके इद-गिर्द लिपटी हुई धार्मिकता लोगों पर बड़ा असर डालती है। इससे दो तत्व उभर कर आते हैं, एक, इसके द्वारा गाँवों के प्रधान किसी धार्मिक या राजनीतिक उद्देश्य से इकत्रित होते थे और दूसरे, वे अपने स्वामियो का इस प्रहसन द्वारा मनोरजन करते थे।

२. कृष्णाट्टम

यह पूर्णतया सस्कृत का मनोरंजक नाट्य है और सम्भवतः गीत गोविन्द पर आधारित है। इस अभिनय में धार्मिक पवित्रता अत्यधिक रहती है। जैसा पहले कहा जा चुका है इसका सगठन कालीकट के ज़मोरिन मनवेद[13] ने किया था। यह नाटक इसी राजकुमार द्वारा

---

१३ पिशोरती का अलामलई युनिवर्सिटी संस्कृत सिरीज का प्रकाशन सं० १ 'मुकुन्दमाला' का परिचय, पृष्ठ ९, और महामहोपाध्याय गंगा-नाथ झा कमेमोरेशन' वाल्युम में 'दी कृष्णाज् ऑफ केरल' नामक लेख।

गीत गोविन्द के आधार पर 'कृष्णपदी'[१४] नाम से लिखा गया है। इसके खेलने के लिये कई शर्तें निर्धारित की गई हैं। सर्वप्रथम इसमें सभी लोग भाग नहीं ले सकते। पात्र सदैव कालीकट के जमोरिन के राज्य में बसे हुए कुछ इने गिने नायक परिवारों से लिये जाते हैं। दूसरे यह पूर्णतया पारिवारिक मनोरंजन है और राज्य के बाहर नहीं खेला जा सकता। राज्य में भी यह सिर्फ मन्दिर में, दरबारों में और नामपुतीर लोगों के परिवारों में खेला जाता है। जो अभिनेता मुख्य पात्र बनते हैं उन्हें जब तक नाटक समाप्त नहीं हो जाता तब तक उपवास करना पड़ता है। इसके खेलने, वेश-भूषा, और दर्शकों पर लगाये गये प्रतिबन्ध इसे पुरातनवादी बना देते हैं। यथार्थतः इसके मुख्य तत्व बहु प्रचलित कथाकली से भिन्न नहीं हैं।

स्वर और वाद्य-संगीत का इसमें प्रयोग होता है। मदलम्, इलाथलम् और सकिला नामक वाद्य-यन्त्रों की धुन पर एक गायक गाता है। मंगलाचरण भी वाद्य-यन्त्रों के साथ होता है। पूरा अभिनय नव दिन में समाप्त होता है और नवीं रात को कृष्ण जन्म का अभिनय होता है। निश्चित समय और स्थान निर्धारित होने के कारण सदैव इनका पालन नहीं हो पाता। लोगों का अन्धविश्वास है कि इसके सबसे मुख्य दृश्य—कृष्णावतार को देखने से संतानहीन को सन्तान होती है जिसके लिये लोग रात में जब तक अभिनय समाप्त नहीं हो जाता तब तक उपवास करते हैं। इस प्रकार इसमें हम बड़ी गहरी धार्मिक भावना पाते हैं।

३. कुट्टु

सम्पूर्ण भारत में केरल ही एक ऐसा स्थान है जहाँ संस्कृत नाटक पुराने ढंग से खेले जाते हैं और गाँवों के मन्दिर ऊँची जाति के

---

१४ इसका प्रकाशन अभी देवनागरी में नहीं हुआ है।

हिन्दुओं के लिये मनोरंजन केन्द्र हैं। स्थानीय रंगमंच के पीछे एक बड़ी लम्बी परम्परा है, जिसका पूर्णत्व कुलशेखर पेरुमल के समय में हुआ, जो स्वयं एक बहुत बड़ा कवि और नाटककार था। अपने मन्त्री तोलन की सहायता से उसने रंगमंच में कई यथार्थवादी परिवर्तन किये। 'व्यंग्य-व्याख्या' द्वारा भी इस बात का समर्थन होता है, इसमें राजकीय नाटककार ने इसके लेखक को अपने नाटक के गुण-दोष का निर्णय करने के लिये कहा जिसमें महाराज स्वयं अभिनय कर रहे थे। कुट्टु स्थानीय महत्व के अतिरिक्त और भी ज्यादा महत्वपूर्ण इसलिये है क्योंकि इसमें संस्कृत नाटकों का प्रतिरूप मिलता है। उन्हीं नाटकों के और स्थानों पर के अभिनयों से यहाँ का अभिनय भिन्न होता है। एक तो दक्षिण में विदूषक उन पंक्तियों को अनूदित करता जाता है जिसे नायक अभिनीत करता है और दूसरे कि यहाँ पर्दों का उपयोग नहीं होता जैसा कि दूसरी जगह होता है।

दक्षिण के और किस्मों से भी यह भिन्न है। इसके अभिनय में दो दशाओं को सन्तुष्ट करना पड़ता है। और किस्मों की तरह यह प्रत्येक स्थान पर नहीं खेला जा सकता. इसका अभिनय सिर्फ मन्दिरों में किया जा सकता है जिसके लिये धनी मन्दिरों में कुट्टाम्बलम् बने हुए होते हैं। जहाँ कुट्टाम्बलम्, नाट्य मन्दिर, नहीं बने होते वहाँ पर अभिनय एक विशाल भोजगृह में होता है। रंगमंच मन्दिर के सामने होता है और पात्र मूर्तियों के सामने मुँह करके अभिनय करते हैं। प्रत्येक मन्दिर एक चैक्यड परिवार को कुछ न कुछ दान देता है जिसके बदले वे वार्षिकोत्सव और मन्दिर के अन्य उत्सवों पर संस्कृत नाटक खेलते हैं।

दूसरी शर्त अभिनेताओं से संबंधित है। इसमें अम्बलवासियों के एक विशेष वर्ग को ही भाग लेने की अनुमति है। ये चैक्यड़ होते हैं, इनकी स्त्रियाँ नांग्यड़ और नामपिआर होती हैं। नामपिआरोंका मुख्य काम कुट्टु में मिलावु बजाना होता है। नांग्यड स्त्री को अभिनय करने

के साथ साथ सिम्बल वजा बजाकर चैक्यड़ की सहायता करनी पड़ती है। उन्हें कभी कभी सस्कृत पद्यों को गाना पडता है जिनका चैक्यड अभिनय करता है। कहते हैं कि चैक्यड लोग सूतों की सन्तान हैं जो प्राचीनकाल में हिन्दू दरबारों में रहा करते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दक्षिण में अभिनय और अभिनेता पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये हैं उनका उद्देश्य यूनान की तरह[१५] धर्म और उसकी भाषा का प्रचार ही था। प्रत्येक नाटकों में धार्मिक पुट रहता था और सवर्ण हिन्दुओं के प्रत्येक वर्ग को यह बहुत रुचिकर लगता था। इन नाटकों की कथाएँ रामायण और महाभारत से ली जाती थी जिसमें अभिनेता स्वाभाविक रूप से राम का पक्षपात करता था। कुट्टु का इस प्रकार आज भी एक धार्मिक स्वरूप है। उदाहरण के लिये चैक्यड़ आज भी जब तक अभिनय समाप्त नहीं हो जाता उपवास करते हैं।

अपनी प्रारम्भिक अवस्था में कुट्टु का अभिनय सूतो जैसा वर्णनात्मक रहा होगा। कुट्टु की एक शैली प्रबन्धम् कुट्टु के रूप मे अभी भी विद्यमान है। पहिली अवस्था में हर्ष और कालिदास के नाटक खेले गये हैं, क्योंकि चैक्यड़ों में नागानन्द बहुत प्रचलित रहा है। आठवीं शताब्दी मे धर्म और इसके विस्तार के लिये स्थापित सस्थाएँ साधारण लोगों तक पहुँच चुकी थीं, और कुट्टु लगभग अनावश्यक हो गया था। सामाजिक और राजनीतिक सस्थाएँ बिगड़ चुकी थीं। चतुर मन्त्रियो ने इससे लाभ उठाकर चैक्यडों को रगमच पर पूर्ण स्वतन्त्रता दी जिस पर ये लोग समाज के हित के लिये बडे बडे सम्मानित पुरुषों की भी आलोचना करते थे। निसन्देह यह कार्य केवल विदूषक करते थे। तब से आज तक कुट्टु न केवल

---

१५ फ्लारडाइस निकोली 'दी डेवलप्मेंट ऑफ थियेटर' पृष्ठ-२०

आनन्ददायक मनोरंजन रहा है बल्कि समाज सुधार की प्रवृत्तियों को अग्रसर करता रहता है।

कुट्टु के खेल जाने के तीन ढंग हैं, प्रबन्धम् कुट्टु, नाग्यड कुट्टु और कुटियाट्टम। इनमें से पहला स्पष्टतया वर्णनात्मक है। दूसरा केवल अभिनय और अन्तिम सही अर्थ में नाटकीयता से पूर्ण है। पहले और तीसरे में चैक्यड़, नाग्यड़ और नामपिआर तीनों को ही रंगमच पर होना चाहिये और दूसरे में चैक्यड़ की आवश्यकता नहीं है। पहला दोपहार में, दूसरा रात ढलने के पश्चात् और अन्तिम, महानाटक को छोड़कर, प्रायः रात में खेला जाता है।

(अ) प्रबन्धम् कुट्टु—इसमें नामपिआर स्त्री मिलावु बजाती है और चैक्यड़ के अभिनय के साथ नांग्याड़ सिम्बल बजाती है। इसमें चैक्यड़ प्रबन्धम् से कुछ पढ़ कर गाता है जो रामकथा से सम्बन्धित होता है। फिर वह उसे अभिनीत करता है और उसके बाद उसे लोगों को समझाता है। कलाकार की महानता उसके नाटकीय ज्ञान से नहीं बल्कि उसकी उस शक्ति के कारण है जिससे वह तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक घटनाओं की तुलना करके मुख्य नाटक का भाव दर्शकों को समझा देता है। चैक्यड़ को बहुत विद्वान व्यक्ति होना चाहिये। आज भी विद्वता की दृष्टि से ये लोग बड़े महत्व-पूर्ण हैं और इनके इस कार्य से केरल सदैव साहित्यिक अध्ययन का केन्द्र रहा है।

(ब) नाग्यड़ कुट्टु—इसमें चैक्यड़ की जगह नाग्यड़ स्त्री लेती है। ध्यान देने की बात यह है कि इसमें केवल एक स्त्री रंगमच पर आती है। इसमें सिर्फ अभिनय होता है और व्यंग्य के लिये कोई कोई स्थान नहीं होता। मिलावु और सिम्बल नामक वाद्ययन्त्रों का प्रयोग होता है।

(स) कुटियाट्टम्—कुट्टु मे यह सबसे महत्वपूर्ण किस्म है। इसमें संस्कृत नाटक खेले जाते हैं। इसका शाब्दिक अर्थ संयुक्त अभिनय होता है, क्योंकि या तो चैक्यड़ नाग्यड़ दोनों ही रंगमंच पर आते हैं

या एक से अधिक पात्र भाग लेते हैं या वर्णन और अभिनय का इसमें मिश्रण होता है। इन सब बातों के कारण इसे सयुक्त अभिनय कहा जाता है।

रंगमच हरी पत्तियों, फूलों, नारियालों आदि से सजाया जाता है फिर एक बड़ा दीप, एक नरापारा और धान के पौधे अभिनेता के सम्मुख रखे जाते हैं। जब यह सब कुछ तैयार हो जाता है तो अभिनेता रगमच पर आता है और वाद्य सगीत आरम्भ होता है। इस समय मिलावु और सिम्बल के साथ मद्लम्, काम्बु और कुलल बजाये जाते हैं। मिलावु बजाकर नामपिआर नेपथ्य में जाती है और नादी श्लोक पढते हुए रगमच पर नेपथ्य गृह से लाया हुआ पवित्र जल छिड़कती जाती है। इसे आरग तालिकुक्क कहते हैं।[१६] वाद्य यत्र फिर बजाये जाते हैं और इसके बाद नाटक का सूत्रधार आता है। सूत्रधार रंगमच पर आकर नाचता है। इसका नाटक से कोई सबध नहीं होता। फिर कुछ पद् वाद्य यत्रों के सगीत के साथ गाता है और इसके साथ ही उसका विचित्र नृत्य चलता रहता है। इसके बाद नाटक की स्थापना होती है। अगर नाटक में कोई नारी-पात्र हो भी तो अभिनय में उसे रगमच पर नहीं लाया जाता। सूत्रधार ही उसका भी अभिनय करता है। पहले दिन इतना ही होता है।

दूसरे दिन दृश्य रंगमच पर उस पात्र से शुरू होता है जिसके बारे में सूत्रधार पहले दिन सकेत दे चुका होता है। साधारणतया यह पात्र नायक होता है। मगर नाटक का आरम्भ अभी भी नहीं हुआ रहता क्योंकि यह पात्र नाटक का परिचय मात्र अपने अभिनय द्वारा देता है। इसे निर्वाचन कहते हैं। किसी दिन पूरा नाटक नहीं खेला जाता, बल्कि हर दिन विशेष अक ही अभिनीत किये

---

१६ देखिये पिशरोती का बी० एस० ओ० एस० भाग छ० न० ३ पृष्ठ ८१९—२१ पर 'नोट आन दी नान्दी।'

जाते हैं। शायद इसका कारण नाटकों की लम्बाई और रंगमंच की कठिनाइयाँ हैं। 'क्रमदीपिका' और 'अट्ट प्रकरण' पुस्तकों में अभिनेताओं के लिये निर्देश है और उनमें लिखा हुआ है कि चैक्यड़ को कैसे विभिन्न नाटक अभिनीत करने चाहिये। प्रत्येक चैक्यड़ परिवार के पास इस पुस्तक की प्रतियाँ रहती हैं मगर उसको वे छिपाकर इतनी सावधानी से रखते हैं कि वे सरलता से मिलते नहीं।

तीसरे दिन उन नाटकों की मुख्य कथा शुरू होती है जिनमें विदूषक नहीं होते। अगर विदूषक होता है तो मुख्य कथा तीन चार दिन और रुक जाती है। क्योंकि अगर विदुषक रंगमच पर आ गया तो तीन चार दिन तक वह लोगों को पुरुषार्थ या जीवन के उद्देश्यों पर भाषण देता रहता है। पुरुषार्थ विदूषक के अनुसार चार होते हैं :—(१) विनोद—जीवन के आनन्दों का लाभ उठाना, (२) वञ्चना—अथवा धोखा (३) असन—खाना पीना, और (४) राजसेवा—राजा की सेवा। साधारणतया इनका वर्णन और अभिनय चार दिन लेता है, किन्तु पहले और दूसरे को एक ही दिन में कर देने से तीन ही दिन में समाप्त हो जाता है। इसमें शासक वर्ग के अत्याचार द्योतक नियम और व्यवहार की आलोचना होती है। इस रूप में कुछ नागरिक और सामाजिक सुधार का साधन है। इन पुरुषार्थों को देखने के लिये गाँव के लोग पुरोहित के नेतृत्व में एकत्रित होते हैं।

न तो ये पुरोहित न इनके बाप न इनके बाप के बाप मन्त्र या तन्त्र का अध्ययन किये रहते हैं। एकत्रित लोगों में उन्नी नामपुतीर, अम्बलवासी नायर और मन्दिर के गायक तथा अन्य महत्वपूर्ण लोग होते हैं। यही केरल हिन्दू ग्राम की एक इकाई हैं। रंगमंच पर सिर्फ अभिनेता होता है जो लोगों को एकत्रित करने के साथ ही जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये उनके वाद-विवाद को, उनके झगडे और निश्चय को अभिनीत भी करता है। वह इस विचित्र सभा की तथा

एक एक करके इसमें एकत्रित लोगों की सामाजिक और नैतिक बुराइयों की आलोचना करता है।

विनोद कुट्टीयाट्टम् के तीसरे दिन खेला जाता है। 'निरक्षरता के गाव' में लोग एकत्रित होकर लोग अपनी पाशविक वासना को सतुष्ट करने का साधन निकालने की कोशिश करते हैं। इस अभिनय में तात्कलीन समाज में व्याप्त बुराइयों का भी भडाफोड़ होता है। कई स्त्रियों का नाम एक के बाद एक करके लिया जाता है। किन्तु किसी न किसी कारण उसे छोड़ दिया जाता है। यह एक ऐसा अभिनय है जिसमें नारी और पुरुष की असफलताएँ प्रदर्शित की जाती हैं। किन्तु इससे सामाजिक नैतिकता का स्तर ऊचा बना रहता है। वञ्चना को इसी के साथ ही मिला दिया जाता है। विद्दी, वह मूर्ख जो ग्रामीणों में से एक होता है, चोर बनाया जाता है और इस अवसर को भी वड़ी बहुमूल्य नैतिकता सम्बन्धी उपदेश के लिये प्रयोग में लाया जाता है।

चौथे दिन तीसरा पुरुषार्थ वर्णित और अभिनीत होता है इसमें किसी प्रकार की कांट-छाट न तो की जा सकती है, न की जाती है। प्रीति-भोज का वर्णन किया जाता है और उसको यथार्थ रूप में दिखाया भी जाता है।

पाचवे दिन पुरुपार्थ का अन्तिम भाग खेला जाता है। राज-सेवा मे लगे शासक और उसके सहायक अपने भाग के लिये आते हैं। एकत्रित ग्रामीण यह बहस करते हैं कि वह कौन सा अच्छा राजा है जिसके यहाँ नौकरी की जाय। लोग इधर उधर के कई राजाओं का नाम आगे बढाते हैं और उनमे से एक का नाम मान लिया जाता है। इस प्रकिया में राजकीय सस्थाओं की कमजोरियां सामने आती हैं। चैम्यड प्रजा के दुखो को बयान करता है। साधारण लोगों के और छोटे छोटे अफसरो के दु:खो का वर्णन करता है। बहुत ही स्पष्ट शब्दों मे राजा की असावधानी और उदासीनता के कारण प्रजा को

होने वाले अनेक शारीरिक और मानसिक कष्टों का वह वर्णन करता है। यहाँ तक कि मुकुटधारी और तिलकधारी शासक भी इस आलोचना से नहीं बच पाते। राजा के जो नियम अत्याचारपूर्ण, बेढगे और क्रूर हैं उनकी बड़ी तीव्र आलोचना यहा होती है। वह नीति जो लोगों की भलाई के लिये नहीं है सीधे कठोर आलोचना का शिकार होती है। सक्षेप में चैक्यड शासक को उसके और उसके नियमों के विषय मे जनता के विचार बतलाता है। यह ध्यान देने की बात है कि यह आलोचना मुख्यतः शासक की उपस्थिति में ही की जाती है। अखबार निकलने के पूर्व यह आलोचना शासक और शासित के सम्बन्धो को सुधारने में सहायक होती थी। कुट्टु का यह गुण मध्यकालीन युरोप के 'मिरेकल प्ले' से मिलता है।

अन्त में नेता इस निर्णय पर पहुँचता है कि समस्त धरती पर केवल एक ही ऐसा राजा है जिसकी सेवा की जा सकती है और वह और कोई न होकर नाटक का नायक ही होता है और गाव के लोग उसके यहा नौकरी शुरू करते हैं। यह लम्बी चौड़ी भूमिका, जो उतनी नाटकीय तो नहीं है फिर भी मनोरंजक और शिक्षात्मक है, खेले जाने वाले नाटक के सम्बन्ध में दी जाती है।

छठे दिन चैक्यड़ चुने हुए दृश्य उपस्थित करता है। सभी पात्र रंगमंच पर आते हैं। पुरुष पात्र चैक्यड होते हैं और नारी पात्र नाग्यड़। इस अवसर पर भी विदूषक के अतिरिक्त और कोई पात्र कभी बोलता नहीं, बल्कि वे आँखों और मुंह के संकेत की सहायता से मुद्रा भाषा का प्रयोग करते हैं। ये पात्र विचित्र वेश-भूषा में होते हैं जो भिन्न-भिन्न नाटकों में अलग-अलग होते हैं। उदाहरण के तौर पर जीमूत वाहन के पात्र, 'नागानन्द' का नायक, 'धनञ्जय' के मुख्य पात्र, अर्जुन और राम नाटकों में विभिन्न वेश-भूषा में आते हैं। विदूषक का मुख्य काम स्थानीय भाषा में उन सभी पदों का अनुवाद करना है जो नायक अभिनीत करता है। सस्कृत नाटकों की परम्परा से यह

परम्परा भिन्न है क्योंकि अन्य नाटकों में इस पात्र के रूप में हम एक ऐसा आलोचक पाते हैं जो नाटकों को ज्यादा लोकप्रिय बनाता है। इसका भी श्रेय तोल्लन को मिलता है। यह एक और दृष्टि से महत्व पूर्ण था। इससे 'मणि-प्रवालम्' का भी विकास हुआ जो विदूषक की मिली जुली भाषा के प्रयोग की आवश्यकता के कारण उत्पन्न हुई। यह भाषा सस्कृत से ओत-प्रोत है। इस प्रकार सस्कृत रगमचों पर प्रयोग के लिये एक ऐसी भाषा का विकास हुआ जो कि सुसस्कृत मलयालम् शैली के लिये मापदण्ड बनी।

चैक्यडों की परम्परा के अनुसार वे बहत्तर एकांकी नाटकों, अङ्कों और प्रहसनों में अभिनय करने की शिक्षा पाते हैं या स्वयं अपने को शिक्षित करते हैं। इनमें से कुछ ये हैं—(१) सुभद्रा-धनञ्जय, (२) तपती सम्वरण (३) नागानन्द (४) महानाटक (इनके विभिन्न अंकों के नाम ज्ञात नहीं हैं।) (५) मत्तविलास (६) कल्याण-सौगधिका (७) मध्यम-व्यायोग (८) भगवद्-अज्जुका (९) श्रीकृष्ण-दूत अथवा दूतवाक्य (१०) दूत-घटोत्कच् (११) कर्णभार अथवा कर्ण-कवच (१२) उरुभङ्ग : ये (५—१२) एकांकी हैं (१३) पच-रात्र इसके दो अकों का नाम ज्ञात है—(१) वेतांक, (२) भीष्मदूतांक (१४) अवि-मारक—इसके प्रथम पाँच अकों से नाम ये हैं—अन्नोतांक, दूतांक, अभिसारियांक, पर्वांक और मत्तमेतांक (१५) आश्चर्य चूड़ामणि, इसके अकों के नाम ये हैं—पर्णशलाका, सूर्पणकांक, माया-सीतांक, जटायु-वादाक, अशोक-वनाक और अगुल्याक (१६) अभिषेक—नाटक, इसके तीन अंकों के प्राप्य नाम ये हैं—बालि-वध, तोरणायुध, माया-शिर्षांक (१७) प्रतिमा-नाटक, इसके अकों के नाम ये हैं—विलापांक, प्रतिमाक, अटव्यमाक, रावणाक, भरताक और अभिषेकाक, (१८) प्रतिज्ञा-योगन्धरायण—इसमें मत्राक, महासेनाक और अरट्टांक हैं (१९) स्वप्नवासवदत्ता, इसके छ. अक ये हैं—ब्रह्मचर्याङ्क, पतट्टाक, पुत्तुत्ताक, शेफालिकाक, स्वप्नाक और चित्रफलकाक (२०)

बाल चरित, इसके एक अक का नाम मालकाक है और अन्य अकों का नाम ज्ञात नहीं हैं (२१) चारुदत्त, एक चैक्यड़ के कथनानुसार इसके एक अंक का नाम वसतसेनाक है (२२) श्री कृष्ण चरित (२३) उन्माद-वासवदत्ता (२४) शकुन्तला।

दक्षिण के रंगमंच से ये चौबीस नाटक सम्बन्धित हैं। इनको तीन भागों में बाँटा जा सकता है : वे जो अभी प्रचलित हैं, वे जो कभी प्रचलित थे और वे जो परम्परा द्वारा प्रचलित कहे जाते हैं। पहले में पहले आठ नाटक, तीसरे में अन्तिम तीन और शेष दूसरे में रखे जा सकते हैं।

धनञ्जय और तपती सम्वरण कुलशेखर द्वारा बनाये गये हैं जो सम्भवतः ईसा की आठवीं शताब्दी में हुए हैं। वें एक केरल राजकुमार द्वारा केरल रंगमंच के लिये लिखे गये थे। इस पर अभिनय के दृष्टिकोण से लेखक के एक दरबारी ने एक टीका भी लिखी है। यद्यपि डा० (श्रीमती) टी० जी० शास्त्री ने इन्हें प्रकाशन के अयोग्य समझा फिर भी केरल रगमच के विद्यार्थियों के लिये ये बड़ी महत्वपूर्ण वस्तुएँ हैं। नागानन्द अब भी एक प्रसिद्ध नाटक है जिससे इस सत्य का प्रतिपादन होता है कि केरल भारत में बौद्ध और जैन धर्म का केन्द्र था। परम्परा के अनुसार इसका चौथा अंक भी सचमुच दिखाया जाता था जिसमें गरुड का अभिनय करने वाला पात्र सचमुच हवा में उडता दिखाया जाता था। ऐसी अन्तिम सफल उड़ान इरिंजालकुडा में की गई थी जहाँ अभिनेता सचमुच मन्दिर के रंगमच से उड़ा और एक पहाड़ी की चोटी पर जा बैठा जो मन्दिर के उत्तर में आधे मील की दूरी पर थी। उस पहाडी को कुट्टु-पराम्पु कहते हैं। लगभग दो सौ साल हुए तत्कालीन कोचीन के महाराजा की आज्ञा पर ऐसी उड़ान की कोशिश की गई थी। किन्तु अभिनेता की मृत्यु हो गयी। तब से यह फिर दोहरायी नहीं गई है। नाटक का दूसरा अंक जिसमें आत्महत्या है अभी भी अभिनीत किया जाता है।

एक लम्बा कपड़ा फन्दे के रूप में बना दिया जाता है। उसका दूसरा छोर छत से बाँध दिया जाता है। स्त्री पात्र उस फन्दे को गले में डाल लेती है और एक पाँच फीट गहरे गढे में कूद जाती है।

महानाटक मौलिक नाटक नहीं समझा जाता। यह कई नाटकों से लिया गया है। इसमें खास बात यह है कि यह दिन में खेला जाता है।

भगवदृअज्जुका—एक छोटा सा प्रहसन है जो कभी बहुत प्रचलित था। इस पर एक बहुत विशद टीका अभिनय के विषय में है। उस पर लेखक का नाम नहीं है, किन्तु इसकी एक पाण्डुलिपि में बोधायन का नाम मिलता है। यह और मत्तविलास दो प्रचलित प्रहसन दक्षिण के रंगमच पर खेले जाते हैं। कल्याण सौगंधिका एक प्रचलित नाटक है जो सम्भवतः एक चैक्यड़ द्वारा लिखा गया है।

पांच एकाकी नाटकों में दूतवाक्य या श्री कृष्णदूत सबसे प्रसिद्ध है। पचरात्र और अविमारक कभी रंगमच पर प्रचलित रहे होंगे किंतु अब वे नहीं खेले जाते, यद्यपि उनमें अभिनय की बड़ी गुंजायश है।

आश्चर्य-चूड़ामणि, अभिषेक नाटक और प्रतिमा नाटक—ये तीन इक्कीस अंकों में राम का जीवन दिखाते हैं। ये हमेशा बहुत प्रचलित रहे हैं, किन्तु अब इनमे से केवल कुछ दिखाये जाते हैं। बालचरित का मालकाक भी बहुत प्रसिद्ध रहा है। चारुदत्त के बारे में कोई सूचना नहीं मिलती। श्रीकृष्ण चरित का अभी भी पता नहीं है।

उन्माद-वासवदत्ता भी चूड़ामणि के लेखक शक्तिभद्र द्वारा लिखा गया। किन्तु इसका भी पता नहीं चलता। शकुन्तला नाटक एक समय में रंगमच पर बहुत प्रचलित था किन्तु अभिनय की कठिनाई के कारण अब यह नहीं खेला जाता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुट्टु में नृत्य और संगीत विवरण, अनुसरण और अभिनय सभी तत्व प्राप्त हैं। इसकी विभिन्न शैलियों में अन्तर भी है किन्तु इसमें दर्शकों को मानसिक और सौन्दर्यानुभूति

के आनन्द मिलते हैं। दक्षिण के समाज को शिक्षित करने में और उनका साहित्यिक स्तर ऊँचा उठाने मे इसने सहायता की है। इसकी प्रसिद्धि अब घट रही है, किन्तु तथाकथित आधुनिक रंगमच की बारीकियाँ इस पर अपना असर नही डाल सकीं। रंगमच की टेकनीक तोल्लन के समय से अब तक वही है।

कोचीन राज्य में दो स्थानों पर नाट्य-मन्दिर पाये जाते हैं जहाँ कुट्टु खेले जाते हैं। त्रिचुर का प्रसिद्ध नाट्य-मन्दिर पूरब से पश्चिम को बना है और उसमें दो मुख्य प्रवेश-द्वार हैं, एक उत्तर में एक दक्षिण में। रंगमच लगभग चार फीट ऊँचा है और पुराने ढग के अधिष्ठान के आधार पर बना है। दक्षिण से प्रवेश करने पर नाट्य-शाला के बीच में एक प्लेटफार्म पूरब से पश्चिम की ओर फैला हुआ तीन भागों में विभक्त दिखाई देता है, जिसमें बीच का भाग पूरब और पश्चिम वाले भाग से ऊँचा है। पश्चिम की तरफ वाला भाग नेपथ्य गृह है जिसमें दो हिस्से, एक पुरुषों के लिये, एक स्त्रियों के लिये हैं। पूर्वी भाग में ब्राह्मण वर्ग बैठता है। बीच वाला भाग जो कुछ ऊँचा होता है रंगमच है। यह एक वर्गाकार स्थान है जिसकी छत और खम्भे सुसज्जित होते हैं। छत पर नारद का चित्र लकड़ी में कढा हुआ है। नेपथ्य गृह से रगमंच पर जाने के लिये दो रास्ते हैं जिनके बीच में वाद्य यंत्र रखे जाते हैं। इसके चारों तरफ छत को सम्भालने के लिये खम्भे होते हैं। छत तावे के पत्तर से ढकी है और ऊपर तीन सुनहले गुम्बद हैं। यह नियम है कि नाट्यशाला मन्दिर के सामने दाहिनी तरफ होनी चाहिये इसलिये कि जब पात्र अभिनय करें तो वे मूर्त्ति के सम्मुख हों।

तेलुगु रंगमंच

जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है दक्षिण भारत का सब से महत्वपूर्ण और प्राचीन रगमच केरल का ही है। परन्तु इसका यह

अर्थ कदापि नहीं कि दक्षिण भारत के अन्य प्रदेशों में नाटकों और रंगमंच की परम्परा प्राचीन नहीं है। सच यह है कि दक्षिण भारत का रंगमंच संस्कृत काल में तथा उसके बाद भी अत्यन्त समृद्ध रहा है। तेलुगु का रंगमंच भी बहुत समृद्ध रहा है। तेलुगु साहित्य के इतिहास के विद्यार्थी अच्छी तरह जानते हैं कि वहाँ गाँव गाँव में स्थानीय लोक रंगमंच रहे हैं और नाट्य प्रिय जनता का मनोरंजन स्थानीय अभिनेता और कलाकार करते रहे हैं। इस लोकप्रिय रंगमंच के चिह्न आज भी मिलते हैं। अब भी ग्रामीण जनता के मनोरंजन के साधन ये लोक रंगमंच और लोक नाट्य ही हैं। उत्तर भारत में जिस प्रकार कठपुतलियों के नाच अत्यन्त प्रचलित रहे हैं, उसी प्रकार तेलुगु प्रदेश में भी इनका बोल बाला रहा है। परन्तु युग के परिवर्तन के साथ लोगों की अभिरुचि में भी परिवर्तन आया। फलतः अब यह कला भी समाप्त होती जा रही है और यदि इस कला को सामाजिक उपयोगिता का आधार न दिया गया, इसके प्रयोग और विषय वस्तु के साथ ही इसकी रूप रेखा और टेकनीक में भी परिवर्तन न किया गया तो यह कला भी इतिहास की वस्तु होकर रह जायेगी। लोक नाट्य के साथ ही तेलुगु प्रदेश पर संस्कृत नाट्य साहित्य के प्रभाव पर भी ध्यान जाना चाहिये। जैसा कि हम 'संस्कृत नाट्य परम्परा' अध्याय में कह आये हैं, तेलुगु क्षेत्र के कवियों और साहित्यकारों ने संस्कृत भाषा में अनेक नाटक लिखे और अक्सर वे नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत हुए। जैसा कि देश के अनेक भागों में हुआ, आन्ध्र में कई शासक ऐसे हुए जिन्होंने काव्य और नाट्य साहित्य को प्रश्रय और प्रोत्साहन दिया। यहाँ के अनेक राजाओं ने स्वयं संस्कृत में नाटक लिखे। आधुनिक तेलुगु नाट्य साहित्य को यह परम्परा उत्तराधिकार में प्राप्त हुई और इससे उसने लाभ भी उठाया।

इसके अनन्तर आधुनिक तेलुगु नाटकों की बारी आती है। इनमें

जिस नाटक को सब से अधिक ख्याति मिली और जिसने अपने प्रणेता को अमर बना दिया वह था 'कन्या शुल्क' नाटक। इसके लेखक थे गुरजदा अप्पाराव। अप्पाराव संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य के पण्डित थे। उन्होंने दोनों का अध्ययन अत्यन्त गम्भीरता पूर्वक किया था। तेलुगु भाषा पर उनका पूरा अधिकार था। साहित्यिक ही नहीं बोल चाल की भाषा में भी वह दक्ष थे और बोल चाल की भाषा का प्रयोग वह अपने नाटकों में अधिकार पूर्वक कर सकते थे। उन्होंने अपने समाज का और अपने आस पास रहने वाले प्राणियों के जीवन का अत्यन्त निकट से अध्ययन और विश्लेषण किया था। वह आन्ध्र के प्रत्येक वर्ग और श्रेणी और जाति के लोगों के स्वभाव, संस्कृति, मनोदशा, जीवन दृष्टि और विशेषताओं से अच्छी तरह परिचित थे। उन्होंने आन्ध्र वासियों के जीवन को अच्छी तरह देखा और परखा था। इसलिये उन्हें किसी का सहारा लेने और अथवा किसी की नक़ल करने की जरूरत न थी। यही कारण है कि उनका कथानक सर्वथा मौलिक होता था और उनके पात्रों का व्यक्तित्व स्वतत्र, निखरा हुआ और अपना निजी रंग लिये रहता था। उनके चरित्र चित्रण में एक मौलिकता और व्यापकता रहा करती थी। उनके नाटक के प्रत्येक पृष्ठ, प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक घटना की अपनी निजी विशेषता होती थी। आदि से अन्त तक व्यग्य, हास्य, विनोद, वाक्चातुर्य, हाज़िर जवाबी और चुस्ती के कारण उनकी रचना में यहाँ से वहाँ तक ओज और सजीवता बनी रहती थी। निश्चय ही उनके जैसा भाषा का मालिक अब तक तेलुगु साहित्य में पैदा नहीं हुआ। अप्पाराव का मुकाबिला अन्य गुणों में भले ही दूसरे नाटककारों ने कर लिया हो, मगर ज़बान की चुस्ती और भाषा की प्राञ्जलता और ओज में वह अब तक अद्वितीय है।

अप्पाराव के संरक्षक विजयानगरम् के प्रसिद्ध राजा गजपति थे। यह प्रसिद्ध है कि यह नाटक दरबार में चुने हुए लोगों के सामने अनेक

वार खेला गया। तेलुगु जनता के सामने भी यह नाटक अनेक बार खेला जा चुका है। अक्सर तो जहाँ लम्बाई के कारण पूरा नाटक नहीं खेला जा सका, वहाँ इसके चुने हुये अश ही खेले गये। यह नाटक जब भी और जहाँ कहीं भी खेला गया पूर्ण रूप से सफल रहा। इसके व्यग्य और हास्य की प्रतिध्वनियाँ पूरे तेलुगु क्षेत्र में सुनायी देती हैं। हास्य रस का ऐसा पूर्ण नाटक तेलुगु-साहित्य में और नहीं है। अप्पाराव समाज सुधारक थे। वह विवाह में कन्या के क्रय को अत्यन्त घृणित और गर्हित पाप समझते थे। अपने नाटक में उन्होंने कन्या क्रय के इसी घृणित प्रथा पर अति निर्मम प्रहार किया है और इसी मुख्य कथानक के आधार पर उन्होंने अनेक रोचक घटनाओं को बाँध कर नाटक की इमारत खड़ी की है। नाटक का खल-नायक गिरीशम् बहुत ही चुस्त और चालाक आदमी है। उस पर नियंत्रण रखने के लिये और उसकी चालाकियों पर काबू पाने के लिये एक सम्मानित वकील को भी सामने लाया जाता है। मगर खलनायक गिरीशम् इतना चुस्त और चालाक, इतना साधनयुक्त, इतना तेज तर्रार, इतना आकर्षक और प्रभावशाली है कि आप चाहे जो कहें दर्शकों की सहानुभूति उसी के प्रति होती है। जब आप रग-शाला छोड़ने लगते हैं तो आपके मन में गिरीशम् की बदमाशियों के विरुद्ध घृणा नहीं रह जाती। इस महाविनाशकारी कुप्रथा के विरुद्ध आपके मन मे आक्रोश और घृणा की भावना भी उतनी तीव्र नहीं रह पाती जितनी तीव्र उसे होना चाहिये था। कारण यह है कि आपके तन मन मे गिरीशम् की शरारतों, चुहल, हास्य और व्यग्य और उसके शिकारों पर गुजरी मजेदार घटनाओं का प्रभाव ही अत्यधिक हावी रहता है। कुछ लोग इसे नाटक के उद्देश्यों की असफलता मे गिन सकते हैं। मगर कलाकार की सफलता का चरम उत्कर्ष भी यहीं देखने को मिलता है।

वेदम् व्यकट आर्य शास्त्री नेलौर के बहुत बड़े विद्वान् हो गये हैं।

रंगमच के बहुत ही कुशल ज्ञाता और आचार्य होने के नाते उन्होंने अपनी रचना 'प्रताप रुद्रीयम्' लिखते समय रंगमच की प्रत्येक आवश्यकता का ध्यान रखा और उसकी प्रत्येक माँग पूरी की। प्रत्येक भाव, प्रत्येक सकेत, प्रत्येक मुद्रा, उच्चारण और स्वर और शरीर के विभिन्न अगों के हिलने डुलने के एक एक विवरण का ध्यान रखकर ही वह रिहर्सलों में पात्रों को तैयार करते थे और रङ्गमञ्च पर अपने नाटक को प्रस्तुत करते थे। कथानक गढने, घटनाक्रम को तैयार करने और उसे बाँधने में वह सिद्ध हस्त थे। चरित्र चित्रण करते समय उसमे सत्यता को भर देने की उनमें अद्‌भुत क्षमता थी। कथोपकथन में आदि से अन्त तक सजीवता, स्वाभाविकता, चुस्ती और वाक्‌पटुता का प्रमाण मिलता था।

नाटक की कहानी बड़ी रोचक है। असली राजा के दिल्ली से वापिस आने के समय तक एक धोबी को राजा बना दिया जाता है। धोबी यकायक अपने को गद्दी पर विराजमान पाकर कैसा अनुभव करेगा इसका अनुमान सहज ही लग सकता है। वह बना हुआ राजा अपने अनगढ व्यवहारों और बातों के कारण विचित्र परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है। ये नयी परिस्थितियाँ रोचक और प्रभावशाली होने के कारण मूलकथानक पर हावी हो सकती थीं। परन्तु कलाकार ने ऐसा नहीं होने दिया। बल्कि इससे लाभ उठाकर उसने जनसाधारण के जीवन का सच्चा और मासल चित्र रंगमच पर उपस्थित कर दिया। इससे लेखक की सूक्ष्म दृष्टि और प्रत्येक विवरण के प्रति सजगता का परिचय मिलता है। युगन्धरा का चरित्र चित्रण सत्यमेव अत्यन्त सफल हुआ है। इस केन्द्रीय पात्र के सफल चित्रण के बिना यह नाटक सफल नहीं हो सकता था। हाँ, इसके पद्यांश अक्सर आवश्यकता से अधिक लम्बे और कभी-कभी बनावटी मालूम पड़ते हैं। यदि इन्हें छोटा और चुस्त बना दिया जाय तो यह नाटक पूर्णतया निर्दोष हो जाय।

तेलुगु नाट्य साहित्य की समृद्धि पीठपुरम् के पनुगन्ती लक्ष्मी नरसिंह राव की रचनाओं से बहुत अधिक बढ़ी। उन्होंने अनेक नाटकों की रचना की। उनकी सर्व श्रेष्ठ रचनाए 'प्रचण्ड चाणक्यम्', 'पाथुका' और 'राधा कृष्ण' हैं। आन्ध्र देश की कई पीढ़ियों ने एक के बाद एक इनके हास्य और व्यंग्य का आनन्द लिया और अगणित-अभिनेताओं, निर्माताओं तथा निर्देशकों को इन नाटकों के कारण अपनी कला प्रदर्शित करने का अवसर मिला। पात्रों के आन्तरिक जीवन तक इनकी गहरी पैठ थी। नाटकीय आवश्यकताओं की ओर इनका ध्यान सदैव रहता था। शेक्सपिअर के नाटकों की इनकी जानकारी गंभीर थी। उनके एक एक विवरण से यह परिचित थे। अपने इस ज्ञान का पूरा लाभ इन्होंने उठाया। तेलुगु के समस्त नाटककारों में अकेले लक्ष्मी नर सिंह राव ही ऐसे थे जिन्होंने शेक्स-पिअर के नाटकों और रंगमंच सम्बन्धी ज्ञान का पूरा प्रयोग अपने नाटकों की रचना और उनके अभिनय में करके तेलुगु रंगमंच की परम्परा में एक नवीन मोड़ पैदा किया।

इन नाटक कारों के पहिले तेलुगु में नाट्य साहित्य के आदि सृष्टा धर्मवरम् व्यङ्कट कृष्णमा चारुलु का नाम आता है। इन्होंने 'चित्र नलीयम्' की रचना की थी। इनके बाद धर्म-वरम् गोपाल चारुलु ने 'रामदास' की रचना की। इसे राघव ने रंगमञ्च पर अत्यन्त सफलता पूर्वक उपस्थित किया था। वेलिपल्ली लक्ष्मी कान्तम् ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' की रचना की। व्यङ्कट पार्वतेश्वर कावुलु ने 'पाण्डव उद्योग विजयमुलु' की रचना एक अन्य लेखक के साथ मिल कर की। मेतुरी प्रभाकर शास्त्री ने भास के 'प्रतिमा' नाटक का तेलुगु में अनुवाद किया। चिलक मूर्ति लक्ष्मी नरसिंहम् ने 'गयो-पाख्यानम्' और 'प्रसन्न यादव' नाटकों की रचना की। के० वीरेश लिङ्गम् ने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अत्यन्त सफल अनुवाद किया। यह अनुवाद अत्यन्त लोक प्रिय हुआ।

इन नाटककारों में से अधिक लोगों ने नाटक रचना में प्राचीन संस्कृत परिपाटी का अनुगमन किया। इन्होंने पुराणों और सस्कृत साहित्य से कथानकों और पात्रों को चुना और अपने पात्रों से लम्बे पद्यांशों का पाठ करवाया। उनके एक-एक वाक्य दस और बारह पंक्तियों के होते थे। नाना प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया जाता था। गद्यांश तो पद्यांश से सरल होते थे, परन्तु उनमें कृत्रिमता का रग रहता था। इसका कारण यह है कि कथोपकथन में या वक्तृताओं में बोल चाल की भाषा का प्रयोग करने के स्थान पर किताबी अथवा तथाकथित साहित्यिक भाषा का प्रयोग अधिक होता था। इस सम्बन्ध में 'कन्या शुल्कम्' नाटक को हम बिलकुल निर्दोष पाते हैं। न उसमें इस प्रकार की अस्वाभाविकता है, न कृत्रिमता। 'कन्या शुल्कम्' नाटक में शुद्ध और बोल चाल की स्वाभाविक भाषा का प्रयोग करके इस नाटक के लेखक ने एक नयी परम्परा आरम्भ की थी।

तेलुगु में, समसामयिक और सामाजिक समस्याओं, आर्थिक प्रश्नों, राजनीति उद्देश्यों और आदर्शों को सामने रख कर, केवल कुछ ही समय से नाटकों की रचना हुई है। तभी नाटकों से पद्याश और गीत हटाये गये और किताबी भाषा का प्रयोग बन्द करके बोल चाल की भाषा का प्रयोग स्थायी रूप से आरम्भ किया गया। सब से पहिले इस प्रकार के नाटक की रचना पी. वी. राज मन्नार ने की। इसका नाम 'थाप्पू एवारिथी' था। आन्ध्र प्रजा नाट्य मण्डली बेजवाड़ा, के दोनों नाटक कार शङ्कर सत्यनारायण और वसी रेड्डी भास्कर राव ने अपने नाटक 'मुन्दादुगु' और 'मा भूमि' में किसानों और खेतिहर मजदूरों के जीवन का सच्चा चित्रण किया और उनकी समस्याओं को सामने रखा। उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से समाजवादी विचारों और आदर्शों का प्रचार किया। कृषक जीवन, उसके पतन, विघटन और पराभव का इतना कारुणिक चित्रण इसके पहिले रङ्ग-

मञ्च पर कभी भी प्रस्तुत नहीं किया गया था। इन नाटकों से तेलुगु साहित्य में एक नयी प्रेरणा, नयी चेतना और नये आदर्शों की स्थापना का आभास मिलता है। 'मा भूमि' से तेलुगु नाट्य साहित्य के इतिहास में एक नया युग आरम्भ हो गया।

व्यङ्कट नरसू का 'ज्योतिर्मयी' नाटक जे० बी० प्रीस्टले के 'दे केम टु ए सिटी' का अनुवाद है। इसमें पूँजीवादी अराजकता और अस्वस्थ प्रतिद्वन्द्विता तथा समाजवादी योजना और सुखी जीवन के अतर को उघाड़कर सामने रखा गया है। कोप्पारपु सुब्बराव ने प्रीस्टले के प्रसिद्ध नाटक 'ऐन इन्स्पेक्टर काल्स' का अनुवाद 'इनापा घेरलु' के नाम से किया। इस नाटक में यह दिखाया गया है कि जब तक समाज का प्रत्येक प्राणी सुखी और सन्तुष्ट नहीं है तब तक सामाजिक सुरक्षा की कल्पना ही व्यर्थ है। नेलौर के अत्रेय ने 'ऐ नाडू' और 'गुमाश्ता' नामक नाटकों की रचना की। 'ऐ नाडू' में हिन्दू मुस्लिम झगड़ा तथा स्त्रियों-बच्चों की दुर्दशा का चित्रण किया गया है। 'गुमाश्ता' में एक सरकारी क्लर्क के दुखमय जीवन की विपत्तियों, कष्टों और पीड़ाओं का चित्रण किया गया है। ये सारे नाटक आन्ध्र देश में सैकड़ों बार सैकड़ो स्थानों पर प्रदर्शित किये जा चुके हैं। सर्वत्र इनका स्वागत हुआ और इनमें गरीब पीड़ित जनता ने नयी रोशनी और नयी प्रेरणा देखी। इन नाटको की प्रतिध्वनियाँ आन्ध्र देश के कोने-कोने से सुनायी देती हैं।

अधिकतर पुराने नाटककारों को संस्कृत नाटकों का अनुवाद करने अथवा रूपान्तरित करने में कोई सङ्कोच न था। परन्तु इधर के नाटककारों को इसमें सङ्कोच होता है। इसी सङ्कोच का फल है कि तेलुगु भाषा में संस्कृत अथवा अन्य भारतीय भाषाओं से अनूदित नाटकों की संख्या बहुत कम है। अंग्रेज़ी नाटकों के अनुवाद की संख्या भी बहुत कम है। सोमान्ची यग्गन्न शास्त्री ने बरनार्ड शा के 'मैन ऐण्ड सुपरमैन' तथा इब्सन के 'ऐन ऐनेमी आफ दी पीपुल'

का अनुवाद 'विश्वम् पेल्ली' तथा 'पेद्दामनुशियुलु' के नाम से किया है। भामीपति कामेश्वर राव ने मोलिरे के अनेक नाटकों का अनुवाद किया है। मोल्लपति नरसिंह शास्त्री ने 'अभ्युदयम्' नाटक लिखा। अवसरल व्यंकटनरसु ने इब्सन के 'ए डाल्स हाउस' तथा शेक्सपीअर के 'ओथेलो' का अनुवाद 'कीलूबोम्मा' तथा 'अपोहा' नाम से किया। इधर भारतीय तथा विदेशी भाषाओं से अनेक अनूदित नाटक प्रकाशित होने लगे हैं।

आन्ध्र में एकाकी नाटकों को अत्यधिक पसन्द किया जाता है। इस समय हर नाटककार एकाकी लिखने में ज़ोर शोर से जुटा हुआ है। हर पत्रिका एकाकी नाटकों से भरी रहती है। नरल वेंकटेश्वर राव ने अनेक अत्यन्त सफल एकांकी नाटक लिखे हैं। 'प्रारब्धम्' और 'भङ्गपट्टु' उनके दो सबसे सफल एकाकी हैं। उनके अनेक ऐसे नाटक हैं जिनमें पूर्ण नाटक की सारी विशेषताएँ हैं। काश कि नरल व्यंकटेश्वर राव सचमुच पूर्ण नाटक लिखा करते! दुव्वुरी नरसराजू के नाटकों में हम व्यंग्य, हास्य और चरित्र चित्रण की सफलता देखकर चकित रह जाते हैं। आन्ध्र में एकाकियों के प्रचलन का सबसे बड़ा कारण रङ्गमञ्च पर उन्हें प्रस्तुत करने की सुगमता ही है। तेलुगु साहित्य वर्तमान एकांकी नाटकों से सचमुच समृद्ध होता जा रहा है।

देश के अन्य प्रान्तों की भाँति आन्ध्र मे भी प्राचीन काल में नाटकों का अभिनय केवल राजाओं और उनके दरबारियों के बीच हुआ करता था। यह परम्परा संस्कृत नाटकों की थी जिसे यहाँ भी ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया। इसके बाद नाटकों का अभिनय धीरे-धीरे जन-सुलभ होने लगा। पेशेवर लोगों ने इस कला को अपने हाथ में लिया और जनसाधारण का मनोरञ्जन करना शुरू किया। इन कम्पनियों में 'सर्वप्रथम सुरभि नाटक कम्पनी' थी। साथ ही नागेश्वर राव और गुणेश्वर राव की मण्डलियों ने भी काफी नाम कमाया। 'सुरभि नाटक कम्पनी' में ही सर्वप्रथम नारी पात्रों की

भूमिका स्त्रियो ने की। नागेश्वर राव और गुणेश्वर राव की मण्ड-लियों ने अपने साज सज्जा, रंगों की योजना, प्रकाश का प्रबन्ध, मनो-हारी दृश्य-दृश्यावलियों आदि के कारण लोकप्रियता प्राप्त की। डी० वी० सुब्बाराव ने हरिश्चन्द्र को भूमिका मे बड़ा नाम कमाया। स्था-नम् नरसिंह राव ने चित्रागी, मधुरवाणी, रोशनारा जैसी नारी पात्रों की भूमिका करके पर्याप्त यश अर्जित किया। उनकी कुशलता तथा पटुता का लोहा सभी लोग मानते थे। याटवल्ली सूर्य नारायण ने दुष्यन्त की, सञ्जीवराव ने शकुन्तला की, माधवपेद्दी ने दुर्योधन की, परुपल्ली सुब्बाराव ने राधा की, तुगता ने सखूबाई की और जोना-विथुला सत्यनारायण ने सखू बाई के पति की भूमिका इतनी सफ-लतापूर्वक की कि उनका नाम चारो ओर फैल गया और उनकी कीर्ति स्थायी हो गई। दैता गोपालम् केवल कुशल अभिनेता ही नहीं, प्रथम कोटि के तथा अत्यन्त कार्यपटु निर्देशक भी थे। कपिलाबाई रामनाथ शास्त्री ने तेलुगु लोगों को पद्य गान करते समय करुणा उत्पन्न करने और उन्हें सार्थकता प्रदान करने की शिक्षा देने मे, अद्भुत सफलता प्राप्त की। गोविन्द राजुलु सुब्बाराव हास्य रस के अभिनयों में सर्वश्रेष्ठ कलाकार गिने जाते थे।

आरम्भ में ये मण्डलियाँ लोकप्रिय सार्वजनिक संस्थाओं के रूप में काम करती थीं। बाद में इनमें लाभ की सम्भावना देखकर व्या-पारियों-पूंजीपतियों ने रुचि दिखानी शुरू की। ये नए मालिक इस या उस अभिनेता अथवा किसी विशेष नाटक में दिलचस्पी नहीं रखते थे। वे अर्थलिप्सा से ही इस कला को एक व्यवसाय का रूप देना चाहते थे। वे नायक अथवा नायिका को तो खूब प्रोत्साहित करते, परन्तु उसके साथ अन्य भूमिकाओं में आने वाले कलाकारों की चिन्ता उन्हें कभी न होती। उनकी शिक्षा-दीक्षा, उन्नति आदि में उनको दिलचस्पी नहीं थी। इस प्रकार मुख्य अभिनेता तो बहुत आगे बढ़ जाते, परन्तु अन्य पात्र अपनी जगह पर ही बने रह जाते या उनका

पतन हो जाता। उधर इसका प्रभाव प्रधान अभिनेताओं पर भी पड़ता। नाटकों में संघर्ष, मनोवैज्ञानिक तनाव आदि की कमी के कारण उन्हें सीखने और अधिक उन्नति करने का अवसर न मिलता। मजबूरन उन्हें अपने अभिनय में बनावटीपन, अस्वाभाविकता, उच्चारण में विकृति और कृत्रिम रूप से अंग प्रत्यंग के संचालन का सहारा लेना पड़ता। परन्तु यदि मन में सच्ची भावना न रहे तो वाह्य अभिनय भी अच्छा नहीं हो सकता। फलतः इन प्रधान अभिनेताओं की कला में परिष्कार होने के बजाय उसमें पतन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। यह तेलुगु नाट्य साहित्य और रंगमंच के लिये बड़े संकट की बात थी और इससे मुक्त होना आवश्यक प्रतीत होने लगा।

आधुनिक तेलुगु रंगमंच

तेलुगु रंगमञ्च का आज क्या हाल है? क्या उसका भविष्य उज्ज्वल है? यह मानना ही होगा कि इस सम्बन्ध में कुछ ऐसे तत्व उभरने लगे हैं कि उन्हें देखते हुये तेलुगु रंगमञ्च के भविष्य के सम्बन्ध में किसी हद तक निराशा होने लगती है। पिछले दिनों में लेखकों, कलाकारों, अभिनेताओं, निर्देशकों और संचालकों का एक बहुत बड़ा दल रंगमंच को छोड़कर सिनेमा में चला गया। रंगमंच के साथ एक अभिशाप है। साहित्य की ही भाँति वह भी अपने भक्तों और पुजारियों का पेट नहीं भर सकता। पहिले जो व्यक्ति नाटकों को खेलने का प्रबन्ध करके कुछ धन कमा लेता था वही अब सिनेमा से धन कमाकर लखपती-करोड़पती बन गया है। अब वह रंगमंच की ओर क्यों आकृष्ट होगा? पहिले जो राजा या जमीन्दार नाटकों और रंगमंच को प्रश्रय देते थे वे अब अपना पेशा छोड़कर दूसरा कुछ करने लगे हैं। रंगमंच का पूरा बोझ उठा सकना जन साधारण के बूते की यह बात नहीं है। इसलिये तेलुगु रंगमंच इस समय संकट से हो कर गुजर रहा है। मगर इस सम्बन्ध में बिल्कुल निराश होने की

बात नहीं है। रंगमंच हमारे सामाजिक जीवन का अत्यन्त शक्तिशाली अंग है। उसे मिटाया नहीं जा सकता। उसमें समयानुसार परिवर्तन-परिवर्द्धन तो हो सकते हैं, परन्तु उसकी सामाजिक उपयोगिता को समाप्त नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहिले तेलुगु रंगमंच ने राष्ट्रीय आन्दोलन के जागरूक प्रहरी के रूप में काम किया था। निर्माण की इस महान वेला में उससे बहुत कुछ आशा की जा सकती है। साधारण रंगमञ्च के साथ ही, तेलुगु के लोक रंगमञ्च से भी बहुत कुछ आशाएँ हैं। उसकी परम्परायें पुरानी और समृद्ध हैं।

तेलगु का लोक रंगमंच

आंध्र प्रदेश के रंगमञ्च का अध्ययन तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक कि हम वहाँ के लोक रंगमञ्च के अतीत और वर्तमान पर दृष्टिपात न कर लें। आंध्रदेश में मुख्यतः निम्नांकित अभिनय के रूप हैं—१. बुर्रा कथा २. हरिकथा ३. विधि नाटकम्, ४. समवेत गान और परम्परागत नाटक। बुर्रा कथा सर्वाधिक प्रचलित रूप रहा है। इसमें तीन आदमी भाग लेते हैं। एक मुख्य गायक होता है और दूसरे दो व्यक्ति उसका साथ देते हैं। ये लोग साथ ही ढोल भी बजाते जाते हैं। ये बीच बीच में रुक कर अपने अभिनय द्वारा अपने गीत को नाटकीय रूप दे देते हैं। कभी ये आगे बढ़ते और पीछे हटते हैं, कभी ढोल के ताल पर गोलाई में नाचते हैं। बुर्रा कथा के गीत लम्बे और रोचक होते हैं। इसमें कोई न कोई कथा कही जाती है। व्यकटरमणी की कथा अत्यन्त प्रसिद्ध है। पहिले सामन्तवादी युग में, गांव के इन भांटों अथवा पेशेवर गायकों की बड़ी कद्र थी। धीरे धीरे ये गीत भीख माँगने वालों के गले में पहुँच गये और उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा बहुत कम हो गयी। मगर इन लम्बे गीतों में छिपे तत्वों की शक्ति किसी भी प्रकार कम न हुई। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय इसकी ओर लोगों का ध्यान गया और अन्त में

भारतीय जन-नाट्य सघ ने इसे फिर से जीवन प्रदान किया। बुर्रा कथा को नया सामाजिक विषय तत्व प्रदान करके इस ओज पूर्ण गीति-नाट्य को अधिकाधिक समयोपयोगी बनाने का श्रेय इसी संस्था को है। अब हजारों की सख्या में एकत्र जनता बुर्रा कथा का आनन्द लेती है और उससे शक्ति तथा प्रेरणा ग्रहण करती है। पिछले वर्षों में, बंगाल के अकाल, किसानों के सघर्ष और सामाजिक सुधारों से सम्बन्धित समस्याओं को बुर्रा कथा के माध्यम से रगमञ्च पर प्रस्तुत किया गया और उसने निश्चित रूप से तेलुगु जनता को अत्यधिक प्रभावित किया। जिस प्रकार उत्तराखण्ड में आल्हा आदि को देश भक्ति परक वीरोचित कथा प्रसगों का माध्यम बनाया सकता है, उसी प्रकार बुर्रा कथा को भी।

२ 'हरि कथा' का आधार रामायण, महाभारत तथा पुराणों से संग्रहीत उपदेशात्मक कथायें रही हैं। इसमें गीतो के अतिरिक्त गद्य तथा पद्य के टुकडे रहते हैं। नृत्य को इसमें अधिक महत्व दिया जाता है। 'हरिकथा' का नायक हरिदास कहा जाता है। जन नाट्य सघ ने 'हरिकथा' के पतनोन्मुख रगमच को अपने हाथ में लिया। हरि कथा के वर्णनात्मक शैली को नयी प्रयोजनीयता प्रदान की, नये विषय दिये, नयी सामाजिक समस्याओं को सामने रखा। मगर यह करते हुये भी सघ ने उसके प्राचीन परम्परागत रूप को नहीं बदला, प्राचीन रूप की पवित्रता को अछूता रखते हुये भी उसका नया उपयोग किया। हम अपने गाँवों में जोगियों, गोसाइयों, नटो, साधुओं, फकीरों, पीरों, औलियों आदि को सर्वत्र गाते बजाते कासा लिये भीख मांगते देखते हैं। ये कभी भाग्य रेखा पढते हैं, कभी औष-धियाँ देते हैं, कभी निदान बताते हैं, कभी उपदेश देते हैं और कभी केवल बाल बच्चों की खैर मानते हैं। आन्ध्र देश में भिक्षा वृत्ति पर निर्भर रहने वाले इन भ्रमणशील गायकों, वादकों, कथाकारों, उपदेशकों की सख्या बहुत बड़ी है। इनका पेशा भी बहुत पुराना

है। ये लोग भीख माँगते थे। भीख के बदले मे धार्मिक उपदेश और आशीर्वाद देते थे। किसी हद तक वे समाज के बहुमान्य मूल्यों और मानों की रक्षा का उपदेश भी देते थे। इनके हाथों और कण्ठों मे अनेक कथायें और गीत और अभिनय के रूप मुरक्षित थे। जन-नाट्य सघ ने इन तत्वो को अपनाया। नयी विषयवस्तु, नयी कथा, नयी प्रेरणा और नयी दृष्टि के साथ उन्होंने इन लोक परम्पराओ को फिर से महिमा मण्डित किया और उनकी कीर्ति और सामाजिक उपयोगिता को फिर से स्थापित किया।

३. सदियों तक 'विधि नाटकम्' अथवा खुले लोक रगमच पर आन्ध्र देश के अभिनेता और कलाकार लोक नाट्य के विभिन्न रूपों का अभिनय और प्रदर्शन करते रहे हैं। परन्तु पाश्चात्य प्रभाव के कारण जब आन्ध्र देश मे नवीन रगमच की स्थापना हुई, मच, पर्दा, रोशनी, ध्वनिविस्तार, टेकनीक आदि में नये परिवर्तन हुये तो इस परम्परागत रगमच का महत्व कम होने लगा। जैसा कि देश के अन्य भागों में हुआ, यहा भी सिनेमा ने अपना कुप्रभाव दिखाया। परन्तु इतना सब कुछ होते हुये भी सतोष की बात है कि यहा का लोक रग-मच मरा नहीं। जिस प्रकार तमिल नाड में खुला रगमच तेरु-वुक्क-कुट्टु की लोकप्रियता बनी रही उसी प्रकार आन्ध्र देश का 'विधि नाटकम्' भी यथावत चलता रहा। हा, केरल के कथाकली की भाति यहा भी खुले रग-मंच के विभिन्न अगों का पूर्ण विकास और सुधार किया गया और कलाकारों के रूप-सज्जा में भी परिवर्तन किया गया। इस प्रकार 'विधि नाटकम्' को नाटकों की आधुनिक आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया गया। जिस समय, आवश्यक सुधारो के बाद 'विधि नाटकम्' के मंच पर 'हिटलर प्रभावम्' नाटक खेला गया, उसकी सफलता देख कर सभी लोग आश्चर्य चकित रह गये। 'हिटलर प्रभावम्' के बाद इस खुले रंगमच पर दर्जनों नाटक

विशाल जन समूह के सामने अगणित बार अत्यन्त सफलता पूर्वक खेले जा चुके हैं।

'कोलाटम्' आन्ध्र देश में वैसा ही लोकप्रिय नृत्य है जैसा कि गुजरात का 'गरबा' नृत्य। इसमें शरीर के विभिन्न अंगों पर अत्यधिक जोर पड़ता है। अब 'कोलाटम्' नृत्य का प्रयोग फिर से होने लगा है। 'लम्बाडी' और 'बाथकम्मा' की भांति 'कोलाटम्' की भी लोकप्रियता बढ़ गयी है और इसका प्रयोग नाट्यों तथा नृत्य नाट्यों में धड़ल्ले से होने लगा है। इनके नृत्य, वस्त्राभूषण और क़दम तथा बोल तो पुराने ही हैं परन्तु उनमें कुछ ऐसे नवीन तत्व भी सम्मिलित कर दिये गये हैं जिनके कारण वे अब लोगों की उत्कृष्टतम भावनाओं को जाग्रत करने तथा जन मन को पूर्णतया आन्दोलित करने में समर्थ हो गये हैं। इस प्रकार लोक रंगमंच के परम्परागत प्राचीन रूपों को फिर से सजा संवारकर नया कार्य करने तथा नये उत्तर-दायित्व का बोझ उठाने के सर्वथा योग्य बना दिया गया। इस तरह आन्ध्र देश में रंग मंच तथा अभिनय के क्षेत्र में एक नया युग आरम्भ हो गया है।

फलतः आज आन्ध्रदेश में कोई भी उत्सव, कोई भी बड़ा सांस्कृतिक आयोजन इनके बिना पूर्ण नहीं हो सकता। साथ ही, आन्ध्रदेश के लेखकों, कवियों और नाटककारों को भी नयी दृष्टि और नयी प्रेरणा प्राप्त हुई है। उनके साहित्य में हम इन सर्वथा नवीन तत्वों को पा सकते हैं। आन्ध्र का रंगमंच आज लाखों की संख्या में तेलुगुभाषी जनता का मनोरंजन करने और उसके जीवन को सुख-पूर्ण बनाने में समर्थ हो गया है। आन्ध्र जन नाट्य संघ ने जिस प्रकार वहाँ के लोक रंगमंच को पुनर्जीवित किया, उसी प्रकार देश के अन्य भागों की नाट्य संस्थाओं और नाट्यकला प्रेमियों को भी करना चाहिये। वहाँ जन जीवन और रंगमंच में जो घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो चुका है, नाट्यकला के लोक रूपों का जिस प्रकार पुनर्संस्कार हो

चुका है, गीति नाट्यों तथा नृत्य नाट्यो की क्षमता का जिस प्रकार प्रमाण मिल चुका है उससे यह विश्वास दृढ होता है कि यदि पूर्ण मनोयोग, समझदारी और दूरदर्शिता से काम लिया जाय तो सारे देश में लोक रगमच का जीर्णोद्धार ही नहीं हो सकता, वरन् सार्वदेशिक स्तर पर रगमच और अभिनय कला का पुनर्निर्माण भी हो सकता है, वह सत्यमेव जनजागृति और सांस्कृतिक अभियान का वाहक बन सकता है।

तमिल नाटक और रगमंच

तमिल साहित्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। कुछ लोगों के मत से यह सस्कृत से भी पुरानी है। ईसा के पाँच सौ वर्ष पहिले से तो इसकी अबाध अटूट शृङ्खला मिलती है। ससार की कुछ सर्व विकसित भाषाओं में तमिल का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके काव्य की परम्परा भी अति प्राचीन है। दृष्य काव्य—नाटक—की परम्परा तो ईसा से पहिले की है ही। परन्तु ये प्राचीन नाटक प्राप्त नहीं है। तमिल ग्रन्थों में मूक अभिनयों और साहित्यिक नाटकों का उल्लेख मिलता है। इन्हें कुट्टु और नाटक कहा जाता है। कुट्टु तथा नाटकम् के के भी उदाहरण प्राप्त नहीं हैं। लोगों का विश्वास है इन नाट्य रूपों का प्रचलन भरत नाट्यम् के पहिले था। धीरे धीरे जब भरत नाट्यम् के अनुसार रंगमचों का निर्माण होने लगा तो इन प्राचीन नाट्य रूपों का ह्रास हो गया। परन्तु मनोरजन के ये दोनों रूप अति प्रचलित थे। इनको पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त थी। भरत नाट्यम् के नृत्यों के साथ 'कालक्षेपम्' भी रहता था। अर्थात् सगीत और अभिनय के साथ ही कथा वर्णन भी रहता था। इस कथा वर्णन की शोभा सगीत और अभिनय के कारण बढ जाती थी। फलतः इसने प्राचीन नाट्य रूपों का स्थान ले लिया।

सातवीं शताब्दी में राजा महेन्द्र वर्मन ने एक उत्कृष्ट नाटक

की रचना की। यह नाटक सामाजिक था। इसमें उस समय की सामाजिक स्थिति की एक झाँकी देखने को मिल जाती है। इस नाटक में मद्यपान और धार्मिक अनुदारिता, असहिष्णुता और कट्टरपन का भण्डाफोड़ किया गया था। यह नाटक राजा महेन्द्र वर्मन की सामाजिक चेतना का परिचायक है। इसके व्यंग्य तीखे और पैने हैं। इस महत्वपूर्ण नाटक का नाम 'भक्त विलास प्रवचनम्' था। इसकी भाषा संस्कृत तथा प्राकृत मिश्रित थी।

तंजौर के राजा राज चोल संगीत, नृत्य और नाट्याभिनय के बड़े प्रेमी थे। इन्होंने ही तंजौर के प्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण कराया था। इस मन्दिर में प्रति वर्ष नाटक अभिनीत होते थे। राज चोल के शासन काल तक यह आयोजन सफलता पूर्वक चलता रहा। परन्तु उसके बाद यह समाप्त हो गया। इस आयोजन में जो अभिनय होता था, उसे ठीक अर्थ में नाटक शायद नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह अभिनय नाटक के अत्यधिक निकट था। इसलिये इसे नाटक की कोटि में ही रखना उचित होगा।

इसी प्रकार नाटकों का एक रूप कमकरों के जलूसों और नृत्यों में मिलता था। इन अभिनयों को लोक नाट्य की परम्परा में ही रखा जा सकता है। ये जलूस सड़कों पर निकाले जाते थे और रास्ते में चलते चलते नृत्यों और अभिनय का कार्यक्रम चलता जाता था। इन नाटकों के विषय पौराणिक कथायें ही हुआ करती थीं। कभी कभी तो बहुत लम्बे लम्बे नाटक खेले जाते थे। 'नलथागल' इसी प्रकार का बहुत लम्बा नाटक था। इन प्रदर्शनों को 'थेरु कुथ' के नाम से पुकारा जाता था। इन अभिनय करने वाले कमकरों में धोबियों की प्रमुखता होती थी। ऐसा शायद इसलिये था कि अभिनय के समय पहिनने के लिये कपड़ों की कमी उन्हें नहीं होती थी। उत्तर प्रदेश में इस प्रकार के लोक नाट्य के रूप अब भी यदा कदा देखने को मिल जाते हैं।

तजौर मे जिस समय मरहटा का शासन चल रहा था उस समय तमिल कला और संस्कृति अपने उत्कर्ष पर थी। विशेष कर मरबोजी महाराज के शासन काल मे 'कुरावन जी' नाट्य शैली का अत्यधिक प्रचार था। इसमे 'कुनराज कुरावन जी' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। राग और लोक सगीत इस नाट्यशली की विशेषता है। यह नाट्यशैली नृत्यशैली के अत्यधिक निकट है। 'कुरावन जी' के पात्र देवता होते थे। कथायें भी पौराणिक ही होती थीं। परन्तु ये देव-पात्र मनुष्यों जैसा ही व्यवहार करते थे। प्रेम, विरह, वियोग, पुनर्मिलन, आदि मानवीय भावनाओं तथा रागात्मक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति और अभिनय की काफी गुंजायश इन लोक नाट्यो मे होती थी। तमिल प्रदेश में इसी प्रकार के लोक नाट्यों ने नाट्य-परम्परा को जीवित रखा।

अग्रेजों क सम्पर्क मे आने के कारण उन्नीसवीं शताब्दी म सारे भारत में नाट्य कला और नाट्य साहित्य का पुनरोज्जीवन हुआ। सन् १८६६ मे पाण्डीचेरी मे 'शारग' नाटक खेला गया। इसका कथानक बहुत कुछ हिन्दी के प्रसिद्ध नाटक 'पूरन भगत' से मिलता जुलता है। इसी समय सारे भारत में 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक विभिन्न भाषाओं में लिखे और खेले गये। ये नाटक मूलत. आचार्य क्षेमीश्वर कृत 'चण्ड कौशिक' के आधार पर लिखे गये थे। 'पूरन भगत' की कथा सदैव लोकप्रिय रही है। गिरीश चन्द्र घोष ने 'पूर्व चन्द्र' नाटक की रचना की थी। इस तरह १८७०-१८८० ई० के बीच इस क्षेत्र में लोकप्रिय रगमच की स्थापना हो गयी। तजौर इसका केन्द्र था। इस समय विभिन्न नाटक-मण्डलियो ने घूम-घूम कर गाँव-गाँव में नाटकों का अभिनय किया। 'हरिश्चन्द्र', 'वल्ली', 'कोवलन' आदि उस समय के अत्यन्त लोकप्रिय नाटक थे। इन नाटकों में गीतों की भरमार रहती थी। अक्सर गीतों का सम्बन्ध मूल कथानक से नहीं रहता था फिर भी उस समय इन गीतों का आकर्षण बहुत अधिक रहता था।

इसके बाद इस प्रदेश के रगमच और नाट्य साहित्य पर

पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। सुन्दम् पिल्लई का 'मेनन मनियाम' अनुकान्त छन्द में था। इसका आधार अंग्रेजी का 'हरमिट' था। इसके बाद शेक्सपिअर के 'सिम्बेलाइन' का आधार लेकर लक्ष्मण पिल्लई ने 'सत्यवत' नाटक की रचना की। इसके बाद वी० जी० सूर्य नारायण शास्त्री ने 'रूपवती और' 'कलावती' नाटकों की रचना की।

वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में तमिल नाड में 'सगुण विलास सभा' की स्थापना हुई। इस सभा की स्थापना से इस क्षेत्र में आधुनिक रंगमञ्च का सूत्रपात हुआ। श्री पी० सम्बन्ध मुदालियर इस सभा के नेता थे। श्री मुदालियर ने रोचक लौकिक कथाओं को बांध कर आधुनिक योरोपीय ढग के नाटकों का निर्माण किया। इन्होंने अपने नाटकों को सर्वथा अभिनेय बनाया और अपने मित्रों के साथ मिलकर रगमञ्च में भी अनेक आवश्यक सुधार किये। इन्होंने इस व्यवसाय को नयी प्रतिष्ठा और मर्यादा प्रदान की और समाज के सामने उसे उच्चस्तरीय कला के रूप में रखा। फलतः अन्य नाटक मण्डलियों ने इनका अनुकरण किया। इनमे सबसे अधिक प्रसिद्ध मद्रास सेक्रेटेरियट एसोशियेशन का 'नाटक कलत्र' है।

मद्रास में १८६८ में म्युजियम थियेट्र का निर्माण हुआ था। उस समय 'कुन्निया एन्ड कम्पनी' ने नाट्याभिनय की एक ऊची परम्परा कायम की थी। इसी परम्परा में नवाब राज मणिक्कम् आते हैं। उनके नाटक मूलतः नौटंकी के ढंग के होते हैं। परन्तु कला का परिष्कार इनमें पर्याप्त है। फलतः वे सुरुचिपूर्ण और लोक प्रिय हैं।

ऐतिहासिक नाटक के रूप में 'शिवकामीयनसम्पथम्' की प्रतिष्ठा अत्यधिक है। प्रतिनिधि नाटक के रूप में इसे राष्ट्रीय नाटक समारोह के अवसर पर खेला गया था। इसके कथानक का सम्बन्ध पल्लवों और चालुक्यों के काल से है। इसमें उस युग की सामाजिक

राजनीतिक स्थिति का चित्रण अत्यन्त कुशलता कुशलता पूर्वक किया गया है।

इस लोगो का ध्यान सामाजिक और समस्या मूल्क नाटकों की ओर दिन पर दिन आकृष्ट होता जा रहा है। 'रत्थपसम्' ऐसा ही लोक प्रिय नाटक है। इस समय टी० के० यस० बन्धु तथा एन० एस कृष्णन् जैसे अभिनेता और कलाकार तमिल रगमञ्च की शोभा और शृङ्गार की अभिवृद्धि कर रहे हैं। इनके हाथों से तमिल रंगमञ्च उन्नति और विकास के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है।

कन्नड़ नाटक और रंगमंच

कन्नड़ काव्य मे और विशेषकर सतपदी मे नाटको के लिए मसाला भरा पड़ा है। कुछ समय पूर्व कन्नड़ के एक आधुनिक लेखक और विद्वान ने १० वीं शताब्दी की रचना 'काव्य' का नाटक रूपान्तर कर उसे अभिनीत किया था। बहुत मामूली परिवर्तन से ही यह पूरी तरह रगमच के लिए बहुत उपयुक्त बन गया।

देश के अन्य भागो की तरह कन्नड़ के ग्रामीण नाटकों मे भी गद्य के साथ-साथ नृत्य और सङ्गीत का भी सुन्दर समावेश रहता है। इन ग्रामीण नाटकों की कथावस्तु प्रायः पुराणो या महाकाव्यों से ली जाती है अथवा स्थानीय वीरों की प्रशस्ति के आधार पर होती है। इसी प्रकार कन्नड़ में लोक रगमच की भी परम्परा चली आ रही है।

परम्परागत रंगमंच

कन्नड़ के परम्परागत रगमच में तड़क-भड़क को स्थान नहीं दिया गया, फिर भी यह बहुत प्रभावोत्पादक होता था। एक समतल ऊँचा चबूतरा ही रगमच होता था। इसमें न पर्दे होते थे और न आने-जाने के लिए अगल-बगल के मार्ग। पात्र सामने से मच पर चढते उतरते थे। देवता और असुर पात्र बड़े रोबदाब से दर्शकों के बीच से

होकर कुछ दूर से चलकर मच तक जाते थे। इन नाटकों की कोई लिखित प्रतिलिपि नहीं होती थी। गांव का कोई भाट या चतुर कलाकार ही इन नाटकों की कथा तैयार करता था। इस प्रकार का सबसे पहला नाटक 'मित्रविंद-गोविंद' मिलता है।

गांव में व्यावसायिक रूप से नाटक खेलने के लिए मडलियां नहीं होती थीं, बल्कि अभिनय और प्रबन्ध इत्यादि सब कुछ गांव वाले ही करते थे। हां, पिछली शताब्दी में व्यावसायिक नाटक मंडलियों का उदय हुआ। १८४८ में सागली में एक कन्नड़ नाटक का आयोजन किया गया और इसी को मराठी के आधुनिक रंगमच का भी आरम्भ कहा जाए तो गलत न होगा।

पिछली शताब्दी से साहित्य में जो व्यापाक उथलपुथल हुई है उसका प्रभाव नाटक पर भी पड़ा। अंग्रेजी शिक्षा के साथ अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव भी शिक्षित समाज पर पड़ा। कई अंग्रेजी नाटकों का कन्नड़ में अनुवाद हुआ 'पर रंग-मंच पर इनको अधिक स्थान नहीं मिल पाया। पर इनसे कन्नड़ नाटकों की शैली पर बहुत प्रभाव पड़ा। लगभग इसी समय मैसूर दरबार ने कालिदास के 'शाकुन्तलम्' और हर्ष के 'रत्नावली' जैसे सस्कृत नाटकों का कन्नड़ मे अनुवाद कराया और कई अनूदित नाटकों को बगलौर में खेला भी गया।

पिछले ३० वर्षों में संस्कृत नाटकों के अलावा पश्चिम के नाटकों का भी अनुवाद और रूपान्तर व्यापक रूप में हुआ है। नयी-नयी समस्याओं और आदर्शों को लेकर भी कन्नड में काफी नाटक लिखे गये हैं। अब नाटकों को आधुनिक समाज का दर्पण माना जाने लगा। पिछले ३० वर्षो मे कन्नड़ मे कई ऐसे उच्च नाटककारों का उदय हुआ जिनकी गणना संसार के श्रेष्ठ नाटककारों मे की जा सकती है।

महत्वपूर्ण प्रयोग

कन्नड़ नाटक का सबसे महत्वपूर्ण प्रयोग संगीत नाटक है।

गोविंद पाई, के० वी० पुटप्पा, वी० के० गोकक और वी० टी० नरसिंहचार आदि नाटककारों ने उच्च कोटि के सङ्गीत नाटक लिखे हैं। इसी प्रकार प्रमुख कन्नड़ कवियों ने भी सङ्गीत नाटकों की रचना की है। फिर भी कन्नड़ में प्रमुख धारा सामाजिक नाटकों की ही है। सामाजिक नाटक पढ़ने में जितने सरल होते हैं, वे अभिनय की दृष्टि से भी उतने ही सरल होते हैं। कन्नड़ के अधिकांश सामाजिक नाटक बड़ी सफलतापूर्वक खेले जा चुके हैं। इन नाटकों में केवल गद्य होता है और इस गद्य बोलचाल की भाषा को स्थान दिया जाता है।

इस प्रकार कन्नड़ के न केवल लोक नाटक बल्कि आधुनिक नाटक भी बहुत उच्च कोटि के हैं। बंगलोर में नया रेडियो केन्द्र खुलने से कन्नड़ क्षेत्रों के लिए प्रसारण की जो सुविधाएँ उपलब्ध होंगी उनसे कन्नड़ नाटकों की रचना को और प्रोत्साहन मिलेगा और कन्नड़ में रेडियो नाटकों के विकास में भी सहायता मिलेगी।

इस अध्याय में हमने दक्षिण भारतीय रंगमंच और दक्षिण भारत की चारों भाषाओं के नाट्य साहित्य की परम्पराओं का अध्ययन बहुत थोड़े में प्रस्तुत किया। साथ ही चारों क्षेत्रों की लोक नाट्य परम्पराओं का भी संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया। इस अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दक्षिण भारतीय रंगमंच का विकास क्रम अबाध गति से चलता जा रहा है। उसे देश के नव निर्माण की चतुर्दिक होने वाली कोशिशों से शक्ति और प्रेरणा भी प्राप्त हो रही है। दक्षिण भारतीय रंगमंच का भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल है।

चौदहवाँ अध्याय

उड़िया नाटक और रंगमंच

सामाजिक तथा सामाजिक राजनीतिक कथानकों पर आधारित नवीन नटकों का नियमित अभिनय चार व्यावसायिक उड़िया रगमचों द्वारा आरम्भ किया गया। उड़िया थियेटरों के आधुनिक विकास का श्रेय बहुत कुछ इन चार रगमच सस्थाओं को दिया जा सकता है। अभिनय कला आधुनिक है और बहुत कुछ अशों में दोष मुक्त है। कौतूहल तथा मनोरजन की समाग्री दर्शकों के लिए प्रस्तुत कर देना इन थियेटरों की अपनी निजी विशेपता कही जा सकती है। अभिनय केवल ढाई अथवा तीन घटे तक चलता था। इसमें से दो-अभिनय सस्थाये तो कटक मे थीं और शेष दो में से एक पुरी में थी और दूसरी बरहमपुर में।

इन थियेटरों का लोकप्रिय बनाने के लिये आवश्यकता इस बात की है कि इनके अभिनय शालाओं में आधुनिक ढग का प्रबन्ध तथा नाटकों के विभिन्न दृश्यों में वर्णित कला तथा वातावरण के अनकूल दृश्यावलियों की व्यवस्था की जाय। चाहे जो भी कमी इन थियेटरों में हो पर इतना तो मानना ही पडेगा कि उनके दर्शकों की सख्या में नित्य प्रति वृद्धि होती जा रही है। इसका एक मात्र कारण यह है कि उड़िया चलचित्रों का अभी पर्यात अभाव है। यद्यपि उड़ीसा के विभिन्न नगरों में सिनेमाघर हैं किन्तु उड़िया चलचित्रों के अभाव के कारण ये सिनेमाघर जन सामान्य के विशेप आकर्पण नहीं बन सके।

उड़िया नाटकों की विकास परम्परा पन्द्रहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होती है। उड़ीसा के राजा कपिलेन्द्र देव द्वारा एक एकांकी

नाटक लिखे जाने का उल्लेख मिलता है। इस नाटक का नियम 'परशुराम विजय' था। राजा कपिलेन्द्र देव के पौत्र राजा प्रतापेन्द्र देव प्रतिभाशाली लेखक थे। उड़िया नाट्य परम्परा में इसका विशिष्ट स्थान है। इनके एकाकी नाटक 'अभिनय वेणी सहारम्' ने उड़िया नाट्यकला को अत्यधिक गति दी।

दक्षिणी उड़ीसा के गर्वनर राय रामानन्द चैतन्य महाप्रभु के परम शिष्य थे। श्रीराय ने कई अकों में एक नाटक लिखा जिसका नाम 'जगन्नाथ वल्लभ' था। मन्दिर की नर्तकियां अथवा देव दासियों ने इसमें अभिनेत्रियों का कार्य किया। संस्कृत मे चौबीस से कम एकाकी नाटक नहीं लिखे गए। इन नाटकों में प्रस्तावना के रूप में उड़िया गीतों का समावेश हुआ है। इसके अभिनय निस्सदेह विशेष आकर्षण युक्त सिद्ध हुए। रामायण, महाभारत तथा अन्य पौराणिक ग्रथों के आधार पर इन नाटकों का कथानक तैयार किया गया। कोणार्क, भुवनेश्वर तथा पुरी के मन्दिरो के गोपुरम् में चित्रित नर्तकियो, सगीतज्ञों तथा अभिनेताओं और अभिनेत्रियों की विशेष मुद्राओं को देखकर उड़िया नृत्य, नाट्य तथा सगीत की विशेष शैलियों का स्पष्ट आभास मिल जाता है। आज से ६०० वर्ष पूर्व यही इस भूमि के गौरव समझे जाते थे।

.सस्कृत नाटकों का स्थान धीरे-धीरे उड़िया लोक नाट्य ने लेना आरम्भ किया। रामलीला, रासलीला, जाया तथा दंडनट इस नाट्य परम्परा के आरम्भिक रूप माने जाते हैं।

इन आरम्भिक लोक नाटकों में शिव पार्वती के नृत्य को विशिष्ट स्थान दिया गया। सरायकेला के छाऊ नृत्य ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर ली है। यह भी उल्लेख मिलता है कि यह दडनट पर आधारित है। हाँ, इतना अवश्य है कि इसका आधुनिक रूप अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत है। छाऊ शब्द छवि से उद्घृत किया गया है। कुछ विद्वानों की यह भी धारणा है कि यह 'छौनी' शब्द

से लिया गया है। छौनी शब्द का अर्थ शिविर (छावनी) होता है। सम्भव है इस मत में कुछ सार्थकता हो क्योंकि मौलिक रूप में यह युद्ध नृत्य था। दंडनट और छाऊ दोनों चैत्र संक्रान्ति पर दुर्गा तथा शिव की उपासना तथा व्रत के पर्व पर प्रदर्शित किए जाते हैं।

उड़ीसा के लोक गीतों को 'पाल' कहा जाता है। भगवान सत्य पीड की जीवनगाथाओं से सम्बन्धित ये लोक गीत हिन्दू और मुस्लिम दोनों की सांस्कृति के एकता के प्रतीक माने जाते हैं। चार अथवा पांच व्यक्ति एक साथ इन पाल गीतों को गाते हैं। इन पाल गीतो के भीतर प्राचीन उड़िया साहित्य का भी गम्भीर समावेश मिलता है।

एक और लोक नाटक का उल्लेख मिलता है। इसका नाम रगसभा है। इसका कथानक योगिराज कृष्ण के जीवन की एक विशिष्ट घटना है। शक्तिशाली अत्याचारी मथुरा नरेश कंस को भय था उसकी बहन देवकी की आठवी संतान उसके लिए प्राण घातक होगी। अपनी जीवन रक्षा के लिए इस आसुर वृत्तियों के शासक ने अत्याचार, दमन तथा नृशसता का सहारा लिया। उसने निर्ममता के साथ देवकी की सात सतानों को मौत के घाट उतरवा दिया। आठवीं संतान स्वयं जगत नियन्ता भगवान थे जो कृष्ण के रूप में अत्याचारियों से पृथ्वी को मुक्त करने के लिए अवतरित हुए थे। कंस ने कृष्ण के मारने की अनेक योजनायें रचीं पर सभी निष्फल सिद्ध हुई। उसने एक रंगशाला का निर्माण करवाया और छल से उसमें कृष्ण को भी बुलाया। किन्तु उसकी योजना सफल न हुई और उसे ही अपने जीवन का अन्त देखना पड़ा। इस नाटक में हाथियों तथा घोड़ों और राक्षसों की भयानक आकृतियों को बनावटी चेहरों द्वारा प्रदर्शित किया गया था। निसदेह इन आकृतियों की सजावट से भयानकता तथा अन्धविश्वास पूर्ण वातावरण की सृष्टि की गई है।

'पाल' का संक्षिप्त रूप दशकथा है। करताल बजाते हुए दो गायक इसे प्रदर्शित करते हैं। ये केवल करताल ही नहीं बजाते अपितु मधुर-ध्वनि मे गाते भी हैं। विभिन्न अवसरों पर आयोजित राष्ट्रीय समारोहों मे उड़िया नृत्य तथा गीत विशेष आकर्षण के केन्द्र बन जाते हैं। इनकी विशिष्ट शैली ही इनकी इतनी लोकप्रियता का प्रमुख कारण बनी हुई है। गत शताब्दी के अन्तिम चरण मे इन नाटको के कथानक गद्य मे लिखे जाने लगे। आरम्भिक उड़िया लोक नाटकों मे जागू ओझा और गोपाल दास का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। वर्तमान शताब्दी मे उड़िया लोक नाटक के प्रसिद्ध लेखक वैष्णवपाणि हं। इनके नाटकों मे यथार्थ अंकन होता है। सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन मे विदेशी शिक्षा तथा सभ्यता का प्रभाव, ग्रामीण तथा नगर जीवन का दुखद तुलनात्मक विवेचन तथा कलकत्ता की जूट मिल मे उड़ीसा के बेरोजगार मजदूरो का नौकर होने के लिए परेशानी उठाने का मार्मिक चित्रण इनके नाटकों का प्राणतत्व बन गया है। इन मजदूरो की गरीबी, परेशानी तथा बेरोजगारी का जो मार्मिक चित्रण किया गया है निस्सदेह वह लेखक की गहरी सहानुभूति तथा सहृदयता का प्रमाण है। लेखक अपने मन में जनता के लिये सच्चा दर्द छिपाये हुए है।

कटक के समीप कोठपाड़ा मठ जिले में १८८५ में प्रथम उड़िया थियेटर की स्थापना हुई। वैष्णवपाणि के नाटकों का पहले इसी थियेटर में अभिनय हुआ। इसके बाद यह सर्व साधारण के आकर्षण की वस्तु बन गए। श्रीकृष्ण प्रसाद वसु उड़िया लोक नाटकों के एक दूसरे सर्वमान्य लेखक हैं। आज भी श्री वसु 'पाल' लिख रहे हैं। इनके नाटक भी लोकप्रिय हैं। स्वर्गीय लक्ष्मीकान्त महापात्र की 'रासलीला' तथा लोक नाटकों ने भी एक बार उड़ीसा की जनता को आकर्षित किया था। उड़िया नाट्य परम्परा अनेक उत्थानों को पार करती हुई आज जिस रूप में पहुँची है उसमें एक विशेषता पाई

जाती है। आरम्भ में इनका कथानक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि लेकर चलता है। रामशंकर राय का 'कांची कावेरी' उड़िया ऐतिहासिक नाटकों का प्रथम प्रयास माना जाता है।

श्री रामशकर राय आधुनिक उड़िया नाटकों के जनक माने जाते हैं। आपने १४ नाटक लिखे हैं। इनमें दो प्रहसन तथा दो गीत नाटक भी शामिल हैं। इन नाटकों में गम्भीर मनोभावों को व्यक्त करने के लिए मुक्त छन्दों का प्रयोग किया गया है। १८०२ में पटला केमडी में दूसरा थियेटर स्थापित हुआ। इस थियेटर की स्थापना पद्मनाभि नारायणदेव ने 'वाणदर्प दलन' नाटक के अभिनय के लिए की थी।

इस नाटक का कथानक पौराणिक है। इसमे असुर राज वाण की कन्या उषा का किस प्रकार भगवान कृष्ण के पुत्र अनिरुद्ध के साथ विवाह हुआ, इसका सम्यक विवेचन आकर्षक शैली में किया गया है।

कवि भूषण घनश्याम मिश्र ने नाट्य परम्परा को एक नई गति दी। आपने पुरानी नाटक शैली को छोड़कर नई शैली अपनाई। आपने सामाजिक नाटक 'कचन माला' लिखा। इस नाटक में एक ब्राह्मण कन्या की दुखद जीवन गाथा कथानक के रूप में वर्णित की गई है। बाल्यकाल में ही इस ब्राह्मण कन्या ने संस्कृत का अध्ययन कर लिया था। सात वर्ष की अल्प आयु में ही इसका विवाह कर दिया गया। दुर्भाग्य ने इस कन्या का पिंड न छोड़ा और विवाह के तीन वर्ष बाद ही उसका सौभाग्य सिंदूर धुल गया। उस अभागिनी विधवा ब्राह्मण कन्या की कहानी नाटककार आँसू और सहानुभूति की गहराई के साथ लिखा है। इसमें विधवा जीवन का जो मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है निस्संदेह वह अद्वितीय है।

पंडित गोदावरीश मिश्र तथा नाट्य सम्राट अश्विनी कुमार भी आधुनिक नाटककारों मे अपना प्रतिष्ठित स्थान रखते हैं। गोदावरीश

के नाटकों का कथानक ऐतिहासिक होता है। अभिनय में इनके नाटको को बहुत कम सफलता मिली है। अश्विनीकुमार बहुत ही लोकप्रिय नाटककार हैं। आपका सम्बन्ध 'बालग थियेटर' नाट्य सस्था से है। इस सस्था की स्थापना बालग गाँव के वनावलीपति ने की थी। अश्विनी कुमार का कोणार्क सभी दृष्टिकोण से सफल नाटक कहा जा सकता है। इस नाटक में अपने जीवन को खतरे में डालकर पैगोडा के निर्माण करने वाले साहसी शिल्पकार बालक का मार्मिक चित्रण किया गया है।

उड़िया नाटको के विकास के साथ रासलीला भी विकसित हुई और युग के साथ प्रगति की ओर कदम बढाती गई। १६१७ में गोविन्द चन्द्र सूरजदेव की रासलीला सस्था सगठित हुई। स्वर्गीय मोहन सुन्दर गोस्वामी ने भी इसका अनुसरण किया। इसमें उड़िया वैष्णव कवियों के गीतों को विशेष स्थान दिया गया। इन सस्थाओं की नाट्यशालाओं की यह अपनी निजी विशेषता रही। मोहन सुन्दर ने प्रथम उड़िया फिल्म 'सीता विवाह' का निर्माण किया। कविचन्द्र कालीचरण पटनायक ने भी आपकी परम्परा का अनुसरण किया। राधा और कृष्ण की रासलीला को अभिनय रूप देने वाले प्रथम व्यक्ति आप ही थे। 'रासलीला' और 'यात्रा' में अतर है। रासलीला नियमित रगमच पर अनुरूप दृश्य व्यवस्था के साथ अभिनीत किया जाता था।

बाद में जब श्री कालीचरण की लेखन कला और अधिक प्रौढ हो गई और इनमें कुछ नवीन नाट्य तत्वों की ओर झुकाव की प्रवृत्ति उदय हुई तो यह सवश्रेष्ठ उड़िया थियेटर सगठन कर्त्ता तथा नाटककार माने जाने लगे। नाट्य कला में प्रवीण होने के साथ यह एक उच्चकोटि के सगीतज्ञ तथा कलाकार के साथ ही अपने नाटकों के दिग्दर्शक भी थे। रगमच प्रबन्ध का कार्य भार आप स्वय सम्भालते थे। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद उड़िया नाटकों की जो

परम्परा विकसित हुई उसमें काली चरण थियेटर अपना एक महत्व शाली स्थान रखता है। इसे नाट्यकला मन्दिर कहा जाता है। वर्तमान शताब्दी के उड़िया रंगमच पर महिला कलाकारों को प्रस्तुत करने का श्रेय इनको ही है। इन्होंने अपने नाटकों में सम सामयिक समाचारों की विवेचना सहानुभूति और मार्मिकता के साथ की है। अस्पृश्यता, भुखमरी, वेरोजगारी तथा शोषण का चित्रण तो यथार्थता में कोई इनसे समानता नहीं रखता। 'भाव', 'रक्तमती' तथा 'वेकार' नाटक ऐसी ही समस्याओं की स्पष्ट निरूपण करते हैं।

काली चरण के बाद अनेक विद्वान नाटककार हुए। इस परम्परा में श्री गोपाल छात्रेय सामाजिक राजनीतिक कथानक प्रधान नाटकों के लिखने में अधिक सफल सिद्ध हुए। आपके 'जहर' में एक क्रान्तिकारी विचारक तथा लेखक का चित्रण है। 'फेरिया' आपकी अन्य सफल कृति है। इसमें यह प्रदर्शित किया गया है कि नव निर्माण के कार्यों को सफल बनाने के लिए आवश्यक है कि हम अपना ध्यान गावों की ओर अधिक केन्द्रित करें और ग्राम्य समस्याओ का हल खोजने की कोशिश करें। ग्राम्य समस्याओं की ओर अधिक ध्यान देने वालों में श्री गोपाल छात्रेय तथा श्री रामचन्द्र मिश्र का नाम अग्रगण्य है। अभिनय कला का पर्याप्त ज्ञान, चरित्रों का कलात्माक ढग से मार्मिक चित्रण तथा सामाजिक हास्य व्यंजना इन नाटककारो की लोकप्रियता के मौलिक तत्व हैं। रामचंद्र मिश्र की ख्याति उनके सफल नाटक 'घर संसार' से हुई। परिवारिक सघर्षों के साथ इसका कथानक आरम्भ होता है। व्यक्तिगत स्वार्थों के त्याग के साथ नाटक का सुखपूर्ण अन्त होता है। चरित्रों में हृदय परिवर्तन इस नाटक की अपनी निजी विशेषता है। 'शाही पदिशा' और 'भाई भोजा' का साहित्य जगत में विशेप समादर हुआ। आधुनिक जीवन की यथार्थता को लेकर इन नाटकों का कथानक निर्मित किया गया है। कृषकों के जीवन का यथार्थ चित्रण और ग्रामीण समस्याओं का स्पष्ट निरूपण

इन नाटकों के आकर्षण के आधार बनाए गए हैं। श्रेष्ठ तथा सामयिक समस्या प्रधान नाटकों की रचना के लिए दर्शक बहुत कुछ जिम्मेदार हैं। दर्शकों की रुचि के अनुसार नाटकों का विकास होता है। निम्नकोटि का मजाक, नृत्य तथा गीत इन नाटकों में नहीं पाये जाते।

शीघ्रता के साथ बदलने वाली सामयिक घटनाओं का क्रमबद्ध विवरण उड़िया रंगमंच के विकास की कहानी में सन्निहित है। स्वाधीनता संग्राम जिन घटनाओं को अपने आंचल में समेटे हैं उनके विवेचन से भी नाटक अछूता नहीं है। साम्प्रदायिक संघर्ष, विस्थापितों की समस्या, चोरबजार, मुनाफाखोरी तथा अकाल की स्थिति का भी मार्मिक चित्रण किया गया है। वर्तमान उड़िया नाटकों में निस्संदेह सामान्य जनजीवन को प्रभावित करने वाले तत्वों का समावेश है।

यही इन नाटकों की विशेषता है। रगमंच की लोकप्रियता इस बात पर निर्भर करती है कि उस पर होने वाले नाटकों का सीधा सम्बन्ध जन-जीवन से, उसकी कठिनाइयों और संघर्षों से हो। जिन नाटकों में यह बात नहीं होती वे कला की दृष्टि से ऊंचे होते हुये भी जन-मन को आन्दोलित नहीं कर पाते। वे जन जागृति के साधन और वाहक नहीं बन पाते। उड़िया के नाटककार इस तथ्य को भलीभाँति जानते हैं।

——

पंद्रहवाँ अध्याय

पंजाबी नाटक और रंगमंच

पंजाब की शस्य श्यामला भूमि भारत की धरती का सिंगार है। पञ्च नदों से सिंच कर हरी हरी धरती पञ्चनद निवासियों में एक उल्लास तथा स्फूर्ति की सृष्टि करती रही है। पजाब की धरती का लाड़ला गाता रहा है, 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'। वह धरती माता की वन्दना ही नहीं करता, वह कहता है "उपसर्प मातरं भूमि"—'मातृभूमि की सेवा कर'। हज़ार हज़ार वर्षों के पुराने ये सस्कार पंजाब की जनता के रग-रग में रस गये हैं। उसका श्रम में विश्वास है, श्रम के सुखोपभाग में आस्था है। उसने पजाब की उर्वर भूमि से जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति पायी और पायी निश्चिन्तता जिससे लोक जीवन में उल्लास और आनन्द की धारा प्रवाहित होती रही। पंजाबी लोककवि के कण्ठ में सुललित गीत गूँजते रहे। उसकी वाणी में जीवन के चित्र उभरते रहे। उसके कण्ठ से निकले गीतों ने अनेक कथाओं को संजोया और उसके उल्लास अनेक नृत्यों में एकत्र हो गए।

पजाब की शस्य श्यामला भूमि अपनी समृद्धि तथा शान्ति कभी भी लम्बे काल तक सुरक्षित न रख सकी। इतिहास की उषा से ही पंजाब आक्रान्ताओं का लक्ष्यबिन्दु बना रहा। आर्यों से लेकर मुगलों तक सभी जातियों ने पजाब की भूमि पर निधड़क प्रवेश किया। यद्यपि एक लम्बे काल तक तक्षशिला जैसे केन्द्रों में पंजाब ही देश की संस्कृति का केन्द्र भी था, किन्तु मुसलमान आक्रान्ताओं के प्रवेश के साथ ही एक भीषण उथल-पुथल पजाब में मची। इसी अव्यवस्था के प्रतिक्रिया स्वरूप गुरुनानक एवं गुरुगोविन्द सिंह प्रभृति धर्मोपदेष्टाओं का आविर्भाव मध्ययुग में ही पंजाब में हुआ।

इनके उदय के साथ ही पजाबी कविता का उदय भी हो गया। सिखों का धर्मग्रन्थ गुरुग्रन्थ साहिब पजाबी काव्य की आदि पुस्तकों में है। इसकी रचना के बाद भी कविता की सर्जना का स्रोत विच्छिन्न न हुआ। लोक कण्ठ में बाबर के समकालीन हीर-राँझा के गीत तथा सोनी-महींवाल की रोचक कथाएँ पलती रहीं, विकसित होती रहीं। बाद में कविवर 'वारिसशाह' ने भी हीर-राँझा की कथा को अपनी रसमयी लेखनी से अर्चित किया। स्वय गुरुगोविन्द सिंह ने हीर राँझा पर अपनी श्रद्धा प्रकट की। इसी प्रकार पजाब मे कविता की मधुर धारा तो प्रवाहित होती रही किन्तु नाटक-साहित्य का आरभ इतना पुराना नहीं है।

यद्यपि भारतीय साहित्य की परंपरा में नाटक प्राचीन एव समुन्नत रूप में प्रतिष्ठित है। कालिदास, भवभूति जैसे नाटककार तथा भरत से लेकर धनजय तक नाटकशास्त्र के गहन विचारक हुए। किन्तु अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के समान ही पजाब में भी रूपक साहित्य का वह शृङ्खलाबद्ध रूप स्थिर न रह सका। सच तो यह है कि नाटकों का सर्जन, प्रायः उस काल में हुआ, जब गुप्तकाल जैसी सर्वतोमुखी उन्नति और समृद्धि रही। मध्ययुग के विशृङ्खल वातावरण में नाटक का वह व्यवस्थित रूप असभव नहीं, कठिन अवश्य था। इसीलिए पजाब की समृद्धि पूर्ण भूमि में भी नाटकों का यथोचित विकास न हुआ और उसकी प्राचीन परम्परा आरम्भ से ही अवरुद्ध थी। पजाब में प्रसरित सिख-धर्म से भी रङ्गमञ्च को कोई प्रोत्साहन प्रत्यक्षतः न प्राप्त हो सका। फलतः रङ्गमञ्च की प्राचीन परम्परा का अभाव हम पजाब में पाते हैं।

किन्तु हमने पहले ही कह दिया है कि पजाब में किसानों का उल्लास भी रहा है। पजाब का किसान जिन्दगी के रस भी लेना जानता रहा है। वह अवसर-अवसर पर अपने उद्गार नृत्य और उत्सव के रूप में प्रगट करता रहा है। पजाब की धरती में फले-फूले

लोक-नृत्य इसके प्रमाण हैं। पजाब के रङ्गमञ्च का प्राचीन रूप इन्हीं लोक नृत्यों में छिपा है। इन लोकनृत्यों का बाद के पजाबी रङ्गमञ्च पर भी प्रभाव पड़ा। पजाब में बहुत पहले ही एक लम्बा कथा गीत प्रचलित था। इसे साँग अथवा स्वाँग कहते थे। यह आज के जीवित लोकगीत साँगी का प्रिय सखा था। किसी समय इसने जीवित नाट्य रूप धारण कर रक्खा था। जीवन रस की कमी ने इसकी पहली शान बरकरार न रहने दी। गीत नाट्य में यदि जीवन सत्य की प्रतिष्ठा न की जाय तो वह जीने नहीं पाता। जब लोक जीवन में माता भू की सी अटूट सादगी थी और गेहूँ की रोटी सी पुष्टि थी, साँगी सब कुछ को अपने में समेट लेता था। लोक-जीवन की सीमा में साँगी की दुनिया रमी थी। किन्तु साथ ही परदेश की कल्पनाओं तथा देवताओं की स्तुतियों की कहानी भी साँगी के ताने बाने से बुनी रहती थी। इतना ही नहीं, हमारे देश की प्राचीन नृत्य परम्परा ताण्डव और लास्य ने भी इसे अपना स्पर्श प्रदान किया था। साँग अपने प्राचीन रूप और समकालीन रूप के अद्भुत संयोग के साथ पजाब की जनता के उल्लास का प्रतीक था। लोक-जीवन ताण्डव और लास्य से सम्पर्क रखता हुआ, अपनी परम्परा तथा स्वयं की वस्तु को छिपाए था।

ब्रिटिश शासन एव सम्पर्क के साथ ही भारतीय जीवन के विभिन्न पक्षों पर पश्चिमी-प्रभाव धीरे-धीरे पड़ने लगा। भारत के विभिन्न भागों में अंग्रेजों के प्रसार के साथ उनका असर भी पड़ने लगा था, किन्तु पश्चिमी प्रान्तों की ओर अग्रसर होते-होते पजाब पर अंग्रेजों का प्रभाव सब से अन्त में पड़ा। अंग्रेजों के सम्पर्क के ही कारण भारतीय जनता में पश्चिमी साहित्य के प्रति आकर्षण और उसके अध्ययन की प्रवृत्ति जागरूक हो गयी थी। अंग्रेजों के सम्पर्क में सबसे बाद में आने के कारण पश्चिमी प्रभाव से भी यह भूमि पूरा लाभ न उठा सकी। फलतः जब महाराष्ट्र और बंगाल की भूमि

में पश्चिमी विचारधाराओं एव काव्य रूपों से प्रभावित नाटक-साहित्य का सृजन हो रहा था, जब वहाँ व्यावसायिक दृष्टिकोण से सगठित संस्थाएँ स्थानीय नाटककारों मे उत्साह का सञ्चार कर रही थीं, पजाब एक व्यवस्थित और पश्चिमी ढग से प्रभावित नाटकों से प्राय: वञ्चित ही था। बगाल और महाराष्ट्र एक तरफ अपने रगमञ्च और कला का विकास कर रहे थे, लेकिन दूसरी ओर अभी पजाब उस नवीन रगमच से लाभ उठाकर अपने जीवन को अभिव्यक्त करने का अवसर नहीं पा रहा था। ऐसा क्यों था? इसका अध्ययन और विश्लेषण होना चाहिए।

उन्नीसवीं सदी के अन्त तथा बीसवीं सदी के आरम्भ में धनो पारसियों की कुछ घुमक्कड़ कम्पनियाँ व्यावसायिक दृष्टिकोण से भारत का परिभ्रमण करती थीं। इनका प्रसार पजाब के प्रदेश तक भी हुआ। अनेक रगमञ्चों का उदय इसी काल मे ही नगरों और कस्बों में हुआ। ये रगमञ्च इन घुमक्कड़ कम्पनियों के सम्पर्क में आए। इन रगमञ्चों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए चमकदार उर्दू अथवा अनगढ हिन्दी में नाटक लिखे गए। ये नाटक या तो मध्ययुग की रोमांचकारी घटनाओं से या धार्मिक अथवा पौराणिक कथावस्तुओं से या हृदय को करुणा विगलित करने वाली प्रणय-गाथाओं से सबद्ध होते थे। धार्मिक नाटक बड़ी सख्या में लोकानुरञ्जन करते थे। इन व्यावसायिक कम्पनियों मे कम से कम पजाबी रगमञ्चों के एक प्रारम्भिक स्वरूप के स्थिरीकरण में बहुत बड़ा योगदान मिला। हिन्दी रगमच की ही भाँति पंजाबी रगमच भी इन्हीं कारणों से इन कम्पनियों का ऋणी है।

परन्तु नाटक का साक्षात् सम्पर्क तो लोक जीवन के रुपहले पक्षों से ही है। नाटक लोक जीवन की भावनाओं को, धरती की भाषा को और जन-मन की इच्छाओं को रूप प्रदान करते हैं। धार्मिक अथवा रोमाचकारी नाटक लोक जीवन की इन आवश्यकताओं की पूर्ति

नहीं कर पाते थे। प्रोफेसर आई० सी० नन्दा ने सर्व प्रथम पंजाबी रंग-मञ्च को जीवन प्रदान किया। ये प्रथम आधुनिक नाटककार थे। जिन्होंने नाटकों को धार्मिक आख्यानों के बन्धन से मुक्त किया। अब नाटक को पजाबी साहित्य में एक स्वतन्त्र रूप प्राप्त हुआ। उनके नाटक 'सुभद्रा' और 'लिली दा विआह' पंजाब के अनेक कालेजों और संगठनों पर उसी समय या बाद में अभिनीत हुए। करीब करीब समूचे पजाब के कालेजों ने उनके नाटकों का हृदय खोल कर स्वागत किया। प्रोफेसर नन्दा ने अपनी रचनाओं में समाज सुधार की समस्याओं को स्थान दिया। उन्होंने समाज की विभिन्न समस्याओं को लिया और उनका समाधान एक समर्थ साहित्यकार के उचित दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया। उनके नाटकों ने विधवाओं के पुनर्विवाह की वकालत की, उन पश्चिम पूजकों की चुटकीली, जिन्हों-ने अपनी स्वस्थ्य परम्पराओं को भी त्याग कर पाश्चात्य सभ्यता के भड़कीले मयूरपख से अपने को सजाना ही उचित समझा। उन्होंने मध्यवित्त जनता की कठिनाइयों को भली प्रकार समझा और उनकी दुरवस्था का पर्दाफाश किया। दहेज प्रथा और जाति प्रथा के भयङ्कर दुष्परिणामों की ओर भी नन्दा का ध्यान आकृष्ट हुआ। श्री नन्दा ने अपनी रचनाओं से पजाब में नाटक के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया।

प्रोफेसर नन्दा चुस्त कथोपकथन में अपना सानी नहीं रखते। उनके कथोपकथनों में प्राण है, जिसने तत्कालीन समाज को अपनी ओर आकृष्ट होने को बाध्य किया। किंतु उनके नाटक नाटकीय तारतम्य से वञ्चित हैं। उनकी गठन ढीली है। अक्सर मुहावरों का मोह उन्हें आकृष्ट कर लेता है। चुटीले कथन के लिये नाटकीयता की बलि भी अक्सर हो जाती है। बहुधा उनके सृष्ट चरित्र केवल एक निस्पन्द सीमा में ही बँधे रह जाते हैं। वे ऐसे चरित्र को सृष्टि नहीं करते जो आगे देख सकें, पीछे समझ सकें,

निरन्तर विकासोन्मुख रहें। वहाँ हम चरित्र के उभार को, पात्र के सतत जागरूक मस्तिष्क और उसकी चेतना को नहीं देख पाते! प्रोफेसर नन्दा के नाटकों का विषय विस्तृत समाज सुधार है और वे नाटक लम्बे-चौड़े कथोपकथनों तथा पुनरावृत्त दृश्यों से भरे होते हैं।

जोश्वा फजल दीन भी क्रान्तिकारी सुधारों की भावना से ओत-प्रोत हैं। उनके नाटकों में समाज सुधार के वे तत्व निहित हैं, जिनसे इस काल में नव-जागृति का सन्देश मिला। उन्होंने शराबखोरी और साहूकारी जैसे दोषों पर आघात किया। 'पिन्द दे वेरी' में ऐसी ही घटनाओं का समावेश है। वे पजाब के किसानों के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट करते हैं। किंतु किसानों की इन दुरवस्थाओं के कारणों की तह में वे नहीं पैठते। उनकी खोज अधिक गहरी नहीं है। दूसरे शब्दों में वे पजाबी किसान के जीवन स्वरूप को, उसकी आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक अवस्थाओं का प्रत्यङ्कन नहीं कर पाते। समाज के अङ्कन में सामाजिक व्यवस्था के स्पष्ट चित्रण का अभाव है। परन्तु उनके कथोपकथन अत्यन्त मार्मिक हैं और वे पजाब के किसानों का स्वाभाविक अनगढ़पन और ओज प्रकट करते हैं।

रफी पीर उपर्युक्त नाटककारों की अपेक्षा नाटक शैली में अधिक सिद्धहस्त हैं। वे नाटकीय कथोपकथन, गठन और सन्तुलन में अधिक सफल हैं। उनके नाटक 'अँखियाँ' और 'बैरी' इस शैली के सुन्दर उदाहरण हैं। रफी पीर के नाटकों में पाश्चात्य नाटक शैली के प्रभाव की मात्रा अधिक है। वे पाश्चात्य शैली से प्रभावित ही नहीं, उसमें कुशल हैं। नाटककार होने के अतिरिक्त वे स्वयं कुशल अभिनेता और सफल निर्देशक हैं। किन्तु इन समस्त गुणों के उचित प्रदर्शन में सर्वाधिक आवश्यक तत्व अभिनय को उन्होंने उतना महत्व नहीं दिया है। उन्होंने नाटकों में तीव्रता तथा उपयुक्त कथोपकथन

आदि गुणों का आधान तो किया है। किन्तु रङ्गमञ्च की सर्वतोमुखी आवश्यकताओं की ओर उन्होंने अपेक्षित ध्यान नहीं दिया।

रफी पीर तक की पजाबी रङ्गमञ्च की कथा उसका स्वस्थ रूप स्थिर करने के प्रयत्नो की कथा है। २० वीं शती के प्रारभ से अब तक विभिन्न अवस्थाओं को पार कर पजाबी रंगमञ्च पश्चिम से प्रेरणा ग्रहण कर एक व्यवस्थित रूप धारण करता आया है। नवीन युग की समस्याओं के साथ ही पजाबी रगमञ्च पर भी उन समस्याओं का सीधा प्रभाव पड़ा है।

सन् १६३६ के अनन्तर पजाबी रङ्गमञ्च एक नवीन युग में प्रवेश करता है। अब पुरानी शैलियों से विभिन्न रीति से आगे बढता एक नवयुवक नाटककारों का दल दिखाई पड़ता है। इस काफिले में सन्तसिंह, हरचरन सिंह, कर्तारसिंह दुग्गल, बलवन्त गार्गी आदि उल्लेखनीय हैं।

सन्तसिंह ने अनेक नाटको की रचना की है। इन्होंने लगभग बारह एकाङ्की तथा दो पूरे नाटकों की रचना की। 'भाबी' और 'महात्मा' उनके उत्तम नाटको में हैं। ये नाटक भाषा और गहन कथोपकथन की दृष्टि से उत्तम हैं। किन्तु उनके अन्य नाटक उच्चकोटि के नहीं हैं। वे भाषा की दृष्टि से निर्बल तथा गठन की दृष्टि से शिथिल हैं। किन्तु पजाबी रगमञ्च को उनकी देन ठोस है। पूर्ण नाटकों तथा एकाङ्की नाटकों की रचना करके उन्होंने पंजाबी साहित्य को समृद्ध किया है।

हरचरनसिंह ने भारी संख्या में नाटकों की रचना की है। उन्होंने लगभग आधे दर्जन लम्बे नाटक तथा बीस से अधिक एकाङ्कियों की रचना की है। उनके कुछ नाटकों में वाटर-कलर चित्रों के गुण विद्यमान हैं। उन्होंने संक्षिप्त और आख्यानात्मक चित्रों में जीवन संजोया है। हल्की फुल्की कथावस्तु ने नाटकों की सृष्टि होती है। किन्तु 'तैलचित्रों' की गंभीरता और तीव्रता का अभाव उनकी

रचनाओं में विद्यमान है। उनके लम्बे नाटक निर्बल हैं। उनमें विचार के विकास और क्रम तथा नाटकीय तनाव का अभाव है। उनमें नाटकीय तत्वों की कमी है। सचमुच उन्हें लम्बी कहानियाँ ही कहा जा सकता है। किन्तु इन कहानियो को इस तरह सजोया गया है कि वे पर्दे पर लाकर अभिनीत की जा सकती हैं।

उन कथाओं को अभिनेय बना देने का उनका प्रयास सफल है, उनके एकाङ्कियों में किसानों के जीवन की झाकी है। रगमञ्च की आवश्यकताओं का ध्यान उनकी कला को परिपक्व कर देता है। उनकी रचनाएँ पंजाबी रङ्गमञ्च के विकास की महत्वपूर्ण कड़ी हैं।

कर्तारसिंह दुग्गल ने नाटकों की रचना रेडियो के लिए की तथा इन नाटकों को रङ्गमञ्च पर अभिनीत करने के लिए उनमें परिष्कार किया। किन्तु इन प्रयत्नों के बावजूद उनके नाटकों में सुस्पष्टता के उन तत्वों का अभाव है, जो उन्हें रगमञ्च के योग्य बना सकें। चरित्रों के निर्माण में वह सजीव और तीव्र सस्पर्श, जो हम उनकी कहानियों में पाते हैं, नाटकों में उस रूप में, उस यथेष्ट मात्रा में नहीं है। रङ्गमञ्च को उनकी एक महत्वपूर्ण देन यह है कि उन्होंने नाटकों को काव्यात्मक गद्य में तथा लय सम्पन्न पंक्तियों में लिखा। यह माध्यम रेडियो के लिए तो बहुत सफल सिद्ध हुआ, जहाँ समस्त भाव तथा कार्य केवल ध्वनि की सहायता से ही स्पष्ट हो जाते हैं, किन्तु रङ्गमञ्च में यह भी उतनी सफलता न प्राप्त कर सका। रङ्गमञ्च के अनुरूप नाटकों की सृष्टि में इसीलिए इनको बहुत अधिक महत्व नहीं प्रदान किया जा सकता। किन्तु 'दिवा बुझ गया' एकाङ्की इनकी महत्वपूर्ण देन है। इस नाटक के पात्र, पजाब की भूमि के लिए विदेशी होते हुए भी, इस काव्यात्मक गद्य में सरलता से बह चलते हैं। उनका विकास हमारे चित्त पर स्थायी प्रभाव डालता है, वे अपरिचित, अनजाने नहीं मालूम पड़ते।

गुरुबख़्श सिंह के नाटक उनके विशिष्ट जीवन दर्शन के प्रचार

के साधन हैं। उनका जीवन दर्शन सार्वजनीन प्रेम, सद्भाव तथा बन्धुत्व के सिद्धान्तों पर आधारित है। फलतः उनके नाटक इसी जीवन-दर्शन का सदेश देते हैं। इन नाटकों में प्रणय के तत्व विद्यमान हैं। 'रोमास' के प्रबल तत्व इन नाटकों में मिलते हैं। कथोपकथन अत्यधिक अलंकृत हैं। वह सामाजिक समस्याओं से न उलझ कर कल्पना में विहार करते हैं। जीवन के यथार्थ से उनका सबन्ध नहीं है। एक विशेष दृष्टिकोण को सम्मुख रखना ही उनका लक्ष्य है।

इन समस्त नवयुवक नाटककारों में बलवन्त गार्गी का स्थान सब से महत्वपूर्ण है। उन्होंने १९४० ई० से ही रचनाएँ प्रारम्भ कर दी थीं और अब तक उन्होंने लगभग तीस एकाङ्की तथा ६ पूर्ण विस्तृत नाटक लिखे हैं। उनके पहले नाटक 'लोहा कूट' ने पजाबी साहित्य में तूफान खड़ा कर दिया। इस नाटक के नाटकीय तत्वों तथा इसकी साहसपूर्ण महान् कथावस्तु ने जन मानस को तीव्रता से आकृष्ट किया। इसके बाद १९४८ ई० में इनके नाटक का 'बिस्वेदार' ने इन्हें रङ्गमञ्च प्रिय क्षेत्र में अच्छी ख्याति तथा लोक प्रियता दिलायी। यह नाटक पेप्सू के किसानों के सघर्ष की हृदय-स्पर्शी कथा है। गार्गी भाषा के महत्व को भली भाँति जानते हैं और इस ज्ञान का प्रयोग वे अपने नाटकों के निर्माण में यथोचित रूप से कर सके हैं। प्रोफेसर नन्दा के पश्चात् बलवन्त गार्गी ने ही कथोपकथन की ऊर्जस्वल परम्परा को यथोचित रूप में सम्मुख रखा। उनका नाटक 'केसरो' में हास्य के यथेष्ट तत्व विद्यमान हैं। इसमें आयरिश नाटककारों के स्वस्थ, पुष्ट एव वर्णनात्मक तत्व विद्यमान हैं। गार्गी अपनी रचनाओं से रङ्गमञ्च के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर सके हैं। उनकी नाटक सर्जना तथा उनके प्रदर्शन ने इस युवक नाटककार की विरल रगमञ्च की कुशलता, शैली तथा असामान्य अधिकार स्पष्ट कर दिया है।

बलवन्त गार्गी ने लोक रङ्गमञ्च को समुन्नत पाश्चात्य नाटक

कला के साथ समन्वित किया। इस समन्वय ने एक ऐसे नाटक साहित्य की सृष्टि की है, जो पजाबी परम्पराओं से मेल खाने के साथ ही साथ पोलिश शैली से सम्बन्ध स्थिर करता है। पाश्चात्य शैली के स्वरूप का निखार और चेतना इसकी विशेषता हैं। उन्होंने पजाबी नाटक साहित्य को कोरे सामाजिक सुधारों की सीमा से निकाल कर कुछ विस्तृत पृष्ठ भूमि पर स्थिर किया है। परम्परा की दिशा मोड़ कर गार्गी ने पजाबी रङ्गमञ्च को कुछ नवीनता भी प्रदान की है।

पजाबी रङ्गमञ्च के चर्चा के समय शीला भाटिया के योगदान का भी चर्चा करना ही चाहिए। शीला भाटिया ने पजाबी लोकस्वरों में स्वर मिला कर अपने गीतों की सृष्टि की है और उन्हें सामान्य कथावस्तु से सबद्ध कर दिया है। यह गीत अभिनेताओं के द्वारा रङ्ग मञ्च पर प्रस्तुत किए गए तथा उनका अभिनय मुद्राओं और मौन-अभिनयों से किया गया। 'घाटी की पुकार' उनकी सर्व प्रथम रचना है। धीरे-धीरे उन्होंने अपनी इस शैली को परिष्कृत कर दिया। उनकी परिष्कृत रचनाएँ गीतिनाट्यों के रूप में पंजाबी रङ्गमञ्च जगत में प्रस्तुत हैं। शीला भाटिया ने पजाबी रङ्गमञ्च को निस्सन्देह इस नवीन प्रयास से लाभान्वित कर एक दिशा में सफल प्रयास किया है।

गुरु दयाल सिंह खोसला ने अनेक एकाङ्की नाटक लिखे हैं। किंतु यह नवयुवक नाटककार उस रूप में सफल नहीं हो सका है, जिस रूप में अन्य नाटककार सफल हो सके हैं। इसके नाटकों में नाटकीय प्रस्तावना तथा चित्रण का अभाव है।

लगभग आधा दर्जन अन्य नवयुवक नाटककार भी हैं। गुरु-दयाल सिंह फूल, रोशन लाल अजूहा तथा अमरीक सिंह इत्यादि इनमें आते हैं। ये प्रायः एकाङ्की नाटकों की सृष्टि कर रहे हैं। ये प्रायः कालेज अथवा स्कूलों के शिक्षक हैं, जो अपने कालेज के क्लबों के अभिनयार्थ रचनाएँ तैयार करते हैं।

लगभग गत सात आठ वर्षों से पंजाबी नाटक साहित्य ने लम्बे डग भरे हैं। पंजाबी भाषा जन भाषा के अत्यधिक समीप है। नगर की भाषा तथा ग्राम्य भाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जन भाषा होने के कारण पंजाबी में नाटक की भाषा के लिए आवश्यक तत्वों का अभाव जरा भी नहीं है। इसे लोक जीवन की प्राण वायु और चेतना मिलती रहती है। फलतः पजाबी रङ्गमञ्च जनता के समीप ही है, दूर नहीं।

पंजाबी रङ्गमञ्च न केवल भाषा के सामीप्य से ही जन जीवन के समीप है, अपितु उसकी समस्त पृष्ठभूमि ही लोक जीवन पर आधारित है। पंजाबी रङ्गमञ्च अन्य सभी लोक भाषाओं के समान ही भाँड, मिरासी, रास और नौटङ्की की भूमि से विकास करता हुआ, वर्तमान अवस्था में पहुँचा है। इस रङ्गमञ्च के विकास में जन-जीवन से सम्बद्ध लोक नृत्यों का भी महत्वपूर्ण योग रहा है। रङ्गमञ्च की शास्त्रीय परम्परा का चिन्ह हम गुरु गोविन्द सिंह के 'विचित्र नाटक' में ढूँढ सकते हैं, किन्तु वस्तुतः गुरु गोविन्द सिंह की इस रचना के पश्चात् पजाबी रङ्गमञ्च शृंखलाबद्ध रूप में विकासोन्मुख होने मे शिथिल ही रहा। उसकी स्थापना का चर्चा हमने पहले ही किया है। साँग (स्वाँग) की पृष्ठ भूमि पर पजाबी रङ्गमञ्च की नींव पड़ी। इसके साथ ही पजाब का दूसरा लोकनृत्य 'गिद्धा' भी रङ्गमञ्च के विकास की महत्वपूर्ण कड़ी है। गिद्धा लोक नृत्य का प्रारम्भ ही बड़ा मधुर है। उसका गीत शुरू होता है—

"धरती जेड गरीब न कोई,
इन्दर जेड न दाता!"

'धरती की तरह न कोई गरीब है, और न इन्द्र की तरह दाता है।' पंजाब के नृत्यो में धरती की सुहानी महक है और है जीवन की भीतरी पैठ। इन लोक नृत्यों का प्रभाव अभी तक पंजाबी रङ्गमञ्च पर चला आ रहा है। बलवन्त गार्गी के नाटकों में पश्चिमी

शैली और लोक नृत्यों का समन्वित तत्व विद्यमान है। शीला भाटिया के गीतनाट्य तो पंजाबी की भूमि के लोक गीतों के बहुत बड़ी मात्रा में प्रभावित हैं। हम देखते हैं कि पजाबी रङ्गमञ्च का आधुनिक काल लोकजीवन से महत्वपूर्ण रूप से सबद्ध है। पश्चिमी प्रभाव महत्व-पूर्ण मात्रा में विद्यमान है। रङ्गमञ्च का विकास तेजी से हो रहा है। नवयुवक नाटककारों के इस प्रयत्न को हम निराशा से नहीं, आशा और उत्साह से देखते हैं। पजाबी रङ्गमञ्च निश्चय ही उज्वल भविष्य सम्पन्न है।

जैसा कि हमने यहाँ बार बार सकेत किया है, पजाबी रगमंच का जनजीवन से गहरा सम्पर्क अब तक रहा है और आगे भी रहेगा। यद्यपि इस समय पजाब संगठित रंगमंच का गर्व तो नहीं कर सकता परन्तु अब उसके लिये अनुकूल वातावरण बन गया है। इस समय पंजाब के साहित्यकारों और कलाकारों का ध्यान इस ओर जा रहा है। हम निकट भविष्य में ही पंजाब में समृद्ध रंगमंच की आशा करते हैं।
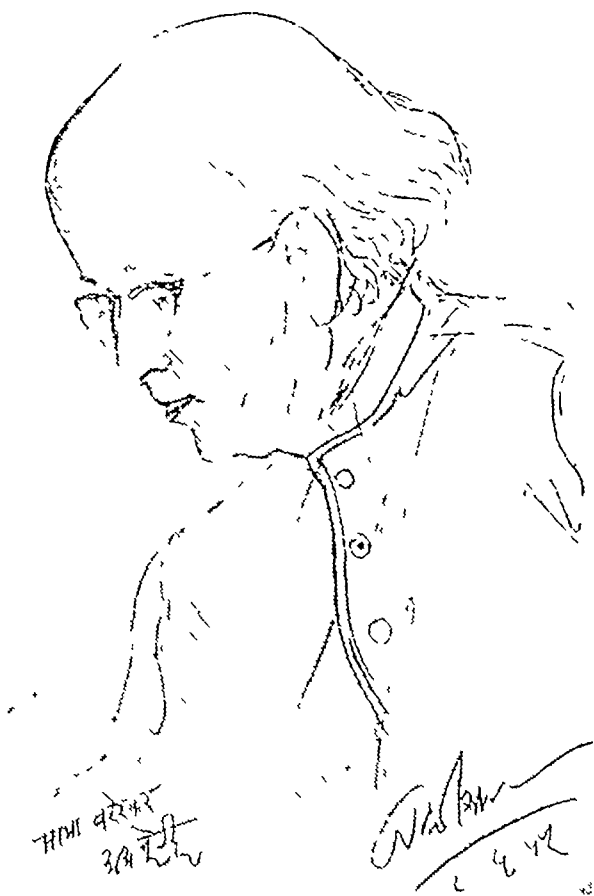
मा वरेरकर

सोलहवाँ अध्याय

मराठी नाट्य साहित्य और रंगमंच

वैसे मराठी रंगमंच का प्रारम्भ सन् १८४३ ई० से माना जाता है। सत्य यह है कि इसके दो सौ वर्ष पूर्व दक्षिण भारत में तजोरे के राजा ने स्वयं मराठी में कुछ नाटक लिख कर अभिनीत कराया, किंतु इसका महाराष्ट्र पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

बंगला रंगमंच की भाँति मराठी रंगमंच भी मुख्य तथा अंग्रेजी प्रभाव से विकसित हुआ, किंतु शीघ्र ही इसने अपना स्वतंत्र साहित्य और रंगमंच बना लिया। कन्नड़ प्रभाव के कारण प्रारंभ में इसमें संगीत का आधिक्य था। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में गोआ में बिना लिखे नाटक खेले जाते थे, किंतु यहाँ की भी सांस्कृतिक हलचलों का महाराष्ट पर कोई प्रभाव नही पड़ा।

आधुनिक मराठी रंगमंच का जन्म १८४३ ई० में सांगली विष्णुदास भावे के 'सीता स्वयवर' नामक नाटक के अभिनय से हुआ, जिन्होंने मध्ययुगीन अभिनय का परिष्कार करके कई दुखान्त नाटक प्रस्तुत किये। भावे की इस कम्पनी ने पूरे महाराष्ट्र का दौरा किया। इसके फल स्वरूप और भी कई कम्पनियाँ जन्मीं, जिन्होंने महाराष्ट्र में भ्रमण शुरू किया। कन्नड़ प्रभाव के कारण इन नाटकों में संगीत की माया बहुत अधिक रहती थी। ये नाटक आज कल नाटकों की तरह लिखे नहीं होते थे। पहले गाने लिख लिए जाते थे और उन्हें स्वरबद्ध कर लिया जाता था। इन्हें सूत्रधार, जो प्रारंभ से अंत तक रंगमंच पर उपस्थित रहता था, गाता था और अभिनेता बीच बीच में संवाद बोलते जाते थे, जिनका मुख्य उद्देश्य दर्शक को सूत्रधार के एक गीत दूसरे गीत का संबंध स्पष्ट करना होता था।

मराठी रगमंच

लिखे हुए नाटकों का अभिनय १८७० और १८७५ ई० के आस पास प्रारम्भ हुआ। इनमें से कुछ तो तत्कालीन उपन्यासों पर आधारित थे। उसके बाद अग्रेजी के नाटकों को मराठी रगमच पर उतरा जाने लगा। सर्वप्रथम शेक्सपियर की 'कामेडी आव एरर्स' नामक नाटक थे। 'भ्रांतिकृत चत्मकार' नाम से अभिनीत किया गया। उसके बाद 'हैमलेट' और 'टेमिंग आव दीम्यू' भी रंगमंच पर आए। 'साहूनगरवासी ड्रामेटिक कम्पनी में गणपत राव जोशी और बलवन्त राव जोग, दो बडे प्रतिभाशाली कलाकार थे। 'दकन कालेज' पूना के प्रोफेसर बी० बी० केलकर ने इन दोनों अभिनेताओं को शेक्सपियर के नाटकों में रगमच पर प्रस्तुत किया। इससे इनकी प्रतिभा और भी निखर आई। इसका दूसरी नाटक कम्पनियों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा।

सन् १८८० में बलवन्त पाडुरग ने जिन्हें अन्ना साहेब के सगीत् पक्ष किरलोसकर नाम से जाना जाता है कन्नड़ रगमच के सगीत पक्ष से प्रभावित किरलोसकर थियेट्रिकल कपनी की स्थापना की। उन्होने कालिदास की 'शकुन्तला' का मराठी में सगीत नाटक लिखा और उसे रगमंच पर प्रस्तुत किया। इन्होंने इसके अतिरिक्त 'सुभद्रा' और 'राम राज्य वियोग' नामक दो मौलिक नाटक भी लिखे। वे रगमच पर स्वय प्रबधक की हैसियत से आते थे। उनके कलाकार अभिनय और गायन दोनों में पारगत होते थे। इनकी 'शकन्तुला' भाऊराव कोल्हाटकर थे। यह अति सुन्दर थे तथा स्वर की कोमलता तथा मधुरता की दृष्टि से भी अद्वितीय थे। इस कंपनी का स्थान बहुत ऊँचा था। लोकमान्य तिलक जैसे व्यक्तियों का इसे आशीर्वाद प्राप्त था।

शकुतला के सभी गाने मराठी की प्रचलित परंपरा पर आधारित

थे। इसके पूर्व तो मराठी रगमंच पर वैष्णव सतो और लोक गीतों की धुनों का बोल बाला था। 'सुभद्रा' और 'रामराज्य वियोग' में उन्होंने कुछ कन्नड़ धुनों का प्रयोग किया। गुजराती के 'गरबा' से भी कुछ धुनों को इनमें प्रयुक्त किया गया।

किरलोसकर के बाद देवल ने अन्य नाटकों के साथ संगीत,नाटक भी लिखे। इन संगीत नाटकों की बड़ी प्रशसा हुई, किन्तु इनसे गद्य नाटकों के प्रचलन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वस्तुवः गद्य नाटकों के प्रचलन के कारण ही सस्कृत के सगीत नाटक खेलने वाली कम्पनियों ने पुनः नाटक के रूप पर सोचना आरभ किया। संस्कृत नाटकों पर आधारित मराठी के सगीत-नाटक सदैव शेक्सपिअर के नाटकों मे अवश्य कुछ न कुछ कमजोर पड़ते थे। इसी कारण किरलोसकर कपनी ने एक पुरस्कृत होने वाले नए नाटक की रचना के लिए घोषणा की। यह पुरस्कार कम्पनी ने दकन कालेज पूना के एक विद्यार्थी कृष्णा कोल्हाटकर को उनके 'वीरतनया' नामक नाटक के लिये दिया गया। इसकी टेकनीक यूरोपियन थी। इसमें शास्त्रीय और सरल दोनों ही सगीत का सम्मिश्रण था। कोल्हाटकर उर्दू रग-मंच के प्रशसक थे। पिछली सदी के अन्त और इस सदी के प्रारंभ से मराठी रंगमंच को प्रभावित करने वाला हिन्दुस्तानी रगमच स्वयं गुजराती रगमच से प्रभावित था। कोल्हाटकर के नाटकों ने हिन्दुस्तानी रगमंच की जड़ें मजबूती से मराठी रगमंच पर स्थापित कीं। इन्होंने मराठी के लोक गीतों और दक्षिण के रंगमच के प्रभाव का परित्याग किया। बाद के मराठी नाटककारों ने कोल्हाटकर द्वारा चलाई गई इस परपरा का अनुसरण करके ही सतोष किया।

सन् १९०५ ई० में कुछ शिक्षित व्यक्तियों ने पूना में 'महाराष्ट्र नाटक मडली' की स्थापना की। 'केसरी' के एक उप-सम्पादक के० पी०

खाडिलकर इसके लिए नाटक लिखते थे। उनके नाटकों ने महाराष्ट्र में हलचल मचा दी। 'कीचक वध' में उन्होंने पौराणिक गाथा की आड़ में लार्ड कर्जन के दिल्ली दरबार वाले भाषण के अस्वस्थ सकेतों पर आक्षेप किया। महाराष्ट्र की जनता में असतोष और क्रोध की लहर दौड़ गई। सरकार ने उस नाटक का खेला जाना बद कर दिया।, लार्ड कर्जन ने इसी समय बग-विभाजन का बीड़ा उठाया था। उसके विरोध में महाराष्ट्र के जन समूह ने बगाल का साथ दिया। इस विचार के एक के बाद एक करके कई नाटक लिखे गए जिन्हें सरकार ने बद करा दिया। ऐसे नाटकों की सख्या आठ बताई जाती है जिन्हें दबा दिया गया और जिनके आज नाम भी ज्ञात नहीं हैं।

मराठी नाटकों में सगीत और गद्य दो भिन्न-भिन्न शाखाओं के रूप में विकसित होते गये। जिस प्रकार प्रो० केलकर ने शेक्सपिअर के नाटकों को मराठी रगमच पर ले आकर गद्य-साहित्य को एक नवीन दिशा दी, उसी प्रकार 'महाराष्ट्र नाटक मडली' को जिसने खाडिलकर के नाटक खेले थे 'फरग्यूसन कालेज पूना के पांच प्रोफसरों की सहायता प्राप्त हुई। इन्होंने नाटकों की साहित्यिक रुचि को परिष्कृत रखा। इस प्रकार यहा के रगमच में एक उद्देश्य और आदर्श आ गया और उसे राजनीतिक नेताओं, समाज-सुधारकों और ज्ञान-विज्ञान से सबधित लोगों का सम्पर्क प्राप्त हो गया। इसके विकास का इतिहास कला के विकास का इतिहास है, इसके प्रत्येक नाटकगृह शिक्षा के रंगमच रहे हैं।

इस शताब्दी के दूसरे दशक तक भी सगीत नाटकों का कोई राजनीतिक उद्देश्य अथवा आदर्श नहीं रहा है। निस्सन्देह सङ्गीत दर्शकों के लिए एक बहुत बड़ा आकर्षण था किन्तु नवीन और गहरी राजनीतिक चेतना के विकास के कारण नाटक की गद्य शाखा अन्य शाखाओं से आगे निकल गई, क्योंकि उसने इस चेतना का प्रति-

निधित्व किया। सन् १६१५ और १६२० के बीच तीव्र प्रतिभा के अनेक कलाकार आए, जो अभिनय और सगीत दोनों ही में दक्ष थे। रगमच के निर्माण आदि में काफी प्रगति हुई, किन्तु टेकनीक की दृष्टि से यह प्रगति संतोषजनक न थी।

'किरलोसकर कपनी' के साथ एक और कपनी का जन्म हुआ था, जिसका नाम 'स्वदेशी हितचिंतक मंडली' था। इसके प्राण निम्बकार बंधु थे। इसके सगीत निर्देशक ग्वालियर के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ पं० जाम्बेकर बुआ थे, जो मराठी रंगमच पर विशुद्ध हिन्दुस्तानी संगीत की परम्परा स्थापित करने में सफल हुए। इसी कपनी में रहते हुए केशव राव भोंसले भी प्रसिद्ध हुए, जिनमें गायन और अभिनय दोनों ही की अपूर्व क्षमता थी। उन्होंने पाँच वर्ष की अवस्था से ही रगमच पर काम करना प्रारभ किया था और मराठी रगमंच पर हिन्दुस्तानी शास्त्रीय सगीत की परपरा विकसित करने में इसका बड़ा महत्वपूर्ण भाग था। उन दोनों नाटक कम्पनियों में बड़े बड़े सगीतज्ञों को अपने यहाँ रखने का प्रचलन था, जिससे मराठी का रगमंच एक प्रकार से सगीतज्ञों की अकादमी बन गया। धीरे-धीरे विभिन्न कम्पनियों में बडे बडे उस्तादों को अपने यहाँ रखने की प्रतिस्पर्द्धा चल पड़ी। बडे बडे सगीतज्ञ राजाओं और राजकुमारों के दरबारों में गाते थे और साधारण मनुष्यों को उनका सगीत सुनने का अवसर नहीं मिलता था। अब जनता के सगीत सुनने की अभिलाषा इन कम्पनियों ने पूरी की। यद्यपि इनमें उन्हें खुद उन सगीतज्ञों के गाए गाने नहीं मिलते थे, किंतु उन्हीं के सिखाए शिष्यो द्वारा उन्हें उत्तम संगीत अवश्य प्राप्त हो जाता था। उत्तर भारत की परपरा के विपरीत मराठी रंगमच पर सदैव से ही शास्त्रीय सगीत आदरणीय रहा है। इस कारण मराठी रंगमच के कलाकारो को अभिनय के साथ साथ शास्त्रीय सगीत के ज्ञान के लिए बड़ा परिश्रम करना पड़ता था। फलस्वरूप उनके दर्शकों को उत्तम सगीत मिलता गया।

इस शताब्दी के आरभ में २५ नाटक मडलियाँ थी, किन्तु अगले बीस वर्षों में उनकी सख्या बढकर ४० हो गई। ऐसे भी नाटक उनमें खेले गए, जिनमें गाने नहीं थे, किन्तु गानों वाले नाटक ही आगे बढ पाए। धीरे धीरे रगमच को बनाए रखने में इन गानों ने स्वतत्र योग दिया, क्योंकि यदि आज भी मराठी जनता रगमच को जिन्दा रखे हुए है, तो इसका बहुत बडा कारण सगीत प्रेम है, जो कम्पनियों द्वारा प्रस्तुत नाटकों में मिलता रहा है।

१९२० से काग्रेस की राजनीति में महात्मा गांधी के आने के पश्चात मराठी रगमच पर भी परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। बम्बई, महाराष्ट्र और विदर्भ में तिलक के अनुयायी गांधी जी के कार्यक्रम का अनुमोदन कर रहे थे। तिलक के अनुयायी ये राजनीतिक नेता महाराष्ट्र के रगमच के भी नेता थे। अब राजनीतिक विषय-वस्तु से परिपूर्ण नाटक लिखे जाने लगे और सगीत तथा गद्य दोनों शाखाओं को एक साथ उपस्थित किया जाने लगा। गद्य और सगीत नाटकों के कलाकारों का स्थान एक समान हो गया। सगीत नाटकों का गद्याश ज्यादा महत्वपूर्ण होता गया और शनैः शनैः नाटकों में गीतों की सख्या घटती गई।

सन् १९२१ ई० में 'महाराष्ट्र नाटक मडली' ने 'माया कपट' नामक नाटक खेला। इसके बाद कई कंपनियों का जन्म हुआ। ऐतिहासिक नाटक भी लिखे गए। पहली फरवरी सन् १९२३ को 'तुरगाच्य दारात' नामक एकांकी नाटक खेला गया। इसमें साधारण नाटकों में लगने वाले पाँच छः घटों के स्थान पर केवल तीन घटे का समय लगा। संगीत नाटकों में अस्सी गाने तक हुआ करते थे। इसमें केवल ग्यारह गाने थे। इसमें कला की दृष्टि से अभिनय की श्रेष्ठता निर्विवाद थी। इसका कथानक छुआ छूत के विरुद्ध था। आर्थिक दृष्टिकोण से यह बहुत असफल रहा, जिसमें इसका कथानक

शायद बहुत बडा कारण था। किंतु कांग्रेस ने एक स्वर्ण पदक प्रदान करके इस नाटक का सम्मान किया।

इसी समय के आस-पास 'ललित कलादर्श ड्रामेटिक कम्पनी' ने रंगमच के निर्माण के दृष्टिकोण को परिवर्तित करने का एक बड़ा ही सफल प्रयास किया। इसमें परदे को गिराने चढाने, पार्श्व आदि के स्थान पर 'बाक्ससीन' का प्रयोग किया गया। ड्राइंग रूम को, केवल रंगमंच पर उपस्थित लोगों के बैठने मात्र के लिये काफी कुर्सियाँ और सोफा सेटों के रखने के स्थान पर पूर्णरूप से सजाया गया। इसे गाधीवादी दर्शन के प्रचार के लिए खेला गया था। इसका कथानक कट्टर सनातन धर्मी की भावना को आहत नहीं करता था, जैसा छुआछूत के विरोध में लिखा गया कोई भी कथानक करता। इसमें अट्ठारह गाने हैं, जो केवल नायक और नायिका द्वारा गाए जाते हैं। नाटक बड़ा सफल रहा। यह आज भी बड़ा प्रसिद्ध नाटक माना जाता है। फिर भी अन्य कपनियों ने इसका अनुकरण नहीं किया। नाटक का नाम 'सत्ते चे गुलाम' था।

अब संगीत नाटक मे भी राजनीतिक विषयों के आने से गद्य नाटकों का प्रचलन कम हो चला। गद्य नाटकों के कई प्रसिद्ध अभिनेता सगीत नाटकों की मडलियों में चले गए। इस प्रकार गद्य नाटक का रगमंच लगभग मृतप्राय हो चला। इस बीच रामगणेश गदकारी ने सामाजिक नाटक लिखे जिनकी बड़ी प्रशसा हुई। इनके नाटक समय के अनुकूल थे। १९२५ से १९३५ तक मराठी रंगमच पर वारेडकर छाए रहे। ये यथार्थवादी शैली में सामाजिक उपन्यास लिखते थे। आगे बढ़े हुए नाटककार की हैसियत से वारेड-कर ने उन तरुणों को बड़ी सहायता दी जो 'पवाडा' और 'तमाशा' द्वारा जनता का मनोरंजन कर रहे थे। वारेडकर बम्बई की 'नाटक मडली' के अध्यक्ष बने जिसका नाम 'सहकारी मनोरंजन मडल' रखा गया। इस कंपनी के कलाकार प्राय मजदूर थे, इसलिए उनके लिखे

भी नाटक खेले जाते थे। १९३०-३१ में हीराबाई बारोडकर की नाटक मडली नूतन साहित्य विद्यालय की ओर से स्थापित हुई।

सन् १९३३ में विश्वविद्यालय के कुछ स्नातकों ने 'नाट्य मानवातार' की स्थापना की। उन लोगों की इच्छा सर्व प्रथम इब्सन के 'गुड़ियाघर' के प्रदर्शन की थी, किंतु उन लोगो ने बर्गसन के 'गान्टलेट' को सर्व प्रथम प्रस्तुत किया जिसका नाम 'अधालयांची शाला' रखा गया था। इसकी टेकनीक अधुनिक थी। इसका रूप गीत नाटकों के समान नहीं था। परतु इसमें तीन गीत थे। बड़ी कुशलता पूर्वक थोड़ा सा पार्श्व सगीत भी रखा गया था। नारी चरित्रों का अभिनय दो नारी पात्रों ने किया था। पहली बार मराठी रगमच पर नारी कलाकारों का यह आगमन था। इनमें से एक श्रीमती ज्योत्सना भोंसले थीं जिन्होंने तबसे रगमच पर उच्चस्तर की एक परम्परा चलाई है।

आधुनिकता की इस सीमा को लोग सहन नहीं कर सके और साल डेढ साल में ही कम्पनी टूट गई। इसी के आस पास फिल्मों का भी प्रचलन शुरू हुआ और धीरे-धीरे छोटी बड़ी सभी नाटक कंपनियां टूट गईं।

सन् १९४१ ई० में दो नाटक कम्पनिया रंगमच पर आईं 'नित्या निकेतन' और 'लिटिल थियेटर'। अपने नाटकों और टेकनीक की दृष्टि से ये कम्पनिया बिलकुल आधुनिक थीं। नाटकों के लिए रगमच न होने के कारण से लोग सिनेमा गृहों में ही ९ बजे सुबह से लेकर १२ बजे तक नाटक खेलते थे। 'लिटिल थियेटर' तो ६ महीने ही में बन्द हो गयी, किन्तु 'नित्य निकेतन' अभी भी कठिनाइयों के विरुद्ध संघर्ष करती हुई अपना अस्तित्व बनाए हुए है। १९४५ ई० में मराठी रगमच पर अत्रे आए। उनके पास दर्शक को मनोरजन प्रदान करने का बड़ा विशिष्ट ढङ्ग है।

सन् १९४१ ई० में मराठी रगमच की शताब्दी मनाई गई।

दर्शकों में इसने एक विशेष प्रकार का उत्साह भर दिया। तब से आज तक प्रतिवर्ष रंगमंच का उत्सव मनाया जाता है। यह उत्सव सदैव बड़ा सफल रहा है।

मराठी रंगमंच के पास अपना कोई 'कवि' नहीं है। प्रसिद्ध नाटककारों से ये लोग नाटक लिखने के लिए अनुरोध करते हैं और उनको रायलटी देकर खेलते हैं। मराठी रंगमंच की कम्पनियाँ लड़कों को नहीं रखतीं। किन्तु १८ वर्ष की अवस्था से नीचे के लड़कों की कम्पनियाँ भी बनी हैं। अब स्त्रियाँ भी रंगमंच पर पुरुषों के साथ आती हैं। १९३०-३१ में हीरा बाई बड़ोदकर की नाटक मंडली ने स्त्रियों को नारी पात्रों का अभिनय करने के लिए नौकरी दी थी। अभिनेत्रियों की भी कुछ कम्पनियाँ हैं।

यहाँ दृश्यों और वेश-भूषा में कोई तड़क भड़क नहीं होती। मराठी रंगमंच अपना सारा ध्यान स्वाभाविक अभिनय और शास्त्रीय संगीत पर केंद्रित करता है। गम्भीर दृश्यों के बाद हल्के दृश्य ले आने की परम्परा का अनुसरण होता है। मराठी नाटकों में भी धीरे-धीरे धार्मिक तत्वों के स्थान पर यथार्थवादी और धर्म निरपेक्ष तत्व आते जा रहे हैं।

संगीत का अभी भी यहाँ अत्यधिक प्रचलन है। केशवराव भोसले आदि के पश्चात् गजल धीरे-धीरे पीछे हट गई। उसके बाद उत्तर और दक्षिण भारत दोनों ही स्थानों के संगीत का उपयोग मराठी रंगमंच करने लगा। केशवराव भोसले के साथ ही स्वदेशी हित चिंतक कम्पनी, में अनन्त आप्टे नामक एक वायलिन बजानेवाला था। उसे कर्नाटकी धुनों का ज्ञान था। केशव राम और अनन्त आप्टे दोनों ही नारी पात्रों का अभिनय करते थे।

'विद्या हरण' के अभिनय के पश्चात् किरलोस्कर कम्पनी ने 'बाल गंधर्व नाटक मंडली' प्रारंभ की। इसके बाद उनके सहयोगी गोविन्द टाम्बे ने 'शिवराज संगीत मंडली' आरंभ की। बालकृष्णबुआ

पूर्ण माना जाता है। यद्यपि 'नाट्य दर्पण' की रचना बहुत कुछ धनञ्जय के 'दशरूप' के आधार पर हुई, फिर भी इससे उनकी मौलिक चिन्तन धारा का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे उद्धरण मिलते हैं जो उन नाटकों से लिये गये हैं जो अब अप्राप्य हैं। इन्होंने नाटक के दस रूपों में 'नाटिका' और 'प्रकरणी' को भी जोड़ दिया। 'सुखदुःखात्मको रसः' कहकर इन्होंने एक नयी परम्परा आरम्भ की और अपने गुरु हेमचन्द्र से आगे बढ गये। हेमचन्द्र ने रसों के आनन्द को ब्रह्म प्राप्ति के आनन्द के समान कहा था। परन्तु रामचन्द्र के अनुसार लोग कवि अथवा कलाकार के कौशल को देखने के लिये दुःखान्त नाटक देखते हैं। रामचन्द्र ने कहा कि ऐसा नहीं हो सकता कि अभिनय करते समय जो भाव कलाकार के हों वे दर्शक के नहों। कलाकार के वही भाव होते हैं जो भाव वह दर्शकों में देखना चाहता है। सत्य यह है कि रामचन्द्र नाट्य शास्त्र के केवल सैद्धान्तिक पक्ष का ही ज्ञान नहीं रखते थे वल्कि उन्हें रंगमंच की व्यवस्था का भी व्यावहारिक ज्ञान था। उनका 'नल-विलास' नाटक इसका प्रमाण है। 'नल-दमयन्ती' की कथा के आधार पर गुड़ाढ्य, क्षेमेन्द्र, सोमदेव, श्री हर्ष, त्रिविक्रम, धर्म-सेन, हेमचन्द्र आदि ने नाटक लिखे तथा रचनाएँ प्रस्तुत कीं। रामचन्द्र के बाद भी अनेक गुजराती लेखकों ने इस प्रसिद्ध कथानक को लिया। मगर रामचन्द्र अकेले व्यक्ति हैं जिन्होंने उस नाटक में सम्पूर्ण यथा-तथ्यता का ध्यान रखा। रामचन्द्र ने 'कौमुदी मित्रानदम्' प्रकरण भी लिखा। इसमें हास्य और व्यग्य के अनेक स्थल हैं।

गुजराती साहित्य में यह शताब्दी सत्यमेव नाटकों की शताब्दी रही है। ११५०-१२५० ई० के बीच गुजरात में २३ नाटक लिखे गये। अन्य तीन नाटक बाद में रचे गये। रामचन्द्र ने इनमें ग्यारह नाटकों की रचना की। रामचन्द्र ने नाटक, प्रकरण, नाटिका और व्यायोग नाट्य रूपों का प्रयोग किया। हेमचन्द्र के दो शिष्यों देवचन्द्र

तथा यशःचन्द्र ने तीन नाटक रचे। हेमचन्द्र तथा रामचन्द्र ने नाट्य साहित्य की जड़ गुजरात में जमाने की पूरी कोशिश की।

इसके साथ ही गुजरात में अपभ्रंश साहित्य का युग आता है। यह काल रासों का था। कुछ लोगों का दावा है कि गुजरात में ही रासों का उदय हुआ। श्री मोहनलाल दुलीचन्द देसाई ने 'जैन गुर्जर कवियो' में तेरहवीं शताब्दी से आगे रचे गये रासों का विवेचन किया है। डाक्टर दशरथ ओझा इन्हीं रासों को पूर्णतया विकसित नाटकों का आरम्भिक रूप मानते हैं। इस अपभ्रंश भाषा का अन्त और प्राचीन गुजराती का आरम्भ एक साथ ही हुआ। कुछ लोग प्राचीन गुजराती का आरम्भ ११वीं शताब्दी से मानते हैं।

जैन साधु यश.पाल ने (११७४-११७७ ई०) में 'मोहराज पराजय' नाटक लिखा जिसमें कुमारपाल के जैन धर्म स्वीकार करने की कथा कही गयी है। इसमें कुमारपाल तथा हेमचन्द्र के अतिरिक्त अन्य सारे नाम यथा—मोहराज, ज्ञानार्पण, विवेकचन्द्र, कृपासुन्दरी, कीर्ति-मजरी और प्रताप—साकेतिक और प्रतीकात्मक हैं। इसके बाद सोमेश्वर ने 'उल्लास राघव' नामक आठ अकों का नाटक लिखा। रामायण इस नाटक का आधार है। यह नाटक द्वारिका के कृष्ण मन्दिर में खेला गया था। प्रह्लाद (११६४-१२०६ ई०) ने 'पार्थ पराक्रम' नाम का व्यायोग लिखा। प्रेमानन्द (१६३६-१७३४ ई०) ने 'रोषदर्शिका-सत्यभामाख्यान', 'पाचाली-प्रसन्नाख्यान' तथा 'तपत्याख्यान' नामक तीन नाटक लिखे।

' उन्नीसवीं शताब्दी में आकर फिर गुजराती नाट्य साहित्य में पुन-रुज्जीवन का काल आया। शेक्सपिअर के नाटकों के प्रति लोगों की रुचि बढने लगी, तो गुजरात में भी नाट्यकारों और कलाकारों का ध्यान उधर आकृष्ट हुआ। उसी समय 'शेक्सिपयर-कथा-समाज' नाम की एक सस्था की स्थापना हुई। रणछोड़भाई उदयराम (१८३८-१६२३) इसके नेता थे। उन्होंने १८६१ में 'जयकुमारी' नाटक

लिखा। गुजराती साहित्य में आधुनिक प्रेमकथा के आधार पर लिखित यह प्रथम नाटक था। एक पढी लिखी लड़की इसकी नायिका थी। इस नाटक ने सबका ध्यान आकृष्ट किया। इसके बाद रणछोड़भाई ने पौराणिक कथाओ के आधार पर तथा सामाजिक समस्याओं को लेकर अनेक नाटक लिखे। ये नाटक पारसी कम्पनियो द्वारा खेले भी गए। १९६४ ई० में रणछोड़ भाई ने अपना सर्वश्रेष्ठ नाटक 'ललिता दु:ख दर्शक' लिखा। मणिलाल द्विवेदी ने अनुवादकार्य को और आगे बढाया। उन्होंने भवभूति के 'उत्तर राम चरित' और 'मालतीमाधव' का अत्यन्त सफल अनुवाद किया। यद्यपि अभिज्ञान शकुन्तला का अनुवाद याज्ञिक पहले कर चुके थे, तो भी बलवन्तराय ठाकुर ने उसका अनुवाद फिर से किया। नानालाल ने भी 'शकुन्तला' का अनुवाद किया। दीवान बहादुर केशवलाल हरसद राय ध्रुव ने बड़े परिश्रम से मुद्राराक्षस, विक्रमोर्वशीयम् ।और भास के नाटकों का अनुवाद किया। दलपतराय कवि के बेटे नानालाल ने 'इन्द्रकुमार', 'जयजयन्त', 'राजर्षिभरत', 'विश्व गीता', 'जहाँगीर-नूरजहाँ' 'शाहशाह अकबर', और 'सघमित्रा' नाम के नाटक लिखे। नानालाल के हाँथों से ही गरबी का उद्धार हुआ और पढ़े लिखे नारी समाज में फिर से उसकी पैठ हुई। नानालाल ने लगभग दो सौ गरबी लिखे। 'श्रीमोरबी' और 'नाटक समाज' ने गरबी को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत कर उसकी प्रतिष्ठा बढा दी। यह वह युग था जब कि गुजराती रङ्गमञ्च पर कला परिष्कार के लिए संघर्ष हो रहा था। उस समय बम्बई की नाटक कम्पनियों ने भड़कीले दृश्यों से पूर्ण नाटकों का अभिनय उन कलाकारों से कराया, जो प्रायः सकेतों और स्वर पर अस्वाभाविक बल देकर अभिनय करते थे। गुजराती रङ्ग मञ्च की परम्परा मोरबी, और वनकनेर नाटक समाज के नेतृत्व में कुछ भिन्न ही थी। उनके नाटकों ने रणछोड़ भाई के पथ का ही अनुगमन किया। मोरबी के रङ्गमञ्चपर 'चन्द्रहास' पर नाटक खेला गया और 'मुंबई नाटक समाज'

के रङ्गमच पर 'सौभाग्य सुन्दरी' नाटक का अभिनय हुआ। ये नाटक बड़े प्रभावशाली और महत्वपूर्ण थे। इन नाटकों में सस्ते प्रहसन भी रहा करते थे। कला की दृष्टि से ये नाटक बहुत ऊँचे न थे।

डाह्याभाई घोलसा जी (१८६७-१६०६) ने नाटकों के साहित्यिक मूल्य पर अधिक ध्यान दिया और उनकी टेकनीक में भी सुधार किया। उन्होने 'देशीय नाटक समाज' की स्थापना की। जिसके रङ्गमञ्च पर 'अश्रुमती', 'उदयभानु' और 'वीणावेलि' नाटक अत्यन्त सफलतापूर्वक खेले गए। सारे गुजरात में इन नाटकों का चर्चा फैल गया। इसके गीत बहुत लोकप्रिय थे। कथोपकथन चुस्त और दृश्यावलियां रङ्गीन थीं। प्रहसन और गरवी का समावेश तो था ही। डाह्याभाई के गीत साहित्यिक और बडे ही रसपूर्ण थे। उनके नाटकों के कथानक प्रायः पौराणिक आख्यानों अथवा सम-सामयिक जीवन से सबन्धित होते थे।

डाह्याभाई के बाद अमृत केशव नायक गुजराती नाट्य साहित्य का सृजन करने लगे। अमृत केशव नायक बहुत ऊँचे किस्म के कलाकार थे और अभिनय के क्षेत्र में वे प्रायः अद्वितीय थे। इन्होंने एक उर्दू नाटककार के साथ मिलकर 'जहरी साँप' नाटक लिखा। इस समय तक गुजराती रङ्गमञ्च पर दो विरोधी धाराएँ स्पष्ट रूप से चल निकली थीं। एक धारा वह थी जिसके अन्तर्गत पारसी थियेटरों के लिए ही नाटक लिखे जाते थे। दूसरी धारा के अन्तर्गत ऐसे नाटक लिखे जाते थे जिन्हें हम साहित्यिक और सुरुचिपूर्ण कहते हैं। इन दोनों धाराओं में जो अन्तर आ गया उसके कारण गुजराती नाट्य साहित्य और रङ्गमञ्च को हानि पहुँची। जिस समय श्री कन्हैया लाल माणिक लाल मुशी साहित्यिक क्षेत्र में आए, राष्ट्रीय आन्दोलन अत्यन्त तीव्र हो चला था और साहित्य सचमुच समाज के संघर्षों का दर्पण बन चुका था। महात्मा गाधी के नेतृत्व में देश धीरे धीरे सघर्ष और विजय के पथ पर अग्रसर हो रहा था। श्री मुंशी ने अनेक

पौराणिक नाटक लिखे। 'पुरदर पराजय', 'अविभक्त आत्मा', 'तर्पण', 'पुत्र समोवडी', 'ध्रुवस्वामिनी देवी' आदि इसी वर्ग के नाटकों में थे। लोपामुद्रा के कथानक से लेकर उन्होंने 'शबरकन्या', 'देवेदिधेलि' और 'विश्वमित्रर्षि' नाटक लिखे। श्री मुशी के सामाजिक नाटकों में 'वावा सेठणून स्वातन्त्र्य' 'वेखरावजण', 'अशाङ्किता', 'काका णी शशि' और 'ब्रह्मचर्याश्रम' नाटक लिखे। मुशी की नाट्य कला अत्यन्त उच्चकोटि की है। भाषा और टेकनीक की दृष्टि से ही नहीं, विचार सघर्षों, समवेदना और उद्देश्यों की दृष्टि से भी श्री मुंशी के नाटकों ने गुजराती नाट्य साहित्य में एक नवयुग का प्रारभ किया। उनके नाटकों में श्लीलता और सुरुचि के अतिरिक्त प्राचीन सस्कृति के प्रति गर्व की भावना भी रहती थी। मुशी अतीत के अन्य भक्त न होते हुये भी उसके जीवन्त तत्वों से प्रेरणा ग्रहण करने के पक्षपाती हैं। उनकी दृष्टि से बिना गौरवशाली अतीत से बल और प्रेरणा प्राप्त किए आधुनिक सघर्षों में विजय प्राप्त करना संभव नहीं। श्री मुंशी ने गुजराती भाषा और साहित्य को ओज और शक्ति दी और उसे अन्य भारतीय साहित्यों के समकक्ष लाने में सहायता दी। 'पुरदर पराजय' में सुकन्या और च्यवन सम्बन्धी पौराणिक कथा का आधार लिया गया। 'अविभक्त आत्मा' में अरुन्धती और वशिष्ठ की जीवन कथा को ले कर यह दिखाया गया है कि सच्चे प्रेमी सत्यमेव एक दूसरे के आधे अग होते हैं। 'तर्पण' एक दुखान्त नाटक है। इसमें अनार्यों के ऊपर आर्यों की विजय दिखलायी गयी है। इन नाटकों में जो देव पात्र आए है वे बिलकुल मनुष्यों जैसा व्यवहार करते हैं। वे मनुष्यों की तरह रोते गाते हसते बोलते हैं और उनका व्यवहार स्वाभाविक और सहज होता है। 'पुत्र समोवडी' नाटक में शुक्राचार्य और देवयानी की कथा ली गई है। इस नाटक के पात्रों का रूपनिर्माण अधिक स्वाभाविक है और इसमें आई घटनाओं की व्यवस्था भी अच्छी हुई है। 'ध्रुवस्वामिनी देवी'

प्राचीन भारतीय इतिहास की एक प्रसिद्ध कथा के आधार पर लिखा गया है। इस नाटक में हमें सजीव स्त्री पुरुष मिलते हैं। वे जाने पहचाने से लगते हैं। कथावस्तु का आधार विशाख दत्त का 'देवी चन्द्र गुप्तम्' नाटक है। ध्रुवस्वामिनी का चरित्र उदात्त, महिमा मण्डित और दृढता पूर्ण है।

श्री मुन्शी के सामाजिक नाटक छोटे, चुस्त और समस्या मूलक हैं। जैसा कि एक स्थल पर नाटककार ने स्वय कहा है—"वे लोग जिनके ऊपर कुलीनता का भूत हरदम सवार रहता है इन नाटकों को न पढ़ें। ये नाटक आधुनिक हैं और जो लोग भारतीयता की रूढिवादी ढग से पूज्य समझते हैं उन्हें इससे धक्का भी लग सकता है।" इन नाटकों में रूढियों, ढोंगों और मिथ्याचारों का भण्डा-फोड़ किया गया है। व्यग्य और हास्य का पुट यहाँ से वहाँ तक देखने को मिल जाता है। 'वावा सेठग्नुन स्वातन्त्र्य' नाटक में एक ऐसे पति का चर्चा है जो अपनी बीबी का गुलाम है। 'वेखरा-वजन' नाटक में रईस वकील की बेटी रम्भा एक गरीब तरुण से विवाह करती है। 'अशंकिता' में निम्नश्रेणी के दारुण जीवन का दृश्य उपस्थित किया गया है। इसमें एक विधवा जबर्दस्ती एक बूढ़े लक्ष्मीपति से व्याही जाती है। अन्त में अनेक घृणित परिस्थितियों से गुजर कर यह स्त्री उस बूढ़े क्लर्क से विवाह कर लेती है जिसके पास केवल दो बीघा जमीन है, एक जोड़ी बैल है और एक गाय है। 'काकाणी शशि' में एक बम्बई की नवीना लड़की है जो अपने को मुक्त रखने की कोशिश करती है और अन्त में वह अपने सरक्षक से विवाह कर लेती है। ये सारे के सारे नाटक अत्यन्त लोक-प्रिय हुए और विद्यार्थियों द्वारा अनेक बार रगमच पर उपस्थित भी हुए। 'ब्रह्मचर्याश्रम' नाटक यरवडा जेल में लिखा गया था। नाटक का प्रथम दृश्य जेल से ही आरम्भ होता है। जेल के राजनैतिक वदी अपनी पत्नियों से अलग रहने के लिए विवश हैं। इस लिए वे ब्रह्मचर्य

पौराणिक नाटक लिखे। 'पुरदर पराजय', 'अविभक्त आत्मा', 'तर्पण', 'पुत्र समोवडी', 'ध्रुवस्वामिनी देवी' आदि इसी वर्ग के नाटकों में थे। लोपामुद्रा के कथानक से लेकर उन्होंने 'शवरकन्या', 'देवेदिधेलि' और 'विश्वमित्रर्षि' नाटक लिखे। श्री मुशी के सामाजिक नाटकों में 'वावा सेठणून स्वातन्त्र्य' 'वेखरावजण', 'अशाङ्किता', 'काका णी शशि' और 'ब्रह्मचर्याश्रम' नाटक लिखे। मुशी की नाट्य कला अत्यन्त उच्चकोटि की है। भाषा और टेकनीक की दृष्टि से ही नहीं, विचार सघर्षों, समवेदना और उद्देश्यों की दृष्टि से भी श्री मुंशी के नाटकों ने गुजराती नाट्य साहित्य में एक नवयुग का प्रारभ किया। उनके नाटकों में श्लीलता और सुरुचि के अतिरिक्त प्राचीन सस्कृति के प्रति गर्व की भावना भी रहती थी। मुंशी अतीत के अन्ध भक्त न होते हुये भी उसके जीवन्त तत्वों से प्रेरणा ग्रहण करने के पक्षपाती हैं। उनकी दृष्टि से विना गौरवशाली अतीत से वल और प्रेरणा प्राप्त किए आधुनिक सघर्षों में विजय प्राप्त करना सभव नहीं। श्री मुशी ने गुजराती भाषा और साहित्य को ओज और शक्ति दी और उसे अन्य भारतीय साहित्यों के समकक्ष लाने में सहायता दी। 'पुरदर पराजय' में सुकन्या और च्यवन सम्बन्धी पौराणिक कथा का आधार लिया गया। 'अविभक्त आत्मा' में अरुन्धती और वशिष्ठ की जीवन कथा को ले कर यह दिखाया गया है कि सच्चे प्रेमी सत्यमेव एक दूसरे के आधे अग होते हैं। 'तर्पण' एक दुखान्त नाटक है। इसमें अनार्यों के ऊपर आर्यों की विजय दिखलायी गयी है। इन नाटकों में जो देव पात्र आए है वे विलकुल मनुष्यों जैसा व्यवहार करते हैं। वे मनुष्यों की तरह रोते गाते हंसते वोलते हैं और उनका व्यवहार स्वाभाविक और सहज होता है। 'पुत्र समोवडी'' नाटक में शुक्राचार्य और देवयानी की कथा ली गई है। इस नाटक के पात्रों का रूपनिर्माण अधिक स्वाभाविक है और इसमें आई घटनाओं की व्यवस्था भी अच्छी हुई है। 'ध्रुवस्वामिनी देवी'

प्राचीन भारतीय इतिहास की एक प्रसिद्ध कथा के आधार पर लिखा गया है। इस नाटक में हमें सजीव स्त्री पुरुष मिलते हैं। वे जाने पहचाने से लगते हैं। कथावस्तु का आधार विशाख दत्त का 'देवी चन्द्र गुप्तम्' नाटक है। ध्रुवस्वामिनी का चरित्र उदात्त, महिमा मण्डित और दृढता पूर्ण है।

श्री मुन्शी के सामाजिक नाटक छोटे, चुस्त और समस्या मूलक हैं। जैसा कि एक स्थल पर नाटककार ने स्वयं कहा है—"वे लोग जिनके ऊपर कुलीनता का भूत हरदम सवार रहता है इन नाटकों को न पढ़ें। ये नाटक आधुनिक हैं और जो लोग भारतीयता को रूढिवादी ढंग से पूज्य समझते हैं उन्हें इससे धक्का भी लग सकता है।" इन नाटकों में रूढ़ियों, ढोंगों और मिथ्याचारों का भण्डा-फोड़ किया गया है। व्यंग्य और हास्य का पुट यहाँ से वहाँ तक देखने को मिल जाता है। 'वावा सेठणून स्वातन्त्र्य' नाटक में एक ऐसे पति का चर्चा है जो *अपनी बीबी का गुलाम* है। 'वेखरा-वजन' नाटक में रईस वकील की बेटी रम्भा एक गरीब तरुण से विवाह करती है। 'अशांकिता' में निम्नश्रेणी के दारुण जीवन का दृश्य उपस्थित किया गया है। इसमें एक विधवा जबर्दस्ती एक बूढ़े लक्ष्मीपति से व्याही जाती है। अन्त में अनेक घृणित परिस्थितियों से गुजर कर यह स्त्री उस बूढ़े क्लर्क से विवाह कर लेती है जिसके पास केवल दो बीघा जमीन है, एक जोड़ी बैल है और एक गाय है। 'काकाणी शशि' में एक बम्बई की नवीना लड़की है जो अपने को मुक्त रखने की कोशिश करती है और अन्त में वह अपने सरक्षक से विवाह कर लेती है। ये सारे के सारे नाटक अत्यन्त लोक-प्रिय हुए और विद्यार्थियों द्वारा अनेक बार रगमच पर उपस्थित भी हुए। 'ब्रह्मचर्याश्रम' नाटक यरबडा जेल में लिखा गया था। नाटक का प्रथम दृश्य जेल से ही आरम्भ होता है। जेल के राजनैतिक वदी अपनी पत्नियों से अलग रहने के लिए विवश हैं। इस लिए वे ब्रह्मचर्य

की प्रशसा करते हैं। बाहर निकलकर वे ब्रह्मचर्याश्रम कायम करते हैं और ब्रह्मचारी का जीवन व्यतीत करते हैं। इसी बीच उनके रसोइए की भतीजी पेमली काम करने आती है और सारे ब्रह्मचारी एक एक करके उस पर आकृष्ट होते हैं। उनमें सघर्ष होता है और एक एक कर सभी आश्रम छोड़कर चले आते हैं। केवल डा० मधुभाई रह जाते हैं। डा० मधुभाई अपनी इस योजना को टूटते बिखरते देखकर रो पड़ते हैं। पेमली स्नेहवश उनके गले से लगकर उनको समझाती है। अन्त में डाक्टर की आँखें खुलती हैं और वह पेमली को अपनी गोद में लिए ही गा उठता है "वीर ही ईश्वर के पथ के पथिक हो सकते हैं।"

अपने पति के ही समान श्रीमती लीलावती मुशी ने साहित्य के क्षेत्र में अत्यधिक नाम कमाया है। भाषा पर श्रीमती मुन्शी को विचित्र अधिकार है। लीलावती जी ने अनेक एकाकी नाटक लिखे हैं। आप द्वारा चित्रित महिलाओं का अपना निजी व्यक्तित्व होता है। श्रीमती मुन्शी की शैली अलग है। आप ने नारी समाज की मनोदशा का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है।

बटुभाई लालभाई उमरवाड़िया ने भी कई एकांकी नाटक लिखे हैं। 'मत्स्यगधा और गांगेय' तथा 'मालादेवी ने ये बीज नाटकों' आदि इनके अनेक एकाकी सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

रमण लाल बसन्त लाल देसाई ने भी 'सयुक्ता' और 'शकिता हृदया' नाम के दो नाटको की रचना की है।

इस प्रकार गुजराती नाट्य साहित्य की परम्परा चलती जा रही है। पिछले दस पन्द्रह वर्षों में बगाल और बम्बई की तरह नाट्य कला तथा रंग मञ्च में यहाँ भी अनेक सुधार और परिवर्तन हुए। गुजरात के नाटककार और कलाकार नवयुग की नई मार्गों और जिम्मेदारियों को भली भांति पहचानते हैं।

अठारहवाँ अध्याय

हिन्दी नाट्य साहित्य की भूमिका

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' नामक अपने प्रसिद्ध लेख में हिंदी नाटकों के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में विस्तार से प्रकाश डाला है। यहाँ हम उस लेख के महत्वपूर्व अशों को उद्धृत कर रहे हैं। इस लेख में भारतेन्दु जी ने नाट्य शास्त्र, संस्कृत नाटकों के अनुवाद, पारसी थियेटरों के कुप्रभाव, अंग्रेजी नाटकों के क्रमिक विकास तथा हिंदी नाटकों पर बंगला नाट्य साहित्य और रंग-मंच के प्रभाव पर अच्छी तरह प्रकाश डाला है। भारतेन्दु जी के समय में जो अनूदित अथवा मौलिक नाटक हिन्दी में थे उनकी सूची भी इस लेख में दे दी गई है। यह लेख केवल जानकारी की दृष्टि से ही नहीं बल्कि ऐतिहासिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्व पूर्ण है।

अथ नाटक रचना

प्राचीन समय में संस्कृत भाषा में महाभारत आदि का कोई प्रख्यात वृत्तात अथवा कवि प्रौढ़ोक्ति संभूत, किंवा लोकाचार सघटित, कोई कल्पित आख्यायिका अवलंबन करके, नाटक प्रभृति दशविध रूपक और नाटिका प्रभृति अष्टादश प्रकार उप रूपक लिपिबद्ध होकर, सहृदय समासद लोगों की तात्कालिक रुचि अनुसार, उक्त नाटक नाटिका प्रभृति दृष्य काव्य किसी राजा की अथवा राजकीय उच्च पदाभिषिक्त लोगों की नाट्यशाला में अभिनित होते थे।

प्राचीन काल के अभिनयादि के संबंध में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शक मडंली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृष्य काव्य रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त विनोदन कर गए हैं। किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश

में विलक्षण है, इससे संप्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्ति सगत नहीं बोध होता।

जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदय गण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाट्यकार का दृश्य कार्य प्रणयन करना योग्य है।

नाटकादि दृष्यकाव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे, यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो प्राचीन रीति व पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगो की मतपोषिका होगी वह सब अवश्य ग्रहण होगी। नाट्य कला कौशल दिखलाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्वकाल में लोकातीत असम्भव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदय हारिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती। अब नाटकादि दृश्यकाव्य में अस्वाभाविक सामग्री-परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य मडली को नितात अरुचिकर है। इसलिए स्वाभाविक रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है। इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक में कहीं आशी.[1] प्रभृति नाट्यालकार, कहीं प्रकरी,[2] कहीं विलोभन[3], कहीं

---

१ आशी : नाटक में जो आशीर्वाद कहा जाय। यथा शकुन्तला में 'ययातेरिव शर्मिष्ठा पत्युर्बहुमता भव।'

२. 'प्रकरी नायकस्य स्यान्नाटकीयफलांतरम्।'

३. 'गुणाख्यानं विलोभनं' यथा वेणीसंहार में 'नाथ किं दुष्करं तुए परिकुविदेते।'

संफेट[1] कहीं 'पंचसंधि'[2] वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसंधान करना वा किसी नाटकाग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है। सस्कृत नाटकादि रचना के निमित्त महामुनि भरत जी जो सब नियम लिख गए हैं, उनमें जो हिन्दी नाटक रचना के नितांत उपयोगी हैं और इस काल के सहृदय सामाजिक लोगों की रुचि के अनुयायी हैं वे ही नियम यहाँ प्रकाशित होते हैं।

अथ प्रतिकृति

किसी चित्रपट-द्वारा नदी, पर्वत, वन वा उपवन आदि की प्रतिच्छाया दिखलाने को प्रतिकृत कहते हैं। इसी का नामतंर अंत-पटी का, चित्रपट का दृश्य वा स्थान है।[3] यद्यपि महामुनि भरत प्रणीत नाट्यशास्त्र में, चित्रपट द्वारा प्रसाद वन, उपवन किंवा शैल प्रभृति की प्रतिच्छाया दिखाने का कोई नियम स्पष्ट नहीं लिखा है, किन्तु अनुधावन करने से बोध होता है कि तत्काल में भी अंतःपटी परिवर्तन द्वारा वन, उपवन वा पर्वतादि की प्रतिच्छाया अवश्य दिखलाई जाती थी। ऐसा न होता तो पौर-जानपदवर्ग के अपवाद भय से श्रीरामकृत

---

१. 'संफेटो रोपभाषणम्' यथा वेणीसंहार में राजा, "अरे मरुत्तनय ! वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निदितमप्यात्मकर्म श्लाघयसि।"

२ पंचसंधि यथा—'मुख प्रतिमुखं गर्भो विमर्ष उपसंहृतिः। इति पंचास्यभेदाः स्युः।'

३. वर्तमान समय मे जहाँ जहाँ से दृश्य बदलते हैं उसी को गर्भांक कहते हैं।

सीता परिहार के समय में उसी रंगस्थल में एक ही बार अयोध्या का राज प्रासाद और फिर उसी समय वाल्मीकि का तपोवन कैसे दिखलाई पड़ता ? इससे निश्चय होता है कि प्रतिकृति के परिवर्तन द्वारा पूर्व-काल में यह सब अवश्य दिखलाया जाता था। ऐसे ही अभिज्ञान शाकुंतल नाटक के अभिनय करने के समय सूत्रधार एक ही स्थान में रहकर परदा बदले बिना कैसे कभी तपोवन और कभी दुष्यन्त का राज प्रासाद दिखला सकेगा ?[1] यही सब बात प्रमाण है कि उस काल मे भी चित्रपट अवश्य होते थे। ये चित्रपट नाटक में अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु हैं और इनके बिना खेल अत्यन्त नीरस होता है।

जवनिका वा बाह्यपटी[2]

कार्य अनुरोध से समस्त रंगस्थल को आवरण करने के लिए नाट्यशाला के सम्मुख जो चित्र प्रक्षिप्त रहता है उसका नाम जवनिका

---

१. मुद्राराक्षस में भी कई उदाहरण इसके प्रत्यक्ष मिलते हैं। मलय केतु राक्षस से मिलने जाता है, यह कह कर उसी अंक में कहते हैं कि आसन पर बैठा राक्षस दिखलाई पड़ा। श्मशान से चंदनदास को लेकर चांडाल कुछ बढ़कर पुकारता है कि 'भीतर कौन है, अमात्य चाणक्य से कहो' इत्यादि। अर्थात् पूर्व के दोनों दृश्य बदलकर राक्षस के और चाणक्य के घर के दृश्य दिखलाई पड़े। यह न हो तब तो नाटक निरे व्यर्थ हो जाते हैं। जैसा 'रास' में महाराष्ट्रों के नाटक में शतरंजी और मशालची को दिखलाकर नायिका नायक कहते हैं कि, 'अहा देखो, यह फुलवारी वा नदी कैसी सुन्दर है!' इससे जहाँ पात्र जैसे स्थान का अपने वाक्य में वर्णन करे वा जिस स्थान की वह कथा हो, उसका चित्र पीछे पड़ा रहना बहुत ही आवश्यक है।

२. इस परदे पर कोई सुन्दर मनोहर नदी, पर्वत, नगर इत्यादि का दृश्य या किसी प्रसिद्ध नाटक के किसी अंक का चित्र दिखलाना अच्छा होता है।

वा वाह्यपटी है। जब रंग शाला में चित्रपट परिवर्तन का प्रयोजन होता है उस समय यह जवनिका गिरा दी जाती है। सस्कृत नाटकों में जवनिका का नियम देखने से और भी प्रतीत होता है कि अंतः पटी परिवर्तन द्वारा गिरि नदी आदि की प्रतिच्छाया उस काल में भी अवश्य दिखलाई जाती थी।

'ततः प्रविशन्त्यपटीक्षेपेणाप्सरसः'

अर्थात् 'फिर जवनिका बिना गिराये ही उर्वशी विरहातुर अप्सरागण ने रंगस्थल में प्रवेश किया' इत्यादि दृष्टात ही इसके प्रमाण हैं।

अथ प्रस्तावना

नाटक की कथा आरम्भ होने के पूर्व नटी, विदूषक किंवा पारि-पार्श्वक सूत्रधार से मिलकर प्रकृति प्रस्ताव विषयक जो कथोपकथन करें, नाटक के इतिवृत्त सूचक उस प्रस्ताव को प्रस्तावना कहते हैं। नाटक की नियमावली में मुनिवर भरताचार्य ने पाच प्रकार की प्रस्तावना लिखी हैं। वह पांचों प्रणाली अति आश्चर्य-भरित और सुन्दर हैं। उसमें से चार हिन्दी नाटक में भी व्यवहार की जा सकती हैं। सूत्रधार के पार्श्वचर बंधु को पारिपार्श्वक कहते हैं। पारिपार्श्वक की अपेक्षा नट कुछ न्यून होता है। अब पूर्व लिखित पाच प्रकार की प्रस्तावना लिखते हैं।

यथा—१. उद्‌वात्यक २. कथोद्‌घात ३. प्रयोगातिशय ४. प्रवर्त्तक और ५. अवगलित।

अथ उद्‌घात्यक

सूत्रधार प्रभृति की बात सुनकर अन्य प्रकार अर्थ प्रतिपादन पूर्वक जहां पात्र प्रवेश होता है उसे उद्‌घात्यक प्रस्तावना कहते हैं।

उदाहरण—मुद्राराक्षस

सूत्र०—प्यारी, मैंने जोतिः शास्त्र के चौसठों अंगों में बड़ा परिश्रम

किया है। जो हो रसोई तो होने दो। पर आज गहन है, यह तो किसी ने तुम्हें धोखा ही दिया है। क्योंकि—

चंन्द्रबिंब पूरन भए, क्रूर केतु हठ दाप।
बल सों करिहै ग्रास कह

(नेपथ्य में)

हैं, मेरे जीते चन्द्र को कौन बल से ग्रास कर सकता है!

सूत्र० जेहि बुध रच्छत आप।

यहाँ सूत्रधार ने तो ग्रहण का विषय कहा था किंतु चाणक्य ने चन्द्र शब्द का अर्थ चन्द्रगुप्त प्रगट करके प्रवेश करना चाहा, इसी से उद्घात्यक प्रस्तावना हुई।

अथ कथोद्घात

जहाँ सूत्रधार की बात सुनकर उसके साथ वाक्य के अर्थ का मर्म ग्रहण करके पात्र प्रविष्ट होते हैं उसे कथोद्घात कहते हैं।

यथा रत्नावली में, सूत्रधार के इस कहने पर कि 'ईश्वरेच्छा से द्वीपांतर किंवा समुद्र के मध्य की वस्तु भी सहज में मिल जाती है' यौगंधरायण का आना।

यहाँ सूत्रधार के वाक्य का मर्म यह था कि जिस नाटक में द्वीपांतर की नायिका आती है, वह खेला जायगा। इसी को समझकर अन्य नट मंत्री बनकर आया।

अथ प्रयोगातिशय

एक प्रयोग करते करते घुणाक्षरन्याय से दूसरे ही प्रकार का प्रयोग कौशल में प्रयुक्त और उसी प्रयोग का आश्रय करके पात्र प्रवेश करें तो उसको प्रयोगातिशय प्रस्तावना कहते हैं।

जैसे कुंदमाला नामक नाटक में सूत्रधार ने नृत्य प्रयोग के निमित्त अपनी भार्या को आह्वान करने के प्रयोग विशेष द्वारा सीता और लक्ष्मण का प्रवेश सूचित किया। इस प्रकार से नाटक की प्रस्तावना शेष होने पर पात्र प्रवेश और नाटकीय इतिवृत्त की सूचना होगी।

अथ चर्चरिका

जब-जब एक-एक विषय समाप्त होगा जवनिका पात करके पात्रगण अन्य विषय दिखलाने को प्रस्तुत होंगे तब पटाक्षेप के साथ ही नेपथ्य में चर्चरिका आवश्यक है, क्योंकि विना उसके अभिनय शुष्क हो जाता है। जहाँ बहुत स्वर मिल कर कोई बाजा बजे या गान हो उसको चर्चरिका कहते हैं। इसमें नाटक की कथा के अनुरूप गीतों का वा रागों का बजना योग्य है। जैसे सत्य हरिश्चन्द्र में प्रथम अंक की समाप्ति में जो चर्चरिका बजै वह भैरवी आदि सवेरे के राग की और तीसरे अक की समाप्ति पर जो बजै वह रात के राग की होनी चाहिए।

कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती वृत्ति

अथ कैशिकी वृत्ति

जो वृत्ति अति मनोहर, स्त्री जनोचित भूषण से भूषित और रमणी बाहुल्य नृत्य[१] गीतादि परिपूर्ण और भोगादि विविध विलास युक्त होती है उसका नाम कैशिकी वृत्ति है। यह वृत्ति शृंगाररस प्रधान नाटकों की उपयोगिनी है।

---

१. हिन्दुस्तान से नृत्य विद्या उठ गई। यह विद्या आगे इस देश में ऐसी प्रचलित थी कि सब अच्छे लोग इसको सीखते थे। इसके शास्त्र अब तक कहीं कहीं लब्ध होते हैं और उनसे इस विद्या का महत्त्व प्रत्यक्ष प्रगट होता है। सङ्गीतशास्त्र का यह एक अङ्ग है। वाद्य, नृत्य और गाना यह तीनों वस्तु जिसमें हों उसकी सङ्गीत संज्ञा है। इस काल में हिन्दुस्तान में सङ्गीत शास्त्र जानने वालों का कुछ आदर नहीं और लोग इस विद्या से लज्जा करते हैं, परन्तु वही इस देश के दुर्दिन का उदाहरण है। अब भी भारतवर्ष के जिस प्रदेश में यह विद्या बच गई है वहाँ बहुत अच्छी है। १८७१ ई० में श्री महाराज व्यङ्कटगिरि के सङ्ग एक नर्तकी शारदा नाम

अथ सात्वती वृत्ति

जिस वृत्ति द्वारा शौर्य, दान, दया और दाक्षिण्य प्रभृति से वीरोचिता, विविध गुणान्विता, आनन्द विशेपोद्भाविनी, सामान्य विलासयुक्ता, विशोका और उत्साहवर्द्धिनी वाग्भगी नायक-कर्तृक प्रयुक्त होती है उसका नाम सात्वती वृत्ति है। वीररस प्रधान नाटक मे इसकी आवश्यकता होती है।

अथ आरभटी

माया, इन्द्रजाल, सग्राम, क्रोध, आघात, प्रतिघात और वधनादि विविध रौद्रोचितकार्यजड़ित वृत्ति का नाम आरभटी है। रौद्ररस वर्णन के स्थल मे इस वृत्ति पर दृष्टि रखनी चाहिए।

की आई थी। निस्सन्देह वह इस विद्या मे बहुत प्रवीण थी। नृत्त और नृत्य दोनों में अपूर्व काम करती थी। इस देश की नर्तकी तो केवल मुखावलोकन के ही योग्य होती हैं, गुण तो उनके पास से भी नहीं निकलता। परन्तु वह 'यथा नाम तथा गुणः' को सत्य करती थी। नृत्य और नृत्त में यह भेद है कि 'भवेदभावाश्रयं नृत्तं नृत्यं ताललयाश्रयम्'— जिसमें भाव मुख्य हो वह नृत्त और जिसमें लय मुख्य हो वह नृत्य कहलाता है। भाव नेत्र, भौंह, मुख और हाथ तथा स्वर से भी प्रगट होते हैं। लय भी हाथ, पैर, गले और भौंह से होती है। नृत्य के शास्त्रों में १०८ भेद लिखे हैं और लाग, डांट, उरप, तिरप, हस्तक भेद इत्यादि इसके अङ्ग हैं, जिसमें केवल घुंघरू बजाने के ७ मुख्य भेद हैं। लास्य और तांडव इसके दो मुख्य अङ्ग हैं और यह नृत्त एक से लेकर बहुत से मनुष्यों से भी होता है। पुरुष और स्त्री दोनों इसके अधिकारी हैं। परन्तु नृत्त भेद से किसी में केवल पुरुष, किसी में केवल स्त्री और किसी में दोनों होते हैं। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि यह विद्या सम्बन्धी सङ्गीत शास्त्र हम लोगों में फैले और यह प्रचलित मूर्खतामय लज्जा का कारण विषयरूपी सङ्गीत हमारे शत्रुओं को मिले।

अथ भारती

साधुभाषा बाहुल्य वृत्ति का नाम भारती वृत्ति है। वीभत्स रस वर्णन स्थल में यह व्यवहृत होती है। नाटककर्ता ग्रथ गुफन करने के समय यदि आद्यरस-प्रधान नाटक लिखने की इच्छा करेंगे, तो उनको कैशिकी वृत्ति ही में समस्त वर्णन करना योग्य है। आद्यरस वर्णन करने के समय ताल ठोंकना, मुग्दर घुमाना वा असिक्षेप प्रभृति वीरोचित विषयक कोई भी वर्णन नहीं करना चाहिए। सात्वती प्रभृति वृत्तियों के पक्ष में भी ठीक यही चाल है।

अथ उपक्षेप

अभिनय कार्य के प्रथम सक्षेप में समस्त नाटकीय विवरण कथन का नाम उपक्षेप है।

पूर्वकाल में मुद्रा यंत्र[1] की सृष्टि नहीं हुई थी, इस हेतु रंगस्थल में नट, नटी, सूत्रधार अथवा पारिपार्श्वक कर्तृक उपक्षेप का उल्लेख होता था। आजकल मुद्रायंत्र के प्रभाव मे इसकी कुछ आवश्यकता नहीं रही। प्रोग्राम बाँट देने ही से वह काम सिद्ध हो जायेगा।

पूर्वकाल में नाटक मात्र में उपक्षेप उपन्यस्त होता था, यह नियम नहा था, क्योंकि सब नाटकों में उपक्षेप का उल्लेख दिखाई नहीं पड़ता। वेणीसंहार में इसका उल्लेख है किन्तु यह भीमकृत उपन्यस्त हुआ है।

---

१ यद्यपि छापे की विद्या बहुत दिनों से भारतवर्ष में प्रचलित है, इसमें कुछ सन्देह नहीं, किन्तु आज कल जैसी इसकी उन्नति है और इससे पत्र और पुस्तक आदि छप छप के प्रकाशित होते हैं यह भी कभी यहाँ था कि नहीं सो कुछ निश्चय नहीं है। श्रीकृष्ण के समय जब राजा शाल्व ने द्वारावती पुरी को आक्रमण किया उस समय वहां यह बन्दोबस्त किया था कि 'नचाऽमुद्रोऽभिनिर्याति नैवांत प्रविशेदपि'—(महाभारत वनपर्व) अर्थात् बिना राजकीय नाम की मोहर छाप के कोई नगर से निकल नहीं सके और कोई भीतर भी न आवे। यहां स्पष्ट ही देख लीजिये

यथा भीम—

लाक्षागृहानलविषान्नसभा प्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।

कि छापे की मुद्रा से, एक जगह के अक्षर दूसरी जगह उतारे जाते थे। मुद्राराक्षस नाटक, जो राजा चंद्रगुप्त के समसामयिक वा कुछ उत्तरवर्ती काल में बना है, यहाँ भी राक्षस नामांकित मुद्रा प्रसिद्ध ही है! इस प्रकार यद्यपि मुद्रण विधि का मूल तो आर्य शास्त्रों मे प्रायः मिलता है, किन्तु इसकी उन्नति करके देशातरीय लोगों ने जैसा इससे लाभ उठाया है वैसा भारतीय आर्य लोगों ने कुछ भी नहीं किया यह सभी कोई कह सकते हैं, अतएव यह मुद्रण विद्या देशांतर ही से चली और अनार्य लोग ही इसके आद्य आचार्य हुए, यह बात हमको भी खुले मुंह कहनी पड़ती है।

छापा यंत्र बनाने के निमित्त अनेक लोग ही सम्मान प्राप्त होने के योग्य हैं। किन्तु वास्तव में इंगलैण्ड देश के हार्लेम नगर में यह यंत्र पहिले ही पहिले निर्मित हुआ, यह प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। उक्त नगर के शासनकर्ता लौरेंस कौभर साहिब ने शक १४४० (चौदह सौ चालीस) में, इसका निर्माण किया और आद्य प्रादुर्भावकर्ता के निमित्त सबसे प्रथम वही सम्माननीय हुआ। वह एक दिन अपने समीपस्थ किसी बगीचे में जाके एक वृक्ष की गीली त्वचा काटके उससे अपने नाम के अक्षर बना बना एक क्रीड़ा सी कर रहा था। वे ही अक्षर काट काट के जब उसने एक किसी कागज के ऊपर रख दिये थे, उसी समय एक वायु का झोंका आया और वे अक्षर जो उस वृक्ष के रस से गीले हो रहे थे, उनकी समस्त आकृति वायुवेग से हठात् उस कागज पर उमड़ आई। साहिब ने जब उक्त घटना देखी तो पीछे अपनी विवेचना द्वारा वह और और भी अनेक प्रकार की परीक्षा करने लगा, फिर उसने काष्ठ के अक्षर बनाके एक प्रकार सघन और द्रव वस्तु में उनको डुबाके छापा किया, तब और भी

आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्
सुस्था भवन्ति मयि जीवति धार्त्तराष्ट्राः ।

अर्थ प्ररोचन

जिसके अनुष्ठान द्वारा अभिनयदर्शन में सामाजिक लोगों की प्रवृत्ति जन्मती है उसका नाम प्ररोचना है। यह सूत्रधार, नट, पारिपार्श्वक वा नटी के द्वारा विगीत होती है।

अथ नेपथ्य

रंगस्थल के पश्चात् भाग में जो एक गुप्त स्थान रहता है उसका नाम नेपथ्य है।

अलङ्कारयिता इसी स्थान में पात्रों को वेष-भूषणादि से साजते हैं। जब रङ्गभूमि में आकाशवाणी, दैवी वाणी अथवा और कोई

कुछ उत्तम छपा हुआ मालूम दिया। शेष में उसने सीसा एवं सीसा और राँगा मिले हुए धातु से अक्षर बना के यंत्र के निमित्त एक स्वतन्त्र स्थान निर्माण किया। इस प्रकार उस काल से लेके अद्य पर्यन्त इस उत्तम मुद्रण विद्या की वृद्धि होती ही चली आती है। उक्त लौरेंस साहिब के पास एक उसका नौकर योहन्‌फस्तस् नामक रहता था। उसने गुप्त भाव से अपने स्वामी की विद्या चुराई और वहाँ से आके मेंडस नामक नगर में, उक्त मुद्रण विद्या का प्रकाश किया। अतएव वह उस देश में उस नूतन विद्या द्वारा विद्वान और मायावी के नाम से स्वयं विख्यात हुआ।

भारतवर्षीय उन्नति के समय और उसके बाद जब यूनान और रोम-देशीय लोगों की उन्नति का समय आया तो, यहाँ भी केवल जो धनी और बड़े आदमी होते थे, अथवा अधिक परिश्रम करते थे वही हस्तलिखित पुस्तकों द्वारा विद्या उपार्जन कर सकते थे, किन्तु आज छापे द्वारा विविध विद्याविभूषित पुस्तकें सर्वसाधारण को सहज ही में प्राप्त हो सकती हैं, इससे मनुष्य समाज में एक नूतन युग सा आविर्भूत हुआ दिखाई देता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं।

मानुषी वाणी का प्रयोजन होता है तो वह नेपथ्य ही में से गाई या कही जाती है।

अथ उद्देश्यवीज

गुफित आख्यायिका के समग्र मर्म्म का नाम उद्देश्यवीज है। कवि जो इसका साधन न कर सकेगा तो उसका ग्रन्थ नाटक मे परि-गणित न होगा।

अथ वस्तु

नाटकीय इतिहास अथवा कोई विवरण विशेष का नाम वस्तु है। वस्तु दो प्रकार की है यथा—आधिकारिक वस्तु और प्रासगिक वस्तु।

अथ आधिकारिक वस्तु

जो समस्त इतिवृत्त का प्रधान नायक होता है उसको अधिकारी कहते हैं। अधिकारी का आश्रय करके जो वस्तु विरोचित होती है, उसका नाम आधिकारिक वस्तु है। जैसा उत्तमचरित।

अथ प्रासंगिक वस्तु

इस आधिकारिक इतिवृत्त का रस पुष्ट करने के लिए प्रसंगक्रम में जो वृत्ति लिखी होती है, उसका नाम प्रासङ्गिक वस्तु है। जैसा बालरामायण में सुग्रीव-विभीषणादि का चरित्र।

अथ मुख्य उद्देश्य

प्रसङ्ग-क्रम से नाटक में कितनी भी शाखा-प्रशाखा विस्तृत हों और गर्भाङ्क के द्वारा आख्यायिका के अतिरिक्त और कोई विषय वर्णित हो किंतु मूल प्रस्ताव निष्कप रहै तो उसकी रसपुष्टि करने को मुख्य उद्देश्य कहा जाता है।

अथ अभिनय

कालकृत अवस्था-विशेष के अनुकरण का नाम अभिनय है। अवस्था यथा, रामाभिषेक, सीता-निर्वासन, द्रौपदी का केशभाराकर्षण इत्यादि।

अथपात्र

जो लोग राम युधिष्ठिरादि का रूप धारण करके कथित अवस्था का अनुकरण करते हैं, उन लोगों को पात्र कहते हैं। नाटक के जो सब अंश स्त्रीगणकर्तृक प्रदर्शित होते हैं उनमें भाव, हाव, हेला प्रभृति यौवन-संभूत अष्टाविंशति प्रकार के अलंकारों का उन लोगों को अभ्यास नहीं करना पड़ता, किंतु पुरुषों को स्त्री-वेश धारण के समय अभ्यास द्वारा वह भाव दिखलाना पड़ता है।

अथ अभिनय प्रकार

अभिनय चार प्रकार का होता है यथा—आंगिकाभिनय, वाचिकाभिनय, आहार्याभिनय और सात्विकाभिनय।

अथ आंगिकाभिनय

केवल अंगभगी-द्वारा जो अभिनय कार्य साधन करते हैं, उसका नाम आंगिकाभिनय है। जैसे सती नाटक में नंदी। सती ने शिव की निंदा श्रवण करके देह त्याग किया। यह सुनकर महावीर नंदी ने जब त्रिशूल हस्त में ले करके रंगस्थल में प्रवेश किया तब केवल आंगिकभाव द्वारा क्रोध दिखलाना चाहिए।

अथ वाचिकाभिनय

केवल वाक्य-विन्यास द्वारा जो अभिनय-कार्य समाहित होता है, उसका नाम वाचिकाभिनय है। यथा तोतले आदि का वेश।

अथ आहार्याभिनय

वेष भूषणादि निष्पाद्य का नाम आहार्याभिनय है। जैसा सत्य-हरिश्चद्र में चोबदार वा मुसाहिब लोग जब राजा के साथ रंगस्थल में प्रवेश करते हैं तब इनको कुछ बात नहीं करनी पड़ती। केवल आहार्याभिनय के द्वारा आत्मकार्य निष्पन्न करना होता है।

अथ सात्विकाभिनय

स्तंभ, स्वेद, रोमाच, कंप और अश्रु प्रभृति द्वारा अवस्थानुकरण

का नाम सात्विकाभिनय है। जैसे सती का मृत देह देखकर नदी का व्यवहार और अश्रुपात इत्यादि।

अथ वीभत्साभिनय

एक पात्र-द्वारा जब कथित अभिनय में से दो वा तीन अथवा सब प्रदर्शित होते हैं तो उसको वीभत्साभिनय कहते हैं।

अथ अंगांगी भेद

नाटक में जो प्रधान नायक होता है उसको समस्त इतिवृत्ति का अगी कहते हैं। जैसे सत्यहरिश्चद्र मे हरिश्चद्र।

अथ अंग

अंगी के कार्यसाधक पात्रगण अग कहलाते हैं। जैसे वीर-चरित में सुग्रीव, विभीषण, अगद इत्यादि।

अथ वैपम्यपात दोप

नाटक में अगी को अवनत करके अग का प्राधान्य करने से वैषम्यपात नामक दोष होता है।

अथ अंक लक्षण

नाटक के एक-एक विभाग को एक-एक अक कहते हैं। अक में वर्णित नायक-नायिकादि पात्र का चरित्र और आचार-व्यवहारादि दिखलाया जाता है। अनावश्यक कार्य का उल्लेख नहीं रहता। अक में अधिक पद्य का समावेश दूषणावह होता है।

अथ अंकावयव

नाटक का अवयव वृहत् होने से एक रात्रि में अभिनय-कार्य समाहित नहीं होगा। इस हेतु दश अक से अधिक नाटक निर्माणविधि और युक्ति के विरुद्ध है। प्रथम अक का अवयव जितना होगा द्विती-याक का अवयव तदपेक्षा न्यून होना चाहिए। ऐसे ही क्रम-क्रम से अक का अवयव छोटा करके ग्रन्थ समाप्त करना चाहिए।

अथ विरोधक

नाटक में जिन विषयों का वर्णन निषिद्ध है, उनका नाम विरोधक है।

उदाहरण

दूराह्वान, अति विस्तृत युद्ध, राज्य देशादि का विप्लव, प्रबल वात्या, दतच्छद, नखक्षत, अश्वादि वृहत्काय जतु का अति वेग से गमन, नौका-परिचालन और नदी में सतरण प्रभृति अघटनीय विषय।

अथ नायक निर्वाचन

विनय, शीलता, वदान्यता, दक्षता, क्षिप्रता, शौर्य, प्रिय-भाषिता, लोकरजकता, वाग्मिता प्रभृति गुणसमूह-संपन्न सद्वशसंभूत युवा को नायक होने का अधिकार है। नायक की भाँति नायिका में भी यथा-संभव वही गुण रहना आवश्यक है। प्रहसन आदि रूपक-विशेष के नायकादि अन्य प्रकार के होते हैं।

अथ परिच्छद-विवेक

नाटकांतर्गत कौन पात्र कैसा परिच्छद पहरे यह ग्रन्थकार कर्त्तृक उल्लिखित नहीं होता, न किसी प्राचीन नाटककार ने इसका उल्लेख किया है। नाटक में किसी-किसी स्थान में उत्तम परिच्छद का परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। जैसा सत्यहरिश्चन्द्र में "दरिद्र वेष से हरिश्चद्र का प्रवेश।"

ऐसी अवस्था भिन्न स्पष्ट रूप से परिच्छद का वर्णन किसी स्थान में उल्लिखित नहीं रहता, इससे अभिनय में वेश-रचयिता पात्रगण का स्वभाव और अवस्था विचार करके वेशरचना कर दे। नेपथ्य-कार्य सुन्दर रूप से निर्वाह के हेतु एक रसज्ञ वेषविधायक की आवश्यकता रहती है।

अथ देशकाल प्रवाह

अति दीर्घकाल संपाद्य घटना सकल नाटक में अल्पकाल के मध्य

में वर्णन करना यद्यपि दूषणावह नहीं है तथापि नाटक में देशगत और कालगत वैलक्षण्य वर्णन करना अतिशय अनुचित है।

अथ विष्कंभक

नाटक मे विष्कभक रखने का तात्पर्य यह है कि नाटकीय वस्तु रचना में जो जो अश अत्यत नीरस और आडबरात्मक हैं उनके सन्निवेशित होने से सामाजिक लोगों को विरक्ति और अरुचि हो जाती है। नाटक-प्रणेतृगण इन घटनाओं को पात्र विशेष के मुख से सक्षेप में विनिर्गत कराते हैं।

अथ नाटकरचना-प्रणाली

नाटक लिखना आरभ करके, जो लोग उद्देश्य वस्तु परपरा से चमत्कारजनक और अति मधुर वस्तु निर्व्वाचन करके भी स्वाभाविक सामग्री परिपोष के प्रति दृष्टिपात नहीं करते उनका नाटक नाटिकादि दृश्य काव्य लिखने का प्रयास व्यर्थ है क्योंकि नाटक आख्यायिका की भाँति श्रव्य काव्य नहीं है।

ग्रंथकर्त्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रों की बातचीत रचना करै कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बात भी विरचित हो। नाटक में वाचाल पात्र की मितभाषिता, मितभाषी की वाचा-लता, मूर्ख की वाक्पटुता और पडित का मौनीभाव विडबना मात्र है। पात्र की बात सुनकर उसके स्वभाव का परिचय ही नाटक का प्रधान अग है। नाटक में वाक्-प्रपंच एक प्रधान दोष है। रसविशेष द्वारा दर्शकों के अतःकरण को उन्नत अथवा एकबारगी शोकावनत करने को सर्माधिक वागाडबर करने से कभी उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। नाटक में वाचालता की अपेक्षा मितभाषिता के साथ वाग्मिता का ही सम्यक् आदर होता है। नाटक में प्रपच रूप से किसी भाव को व्यक्त करने का नाम गौण उपाय है और कौशल विशेष द्वारा थोड़ी बात में गुरुतर भाव व्यक्त करने का नाम मुख्योपाय है। थोड़ी सी बात में अधिक भाव की

अवतारणा ही नाटक जीवन का महौषध है। जैसा उत्तर-रामचरित में महात्मा जनकजी आकर पूछते हैं—'क्वास्ते प्रजावत्सलो रामः ?' यहाँ प्रजावत्सल शब्द से महाराज जनक के हृदय के कितने विकार बोध होते हैं, केवल सहृदय ही इसका अनुभव करेंगे। चित्रकार्य के निमित्त जिन-जिन उपकरणों का प्रयोजन और स्थान-विशेष की उच्चता-नीचता दिखलाने की जैसी आवश्यकता होती है वैसे ही वही उपकरण और उच्चता-नीचता प्रदानपूर्वक अति सुन्दर रूप से मनुष्य के बाह्य भाव और कार्यप्रणाली के चित्रण द्वारा सहज भाव से उनका दिखलाना प्रशसा का विषय है। जो इस भाँति दूसरे का अंतरभाव व्यक्त करने को समर्थ हैं, उन्हीं को नाटककार सम्बोधन दिया जा सकता है और उन्हीं के प्रणीत ग्रन्थ नाटक में परिगणित होते हैं।

नाटक में अंतर का भाव कैसे चित्रित किया जाता है इसका एक अति आश्चर्य दृष्टान्त अभिज्ञान शाकुतल* से उद्धृत किया गया।

शकुंतला श्वशुरालय में गमन करेगी इस पर भगवान कण्व जिस भाँति खेदप्रकाश करते हैं वह यह है।

---

* इस प्रसिद्ध नाटक के मंगलाचरण का श्लोक "या स्रष्टु. सृष्टिराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री। ये द्वे कालं विधत्त श्रुतिविषय-गुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ॥ यामाहुस्सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनिः प्राणवंत । प्रत्यक्षाभिः प्रसन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभि-रीश. ॥" बहुत प्रसिद्ध है और सब टीकाकारों ने इसके अनेक अर्थ किए हैं। तथापि मुझे ऐसा निश्चित होता है कि कालिदास ने क्षिति इत्यादि शब्दों से श्रीशिवजी का विराट स्वरूप वर्णन नहीं किया है क्योंकि उन मूर्त्तियों का 'प्रत्यक्षाभि' यह विशेषण दिया है और लोग "या स्रष्टु. सृष्टिराद्या" इसका अर्थ आकाश करते हैं तो आकाश क्या अक्षि का विषय

कण्व—(मन में चिन्ता करके) आहा आज शकुंतला पतिगृह में जायगी यह सोचकर हमारा हृदय कैसा उत्कंठित होता है, अन्तर में जो वाष्पभर का उच्छ्वास हुआ है उससे वाग्ज-

---

है ? इससे मेरे ध्यान में आता है कि शिवजी की जो प्रत्यक्ष परम सुन्दरी मूर्ति है यह उसी का वर्णन है। जैसे—

'या स्रष्टु सृष्टिराद्या' अर्थात् जल 'शीर्षे च मन्दाकिनी' जिस मूर्त्ति में जल सब के ऊपर है।

'वहति विधिहुतं या हवि' अर्थात् अग्नि, 'वंदे सूर्य्यशशाङ्कवह्नि-नयनं' जिस मूर्त्ति का एक मुख्य अंग अर्थात् नेत्र अग्नि है वा मुख वर्णन किया 'मुखो वै अग्नि, मुखादग्नि.'।

'या च होत्री' अर्थात् यजमानस्वरूपा जो मूर्त्ति कर्म्ममार्ग स्थापन करनेवाली है 'अभिवाद्यो महाकर्म्मा तपस्वी भूतभावन.' 'सर्व्वकर्म्मा' 'सर्व्वयज्ञकृत्' इत्यादि नाम प्रसिद्ध हैं, 'तं यज्ञ बर्हिषि प्रौक्षं पुरुष' इत्यादि की दो तीन ऋचा में यज्ञोत्पत्ति कही है।

'ये द्वे कालं विधत्त.' अर्थात् चन्द्रमा और सूर्य 'सूर्यशशाङ्कवह्नि-नयन' जिसकी दो नेत्र स्वरूप मूर्त्तियाँ काल का विधान करती हैं और शिव के निमिष में प्रलयादिक होते हैं यह भी पुराण-प्रसिद्ध वा सूर्य नेत्र चन्द्रमा सिर पर वा मन स्वरूप 'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोस्सूर्यो अजायत'।

'श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वं' अर्थात् वाणीस्वरूपी मूर्त्ति, जिसकी वाणी वेद स्वरूप विश्व को अपने नियम में व्याप्त कर के स्थित है क्योंकि शिवजी वाणी के अधिदेवता 'वागीशः' 'अहं कलानां ऋषभोपि' 'विद्याकामस्तु गिरिशं' 'वाणी व्याकरणं यस्य' इत्यादि पुराण में प्रसिद्ध हैं वा वेदों का विषय होकर जो मूर्त्ति एकदेशावच्छिन्ना होकर भी विश्व को व्याप्त करके स्थित है 'स भूमि सर्व्वतोवृत्त्वा अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्'

कुलता हो गई है और दृष्टिशक्ति चिन्ता से जड़ीभूत हो रही है। हाय! हम वनवासी तपस्वी हैं। सो जब हमारे हृदय में ऐसा वैक्लव्य होता है तो कन्या के वियोग के अभिनव दुःख में बेचारे गृहस्थों की क्या दशा होती होगी?

वा नाभि अंग का वर्णन किया है, 'यस्य नाभिर्वै आकाश' 'नाम्या आसीदंतरिक्षं' इत्यादि।

'यामाहु· सर्व्ववीजप्रकृतिरिति' अर्थात् पृथ्वी को अपने भस्म स्वरूप से सर्वाङ्ग में धारण किया है 'भस्मोद्धूलितसर्वाङ्ग' 'भस्मोद्धूलितिविग्रह·' इत्यादि वा पृथ्वी, गंगा, शिर, नेत्र, मुख, नाभि इत्यादि अंगों का वर्णन करके चरण का वर्णन करते हैं जिसके चरण पृथ्वी स्वरूप हैं 'चरणे धरा' 'पद्भ्याम्भूमि·' इत्यादि।

'यया प्राणिन प्राणवंत·' अर्थात् आत्मा, तो इसमें मूर्ति ही में आत्मा का वर्णन इस हेतु किया जिसमें भगवान् के देह में आत्मा अलग है यह संदेह न हो क्योंकि 'यथा सैंधवघनो' इत्यादि परमात्मा का स्वरूप है तो सब मूर्त्तियों का वर्णन करके व्यापकत्व और आत्मस्वरूपत्व कहा वा कानों का वर्णन मानों 'श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च' वा आप प्राणायामस्थ हैं यह ध्यान किया है।

तो इन आठों मूर्त्तियों मे विशिष्ट प्रत्यक्ष शिवजी का वर्णन कालिदास ने किया, कुछ संसार स्वरूप भगवान् का वर्णन नहीं है क्योंकि अंत में भी 'नीललोहित·' विशेषण दिया है और यों मानने से क्रम से शिर पर गंगा फिर मुख और उनके यज्ञादिक कर्म्म और चंद्रचूड़ तथाच नेत्र फिर वाणी का वा नाभि का और भस्मधारण का तथा चरण का और फिर मुख स्वरूप आत्मा का क्रमश वर्णन हो गया तो मेरी बुद्धि मे आता है कि कालिदास का अभिप्राय भी यही होगा क्योंकि 'प्रत्यक्षाभिः' का दोष और नाटक के उपसंहार में सगुण शिव नीललोहित करके वर्णन इत्यादि का इस अर्थ में विरोध नहीं आता।

सहृदय पाठक ! आप विवेचना करके देखिए कि इस स्थान में कविश्रेष्ठ कालिदास कुलपति कण्व ऋषि का रूप धारण करके ठीक उनका मानसिक भाव व्यक्त कर सके हैं कि नहीं।

इसके बदले कालिदास यदि कण्व ऋषि का छाती पीटकर रोना वर्णन करते तो उनके ऋषि जनोचित धैर्य की क्या दुर्दशा होती अथवा कण्व का शकुंतला के जाने पर शोक ही न वर्णन करते तो कण्व का स्वभाव मनुष्य-स्वभाव से कितना दूर जा पड़ता ? इसी हेतु कविकुलमुकुट-माणिक्य भगवान् कालिदास ने ऋषि-जनोचित भाव ही में कण्व का शोक वर्णन किया।

नाटक-रचना में शैथिल्य दोष कभी न होना चाहिए। नायक-नायिका द्वारा किसी कार्य विशेष की अवतारणा करके अपरिसमाप्त रखना अथवा अन्य व्यापार की अवतारणा करके उसका मूलच्छेद करना नाटक-रचना का उद्देश्य नहीं है। जिस नाटक की उत्तरोत्तर कार्य-प्रणाली संदर्शन करके दर्शक लोग पूर्व-पूर्व कार्य विस्मृत होते जाते हैं वह नाटक कभी प्रशसा-भाजन नहीं हो सकता। जिन लोगों ने केवल उत्तम-उत्तम वस्तु चुनकर एकत्र किया है उनकी गुंफित वस्तु की अपेक्षा जो उत्कृष्ट, मध्यम और अधम तीनों का यथास्थान निर्वाचन करके प्रकृति की भावभगी उत्तम रूप से चित्रित करने में समर्थ हैं वही काव्यामोदी रसज्ञ-मडली को अपूर्व आनद वितरण कर सकते हैं। कालिदास, भवभूति और शेक्सपियर प्रभृति नाटकार इसी हेतु पृथ्वी में अमर हो रहे हैं। कोई सामग्री सग्रह नहीं है, अथच नाटक लिखना होगा यह अलीक सकल्प करके जो लोग नाटक लिखने को लेखनी धारण करते हैं उनका परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। यदि किसी को नाटक लिखने की वासना हो तो नाटक किसको कहते हैं इसका तात्पर्य हृदयगम करके नाटकरचयिता को सूक्ष्म रूप से ओतप्रोत भाव में मनुष्य की प्रकृति आलोचना करनी चाहिए। जो अनालोचित-मानव प्रकृति हैं उनके द्वारा मानव

जाति के अंतर्भाव सब विशुद्ध रूप से चित्रित होंगे, यह कभी सभव नहीं है। इसी कारण कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतल और शेक्स-पियर के मैकवेथ और हैमलेट इतने विख्यात हो के पृथ्वी के सर्व स्थान में एकादर से परिभ्रमण करते हैं। मानव प्रकृति की समालोचन करनी हो तो नाना देशों में भ्रमण करके नाना प्रकार के लोगों के साथ कुछ दिन वास करे, तथा नाना प्रकार के समाज में गमन करके विविध लोगों का आलाप सुने तथा नाना प्रकार के ग्रथ अध्ययन करे, वरंच समय में अश्वरक्षक, गोरक्षक, दास, दासी, ग्रामीण, दस्यु प्रभृति नीच-प्रकृति और सामान्य लोगों के साथ कथोपकथन करे। यह न करने से मानवप्रकृति समालोचित नहीं होती। मनुष्यों की मानसिक वृत्ति परस्पर जिस प्रकार अदृश्य है उन लोगों के हृदयस्थ भाव भी उसी रूप अप्रत्यक्ष हैं। केवल बुद्धि-वृत्ति की परिचालना-द्वारा तथा जगत् के कतिपय वाह्य कार्यों पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसके अनुशीलन में प्रवृत्त होना होता है। और किसी उपकरण-द्वारा नाटक लिखना झख मारना है।

राजनीति, धर्म्मनीति, आन्वीक्षिकी, दण्डनीति, सधि, विग्रह प्रभृति राजगुण, मंत्रणा, चातुरी, आद्य, करुणा प्रभृति रस, विभाव, अनुभाव, व्यभिचार भाव तथा सात्विक भाव तथा व्यय वृद्धि, स्थान प्रभृति त्रिवर्ग की समालोचना में सम्यक् रूप समर्थ हो तव नाटक लिखने को लेखनी धारण करे।

स्वदेशीय तथा भिन्नदेशीय सामाजिक रीति, व्यवहारिक रीति पद्धति का निदान फल और परिणाम इन तीनों का विशिष्ट अनु-सधान, नाटक-रचना का उत्कृष्ट उपाय है।

वेश और वाणी दोनों ही पात्र के योग्यतानुसार होनी चाहिएँ। यदि भृत्यपात्र प्रवेश करे तो जैसे वहुमूल्य परिच्छद उसके हेतु अस्वा-भाविक है वैसे ही पडितों के सभाषण की भाँति विशेष संस्कृति-गर्भित भाषा भी उसके लिए अस्वाभाविकी है। महामुनि भरताचार्य पात्र

स्वभावानुकूल भाषण रखने का वर्णन अत्यत सविस्तर कर गए हैं। यद्यपि उनके नादीरचनादि विषय के नियम हिंदी में प्रयोजनीय नहीं किंतु पात्र-स्वभाव-विषयक नियम तो सर्वथा शिरोधार्य हैं।

नाटक पठन वा दर्शन में स्वभाव-रक्षा मात्र एक उपाय है जो पाठक और दर्शकों के मनःसमुद्र को भाव-तरगों से आस्फालित कर देता है।

अथ विदूषक

नाटकदर्शकगण विदूषक के नाम से अपरिचित नहीं हैं, किंतु विदूषक का प्रवेश किस स्थान में योग्य है इसका विचार लोग नहीं करते। बहुत से नाटक-लेखकों का सिद्धात है कि अथ इति की भाँति विदूषक की नाटक में सहज आवश्यकता है किंतु यह एक भ्रम मात्र है। वीर वा करुणरस-प्रधान नाटक में विदूषक का प्रयोजन नहीं रहता। शृंगार की पुष्टि के हेतु विदूषक का प्रयोजन होता है, सो भी सब स्थलों में नहीं, क्योंकि किसी-किसी अवसर पर विदूषक के बदले विट, चेट, पीठमर्द, नर्मसखा प्रभृति का प्रवेश विशेष स्वाभाविक होता है। प्राचीन शास्त्रों के अनुसार कुसुमवसतादिक नामधारी, नाटा, मोटा, वामन, कुबड़ा, टेढ़े अग का वा और किसी विचित्र आकृति का, किंवा हकला, तोतला, भोजनप्रिय, मूर्ख, असगत, किंतु हास्य रस के अविरुद्ध बात करने वाला विदूषक होना चाहिए और उसका परिच्छद भी ऐसा हो जो हास्य का उद्दीपक हो।

संयोग शृंगार वर्णन में इसकी स्थिति विशेष स्वाभाविकी होती है।

अथ रस वर्णन

शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, वीभत्स, शांत, भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद वा आनन्द।

शृंगार, संयोग और वियोग दो प्रकार का। यथा शकुंतला के पहले और दूसरे अंक में संयोग, पाँचवें छठे अंक में वियोग।

हास्य, यथा भाण और प्रहसनों में।

करुण, यथा सत्यहरिश्चंद्र में शैव्या के विलाप में।

रौद्र, यथा धनंजयविजय में युद्धभूमि-वर्णन।

वीर रस ४ प्रकार। यथा दानवीर, सत्यवीर, युद्धवीर और उद्योग वीर। दानवीर, यथा सत्यहरिश्चंद्र में 'जेहि पाली इक्ष्वाकु सों' इत्यादि। सत्यवीर, यथा सत्यहरिश्चंद्र में 'बेंचि देह दारा सुअन' इत्यादि। युद्ध-वीर यथा नीलदेवी। उद्योग वीर* मुद्राराक्षस। भयानक, अद्भुत और वीभत्स, यथा सत्य-हरिश्चंद्र में श्मशानवर्णन।

शांत यथा प्रबोध-चंद्रोदय में, भक्ति यथा संस्कृत चैतन्य-चंद्रोदय में, प्रेम यथा चंद्रावली में। वात्सल्य और प्रमोद के उदाहरण नहीं हैं।

अथ रसविरोध

नाटक-रचना में विरोधी रसों को बहुत बचाना चाहिए। जैसे शृंगार के हास्य वीर विरोधी नहीं किंतु अति करुण वीभत्स रौद्र भयानक और शांत विरोधी हैं, तो जिस नाटक में शृंगाररस प्रधान अंगी भाव से हो उसमें ये न आने चाहिएँ। अति करुण लिखने का तात्पर्य यह है कि सामान्य करुण तो वियोग में भी वर्णित होगा किंतु पुत्रशोकादिवत् अति करुण का वर्णन शृंगार का विरोधी है। हाँ नवीन (ट्रैजेडी) वियोगांत नाटक-लेखक तो यह रस-विरोध करने को बाधित हैं। नाटकों की सौंदर्य रक्षा के हेतु विरोधी रसों

---

*मुद्राराक्षस में मुख्य अंगीभाव से कोई रस न पाकर मुझको उद्योगवीर की कल्पना करनी पड़ी।

को बचाना भी बहुत आवश्यक कार्य है, अन्यथा होने से कवि का मुख्य उद्देश्य नष्ट हो जाता है।

अथ अन्य स्फुट विषय

नाटक-रचना के हेतु पूर्वोक्त कथित विषयो के अतिरिक्त कुछ नायिकाभेद और कुछ अलकारशास्त्र जानने की भी आवश्यकता होती है। ये विषय रसरत्नाकर, भारतीभूषण, लालित्यलता* आदि ग्रथों में विस्तृत रूप से वर्णित हैं।

आजकल की सभ्यता के अनुसार नाटकरचना मे उद्देश्यफल उत्तम निकलना बहुत आवश्यक है। यह न होन से सभ्यशिष्टगण, ग्रथ का तादृश आदर नहीं करते, अर्थात् नाटक पढने व देखने से कोई शिक्षा मिले, जैसे सत्यहरिश्चद्र देखने से आर्य जाति की सत्य प्रतिज्ञा, नीलादेवी से देशस्नेह इत्यादि शिक्षा निकलती हैं। इस मर्यादा की रक्षा के हेतु वर्त्तमान समय में स्वकीया नायिका तथा उत्तम गुण विशिष्ट नायक को अवलबन करके नाटक लिखना योग्य है। यदि इसके विरुद्ध नायिका-नायक के चरित्र हों तो उसका परिणाम बुरा दिखलाना चाहिए। यथा नहुष नाटक में इद्राणी पर आसक्त होने से नहुष का नाश दिखलाया गया है, अर्थात् चाहे उत्तम नायिका-नायक के चरित्र की समाप्ति सुखमय दिखलाई जाय किंवा दुश्चरित्र पात्रों के चरित्र की समाप्ति कंटकमय दिखलाई जाय। नाटक के परिणाम से दर्शक और पाठक कोई उत्तम शिक्षा अवश्य पावें।

अथ अभिनय विषयक अन्यान्य स्फुट नियम

नाटक की कथा—नाटक की कथा की रचना ऐसी विचित्र और पूर्वापर-बद्ध होनी चाहिए कि जब तक अन्तिम अङ्क न पढे किंवा न देखे, यह न प्रगट हो कि खेल कैसे समाप्त होगा। यह नहीं कि

---

*प्रथम आवृत्ति में यह नाम नहीं है। तीनों भारतेंदु जी के पिता बा० गिरिधरदास प्रणीत हैं।

'सीधा एक को वेटा हुआ, उसने यह किया वह किया' प्रारम्भ ही में कहानी का मध्य बोध हो।

पात्रों के स्वर—शोक, हर्ष, हास, क्रोधादि के समय में पात्रों को स्वर भी घटाना-बढ़ाना उचित है। जैसे स्वाभाविक स्वर बदलते हैं, वैसे ही कृत्रिम भी बदलें। 'आप ही आप' ऐसे स्वर में कहना चाहिए कि बोध हो कि धीरे-धीरे कहता है, किंतु तब भी इतना उच्च हो कि श्रोतागण निष्कटक सुन लें।

पात्रों की दृष्टि—यद्यपि परस्पर वार्त्ता करने में पात्रों की दृष्टि परस्पर रहेगी किंतु बहुत से विषय पात्रों को दर्शकों की ओर देखकर कहने पड़ें। इस अवसर पर अभिनय-चातुर्य यह है कि यद्यपि पात्र दर्शकों की ओर देखें किंतु यह न बोध हो कि वह बातें वे दर्शकों से कहते हैं।

पात्रों के भाव—नृत्य की भाँति रगस्थल पर पात्रों को हस्तक भाव वा मुख, नेत्र, भ्रू के सूक्ष्मतर भाव दिखलाने की आवश्यकता नहीं, स्वर भाव और यथायोग्य स्थान पर अङ्गभङ्गी भाव ही दिखलाने चाहिएँ।

पात्रों का फिरना—यह एक साधारण नियम भी माननीय है कि फिरने वा जाने के समय जहाँ तक हो सके पात्रगण अपनी पीठ दर्शकों को बहुत कम दिखलावें। किंतु इस नियम पालन का इतना आग्रह न करें कि जहाँ पीठ दिखलाने की आवश्यकता हो वहाँ भी न दिखलावें।

पात्रों का परस्पर कथोपकथन—पात्रगण आपस में जो वार्त्ता करें उसको कवि निरे काव्य की भाँति न ग्रथित करे। यथा नायिका से नायक साधारण काव्य की भाँति 'तुम्हारे नेत्र कमल हैं, कुच कलश हैं' इत्यादि न कहें। परस्पर वार्त्ता में हृदय के भावबोधक वाक्य ही कहने योग्य हैं। किसी मनुष्य वा स्थानादि के वर्णन में लम्बी-चौड़ी काव्यरचना नाटक के उपयोगी नहीं होती।

काल से आर्यकुल में बडे बडे लोग भी इस विद्या को भली भाँति जानते थे।

मध्य समय के नाटक

मध्य समय के नाटककारों मे कविकुल कुरु भगवान कालिदास[1] मुख्यतम हैं। भवभूति[2] और धावक दूसरी श्रेणी मे है। राज शेखर, जयदेव, भट्टनारायण, दडी[3] इत्यादि तीसरी श्रेणी मे हैं। अब जितने नाटक प्रसिद्ध हैं उनमें मृच्छकटिक सबसे प्राचीन है। इसके पीछे शकुन्तला और विक्रमोर्वशी बने हैं। यहाँ पर एक बडी प्रसिद्ध बात का विचार करना है। प्रायः सभी प्राचीन इतिहास लेखकों ने लिखा है कि श्री हर्ष कालिदास के पूर्व हुआ, क्योंकि मालविकाग्नि मित्र में कालिदास ने धावक का नाम लिया है। किन्तु राज तरगिणी मे हर्ष नामक जो राजा हुआ है वह विक्रमादित्य के कई सौ वर्ष पीछे हुआ है। अनन्तदेव नामक राजा भोज के समय में था। अनन्त का पुत्र कलस हुआ जिसने आठ बरस राज्य किया। इसका पुत्र हर्ष

---

१ पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदास।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावात् अनामिका सार्थवती बभूव ॥१॥

२. भवभूतेः संबन्धात भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ॥१॥

३ जाते जगत वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि ॥१॥

प्रसिद्ध कवि कालिदास और दंडी की स्पर्द्धिनी दो स्त्रियाँ भी कवि हुई थीं। यथा—नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता। वृथैव दंडिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती।' तथा 'सरस्वतीव कर्णाटी विजयाका जयत्यसौ। या वैदर्भगिरा वासः कालिदासादनंतरम्' ॥१॥

[दंडी नाटककार नहीं थे। भूल से उद्दंड कृत 'मल्लिकामारुत' को भारतेन्दुजी ने दंडी कृत माना है।]

था जिसने कई दिन मात्र राज्य किया था। कनिंगहम के मत से हर्ष सन् १०८८ ई० में और विल्सन के मत से १०५४ ई० में हुआ था। यद्यपि राजतरंगिणीकार ने हर्ष को कवि लिखा है और विह्लण और विल्लण कवि भी इसके समय में लिखे हैं किन्तु धावक का नाम तथा रत्नावली इत्यादि के बनने का प्रसंग कोई नहीं लिखा। राजतरंगिणी-कार के मत से हर्ष के समय अत्यन्त उपद्रव रहा और चारों ओर राजकुमार तथा उच्चकुल के लोगों के रुधिर की नदी बहती थी। हर्ष श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती की भाँति मूर्ति पूजा के भी विरुद्ध था, इसी हेतु प्रजा उसको तुरुष्क पुकारती थी। इन बातों से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि या तो धावकवाला श्री हर्ष दूसरा है, कश्मीर का नहीं या मालविकाग्निमित्रकार कालिदास वह जगतप्रसिद्ध शकुन्तला का कालिदास नहीं। दूसरी बात विशेष सम्भव बोध होती है, क्योंकि शकुन्तला और मालिविकाग्निमित्र की सस्कृत ही में भेद नहीं, काव्य की उत्तमता मध्यमता मे भी आकाश पाताल का बीच है।

राजतरंगिणी में लिखा है कि कश्मीर के राजा तुजीन के समय में चन्द्रक कवि ने बड़ा सुन्दर नाटक बनाया। यह तुजीन राजतरं-गिणी के हिसाब से गत कलि ३५८२ में अर्थात् आज से १४०२ वर्ष पहिले, टायर के मत से १०३ ई० पूर्व अर्थात् आज से १९८६ वर्ष पहले, कनिंगहम के मत से ईस्वी सन् ३१९ में अर्थात् १५६४ वर्ष पहले, विल्सन के मत से १०४ ई० पूर्व अर्थात् १९८७ वर्ष पहले, विल्फर्ड के मत से सन् ५४ ईस्वी में अर्थात् १८२९ वर्ष पहले हुआ था।

भास नामक कोई कवि नाटककार हुआ है, किन्तु उसका नाटक प्रसिद्ध नहीं है।

'सूत्रधार कृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकै.। सपताकैर्यशोलेभे भासो देव-कुलैरिव ॥१॥ 'भासो हास' कविकुलगुरु कालिदासो विलासः ॥१॥'
(अब इनके प्राय. सब नाटक प्राप्त हो गये, जिनकी संख्या तेरह है।)

अथ भाषा नाटक

हिन्दी भाषा में वास्तविक नाटक के आकार मे ग्रन्थ की सृष्टि हुए पच्चीस वर्ष से विशेष नहीं हुए। यद्यपि नेवाज कवि का शकुन्तला नाटक, वेदान्त विषयक भाषा ग्रन्थ समयसार नाटक, ब्रजवासीदास के प्रबोध चन्द्रोदय प्रभृति नाटक के भाषा अनुवाद नाटक नाम से अभिहित हैं किन्तु इन सबों की रचना काव्य की भाँति है, अर्थात् नाटक रीत्यानुसार पात्र प्रवेश इत्यादि कुछ नहीं है। भाषा कविकुल मुकुट माणिक्य देव कवि का 'देवमाया प्रपंच नाटक' और श्रीमहाराज काशिराज की आज्ञा से बना हुआ 'प्रभावती' नाटक तथा श्री महाराज विश्वनाथ सिंह रीवा का 'आनदरघुनदन' नाटक यद्यपि नाटक रीति से बने हैं किन्तु नाटकीय यावत नियमों का प्रतिपालन इनमे नहीं है और ये छद प्रधान ग्रन्थ हैं। विशुद्ध नाटक रीति से पात्र प्रवेशादि नियम रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्य चरण श्री कविवर गिरिधरदास (वास्तविक नाम बाबू गोपाल चन्द्र जी) का है। इसमें इद्र को ब्रह्महत्या लगना और उसके अभाव मे नहुष का इद्र होना, नहुष का इन्द्रपद पाकर मद, उसकी इद्राणी पर काम चेष्टा, इन्द्राणी का सतीत्व, इन्द्राणी के भुलावा देने से सप्तऋषि को पालकी में जोतकर नहुष का चलना, दुर्वासा का नहुष को शाप देना और फिर इन्द्र का पूर्व पद पाना, यह सब वर्णित है। मेरे पिता ने बिना अग्रेजी शिक्षा पाए इधर क्यों दृष्टि दी, यह बात आश्चर्य की नहीं; उनके सब विचार परिष्कृत थे। बिना अँगरेजी की शिक्षा के भी उनको वर्तमान समय का स्वरूप भली भाँति विदित था। पहले तो धर्म के विषय में ही वे इतने परिष्कृत थे कि वैष्णवव्रत पूर्ण पालन के हेतु उन्होंने अन्य देवता मात्र की पूजा और व्रत घर से उठा दिये थे। टामसन साहब लेफ्टिनेन्ट गवर्नर के समय काशी में पहला लड़कियों का स्कूल हुआ तो हमारी बड़ी बहिन को उन्होंने उस स्कूल में प्रकाश

रीति से पढने बैठा दिया। यह कार्य उस समय में वहुत ही कठिन था क्योंकि इसमें वड़ी ही लोकनिन्दा थी। हम लोगों को अंग्रेजी शिक्षा दी। सिद्धान्त यह कि उनकी सब बातें परिष्कृत थीं और उनको स्पष्ट वोध होता था कि आगे काल कैसा चला आता है। नहुष नाटक बनने का समय मुझको स्मरण है। आज पचीस बरस हुए होंगे, जबकि मैं सात बरस का था। नहुष नाटक वनता था। केवल २७ वर्ष की अवस्था में मेरे पिता ने देह त्याग किया, किन्तु इसी अवसर में चालीस ग्रथ, जिनमें बलरामकथामृत, गर्गसहिता, भाषा वाल्मीकि रामायण, जरासधवध महाकाव्य और रसरत्नाकर ऐसे बडे बडे भी हैं, बनाए।

हिन्दी भाषा में दूसरा ग्रन्थ वास्तविक नाटककार राजा लक्ष्मण सिंह का शकुन्तला नाटक है। भाषा के माधुर्य आदि गुणो से यह नाटक उत्तम ग्रन्थों की गिनती में है। तीसरा नाटक हमारा विद्या सुन्दर है। चौथे के स्थान में हमारे मित्र लाला श्री निवास दास का तपती सवरण, पचम हमारा वैदिकी हिंसा, षष्ट प्रिय मित्र बाबू तोताराम का केटोकृतात और फिर तो और भी दो चार कृतविद्य लेखकों के लिखे हुए अनेक हिन्दी नाटक हैं। सर विलियम म्योर साहिब के काल में अनेक ग्रथ वने हैं क्योंकि वे ग्रन्थ बनाने वालो को पारितोषिक देते थे। इसी से 'रत्नावली' भी हिन्दी में वनी और छपी है। किन्तु इसकी ठीक वही दशा है जो पारसी नाटकों की है। काशी में पारसी नाटक वालों ने नाच घर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यत खेमटे वालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक मटक कर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डाक्टर थिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान यह कहकर उठ आए कि "अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।" यही दशा बुरे अनुवादों की भी होती है। विना पूर्व

कवि के हृदय से हृदय मिलाए अनुवाद करना शुद्ध झख मारना ही नहीं, कवि की लोकातर स्थित आत्मा को नरक कष्ट देना है।

इस 'रत्नावली' की दुर्दशा के दो चार उदाहरण यहाँ दिखलाए जाते हैं। यथा 'तब यह प्रसग हुआ कि यौगधरायण प्रसन्न होकर रगभूमि में आया और यह बोला', और 'गान कर कहता है कि अए मदनिके।' अब कहिए यह रामकहानी है कि नाटक ?

और आनन्द सुनिए 'जो आज्ञा रानी जी की ऐसा कर तैसा ही करती है' हा, हा, हा !

एक आनन्द और सुनिए। नाटकों मे कहीं कहीं आता है 'नाट्येनोपविश्य' अर्थात् पात्र बैठने का नाट्य करता है। उसका अनुवाद हुआ है 'राजा नाचता हुआ बैठता है।' 'नाट्येनोल्लिख्य' की दुर्दशा हुई है 'ऐसे नाचते हुई लिखती है।' ऐसे ही 'लेखनी को लेकर नाचती हुई', 'निकट बैठकर नाचती हुई'।

और आनन्द सुनिए। 'इति विष्कम्भकः' का अनुवाद है 'पीछे विष्कम्भक आया।' धन्य अनुवाद कर्ता और धन्य गवर्नमेन्ट जिसने पढने वालों की बुद्धि का सत्यानाश करने को अनेक द्रव्य का श्राद्ध करके इसको छापा !

गवर्नमेन्ट की तो कृपा दृष्टि चाहिए योग्यायोग्य के विचार की आवश्यकता नहीं। फालेन साहब की डिक्शनरी के हेतु आधे लाख रुपये से विशेष व्यय किया गया तो यह कौन बड़ी बात है। 'सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास।' यहाँ तो 'पेट भये जयसाहि सों भाग चाहियत भाल' वाली बात है। किन्तु ऐसी दशा में अच्छे लोगों का परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि 'आँधरे साहिब की सरकार कहाँ लौं करे चतुराई चितेरो।'

यद्यपि हिन्दी भाषा में दस बीस नाटक बन गए हैं किन्तु हम यही

कहेंगे कि अभी इस भाषा में नाटकों का बहुत ही अभाव है। आशा है कि काल की क्रमोन्नति के साथ ग्रंथ भी बनते जायँगे और अपनी संपत्ति शालिनी ज्ञान वृद्धा बड़ी बहन बंगभाषा के अक्षय रत्नभांडार की सहायता से हिन्दी भाषा बड़ी उन्नति करेगी।

यहाँ पर यह बात प्रकाश करने में भी हमको अतीव आनन्द होता है कि लन्डन नगरस्थ श्रीयुत फ्रेडरिक पिनकाट साहब ने भी शकुन्तला का हिन्दी भाषा में अनुवाद[1] किया है। वह अपने २० मार्च के पत्र में हिन्दी में मुझको लिखते हैं, "उस पर भी मैंने हिन्दी भाषा के सिखलाने के लिए कई एक पोथियाँ बनाई हैं। उनमें से हिन्दी भाषा में शकुन्तला नाटक एक है।"

हिन्दी भाषा में जो सबसे पहला नाटक खेला गया वह 'जानकी मंगल' था। स्वर्गवासी मित्रवर बाबू ऐश्वर्यनारायण सिंह के प्रयत्न से चैत्र शुक्ल ११ संवत् १९२५ में बनारस थियेटर में बड़ी धूम धाम से यह खेला गया था। रामायण से कथा निकाल कर यह नाटक पंडित शीतला प्रसाद त्रिपाठी ने बनाया था। इसके पीछे प्रयाग और कानपुर के लोगों ने भी 'रणधीर प्रेम मोहनी' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' खेला था। पश्चिमोत्तर देश में ठीक नियम पर चलने वाला कोई आर्य शिष्ट जन का नाटक समाज नहीं है।

अथ हिन्दी नाटक तालिका

नहुष नाटक—श्री गिरिधरदास
शुकुन्तला—राजा लक्ष्मण सिंह
शकुन्तला—पिनकाट
मुद्राराक्षस—हरिश्चन्द्र
सत्यहरिश्चन्द्र—हरिश्चन्द्र
विद्यासुन्दर—हरिश्चन्द्र

---

१. यह अनुवाद नहीं है वास्तव में टीका टिप्पणी सहित राजा लक्ष्मण सिंह के अनुवाद का संस्करण है।

अंधेर नगरी—हरिश्चन्द्र
विषस्य विषमौषधम्–हरिश्चन्द्र
सती प्रताप—हरिश्चन्द्र
चन्द्रावली—हरिश्चन्द्र
माधुरी—हरिश्चन्द्र
पाखन्ड विडम्बन—हरिश्चन्द्र
नवमल्लिका—हरिश्चन्द्र
दुर्लभ बन्धु—हरिश्चन्द्र
प्रेमयोगिनी—हरिश्चन्द्र
जैसा काम वैसा परिणाम–हरिश्चन्द्र
कपूर मजरी—हरिश्चन्द्र
नील देवी—हरिश्चन्द्र
भारत दुर्दशा—हरिश्चन्द्र
भारत जननी—हरिश्चन्द्र
धनजय विजय—हरिश्चन्द्र
वैदिकी हिंसा—हरिश्चन्द्र
बूढे मुँह मुँहासे, लोग देखें तमाशे (बूढो शालिकर का अनुवाद) –बाबू गोकुल चन्द
अद्भुत चरित्र वा गृहचडी–श्रीमती
तपती सवरण–लाला श्रीनिवासदास
रणधीर प्रेम मोहिनी—लाला श्रीनिवासदास
केटो कृतात—बाबू तोता राम ('भारत-बन्धु' सम्पादक)
सज्जाद सुबुल—बाबू केशोरराम भट्ट 'विहारबधु सम्पादक)
शमशाद सौसन—बाबू केशोराम भट्ट ('विहार बन्धु' सम्पादक)
जयनारसिंह की–प० देवकीनन्दन तिवारी (प्रयाग समाचार पत्र सम्पादक)
होली खगेश—पण्डित देवकी-नन्दन तिवारी
चक्षुदान—पण्डित देवकीनन्दन तिवारी
पद्मावती—पडित बालकृष्ण भट्ट
शर्मिष्ठा—पडित बालकृष्ण भट्ट
चन्द्रसेन–पडित बालकृष्ण भट्ट
सरोजिनी—प० गणेशदत्त
„ „ —राधाचरण गोस्वामी (भारतेन्दु सम्पादक)
मृच्छकटिक—प० गदाधर भट्ट मालवीय
„ „ —प० दामोदर शास्त्री
„ „ —बाबू ठाकुर दयाल सिंह
वारागनारहस्य—प० बदरी नारायण चौधरी, (आनन्द कादम्बिनी के सम्पादक)
विज्ञानविभाकर—प० जानकी विहारीलाल
ललिता नाटिका—प० अम्बिका दत्त व्यास साहित्याचार्य, (वैष्णव पत्रिका और पीयूष

प्रवाह के सम्पादक)
देव पुरुष दृश्य ,, ,,
वेणी सहार नाटक ,, ,,
गोसंकट ,, ,,
जानकी मगल—पं० शीतला प्रसाद त्रिपाठी
दुःखिनी बाला—बाबू राधाकृष्ण-दास
पद्मावती ,, ,,
महारास—महाराजाधिराज कुमार लालखगबहादुर मल्ल (युवराज मझौली राज)
रामलीला ७ काण्ड—प० दामोदर शास्त्री (विद्यार्थी सम्पादक)
बाल खेल ,, ,,
राधामाधव ,, ,,
वेनिस का सौदागर : बाबू बाले-श्वर प्रसाद (काशी पत्रिका सम्पादक)
,, ,, बाबू ठाकुर दयाल सिंह

योरप में नाटकों का प्रचार

योरप मे नाटकों का प्रचार भारतवर्ष के पीछे हुआ है। पहले दो मनुष्यों के सवाद को ही वहा नाटकों का सूत्रपात मानते हैं। प्राचीन ईसाई धर्म पुस्तक में 'बुक आव जाब' और सुलैमान के गीतों में ऐसे संवाद मिलते हैं किन्तु इनके अतिरिक्त हिब्रू भाषा में और कोई प्राचीन नाटक का ग्रन्थ नहीं। योरप में सबसे प्राचीन नाटक यूनान में मिलते हैं और यह निश्चय अनुमान हुआ है कि भारतवर्ष से वहा यह विद्या गई होगी। यूनान में एथेंस प्रदेश में नाटकों का प्रचार विशेष था और डायोनिसस [१] नामक देवता के मेले में नाटक प्रायः खेले जाते थे। अनुमान होता है कि बैकस[२] नामक देवता की पूजा से वहां इनका चलन हुआ। प्राचीन काल से योरप के नाटक सयोगांत और वियोगांत इन दो भागों में बँटे हैं। आरिअन नामक कवि

---

१ यह युद्ध का देवता था।

२. यह मद्य का देवता है। प्रिंसिप साहब कहते हैं कि यह बलराम है।

ने ५८० वर्ष ईसा के पूर्व वियोगात नाटक की सृष्टि की। ट्रैजिडी शब्द बकरे से निकला है जिससे अनुमान होता है कि बैकस देवता के सामने बकरे का बलि दिया जाता था और उसी समय पहिले यह खेल आरम्भ हुआ, इससे वियोगात नाटक की सज्ञा ट्रैजिडी हुई। कामेडी ग्राम शब्द से निकला अर्थात् ग्राम्य सुखों का जिसमें वर्णन हो वह कामेडी (सयोगात) है। थेसपिस ने (५३६ ई० पू०) प्रथम रगशाला मे एक शिष्य का वेप देकर मनुष्यों को सवाद पढवाया और उसी पात्र को फ्रिनिशश ने (५१२ ई०पू०) पहले यह स्त्री का वेष देकर रगशाला में सबको दिखलाया। इसके पीछे इशिलस के काल तक वियोगात नाटकों मे फिर कोई नई उन्नति नहीं हुई।

आरिअन ही के समय मे वरन उसी के लाग पर सुसेरिअन ने सयोगात नाटकों का प्रचार सारे यूनान में फिर फिर कर किया और एक छोटी सी चलती फिरती रगशाला भी उनके साथ थी। उस काल के ये नाटक अब के बगाली यात्रा वा रास के से होते थे। उस समय में वियोगांत नाटक गभीराशय और विशेष चित्ताकर्पक होने के कारण सभ्य लोगों में और सयोगात ग्राम्य लोगो में खेले जाते थे। एपिकार्मस, फार्मस, मैग्नेस, क्रेट्स, क्रेटनस, यूपोलिस, फेटिक्रेटस और ऐलिस्टेफेंस ये सब उस काल के प्रसिद्ध कामेडी लेखक थे। बीच में लोगों ने सयोग वियोग मिलाकर भी पुस्तकें लिखकर इस विद्या की उन्नति की।

वियोगांत नाटक में इशिलस, सोफाकोलस और यूरुपिडीस ये तीन बडे दक्ष हुए। इन कवियों ने स्वय पात्रों को अभिनय करना सिखाया और स्वाभाविक भावभगी दिखलाने में विशेष परिश्रम किया। अरस्तू ने इन्हीं तीनों कवियों की अपने ग्रन्थ में बड़ाई की है।

रोम वाले नाटक विद्या में ऐसे दक्ष नहीं थे। इन लोगों ने यूनान वालों ही से इस विद्या का स्वाद पाया। शोक का विषय है

कि प्लाटस्, और टेरेंस के अतिरिक्त इन कवियों में से किसी का न नाम मालूम है न कोई ग्रथ मिला। प्रसिद्ध आगस्टस के समय में रोम मे इस विद्या की उन्नति हुई थी किन्तु सेनीका नामक नाटक के अतिरिक्त और किसी ग्रन्थ का नाम तक कहीं नहीं मिला। रोम के बडे बड़े महलों और वीरों के साथ वहां की विद्या और कला भी धूल में मिल गई। यहां तक कि उनका नाम लेने वाला भी कोई न बचा। जब रोम में क्रिस्तानी मत फैला तो ऐसे नाटक का खेल राज नियम के अनुसार निषिद्ध कर दिए गए। केवल पिता पुत्र एपोलिनारी और ग्रेगरी ने इजील से कथा भाग लेकर क्रिस्तानों का जी बहलाने को कुछ स्वांग इत्यादि बनाए थे।

योरप में इटलीवालों ने पहले पहल ठीक तरह से नाटक के प्रचार में उद्योग किया और रोम वालों के चित्त में फिर से मुरझाए हुए इस बीज को हरा किया। सोलहवीं शताब्दी में ट्रिसीनो कवि का सोफोनिस्वा नामक वियोगात नाटक पहले पहल छापा गया। आरिआस्टोवैविना और मैशियाविली ने ट्रिसीनो की भाँति और कई नाटक लिखे। इसी शताब्दी के अंत में गिएम्बाटिस्टालिआपोर्टा ने प्रहसन पहले पहल प्रकाश किया और इसमें परिहास की बातें ऐसी सुसभ्यता से वर्णन कीं कि लोगों ने नाटक की इस शैली को बहुत ही प्रसन्नता से स्वीकार किया। इसी सयय में हिशी, बोरगिनी, ओडो और बुओनाटोरी ने जातीय स्नेह बढ़ाने वाले वीररसाश्रित इतिहास के खेल लिखे और प्रचारित किए। सत्रहवीं शताब्दी में रिनुशिनी ने पहले पहल आपेरा (सगीत) नाट्य का आरम्भ किया। इसमें उसने ऐसी उत्तम रीति से प्रेम, देशस्नेह, वीर और करुण रस के गीत बाँधे कि सब लोग और नाटकों को भूलकर इसी की ओर झुके। मैफी नामक कवि ने इसकी और भी उन्नति की। अब स्पेन, फरासीस आदि में चारों ओर इसी गीतिनाट्य का चर्चा फैल गया। इसके पीछे जीनों, मेटैस्टेसिओ, गोलडोनी, मोलिएर, रिशोत्रिनी, गोज्जी, गालडोनी,

आलफीरो, माटी, मांजानी और निकोलिनी इत्यादि प्रसिद्ध कवियों ने पूर्वोक्त नाटकों के ऐसी उत्तमता से ग्रन्थ लिखे और नाट्य में ऐसी उन्नति की कि इटली इस विद्या में सारे योरप की गुरु मानी गई।

योरप के और देशों में नाटकों के प्रचार को पादरियों ने बहुत रोका। जहाँ कोई नाटक खेलता, ये पादरी उसे धर्म दंड देने दौड़ते। विलेना, सातिलाना, नाहरो और रुएडा नामक कवियों ने इस आपत्ति से बचने को अपनी लेखनी को धर्म विषयक नाटकों के लिखने पर परिचालित किया। विशेष करके करवेंटस ने अपने नाटक ऐसी उत्तमता से लिखे कि चित्त से नाटकों की बुराई का संस्कार एक बारगी उठ गया। इसके पीछे काल्डिरन भी ऐसा ही उत्तम कवि हुआ कि उसको राज नियम-विरुद्ध होने पर भी सैंतिस बरस के वास्ते नाटक लिखने की राजाज्ञा मिली। ये दोनों कवि सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व भाग में हुए थे।

फरासीस में नाटकों के विषय में बहुत सा वाद विवाद होता रहा और इसके होने के नियमों पर लोगों में बड़ा चर्चा रहा किन्तु कोई बहुत उत्तम नाटक लेखक उस समय नहीं हुआ। जाडिली ने पहले पहल पांच अंक का एक वियोगांत नाटक ठीक चाल पर बनाया और फरासीस के दूसरे हेनरी बादशाह के सामने वह खेला गया। चौदहवें लुई के दरबार में कार्निली, मोलीएर और रैसिनी क्रम से एक से दूसरे अच्छे नाटक वाले हुये। इसके पीछे वालटायर बड़ा प्रसिद्ध हुआ और फिर चार पाच और प्रसिद्ध कवि हुए।

जर्मनी के नाटक के इतिहास में अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक कोई भी विशेष बात नहीं। लेसिंग ने पहले पहल अपनी धूम धाम की समालोचना से जर्मनी का ध्यान इधर फेरा। इसके पीछे गोथे और सिलर दो बड़े प्रसिद्ध लेखक हुए।

इंगलैंड के नाटकों का इतिहास अत्यन्त शृंखलाबद्ध है। पहले यहाँ केवल मतसंबंधी नाटक होते थे और इनका प्रबंध भी पादरियों

के हाथ में रहता था। ये नाटक दो प्रकार के होते थे। एक धर्म सम्बन्धी आश्चर्य घटनाओं के, दूसरे शिक्षा सम्बन्धी। इंगलैंड के पुनस्संस्कार ने इन पुरानी बातों में कोई स्वाद बाकी न रखा, यहाँ तक कि सोलहवीं शताब्दी के मध्य में संयोग और वियोग के नाटक स्वतंत्र रूप से वहाँ प्रचड हुए। पहला सयोगात नाटक सन् १५५७ में निकोलस उडाल ने लिखा। ठीक उसके दस बरस पीछे बीबी नोरटेन और लार्ड बकहर्स्ट ने गारबूडाक नामक पहला वियोगांत नाटक बनाया। उसके पीटे स्टिल, किड, लाज, ग्रीन, लायली, मार्लो और नैश इत्यादि कई प्रसिद्ध नाटककार हुए। जगतविख्यात शेक्सपियर ने अपने वाक्य माधुर्य के आगे सबको जीत लिया। यह प्रसिद्ध कवि सन् १५६४ में उत्पन्न हुआ। इसका पिता ऊन का व्यवसाय करता था और उसके दस लड़कों में शेक्सपियर सबसे बड़ा था। काल पाकर यह ऐसा प्रसिद्ध कवि हुआ कि पृथ्वी के मुख्य कवियों की गणना में एक रत्न समझा जाने लगा। इसको जैसी कविता शक्ति थी वैसी ही विचित्र कथाओं को बाँधने की भी शक्ति थी। जिसके मस्तिष्क में ये दोनों शक्तियाँ एकत्र हों उसके बनाए हुए नाटकों का क्या पूछना है। नाटक भी इसने बहुत बनाए और सब रस के। निस्सदेह यह मनुष्य परमेश्वर की सृष्टि का एक रत्न हुआ है।

बेन जानसन, ब्यूमौंट और फलेचर ये तीन शेक्सपियर के समकालीन प्रसिद्ध नाटककार हुए हैं। मैसिंजर, फोर्ड और शरला के काल तक इगलैण्ड की प्राचीन नाटक प्रणाली समाप्त होती है। सत्रहवीं शताब्दी के अंत में ड्राइडन ने नई प्रणाली के नाटक लिखने आरम्भ किए। अठारहवीं शताब्दी में ली, आटवे, ग्रे, कानग्रीव, सिबर, विचरली, वैनब्रो, फारक्वहर, एडिसन, जानसन, यग, टामसन, लिलो, मूर, गैरिक, गोल्डस्मिथ, कालमंस, कंबरलैंड, हालक्राफट, बीबी इचवाल्ड, लूइस, मैट्रूरिन और मैटयूरिन, तथा आधुनिक काल में शेरडिन नोल्स, बुलवर लिटन, लार्ड बैरन, कालेरिज, हेनरी टेलर,

टालफोर्ड, जेरल्ड ब्रूक्स, मार्स्टन, टाम टेलर, चार्ल्स रीड, राबर्टसन, विल्स, वैरन, गिल्बर्ट, स्विनबर्न और ब्रौनिंग प्रसिद्ध नाटककार गद्य पद्य के कवि हुए हैं।

इंगलैंड में इन नाटक लिखने वालों के हेतु एक राजनियम है जिससे अपने जीवित समय में कवि लोग और उनके पीछे उनके उत्तराधिकारी कवि स्वत्व का भोग कर सकते हैं।

प्रस्तुत लेख में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अनेक महत्व पूर्ण समस्याओं पर प्रकाश डाला है। यह लेख प्रायः ८० वर्ष पहिले लिखा गया था। इन ८० वर्षों में नाटक साहित्य के इतिहास, नाट्य कला तथा अभिनय और रंगमंच के सम्बन्ध में अगणित नवीन तथ्यों की खोज हो चुकी है। इस दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का यह लेख काफी पुराना पड़ गया है। परन्तु यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से इसका अध्ययन करें, यदि हम उन सारी बातों को उसमें ढूंढे, उन मूल्यों तथा प्रेरणाओं को इसमें तलाश करें जिनके कारण भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पूर्ववर्ती और परवर्ती नाटककारों ने नाट्य साहित्य की रचना की तो हमारा प्रयत्न निष्फल न जायेगा। हमें यह जानकर भी आश्चर्य होगा कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने हिन्दी नाट्य साहित्य को समृद्ध बनाने के लिये संस्कृत, मराठी, बंगला और अंग्रेजी नाट्य साहित्य का कितना गम्भीर अध्ययन किया था, कितना मनन और चिन्तन किया था और उनका अमृत मन्थन करके किस प्रकार आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य को जन्म काल में इतना पुष्ट बना दिया था कि आगे चलकर उसे लड़खड़ाना न पड़े, किसी के सहारे न चलना पडे, बल्कि उसमें इतनी शक्ति आ जाय कि वह अपने बल पर ही अपने प्रशस्त मार्ग पर चल सके।

आरम्भ में ही भारतेन्दु जी ने कह दिया है, "प्राचीन काल के अभिनयादि के सम्बन्ध में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शक मण्डली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही दृश्य काव्य

रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त विनोदन कर गये हैं। किंतु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे सम्प्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटकादि दृश्य काव्य लिखना युक्ति सगत नहीं बोध होता।" भारतेन्दु जी ने उपर्युक्त वक्तव्य में जो महत्वपूर्ण बात कही वह ध्यान देने योग्य है। उनके समय में बगला नाट्य साहित्य और रगमच अपने विकास के प्रायः चरम अवस्था को पहुँच चुका था। माइकेल मधुसूदन दत्त, दीन बन्धु मित्र, गिरीश घोष आदि ने उसे इतना सम्पन्न और समृद्ध बना दिया गया था कि वह सारे देश को नेतृत्व प्रदान करने लगा था। मराठी रगमंच भी धीरे-धीरे आगे बढ़ चला था। पारसी कम्पनियां इन्दर सभा ही नहीं अनेक पुराने कथानकों के आधार पर लिखे नाटकों को लेकर देश के विभिन्न प्रान्तो में भ्रमण कर रही थीं और जनता की रुचि का, अपने ढग से, सस्कार कर रही थीं। अनेक प्रकार के उत्तम मध्यम और निम्नकोटि के अनुवादों का प्रचलन हो गया था। अंग्रेजी नाटकों और रंगमच का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ रहा था। शासन की ओर से हिन्दी साहित्य को प्रोत्साहित करने के बजाय उसे दबाने की कोशिश की जा रही थी। सस्कृत साहित्य के पण्डित हिन्दी साहित्य के विकास के हामी तो हो चले थे परन्तु वे प्राचीन रुढियों को तोड़ने में अपने को असफल पा रहे थे। लोक नाट्यों और लोक रगमंच के विभिन्न रूपों का ह्रास हो चुका था और उसमें तथा शिष्ट रगमच में सम्बन्ध तथा तारतम्य ढूंढ़ना प्रायः असम्भव होगया था। और सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह आ गयी थी कि नाटकों और रंगमच को केवल सस्ते और शिष्ट मनोरजन का साधन माना जाय और इसी रूप में उसे समाज में प्रतिष्ठित किया जाय अथवा उसे समाज की नयी महत्त्वाकांक्षाओं, नयी चेतना, स्वतन्त्रता की नयी भावना और समाज की नयी दृढ़ सघर्षात्मक प्रवृत्तियों का साधन, माध्यम, वाहन और दर्पण बनाया जाय।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बाबू हरिश्चन्द्र जैसे स्वाभिमानी सजग स्वाधीनता प्रेमी साहित्यकार को अपना मार्ग चुनने में देर नहीं लगी। एक बार अपने आदर्शों तथा उद्देश्यों के बारे में सुनिश्चित दृष्टिकोण अपना लेने के बाद वह स्पष्ट शब्दों में कह सके, "जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति नीति का प्रवाह जिस रूप मे चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदयगण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाट्य-कार को दृश्य कार्य प्रणयन करना योग्य है।" वह आगे फिर कहते हैं, "नाट्यादि दृश्य काव्यप्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे, यह आवश्यक नहीं। क्योंकि जो प्राचीन रीति व पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगो की मतपोषिका होगी वह सब अवश्य ग्रहण होगी। नाट्य कला कौशल दिखलाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्व काल में लोकातीत असम्भव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदय हारिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती। अब नाट्यकार दृश्य काव्य मे अस्वाभाविक सामग्री परिषोधक काव्य सहृदय सभ्य मण्डली को नितांत अरुचि कर है। इसलिये स्वाभाविक रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयहारिणी है। इससे अब अलौलिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है।"

भारतेन्दु जी ने इतने स्पष्ट शब्दों में अपना मत व्यक्त करके अपनी ऐतिहासिक जिम्मेदारी को पूरा किया और समसामयिक साहित्यकारों को ही नहीं बाद की पीढ़ियों को भी एक सही और शाश्वत नेतृत्व प्रदान किया। भारतेन्दु जी ने सस्कृत नाट्य प्रणाली और रचना विधान के केवल उन्हीं अशों को स्वीकार करने की सलाह दी जो आधुनिक युग की आवश्यकताओं की दृष्टि से उपयोगी हों।

लेख के दूसरे भाग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा है, "यदि कोई हमसे यह प्रश्न पूछे कि सबसे पहिले किस देश में नाटकों का प्रचार हुआ तो हम क्षण मात्र का भी विलम्ब किये बिना मुक्त कण्ठ से कह देंगे, भारतवर्ष में।" आगे आप कहते हैं, "नाटक रचना में रंग नट इत्यादि जो शब्द प्रयुक्त होते हैं, वे प्राचीन काव्य, कोश, व्याकरण और धर्म शास्त्रों में पाए जाते हैं । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि नाटक रचना हमारे आर्य गणों को पूर्वकाल ही से विदित है।" भारतेन्दुजी ने इसके उपरान्त इसके समर्थन में अनेक उदाहरण भी दिये हैं। इनका चर्चा हम पहिले अनेक अध्यायों में कर चुके हैं। संस्कृत नाट्य परम्परा के सम्बन्ध में भारतेन्दु जी ने विवरण सहित चर्चा किया है और कालिदास, भवभूति, राजशेखर, भट्ट नारायण आदि का वर्णन करते हुये आप ने 'मृच्छ कटिक' को प्रथम नाटक घोषित किया है। आपके समय तक भास के नाटकों का पता नहीं चला था। अश्वघोष के नाटकों का पता भी बहुत बाद में १६२७ ई० में चला। इसलिये अश्वघोष और भास के नाटकों का चर्चा आप नहीं कर सके।

संस्कृत नाट्य परम्परा के बाद ही आपने भाषा नाटकों का विवरण प्रस्तुत किया। आपने इसके साथ मौलिक तथा अनूदित नाटकों की तालिका भी दे दी है। आपने अन्य नाटकों के साथ 'देव माया प्रपंच' नाटक, 'प्रभावती' नाटक तथा 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक का भी चर्चा किया और कहा है कि "यद्यपि ये नाटक नाटक रीति बने हैं किन्तु नाटकीय यावत नियमों का पालन इनमें नहीं है औ ये छंद प्रधान ग्रंथ हैं। विशुद्ध नाटक रीति से पात्र प्रवेशादि नि रूपण द्वारा प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्य चरण श्री कविवर गिरि दास (वास्तविक नाम गोपाल चन्द्र जी) का है।" इस प्र भारतेन्दु जी ने अपने पिता के 'नहुष' नाटक को हिन्दी का प्रथम — नक 'नहुष' नाटक के पहिले का रचा हुआ कोई नाट

मिलता तब तक 'नहुष' नाटक को ही हमें आधुनिक हिन्दी नाट्य का प्रथम नाटक मानना पडेगा। परन्तु यहा यह ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि भारतेन्दु जी के अनुसार 'नहुष' ही प्रथम नाटक है परन्तु 'नहुष' की रचना के बहुत पहिले से नाटकों के खेलने की प्रथा रही है और हिंदी क्षेत्रों में नाटक खेले जाते रहे हैं। 'नहुष' की रचना १८४१ ई० मे हुई, परन्तु १८३५ ई० में 'श्री कृष्ण चरित्रोपाख्यान' नाटक काठमाण्डू के निकट नवम्बर के मास में खेला गया। डाक्टर श्रीमती शारदा वेदालकार को यह नाटक लन्दन लाइब्रेरी में मिला था जिसकी माइक्रोफिल्म प्रतिलिपि उनके पास सुरक्षित है। हमारा अनुमान है कि 'नहुष' के पहिले भी हिन्दी में नाटक रचे गये थे। भले ही वे गीति नाट्यो की कोटि मे आते हों परन्तु वे रग मच पर प्रस्तुत किये जाते थे। साथ ही यह भी याद रखने की बात है कि भारतेन्दु जी के पहिले, बहुत पहिले रास नाटकों की परम्परा थी और उसका लोप भारतेन्दु जी के युग तक नहीं हुआ था। स्वांग, तमाशा, नौटकी आदि की ओर भी भारतेन्हु जी की दृष्टि नहीं गयी। सम्भवतः वे लोक नाट्य के इन विभिन्न रूपों को हिन्दी नाट्य परम्परा की पूर्व कड़ी के रूप में स्वीकार नहीं करते थे। उनके पहिले ही वाजिदअली शाह का 'रहस खाना' प्रसिद्ध हो चुका था और अमानत का 'इन्दर सभा' नाटक भी लोक प्रिय हो गया था। भारतेन्दु जी ने 'इन्दरसभा' पर एक पैरोडी भी लिखी थी। पारसी थियेटरों ने भी उस समय धूम मचा रखी थी और स्वय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने इसी लेख में उसका वर्णन भी किया है—"काशी में पारसी नाटक वालों ने नाच घर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक खेमटे वालियों की तरह कमर पर हांथ रख कर मटक मटक कर नाचने और 'पतरी कमर बल खाये रे' यह गाना गाने लगा तो डाक्टरथिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान यह कह कह उठ आये कि अब

देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।"

प्रश्न उठता है कि इन पारसी थियेटरों ने भारतेन्दु जी के जमाने तक कितने संस्कृत नाटकों के अनुवादों को तथा कितने मौलिक नाटकों को मञ्च पर प्रस्तुत किया? इन मौलिक अथवा अनूदित नाट्य ग्रन्थों की रचना किसने और कब की? इस ओर विद्वानों का ध्यान जाना चाहिये। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने जिस समय अपने नाटकों की रचना की उस समय अनेक क्षेत्रों में नाटकों की रचना हो रही थी। विशेषतया पारसी थियेटरों के लिये तो रंग-मञ्चीय नाटक लिखे ही जा रहे थे। भारतेन्दु बाबू ने हिन्दी नाटकों की जो सूची इस लेख में प्रस्तुत की है उसमें इन नाटकों का नाम नहीं है। भारतेन्दु जी ने लिखा है, "हिन्दी भाषा में जो सबसे पहला नाटक खेला गया वह 'जानकी मंगल' था। स्वर्गवासी मित्रवर बाबू ऐश्वर्यनारायण सिंह के प्रयत्न से चैत्र शुक्ल ११, संवत् १९२५ में बनारस थियेटर में बड़ी धूम-धाम से यह खेला गया था। रामायण से कथा निकाल कर यह नाटक पंडित शीतला प्रसाद त्रिपाठी ने बनाया था। इसके पीछे प्रयाग और कानपुर के लोगों ने भी 'रणधीर प्रेम मोहिनी' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' खेला था। पश्चिमोत्तर देश में ठीक नियम पर चलने वाला कोई आर्य शिष्ट जन का नाटक समाज नहीं है।" इस तरह भारतेन्दुजी के अनुसार १८६८ ई० के लगभग प्रथम हिन्दी नाटक 'जानकी मंगल' रंगमंच पर बनारस में प्रस्तुत किया गया। इसके बाद प्रयाग तथा कानपुर में भी हिन्दी के नाटक खेले गये। भारतेन्दु जी के समय में 'शिष्ट जन का नाटक समाज' नहीं था। पारसी थियेटरों को वह 'शिष्ट जन का नाटक समाज' नहीं मानते थे। कालिदास के गले पर छुरी फेरने वालों को शिष्ट कौन मानेगा?

भारतेन्दु जी ने बंगला तथा अंग्रेजी नाट्य साहित्य की भी चर्चा

मिलता तब तक 'नहुष' नाटक को ही हमें आधुनिक हिन्दी नाट्य का प्रथम नाटक मानना पड़ेगा। परन्तु यहा यह ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि भारतेन्दु जी के अनुसार 'नहुष' ही प्रथम नाटक है परन्तु 'नहुष' की रचना के बहुत पहिले से नाटकों के खेलने की प्रथा रही है और हिंदी क्षेत्रों में नाटक खेले जाते रहे हैं। 'नहुष' की रचना १८४१ ई० में हुई, परन्तु १८३५ ई० में 'श्री कृष्ण चरित्रोपाख्यान' नाटक काठमाण्डू के निकट नवम्बर के मास में खेला गया। डाक्टर श्रीमती शारदा वेदालकार को यह नाटक लन्दन लाइब्रेरी में मिला था जिसकी माइक्रोफिल्म प्रतिलिपि उनके पास सुरक्षित है। हमारा अनुमान है कि 'नहुष' के पहिले भी हिन्दी में नाटक रचे गये थे। भले ही वे गीति नाट्यों की कोटि में आते हों परन्तु वे रग मच पर प्रस्तुत किये जाते थे। साथ ही यह भी याद रखने की बात है कि भारतेन्दु जी के पहिले, बहुत पहिले रास नाटकों की परम्परा थी और उसका लोप भारतेन्दु जी के युग तक नहीं हुआ था। स्वांग, तमाशा, नौटकी आदि की ओर भी भारतेन्हु जी की दृष्टि नहीं गयी। सम्भवतः वे लोक नाट्य के इन विभिन्न रूपों को हिन्दी नाट्य परम्परा की पूर्व कड़ी के रूप में स्वीकार नहीं करते थे। उनके पहिले ही वाजिदअली शाह का 'रहस खाना' प्रसिद्ध हो चुका था और अमानत का 'इन्दर सभा' नाटक भी लोक प्रिय हो गया था। भारतेन्दु जी ने 'इन्दरसभा' पर एक पैरोडी भी लिखी थी। पारसी थियेटरों ने भी उस समय धूम मचा रखी थी और स्वय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने इसी लेख में उसका वर्णन भी किया है—"काशी में पारसी नाटक वालों ने नाच घर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक खेमटे वालियो की तरह कमर पर हांथ रख कर मटक मटक कर नाचने और 'पतरी कमर बल खाये रे' यह गाना गाने लगा तो डाक्टरथिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान यह कह कह उठ आये कि अब

देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।"

प्रश्न उठता है कि इन पारसी थियेटरों ने भारतेन्दु जी के जमाने तक कितने सस्कृत नाटकों के अनुवादों को तथा कितने मौलिक नाटकों को मञ्च पर प्रस्तुत किया? इन मौलिक अथवा अनूदित नाट्य ग्रन्थों की रचना किसने और कब की? इस ओर विद्वानों का ध्यान जाना चाहिये। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने जिस समय अपने नाटकों की रचना की उस समय अनेक क्षेत्रों में नाटकों की रचना हो रही थी। विशेषतया पारसी थियेटरों के लिये तो रग-मञ्चीय नाटक लिखे ही जा रहे थे। भारतेन्दु बाबू ने हिन्दी नाटकों की जो सूची इस लेख में प्रस्तुत की है उसमें इन नाटकों का नाम नहीं है। भारतेन्दु जी ने लिखा है, "हिन्दी भाषा में जो सबसे पहला नाटक खेला गया वह 'जानकी मगल' था। स्वर्गवासी मित्रवर बाबू ऐश्वर्यनारायण सिंह के प्रयत्न से चैत्र शुक्ल ११, सवत् १६२५ मे बनारस थियेटर में बड़ी धूम-धाम से यह खेला गया था। रामायण से कथा निकाल कर यह नाटक पडित् शीतला प्रसाद त्रिपाठी ने बनाया था। इसके पीछे प्रयाग और कानपुर के लोगों ने भी 'रणधीर प्रेम मोहिनी' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' खेला था। पश्चिमोत्तर देश में ठीक नियम पर चलने वाला कोई आर्य शिष्ट जन का नाटक समाज नहीं है।" इस तरह भारतेन्दुजी के अनुसार १८६८ ई० के लगभग प्रथम हिन्दी नाटक 'जानकी मगल' रगमच पर बनारस में प्रस्तुत किया गया। इसके बाद प्रयाग तथा कानपुर में भी हिन्दी के नाटक खेले गये। भारतेन्दु जी के समय में 'शिष्ट जन का नाटक समाज' नहीं था। पारसी थियेटरों को वह 'शिष्ट जन का नाटक समाज' नहीं मानते थे। कालिदास के गले पर छुरी फेरने वालों को शिष्ट कौन मानेगा?

भारतेन्दु जी ने बगला तथा अग्रेजी नाट्य साहित्य का भी चर्चा

किया। बंगला को तो वह हिन्दी की 'ज्ञान वृद्धा बड़ी बहिन' मानते थे। भारतेन्दु जी का ऐसा कहना स्वाभाविक था। बंगला नाट्य साहित्य का उन पर अत्यधिक प्रभाव था। 'विद्या सुन्दर,' जिसे वह हिन्दी का तृतीय[१] नाटक मानते हैं ('नहुष' के बाद राजा लक्ष्मण सिंह कृत 'शकुन्तला' नाटक का आपने हिन्दी का द्वितीय नाटक माना है) बङ्गला के ही प्रभाव के अन्तर्गत रचा गया था।

अपने लेख के अन्तिम भाग मे आपने 'योरप में नाटको के प्रचार' पर प्रकाश डाला है। आपने योरप में नाट्य साहित्य के उद्भव और विकास की कथा थोडे में दे दी है और लेखकों के कापीराइट तक का चर्चा कर दिया है। ऐसा करना आवश्यक था। जिस प्रकार बङ्गला नाट्य साहित्य और रङ्गमञ्च पर योरोपीय नाट्य साहित्य और रङ्गमञ्च का प्रभाव था ठीक उसी तरह हिन्दी नाट्यसाहित्य और रगमञ्च का भी विकास हो रहा था। अग्रेजी

---

[१] 'विद्या सुन्दर' नाटक की द्वितीयावृत्ति के उपक्रम में भारतेन्दु जी लिखते हैं "विशुद्ध हिन्दी भाषा के नाटकों के इतिहास में यह चौथा नाटक है। निवाज का 'शकुन्तला' या ब्रजवासी दास का 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक नहीं काव्य हैं। इससे हिन्दी भाषा में नाटकों की गणना की जाय तो महाराज रघुराज सिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' और मेरे पिता का 'नहुष' नाटक यही दो ग्रन्थ भाषा में वास्तविक नाटककार मिलते हैं। यों नाम को तो 'देवमाया प्रपंच', 'समय सार' इत्यादि कई भाषा ग्रन्थों के पीछे नाटक नाम लगा दिया है। इनके पीछे 'शकुन्तला' का अनुवाद राजा लछमण सिंह ने किया है। यदि पुर्वोक्त दोनों ग्रन्थों को ब्रज-भाषा मिश्र होने के कारण हिन्दो न मानो तो 'विद्या सुन्दर' गुणों में अद्वितीय न होने पर भी द्वितीय है।"

'नाटक' १८८३ ई० में प्रकाशित हुआ और 'विद्या सुन्दर' का यह संस्करण १८८६ ई० में।

नाटकों के अनुवाद हो रहे थे और उन्हें जनता के सामने प्रस्तुत किया जा रहा था। रंगमंच की प्राचीन परिपाटी को त्याग कर नये 'टेकनीक' को अपनाया जा रहा था। इसलिये योरोपीय नाटकां तथा रगमञ्च के सम्बन्ध में कुछ चर्चा करना आवश्यक था। भारतेन्दु जी दूरदर्शी विचारक थे। वह समय की गति और माँग को पहिचानते थे। आगे आने वाले दिनों को वह अच्छी तरह देख रहे थे। इसलिये जहा उन्होंने नाट्य साहित्य और रङ्गमञ्च के विकृति-मूलक तत्वों का विरोध और भण्डाफोड़ किया वहीं उन्होंने शिष्ट तथा मङ्गल मूलक तत्वों को खुलकर अपनाया भी। आपने अंग्रेजी नाटकों का गम्भीर अध्ययन और अनुवाद प्रस्तुत करके आगे आने वाले नाट्य प्रेमियों के लिये रास्ता साफ किया। हमारे इस कथन की पुष्टि भारतेन्दु जी के उन नाटकों से हो जायेगी जिनका परिचय हम यहाँ दे रहे हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—परिचय

भारतेन्दु के नाटकों से खड़ी बोली हिन्दी में नाटकों का प्रारंभ होता है। वे एक वहुत महत्वपूर्ण वश परम्परा की एक कड़ी थे। भारतेन्दु ने अपने दोहों में अपने पूर्वजों का उल्लेख किया है। इस वंश के सेठ बालकृष्ण और उनके पूर्वजों का मुगल वंश से सम्बन्ध था। शाहजहां के पुत्र सुल्तान शुजाअ के बङ्गाल में चले आने पर ये लोग बङ्गाल चले आए। फिर नवाबों के साथ-साथ राजधानी परिवर्तन होने पर ये लोग मुर्शिदाबाद भी आए। सेठ बालकृष्ण के पौत्र और गिरधारी लाल के पुत्र सेठ अमीनचद तत्कालीन प्रभुत्वशाली अंग्रेजों के सहायक थे। नवाब सिराजुद्दौला ने इनको भी लूटा था और पलासी के युद्ध में नवाब को हराकर मीरजाफर को गद्दी पर बैठाने का जो षड़यत्र था उसमें अमीनचंद का भी हाथ था। किंतु पुरस्कार बांटने के समय अंग्रेजों ने इनका नाम तक नहीं लिया, जिससे इन्हें बड़ा क्षोभ हुआ और इसी से इनकी मृत्यु हो गई। इस

घटना से सेठ अमीनचन्द के पुत्र फतेहचन्द को बड़ा शोक हुआ और वे काशी चले आए। अपने ससुर की सम्पत्ति के भी यही स्वामी हुए, क्योंकि उन्हें कोई संतान नहीं थी। अंग्रेजों के यहां इनका काफी सम्मान था। 'स्थायी बंदोबस्त' में इन्होंने डकन साहब की बड़ी सहायता की। इनके भाई के दोनों पुत्र मर गए इसलिए इनके भी उत्तराधिकारी सेठ फतेहचंद के पुत्र बाबू हर्षचन्द्र हुए, जो काशी में काले हर्षचन्द्र के नाम से जाने जाते थे। सरकार में इनका भी मान था। सं० १८९८ में पंसेरी की गड़बड़ी में सरकार ने इन्हें सरपंच बनाया था। काशिराज ने बुढ़वा मङ्गल के मेले को वर्तमान रूप इन्हीं के सुझाव पर दिया था। काशी नरेश के ये महाजन थे और अपनी बिरादरी में भी अति सम्मानित थे। स्वामी गिरिधर जी के वरदान स्वरूप इन्हें गोपाल चन्द्र नामक पुत्र का जन्म हुआ जो आगे चलकर 'गिरिधरदास' उपनाम से प्रसिद्ध हुआ।

यद्यपि इनकी शिक्षा विशेष नहीं हुई थी, किंतु ये प्रतिभाशाली व्यक्ति थे और स्वाध्याय से इन्होंने विद्वता प्राप्त की थी। ये बड़े सरल और सच्चरित्र व्यक्ति थे। गविन्स साहब इन्हें 'परकटा फरिश्ता' कहते थे। कवियों का ये सम्मान करते थे। इनके सभासदों में पण्डित ईश्वर दास जी 'ईश्वर कवि', गोस्वामी दीनदयाल गिरि, पण्डित लक्ष्मीशङ्कर दास जी व्यास आदि प्रसिद्ध थे। साधु-संतों से भी इन्हें बड़ा प्रेम था। भांग का इन्हें दुर्व्यसन था, जिसके कारण इनकी मृत्यु हुई। भारतेन्दु जी ने एक दोहे में इनके द्वारा चालीस ग्रन्थों की रचना का उल्लेख किया है, किंतु उनके अस्तित्व का पता नहीं चलता।

गिरिधरदास जी की चार संतानों में से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र दूसरी संतान थे। इनका जन्म काशी में भाद्र पद शुक्ल ऋषि पंचमी सं० १९०७ (९ सितम्बर १८५० ई०) को हुआ था। इन्हें माता पांच वर्ष की और पिता दस वर्ष की अवस्था का छोड़कर मरे। शिक्षा बचपन से ही घर पर प्रारम्भ हो गई थी और उर्दू तथा अंग्रेजी की

आरम्भिक शिक्षा भी घर पर ही मिली। कुछ दिन महाजनी स्कूल में और फिर राजा शिव प्रसाद जी से भी शिक्षा प्राप्त की। पिता की मृत्यु के बाद वह क्वीन्स कालेज में भर्ती हुए। प्रतिभा विलक्षण थी, किंतु पढ़ने में इन्होंने कभी भी मन नहीं लगाया। छात्रावस्था में भी कविता लिखते थे, किंतु वे सभी शृंगार सम्बन्धी हैं। सं०१९२० में भारतेन्दु जी का विवाह शिवाले के रईस लाला गुलाबराय की पुत्री श्रीमती मन्नोदेवी से बड़े समारोह के साथ हुआ था। परिवार की स्त्रियों के आग्रहवश जगदीश यात्रा करने के कारण शिक्षा का क्रम टूट गया। जगन्नाथ मन्दिर की भैरव मूर्ति को अप्रमाणित सिद्ध करके इन्होंने उसे वहां से हटवा दिया। इस पर जब किसी ने 'तकहीकात पुरी' लिखा तब इन्होंने 'तहकीकात पुरी की तहकीकात' लिख डाली। जगन्नाथ पुरी से लौटने के बाद लखनऊ, सहारनपुर, मसूरी, हरिद्वार, लाहौर, आगरा आदि स्थानों की तैंतीस दिनों की यात्रा की। इसके ६ वर्ष बाद पुष्कर यात्रा करने गए और उसी वर्ष हिन्दी-वर्द्धिनी सभा के निमन्त्रण पर प्रयाग गए। स० १९३६ में भारतेन्दु जी ने सरयूपार की यात्रा की। स० १९३९ में उदयपुर गए। सं० १८४१ में निमन्त्रित होकर व्याख्यान देने बलिया गए। व्याख्यान के विज्ञापन में इन्हें 'शायर मारूफ बुलबुले हिन्दुस्तान' कहा गया था। बलिया इस्टीट्यूट में ५ वीं नवम्बर को कलक्टर के समापतित्व में यह व्याख्यान हुआ। 'सत्य हरिश्चन्द्र' तथा 'नील देवी' का अभिनय भी हुआ। इन स्थानों के सिवा आप डुमरांव, पटना, कलकत्ता, प्रयाग और हरिहर क्षेत्र आदि स्थानों को भी प्रायः जाया करते थे।

"भारतेन्दु जी कद के लम्बे थे और शरीर के एकहरे थे, न अत्यंत कृश और न अत्यत मोटे ही। आँखें कुछ छोटी और धसी हुई सी थीं तथा नाक बहुत सुडौल सी थी। कान कुछ बडे थे, जिन पर घुंघराले बालों की लटें लटकती रहती थीं। ऊँचा ललाट इनके भाग्य का द्योतक था। इनका रंग सांवलापन लिए हुए था। शरीर

लिखने के कार्यों में लग गए। इसलिए रोग दिन पर दिन बढता गया। कभी कभी बीच में अच्छे भी हो जाते थे। दवा होती रही और शरीर कृषित होता गया। श्वास अधिक हो चला और क्षीय के चिह्न पैदा हुए। माघ कृष्ण ६ स० १६४१ वि० (६ जनवरी १८८५ ई०) को आप का देहावसान हुआ। आप की अवस्था उस समय केवल चौंतीस वर्ष ३ महीने २७ दिन थी।

भारतेन्दु जी के एक पुत्री और दो पुत्र हुए। दोनों पुत्र शैशवावस्था में ही जाते रहे। पुत्री का विवाह उन्होने स्वय किया। पुत्री का नाम विद्यावती था और इनके पाँच पुत्र तथा तीन पुत्रियाँ हुई थीं।

प्राचीन तथा नवीन के इस संघर्ष-काल में भारतेन्दु एक ऐसे प्रतिभावान साहित्यिक थे, जिसने प्राचीनता की खिल्ली न उड़ाते हुए उसकी सार्थकता का नवीनता से सामजस्य कराया। कभी उन्होंने तो भक्ति और रीति कालीन कवियों जैसी कविताएँ लिखीं, तो कभी आधुनिकता से प्रभावित बग-कवियों जैसा भी लिखते थे। कभी राज भक्त बनकर लिखते थे, तो कभी कभी देश-भक्ति का सदेश देते थे। इन्हीं गुणों के कारण प्राचीन और नवीन विचार वालों का अच्छा खासा एक मडल उनके इर्द गिर्द घूमता था, जिसने हिन्दी की प्रगति में सहायता दी। उनकी गद्य शैली स्पष्ट और सरल थी। भावों के अनुसार भाषा भी बदलती थी। जहाँ विनोद और मनोरजन का विषय होता था, वहाँ भाषा चपल हो जाती थी। जहाँ विषय गभीर होता था, वहाँ भाषा सस्कृतमयी हो जाती थी।

राजा शिव प्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह विक्रमी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी के दो रूपों के प्रतीक हुए और इन दोनों का सघर्ष आरंभ हुआ। राजा शिवप्रसाद ने यदि नागरी लिपि में उर्दू शब्दों से भरा हुआ 'बनारस अखबार' निकाला तो राजा लक्ष्मण सिंह का 'प्रजाहित' भी शुद्ध हिन्दी में निकला।

उन्होंने रघुवंश का संस्कृत मिश्रित हिंदी में अनुवाद किया। पंजाब में नवीनचन्द्र राय और पं० गौरी दत्त विशुद्ध हिंदी के समर्थक हुए। स्वामी दयानन्द ने भी अपना प्रचार और उपदेश हिन्दी में किया। ऐसे अवसर पर भारतेन्दु जी ने लेखनी उठाई और भाषा को अत्यंत परिमार्जित तथा मधुर रूप देते हुए उसके साहित्य में समयानुकूल विषयों की पुस्तकों का निर्माण कर उसको प्रगतिशील बनाया। उनकी भाषा में पुराणपन, उर्दूपन आदि नहीं रहने पाये और उसे बहुत ही संयत तथा स्वच्छ रूप मिला। यही कारण है कि हिन्दी प्रेमियों ने उन्हें वर्तमान हिन्दी का जन्मदाता तक कहा है। यह भाषा-संस्कार केवल गद्य ही में नहीं हुआ, प्रत्युत पद्य में भी हुआ। दो शताब्दी से ऊपर तक हिन्दी में वीरगाथा, प्रेमाख्यान, भक्ति तथा रीति पर ही कविताए लिखी जाती थीं। इस परम्परा से लोग ऊब चुके थे। भारतेन्दु ने देश-प्रेम, मातृ-भाषा-भक्ति, समाज-सुधार आदि विषयों पर कविता, नाटक और निबन्धादि लिखने की परपरा आरम्भ की।

इस नयी परम्परा के उत्थान का एक कारण भारत में अंग्रेजों का आगमन भी है। उनके आगमन और सम्पर्क के साथ नई विचार धारा और नए विषय आये। बंगाल में यह परंपरा पहले आरंभ हुई क्योंकि बगाल का सम्पर्क अंग्रेजों से पुराना था। "भारत के इतिहास, पुरातत्व, मुद्राशास्त्र, लिपि, प्राचीन सस्कृत-साहित्य, वर्तमान भाषाओं के नवीन उत्थान आदि सभी विषयों पर दृष्टि दौड़ाएँ, तो सब में आप को भारत-सरकार और अंग्रेज-योरोपियन साहित्य-प्रेमियों का सहयोग ही नहीं, वरन् उनके द्वारा मार्ग-प्रदर्शन भी दिखलाई पड़ेगा। न्याय पूर्वक हमें इस सत्य को स्वीकार करना ही चाहिए।"

हिन्दी में कहानी का आरभ भी कविता में हुआ। यद्यपि कुछ कहानियाँ भारतेन्दु के पूर्व भी लिखी-जा चुकी थीं, किन्तु उन्होंने भी इस कमी की ओर ध्यान नहीं दिया था। वे कुछ विशेष न कर सके

किन्तु उनके प्रोत्साहन से उनके मित्रों ने इस दिशा में कदम बढाया। भारतेन्दु ने स्वय, 'मदालसोपाख्यान' लिखा और 'राजसिंह' का अपूर्ण अनुवाद भी किया।

भारतेन्दु के समय से ही हिन्दी पत्रकरिता आगे बढ़ी। स० १६२४ में सबसे पहली मासिक पत्रिका उन्होंने ही, 'कवि-वचन सुधा' प्रकाशित की, जो बाद में साप्ताहिक रूप में बडे आकार मे निकलने लगी। इसमें गद्य, पद्य और राजनीति, समाज, धर्म आदि पर लेख रहते थे। कुछ समाचार भी छपते थे। स० १६३० में उन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' मासिक पत्र निकाला, जो आठ वर्ष चली। सन् १८८४ में 'नवोदिता हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' नाम से यह छोटे आकार में निकली, पर दो सख्या निकालकर भारतेन्दु चल बसे। उनकी मृत्यु के बाद इसका तीसरा और अतिम अक निकला। 'बाल बोधिनी' नामक मासिक पत्रिका स्त्रियों के लिए उन्होंने सन् १८७४ से निकालना शुरू किया। चार वर्ष चलकर वह भी बन्द हो गई।

अब हम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों का सक्षिप्त परिचय देंगे।

घनजय-विजय

घनजय-विजय के रचयिता काचन पडित और यह सस्कृत में लिखा गया था। इस व्यायोग की सन् १५३७ वि० की एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख मिलता है, जिससे इसके समय की अन्तिम सीमा अवश्य निश्चित हो जाती है। वैसे इसका समय सदिग्ध है। भारतेन्दु जी के पहले इसका अनुवाद प० छुन्नूलाल द्वारा किया जा चुका था। इस अनुवाद की भाषा भ्रष्ट तथा शिथिल थी। नाटक के मूल का उत्तम अनुवाद करने की दृष्टि से भारतेन्दु ने पुन: इसका अनुवाद किया जो सन् १८७३ में पहले पहल 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' में प्रकाशित हुआ।

'इस व्यायोग की कथा महाभारत के विराट पर्व से ली हुई है। बारह वर्ष वनवास करने के अनन्तर पांडव गण द्रौपदी सहित अज्ञात

वास करने के लिए मत्स्य-राज विराट के राज्य में जाकर उसकी सेवा में गुप्त रूप से रहने लगे। द्रौपदी की अप्रतिष्ठा करने के कारण भीम द्वारा कीचक के मारे जाने पर त्रिगर्तराज सुशर्मा ने मत्स्य राज पर एक ओर से आक्रमण किया और जब राजा विराट ससैन्य उधर उससे युद्ध करने चले गए, तब कौरव गण दूसरी ओर से आक्रमण कर राजा विराट की साठ सहस्त्र गाएं लेकर चल दिए। राज नगरी में केवल उत्तर कुमार था। अन्त में अर्जुन उसे सारथी बनाकर स्वयं युद्ध में कौरवों को परास्त कर गोधन छुड़ा लाए। इसके अनन्तर राजा विराट ने पांडवों का बड़ा सम्मान किया और उत्तरा का अभिमन्यु से विवाह सम्बन्ध स्थिर हुआ। यह सब कथा महाभारत में बारह अध्यायों में वर्णित है। इस नाटक में केवल अर्जुन का कौरवों को परास्त कर गायों को छुड़ा लाना तथा फल स्वरूप उत्तरा अभिमन्यु का विवाह स्थिर होना दिखलाया गया है।

'धनजय विजय' केवल एक दिन के कथानक से सम्बन्धित है और इसमें कोई स्त्री पात्र नहीं है। व्यायोग स्त्री पात्र रहित एक दिन के कथानक से संबधित होता है और इसका नायक कोई अवतार या वीर होता है। अर्जुन इसका नायक है। इस नाटक में पद्य से गद्य अधिक मात्रा में है और अनुवाद बहुत सुन्दर है।

सत्य हरिश्चन्द्र

'सत्य हरिश्चन्द्र' का कथानक पौराणिक है। इद्र की प्रेरणा से ऋषि विश्वामित्र राजा हरिश्चन्द्र की सत्य-परीक्षा लेते हैं। इस कथानक को लेकर सस्कृत में आचार्य क्षेमीश्वर कृत 'चड कौशिक' और राम चद्र कृत' 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटकम्' नामक दो रूपक लिखे गए हैं। भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का कुछ अश 'चड कौशिक' से अनूदित है और शेष उनकी अपनी रचना है। भाषा सुन्दर,

मुहाविरेदार और कथा के अनुकूल है। व्यावहारिक भाषा के प्रयोग से यह और आकर्षक हो गयी है।

यह नाटक चार अक में ही समाप्त हो गया है। इसका प्रधान रस वीर है। राजा हरिश्चन्द्र में सत्यवीर और दानवीर तथा विश्वामित्र में कर्मवीर रस का समावेश है। करुण रस का इसमें प्राधान्य है। वीभत्स, हास्य तथा अद्भुत रस का भी इसमें परिपाक हुआ है। इसके प्रधान नायक राजा हरिश्चन्द्र धीरोदात्त प्रतापी राजर्षि हैं। विश्वमित्र का राजा हरिश्चन्द्र को सत्य भ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा करना बीज है। स्वप्न में पृथ्वी दान लेकर तथा सशरीर पहुंच कर उस पर अधिकार करना और दक्षिणा के बहाने राजा हरिश्चन्द्र को राज्य भ्रष्ट तथा शारीरिक स्वातन्त्र्य-भ्रष्ट करना बिंदु है। विश्वामित्र के प्रयत्नों का निष्फल होना पताका है। रोहिताश्व का दंशित होकर स्मशान में लाया जाना प्रकरी है। सत्य की परीक्षा में उत्तीर्ण होना कार्य है।

इसमें प्रासगिक कथा वस्तु नहीं सा है और जो कुछ है वह भी आधिकारिक कथा के सौंदर्य को बढाने के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन्द्र, नारद तथा विश्वामित्र के संवाद से नाटक के उद्देश्य और घटना क्रम का पूरा ज्ञान कराते हुए नाटक का आरम्भ होता है। दूसरे अक में स्वप्न में किए गए दान को सत्य मानकर विश्वामित्र के आते ही राज्य दे देना प्रयत्न है। दक्षिणा चुकाने को काशी में सपत्नीक बिकना प्राप्याशा है। चौथे अक में स्वामिकार्य करते हुए सत्य पथ से न डिगना नियतादि है और भगवान का आकर उन्हें परीक्षोत्तीर्ण कहना फलागम है। पूर्वोक्त विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के प्रायः सभी लक्षणों से युक्त है।

नाटक के पात्रों का चरित्र-चित्रण भी बहुत अच्छा किया गया है। नायक राजा हरिश्चन्द्र का आदर्श है—

चन्द्र टरै, सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार ।
पै दृढ़ श्रीहरिचंद्र को, टरै न सत्य विचार।

और दूसरा उसे इस पथ से विचलित करने में संलग्न है। उसके प्रयत्न से वह राज्य भ्रष्ट होता है और स्त्री तथा अपने को बेचकर शारीरिक स्वतन्त्रता से भी भ्रष्ट हो जाता है, पर अपना सत्यव्रत नहीं त्यागता । ब्राह्मण बने हुए क्षत्रिय में क्रोध की प्रचुरता है । पर उसके विपरीत सच्चे क्षत्रिय में ब्राह्मणों के प्रति जो उदारता थी वह उसे अंत तक सौम्य बनाये रखती है । एक अकारण दूसरे से द्वेष रखता है, उसे अनेक प्रकार से कष्ट देता है । पर सच्चे गुण का असर उसके हृदय पर भी दिखलाकर नाटककार उसकी कृति को अस्वाभाविक नहीं होने देता । नायक के प्रति आरंभ ही से दर्शकों की समवेदना आकर्षित करने के लिए इन्द्र की 'देखि न सकहिं पराइ विभूती' वाली नीति दिखलाकर नारद जी से उसकी शासना कराई गई है तथा विश्वामित्र का इन्द्र की बात सुनते ही झट उत्तेजित होना भी दिखलाया गया है । ज्यों ज्यों प्रतिनायक की कुटिलता बढ़ती जाती है, त्यों त्यों नायक की सौम्यता तथा दृढ़ता का बढ़ना दिखलाकर यह समवेदना बढ़ाई गई, यहाँ तक कि अंत में इस नाटक का कोई भी पाठक आँखें डबडबाए बिना इसे समाप्त नहीं कर सकता । प्रतिनायक के प्रति दर्शकों को घृणा तक हो जाती है । नायक की दान-वीरता तथा सत्य-वीरता दोनों ही एक से एक बढ़कर हैं । जिस प्रकार स्वप्न के दान को भी देने से न हिचकना पहिले की, वैसे ही मृत पुत्र के शव के कफन में से आधा मांगकर उसे अधखुला छोड़ने को तैयार होना दूसरे की पराकाष्ठा है । नायक अपने गौरव तथा आत्माभिमान को कहीं नहीं भूला है । उसे अपने वंश का सहज क्षत्रियत्व का तथा सत्य प्रतिज्ञ होने का दर्प था । ब्राह्मणों का उसके हृदय में कैसा आदर था, यह उसके आचरण से स्पष्ट है । विश्वामित्र के प्रति तथा पुत्र रोहिताश्व को ऐसे कष्ट के समय ढकेलने वाले बटु के प्रति उनका

जो व्यवहार था वह आदर्श है और प्रत्येक पाठक का हृदय उनके प्रति श्रद्धा से भर उठता है। हरिश्चन्द्र सत्य ही महाजन थे। इतने प्रसिद्ध इक्ष्वाकु-वंशीय सम्राट की ऐसी कठोरतम परीक्षा हुई, पर उसमें भी उनकी नम्रता तथा ईश्वर पर उनका विश्वास अंत तक बना रहा। यही कारण है कि आज तक सत्य वीरों की सूची में पहिला नाम इन्हीं महाजन का लिया जाता है। विश्वामित्र के प्रतिनायकत्व में संदेह करना उचित नहीं। इन्द्र-द्वारा प्रेरित होने पर भी नायक की प्रतिद्वंदिता इन्हीं से चली थी। इन्द्र-प्रेरणा के सिवा इन्हें इस पर स्वतः भी क्रोध था। वशिष्ट ऋषि से इनकी शत्रुता प्रसिद्ध थी। राजा हरिश्चन्द्र उन्हीं वशिष्ट जी के यजमान थे।

"सत्यवीर की धर्मपत्नी महारानी शैव्या तथा पुत्र कुमार रोहिताश्व का चरित्र उन्हीं के अनुकूल चित्रित हुआ है। नाटककार ने सहज स्त्री-सुलभ-संकोच, लज्जा, पति के प्रति दृढ विश्वास तथा श्रद्धा उसके एक एक बात में भर कर रख दी है। पति ही पत्नी का सर्वस्व है ऐसा मानते हुए भी वह अपनी शंका तथा अपनी सम्मति कह देना उचित समझती थी। उपाध्याय से कहलाकर महारानी के सौंदर्य, सौकुमार्य तथा शील प्रगट करते हुए "तुम्हारे पति हैं न !" प्रश्न से सती स्त्री के सतीत्व को चमका दिया है। जिस पति के कारण एक महाराज की पुत्री और एक सम्राट की पुत्रवधू होकर तथा अपने छोटे से पुत्र को लेकर वह क्रीता दासी होने जा रही थी उसके प्रति उस समय उसका क्या भाव था, यह उसकी सौम्य मूक दृष्टि ही बतला रही है। पति की ओर देखकर नीचे दृष्टि कर लेने में कितना व्यथापूर्ण भाव है कि आज वह अपने ऐसे सर्वश्रेष्ठ रत्न को चिथड़े में रखा हुआ सबको दिखला रही है ! पर रत्न रत्न ही है। इसके सिवा पुत्र शोक पीड़िता शैव्या के सारे रोने कलपने को पढ़िए, पर एक भी शब्द ऐसा न मिलेगा जिससे उसका पति के प्रति अविश्वास या रोष का संदेह मात्र भी प्रकट हो। स्मशान में चांडाल दास पति के साथ उसका वही व्यवहार रहा

जो राजसिंहासन पर सुशोभित सम्राट् पति के साथ था। उसका निज का चाहे कुछ भी आदर्श चरित्र न दिखलाया गया हो, पर उसी पर सत्य-परीक्षा की अंतिम कसौटी कसी गई थी, जिसका कस विद्युत से भी बढकर प्रज्जवलित हो उठा था। यही बालक नाटक के करुण रस का स्त्रोत है और इसी पर की गई परीक्षा सदा सोने वाले आराम-पसद भगवान को मृत्यु लोक तक खींच लाई थी।

"सहायक पात्रों में इन्द्र और नारद ही मुख्य हैं। इंद्र का स्वभाव वही दिखाया गया है जो उनके लिए प्रसिद्ध है। पर नारद जी का इसके विपरित चित्रित किया गया है। वास्तव में वे पुराणों से कहां तक कलह प्रिय ज्ञात होते हैं इस पर विशेष तो कुछ नहीं कहा जा जा सकता, पर वे कहीं इस स्वभाव के नहीं मिलते। वे विरक्त थे, इससे दक्ष की सतानों को उलटा उपदेश देकर वन में विदा कर दिया और स्वयं शापित होकर घूमने लगे। दुष्टों का सहार करने में वह सदा दत्तचित्त रहते थे। सस्कृत साहित्य में, माघ आदि के काव्यों में ये ऋषिवत ही चित्रित हैं। यद्यपि उनमें भी वे दुष्टों के नाश कराने ही के कार्य में लगे हुए वर्णित हैं। इस विचार से नारद जी का चित्रण ऋषिवत करना ही उत्तम हुआ है और उससे इन्द्र को जो उपदेश दिलाया गया, वह बालकों के लिए उपयोगी है।

सभी पात्रों का चरित्र चित्रण उनके स्वभावानुकूल किया गया है और वह उनके कार्य तथा कथन आदि से स्पष्ट है।

'चंडकौशिक' और 'सत्य हरिश्चन्द्र'

'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चंडकौशिक' दोनों एक ही प्रसिद्द कथा के आधार पर लिखे गए हैं। भारतेन्दु जी ने 'चंडकौशिक' से कुछ श्लोक उद्धृत कर लिया है, मगर दोनों के कथानक में बहुत अन्तर है। 'चंड कौशिक' में प्रथम अक शृंगार रस पूर्ण है, 'सत्य हरिश्चन्द्र' में इन्द्र और नारद के संभाषण में स्वस्थ उपदेश हैं। 'चंडकौशिक'

के द्वितीय अंक में जिस ढग से विश्वामित्र हरिश्चन्द्र से सारा राज्य तथा एक लक्ष सुवर्ण मुद्रा लेते हैं, उसे अनुचित समझ कर भारतेन्दु जी ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' के द्वितीय अक में 'स्वप्नमात्र के सत्य विचार' को स्वप्न न रहने देने के लिए हरिश्चन्द्र द्वारा इसे सत्य मनवाया। यह 'सत्य हरिश्चन्द्र' के तृतीय अक की ऐसी कल्पना है, जो 'चंडकौशिक के द्वितीय अक से भिन्न है। तृतीय अंक में दोनों में सस्त्रीक बिक कर दक्षिणा चुकाना मुख्य क्रिया है और अल्प परिवर्तनों के अतिरिक्त बातें एक सी ही हैं। 'चडकौशिक' का चौथा और पाँचवाँ अक मिलाकर 'सत्य हरिश्चन्द्र' का चौथा अक निर्मित हुआ है। 'चड-कौशिक' के चौथे अध्याय में हरिश्चन्द्र का डोम को अपनी गाथा सुनाना, स्मशान वर्णन, कापालिक की विघ्न हरने के लिए प्रार्थना, तत्पश्चात् विद्याओं का कौशिक के पास भेजा जाना, कापालिक का साधना पूर्ण करने के पश्चात् महानिधान देने का प्रयत्न करने चले जाना, राजा का 'भागीरथी-तीरमुपगम्य' स्वामी-कार्य में लगना आदि हैं। पाँचवें अक में उसी स्थान पर शैव्या अपने पति को डोम के वेष में पाती है, जो उससे कफन माँगता है। जानकर दोनों ही मरने को तैयार होते हैं, फिर रुकते हैं। अंत में धर्म आकर शांति स्थापित करते हैं। "सत्य हरिश्चन्द्र में करुणा रस की मात्रा अधिक है, पिशाचादि की कथा बढाई गई है और दोनों अंक मिला दिए गए हैं। कारुण्य के आधिक्य से भगवान इसमें स्वय पधारे हैं। इद्र, विश्वामित्र आदि को लाकर आपस में मिला देना और दोनों पक्षों के मालिन्य को मिटा देना" तथा अन्यान्य परिवर्तन नाटक को बालकों के लिए उयोगी और उपदेशपूर्ण बनाने की दृष्टि से किया गया है। इन परिवर्तनों के होते हुए भी 'सत्य हरिश्चन्द्र' में 'चंडकौशिक' का बहुत अश आ गया है।

प्रेम योगिनी

यह भारतेन्दु जी की मौलिक, अच्छी और चार दृश्यों की अपूर्ण

नाटिका है, जिसमें एक दृश्य में काशी के बदमाशों और बुरे-चाल चलन के लोगों का वर्णन और दूसरे में काशी की प्रशंसा, यहां के मिलने योग्य महात्माओं के नाम तथा देखने योग्य स्थानों का वर्णन इत्यादि है। "ये दोनों दृश्य हरिश्चन्द्र चन्द्रिका (खंड १ सं० ११ और खंड २ सं० ३,७ सन् १८७५) में प्रकाशित हुए थे। यही 'काशी के छाया-चित्र अर्थात् काशी के दो बुरे-भले फोटो ग्राफ' नाम से चन्द्रिका से उद्धृत होकर हरिप्रकाश प्रेस से प्रकाशित हुए थे। इसके अंनतर इसके केवल दो दृश्य और लिखे गए और यह नाटिका अपूर्ण रह गई। नहीं कहा जा सकता कि भारतेन्दु जी ने इस नाटिका को स्वतः किसी दबाव या समयाभाव के करण पूर्ण नहीं किया। काशी के इस प्रकार के अनेक दृश्य चित्रित करने को बच गए थे और भारतेन्दु जी इसमें कुछ अपना भी वर्णन दे रहे थे, इसलिए यदि यह नाटिका पूर्ण हो जाती तो अवश्य ही विशेष महत्व की होती।

'इस नाटिका की प्रस्तावना में भारतेन्दु जी ने अपने विषय में इस प्रकार सूत्रधार से कहलाया है कि दुष्ट छिद्रान्वेषियों के कारण 'प्रेम की एक मात्र मूर्ति, सत्य का एक मात्र आश्रय, सौजन्य का एक मात्र पात्र, भारत का एक मात्र हित, हिन्दी का एक मात्र जनक, भाषा नाटकों का एक मात्र जीवनदाता हरिश्चन्द्र ही दुःखी हो' और 'तेरा तो बाना है कि कितना भी दुःख हो, उसे सुख ही मानना। लोभ के परित्याग के समय नाम और कीर्ति तक का परित्याग कर दिया है और जगत से विपरीत गति चलके तूने प्रेम की टकसाल खड़ी की है।' 'कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि पाछे, प्यारे हरिश्चन्द की कहानी रहि जाएगी।' इन सबसे आत्मक्षोभ पूर्ण रूपेण-झलक रहा है। यह प्रस्तावना स० १६३१ वि० में चन्द्रिका में प्रकाशित हुई थी और भारतेन्दु जी की जीवनी से ज्ञात होता है कि यह वह समय था, जब इनकी अवस्था २५ वर्ष की थी। स० १६२७ में भाई से इनका

बंटवारा हो गया था और इसके पाच वर्ष बाद इनके मातामही ने एक वसीयतनामा लिखकर इनका हिस्सा इनके छोटे भाई को इस कारण दे दिया था कि इन्होंने 'जायदाद मौरूसी बर्बाद कर दर्जा आखीरी को पहुँचा दिया।' अर्थ सकोच के साथ इस तरह की बातें सुनने से इनमें आत्म क्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। नाटिका में इसके कारण का कुछ आभास मिलता है।

"प्रस्तावना के बाद प्रथम गर्भाङ्क में गोपल मन्दिर का दृश्य है और आरम्भ ही में 'बाबू किहा बैठके ही-ही-ठी-ठी करा चाहैं' कहकर अपना साधारण परिचय दे दिया है। झपटिया तथा मिश्र जी की बातचीत से मन्दिर के खुलने में कुछ देर ज्ञात होती है, तब से दर्शन करने वाले आते हैं और आपस में बात चीत होती है। डा० रामचन्द्र के विषय ही में चर्चा छिड़ता है और 'हा-हा-ठी-ठी' 'दुइ चार कवित्ता बनाय लिहिन' से आरम्भ होता है। 'कवित्त तो उनके बापौ बनावत रहे' में बाबू गोपाल चन्द्र का उल्लेख है और तत्कालीन क्या इस काल में भी अग्रवाल-समाज कवित्त बनाना 'भाटन का काम है' समझता है। भारतेन्दु जी के विषय में लोग क्या क्या अनर्गल बाते कहते थे उन सबका बड़ी सौम्यता से वर्णन किया गया है। प्रात' काल कुछ रात्रि रहते ही जाते समय रईसी प्रथानुसार मशाल साथ ले जाने का अर्थ छक्कू जी के मुख से खूब कहलाया है। इस तरह मी व्यग्य की बौछार करना तुच्छ हृदय वालों के लिए साधारण बात है। बटवारा तथा वसीयत के बाद मल्ल जी के मुख से यह कहलाया कि 'छोटे चित्त के बड़े खोटे हैं'। यह इनके हृदय की उच्चता का द्योतक है क्योंकि इससे कडे शब्द का प्रयोग उनके लिए कठिन ही था। कुछ के मुख से छप्पन भोग के सुख बतलाए गए हैं तथा धनदास वनिता दास की बात-चीत में गुरु तथा शिष्य-शिष्याओं के चरित्र दिखलाए गए हैं। इसके अनन्तर स्वय नाटकार रामचन्द्र के रूप में रगमञ्च पर आते हैं और एक तजवीज के साथ 'अधरी

मजिस्टरों' तथा उनकी कचहरी का हाल बतलाते हैं। बस इसी समय दर्शन खुलता है और दृश्य पटाक्षेप के कारण बन्द हो जाता है।"

काशी मे बड़ी गैबी और छोटी गैबी में होने वाले जमावड़ों, वहा पर होने बोली-ठोली और फलस्वरूर मार पीट इत्यादि का आंखों देखा दृश्य लिखा गया है। दलाल, गंगापुत्र, भडेरिया, दूकानदार, गुन्डा, यात्री और मुसाहिब अपने पक्ष का पूरा चित्र उपस्थित करते हैं। यात्री द्वारा वर्णन काशी के बुरे पक्ष का अच्छा चित्रण है।

तृतीय गर्भाङ्क में मुगलसराय स्टेशन का दृश्य दिखलाया गया है। तब तक काशी और सिकरौल के स्टेशन शायद नहीं बने थे। वहीं से पडे मिलते हैं। सुधाकर द्वारा काशी का महात्म्य वर्णन इस नगरी के दूसरे पक्ष का चित्रण है।

चौथे गर्भाङ्क में काशी में बसे हुए दक्षिण के लोगों का चित्रण है। ये कभी अपनी भाषा बोलते हैं, कभी हिन्दी। इन्हें भागबूटी और भोजन की चिन्ता तथा शास्त्र विवेचन और एक विचार के निमन्त्रित लोगों की सभा में यदि व्यवस्था देने को मिल जाय तो अपने विचारों को आवश्यक शीघ्रता से तिलांजलि देना प्रिय है। फिर कुछ अपने विषय में कहलाकर इन सबको 'बहरी' तरफ रवाना कर यवनिका गिरा दी जाती है।

यहीं नाटिका समाप्त हो जाती है। इसके आगे लिखी नहीं गई।

यह सब देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दृश्यों का आधार कोई सम्बद्ध कथा नहीं है। 'प्रेम योगिनी' नाम शायद इस कारण दिया गया कि इसमें एक योगिनी यात्री द्वारा तीर्थ स्थान का वर्णन रहेगा और स्त्री समाज का भी उल्लेख होगा।

इसमें भारतेन्दु की निरीक्षण शक्ति और उसे मनोरञ्जक रूप मे व्यक्त कर सकने की क्षमता सामने आई है।

चन्द्रावली नाटिका

चन्द्रावली नाटिका में शृंगार प्रधान है और इसकी रचना

स० १६३३ वि० में हुई थी। एक शुद्ध विष्कम्भक देकर शुक देव जी तथा नारद जी के वार्तालाप द्वारा व्रजभूमि के अनन्य प्रेम माहात्म्य दिखलाते हुए नाटक आरम किया गया है। इससे मुख्य कथावस्तु का कोई सबध नहीं है। इसमें वीणा पर उत्प्रेक्षाओं की एक माला ही पिरो डाली गई है।

"पहिले अक में चन्द्रावली जी तथा ललिता सखी के कथोपकथन से उसका श्रीकृष्ण पर प्रेम प्रगट होता है। दूसरे अक में श्री चन्द्रावली जी अपना विरह वर्णन कर रही हैं और उपवन में कई सखियों से वार्तालाप भी होता है। विरहोन्माद में प्रिय के अन्वेषणार्थ जो प्रलाप कराया गया है, वह यदि अभिनय की दृष्टि से कुछ अधिक लम्बा कहा जाय तो कह सकते हैं, पर अस्वाभाविक रत्ती भर भी नहीं होने पाया है।......तीसरे अंक का अकावतार गुप्त पत्र भेजने का रहस्य बतलाता है। उसके अनन्तर कई सखियों के साथ चन्द्रावली जी आती हैं और वार्तालाप में कार्य साधन का उपाय निश्चित होता है। इसमें भी विरह-कातरा रमणी का कथन नीरसों के लिए आवश्यकता से अधिक हो गया है पर विरहिणी को आवश्यक अनावश्यक समझने की बुद्धि नहीं रह जाती। .....

"...चौथे अक में श्रीकृष्ण जी पहिले योगिनी बन कर आते हैं और फिर ललिता तथा चन्द्रावली जी आती हैं। अत में युगल प्रेमियों का मिलन होता है। इसमें यमुना जी की शोभा का नौ छप्पयों में अच्छा वर्णन हुआ है।"

कथा में एक स्थान पर आता है कि चन्द्रावली की जिस मा ने उसका बाहर आना जान बद कर दिया था, वही छद्मवेषी कृष्ण का वास्तविक रूप सामने आ जाने पर भी सदेश भेजती है—'प्यारे सों कही है चन्द्रावली के कुंज में सुखेन पधारौ'। 'समालोचकों ने लिखा है कि व्रजभाषा की साधारण कविता का भी ज्ञाता यह जानता होगा कि व्रज लीला की 'स्वामिनी' श्री राधिका जी हैं, किसी की

माता, दादी, इत्यादि नहीं। चन्द्रावली जी की माता अवश्य वृद्धा रही होंगी। उनके मुख से श्री कृष्ण के लिए 'प्यारे' संबोधन भी कुछ लोगों को बड़ा अरुचिकर लगता है।

चन्द्रावली में विरह वर्णन

इस नाटिका की कविताएँ सरल, मार्मिक और हृदय पर चोट करने वाली, अत्यंत मधुर और प्रौढ़ भाषा में लिखी गई हैं। इस नाटिका का संस्कृत अनुवाद सं० १९३५ की 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका तथा मोहन चान्द्रिका' में क्रमशः छपा है। यह अनुवाद पं० गोपाल शास्त्री ने किया था, जो बहुत अच्छा हुआ है। भरतपूर के राव कृष्ण देवशरण सिंह ने इसका ब्रज भाषा में रूपान्तर किया है।

इसका मुख्य रस विप्रलम्भ शृंगार है, परन्तु इसमें स्वाभाविकता अधिक है। 'प्रेमियों के मंडल को पवित्र करने वाली' चन्द्रावली में श्री कृष्ण की बाल सुलभ चपलता, सौंदर्य तथा गुण सुनने से पूर्वानुराग उत्पन्न होता है। आस-पास के गांव में रहने से देखा देखी भी होती है और यह सब व्यापार प्रेम रूप में परिणत हो जाता है। 'वह सुन्दर रूप विलोकि सखी मन हाथ ते मेरे भग्यो सो भग्यो।' इस प्रकार प्रेम का अधिक हो जाने पर उसे छिपाना कठिन हो जाता है। सखियाँ प्रश्न करती हैं, हठ करती हैं, तब बतलाना पड़ता है। विरह कष्ट विशेष रूप से प्रकट न होने से जब शंका होती है, तब उत्तर मिलता है—

मन मोहन तें बिछुरी जब सों,
तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
'हरिचंद जू' प्रेम के फंद परीं,
कुल की कुल लाजहिं खोवती हैं।
दुख के दिन कों कोऊ भाँति बितै,
विरहागम मैं रैन संजोवती हैं।

हमहीं अपुनी दशा जानै सखी,
निसि सोवति हैं किधौं रोवती हैं ॥

विरह की पीड़ा जिन पर बीतती है वही जानता है। दिन तो किसी प्रकार कट जाता है, रात कैसे व्यतीत हो ? निम्नलिखित पद में विरह की तीन दशाएँ—अभिलाषा, चिंता तथा स्मृति भी लक्षित हो रही हैं—

पहिले मुसुकाइ लजाइ कछु,
क्यों चितै मुरि मो तन छाम कियो।
पुनि नैन लगाइ बढ़ाइ कै प्रीति,
निबाहन को क्यौं कलाम कियो ॥
'हरिचंद' भए निरमोही इते,
निज नेह को यों परिनाम कियो।
मन माहिं जो तोरन ही की हुती,
अपनाइ के क्यों बदनाम कियो ॥

जब जड़ और चेतन का भेद नहीं रह गया तो चद्रावली बन के फल-फूल, लता पेड़, पशु-पच्ची आदि से प्रिय के विषय में पूछती हैं।

अहो अहो बन के रूख कहूँ देख्यौ पिय प्यारे।
मेरो हाथ छुड़ाइ कहौ वह किते सिधारे ॥
अहो कदंब अहो अंब निंब अहो कुल तमाला।
तुम देख्यौ कहुँ मन मोहन 'सुन्दर नंदलाला ॥
अहो कुंज-वनलता विरह तृन पूछत तोसों।
तुम देखे कहुँ श्याम मनोहर कहहुँ न मोसों ॥
अहो जमुन अहो खग मृग हो अहो गोबरधनगिरि।
तुम देखे कहुँ प्रान-पियारे मनमोहन हरि ॥

श्याम वर्ण मेघ को देखकर वह अपने घनश्याम आनदघन का स्वप्न देखने लगती हैं और कहती हैं—

बलि सावरी सूरत मोहिनी मूरत,
आखिन को कबौं आइ दिखाइए।
चातक सी मरैं प्यासी परी,
इन्हें पानिक रूप-सुधा कबौं प्याइए॥
पीत परै बिजुरी से कबौं,
'हरिचंद जू' धाइ इतै चमकाइए।
इतहूं कबौं आइकै आनंद के घन,
नेह के मेह पिया बरसाइए॥

ऐसी विरहिणी को दिन होता है तो शोक, रात होती है तो शोक। चांद सूरज से भी अधिक उत्तप्त ज्ञात होता है। चन्द्रोदय होने पर पहले उसमें वह अपने प्रिय 'गोप-कुल-कुमुद-निसाकर उदै भयो' मानती है और जब वह भ्रांति मिटती है, तब उसे सूर्य समझ कहती हैं—

निसि आजहूं की गई हाय बिहाय,
पिया-बिनु कैसे न जीव गयो।
हतभागिनि आंखिन कों नित के,
दुख देखिबे को फिर भोर भयो।

जब चन्द्रमा बादल के आ जाने से छिप जाता है, तब एकाएक उसे रात्रि का पता चलता है। वह घबरा कर कहती है—"प्यारे देखो, जो जो तुम्हारे मिलने में सुहावने जान पड़ते थे वही अब भयावने हो गए। हा! जो वन आँखों से देखने में इतना भला दिखता था वही अब कैसा भयङ्कर दिखाई पड़ता है। देखो सब कुछ है एक तुम्हीं नहीं हो। प्यारे! छोड़ के कहां चले गए? नाथ! आखें बहुत प्यासी हो रही हैं, इनको रूप सुधा कब पिलाओगे?

"विरह-दशा में यदि सहायक मिल जाय, तो अवश्य ही विरह कष्ट कुछ कम हो जाता है। आशा बड़ी बलवती होती है, पर इस

दशा में निरवलम्बता ही अधिक मालूम पड़ती है और इसी से यह कष्टकर होती है। विरहिणी कहती है :—

"अरे मेरे नित के साथियो, कुछ तो सहाय करो।"

अरे पौन सुख-भौन सबै थल गौन तुम्हारो।
क्यौं न कहौ राधिका-रौन सौं मौन निवारो॥
अरे भंवर तुम श्याम रंग मोहन-व्रत-धारी।
क्यों न कहौ वा निठुर श्याम सों दसा हमारी॥
अरे हंस तुम राजवंश सरवर की शोभा।
क्यों न कहो मेरे मानस सों या दुख के गोभा॥

"विरह में सुखद वस्तु भी दुःखद प्रतीत होती है। श्यामघन को देख घनश्याम भी इन्द्रधनुष तथा बनमाल देख श्रीकृष्ण के वनमाला और मोतीमाला की, मोर पिक आदि के शब्द सुनकर वशीनाद करने वाले की छबि की ओर—

देखि देखि दामिनि की दुगुन दमक,
पीतपट छोर मेरे हिय फहरि फहरि उठै।'

"यह दुःख अनुपम है और हर हालत में यह बढ़ता ही जाता है। ऐसी विरहिणी से किसे सहानुभूति नहीं हो उठेगी—

छरी सी छकी सी जड़ भई सी जमी सी घर,
हारी सी बिकी सी सो तो सबही घरी रहै।
बोले तें न बोले हग खोलै ना हिंडौलै बैठि,
एक टक देखै सो खिलौना-सी धरी रहै॥
'हरीचंद' औरो घबरात समुझाएं हाय,
हिचकि-हिचकि रोवै जीवति मरी रहै॥
याद आए सखिन रोवावै दुख कहि-कहि,
तौ लौं सुख पावै जौ लौं मुरछि परी रहै॥

"जब तक अपना ज्ञान है, तब तक तो चैन हो नहीं सकती। बेहोशी में ही आराम है। यही जड़ता नवीं काम दशा है। विरही-

विरहिणी प्राय अपना दुख दूसरे स्त्री पुरुष से नहीं कहते और कहते भी हैं तो जड़ पदार्थों से कह कर अपना जी हल्का करते हैं। वे ऐसा क्यों करते हैं, यह कवि ने एक पद में इस प्रकार कहलाया है—

मन की कासों पीर सुनाऊँ।
बकनो वृथा और पत खोनी सबै चबाई गाऊँ॥
कठिन दरद कोऊ नहिं हरिहै धरिहै उलटो नाऊँ,
यह तो जो जानै सोइ जानै क्यों करि प्रकट जनाऊँ॥
रोम-रोम प्रति नैन श्रवण मन केहि धुनि रूप लखाऊँ।
बिना सुजान शिरोमनि री केहि हियरो काढ़ि दिखाऊँ॥
मरमिन सखिन वियोग दुखिन क्यों कहि निज दसा रोआऊँ।
हरिचंद पिय मिले तो पग परि गहि पटुका, समझाऊँ॥

मुद्राराक्षस

'मुद्राराक्षस' के लेखक का नाम विशाखदत्त है, जो एक सामन्त सर्दार वटेश्वरदत्त के पौत्र तथा महाराजा पृथु के पुत्र थे। ये उत्तर भारत के निवासी थे और पात्रों के नामों और मगलाचरण के दोनों श्लोकों में शिव की आराधना से ज्ञात होता है कि शैव मतानुयायी थे। कुटिल राजनीति का इन्हें पूर्ण ज्ञान था और शृङ्गार, करुण आदि मृदु रसों का उनके हृदय में कम सचार हुआ था। उन्होंने स्वभावतः राजनीतिक विषय पर लेखनी उठाई। 'मुद्राराक्षस' के अतिरिक्त इनके एक नाटक 'देवी चन्द्रगुप्तम्' के कुछ अश मिले हैं तथा इनके दो अनुष्टुप श्लोक वल्लभदेव की सुभाषितावली में सगृहीत हैं। इनकी अन्य कृतियाँ यदि हों तो अप्राप्य हैं। इनके नाटक से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि ये ज्योतिष शास्त्र के भी ज्ञाता थे।

नदों से क्रुद्ध होकर चाणक्य ने चंद्रगुप्त को नंदों के विरुद्ध उभाड़ा और पंजाब के राजाओं की सहायता से तथा आतरिक

षड़यन्त्र द्वारा मगध राज्य पर अधिकार कर चंद्रगुप्त को प्रथम मौर्य सम्राट बनाया। चद्रगुप्त ने बाद में कोशल तक राज्य विस्तार किया और स० २४० वि० में ग्रीक राजा सिल्यूकस को परास्त किया। सिल्यूकस ने मेगस्थनीज को राजदूत बनाकर चद्रगुप्त के यहाँ भेजा। 'मुद्राराक्षस' नाटक नदों के नाश, चद्रगुप्त के राज्याधिकार, पर्वतक तथा स्वार्थसिद्धि के मारे जाने तथा राक्षस के मलयकेतु के पास चले जाने से लेकर उसके फिर से चद्रगुप्त का मन्त्रित्व ग्रहण करने तक लगभग एक वर्ष के समय से सम्बन्धित है। नाटक का आरम्भ उस दिन से होता है जब जीवसिद्धि पर्वतक पर विष कन्या के प्रयोग करने के दण्ड में राज्य से निर्वासित किया जाता है। यह दण्ड पर्वतक के घात के दो ही चार दिन के अन्तर में दिया गया होगा। चतुर्थ अंक के पंक्ति ४५ में मलयकेतु का कथन है कि 'आज पिता को मरे दस महीने हुए।' उस दिन मार्गशीर्ष पूर्णिमा थी। इससे दस मास पिछले गिनने से फाल्गुन की पूर्णिमा आती है। तीसरे अक का दृश्य चातुर्मास के अनन्तर अश्विन शुक्ल पूर्णिमा का है। चौथे अक का दृश्य मार्गशीर्ष की पूर्णिमा का है। पाँचवे अक का भी पूर्वोक्त तिथि के एक मास बाद का होना सभव है क्योंकि मलयकेतु की सेना करमक की कथित दूरी को (अक ४ पृ० ३६४) तै कर कुसुमपुर के पास पहुँच गई थी। (अंक ५ पृ० ३८२)। अतिम दो अकों की घटना का समय लेने पर नाटक की कथावस्तु का समय एक वर्ष के भीतर ही होता है।

नाटक की कथा वस्तु को बड़ी सफलता तथा बुद्धिमानी से सगठित किया गया है। उसकी मुख्य घटनाएँ इस प्रकार हैं। प्रथम अक—(१) राक्षस की मुहर की अँगूठी का दैवात् चाणक्य को मिल जाना (२) शकटदास से जाली पत्र लिखवाना तथा उसको सदेश सहित सिद्धार्थक को सौंपना (३) जीवसिद्धि का देश निर्वासन, शकटदास का भागना तथा चन्दनदास का कैद होना। द्वितीय

अक—(४) शकटदास का चाणक्य के चर सिद्धार्थक के साथ भागना और सिद्धार्थक का राक्षस की सेवा में नियुक्त होना (५) मलयकेतु के गहनों को सिद्धार्थक को देना और सिद्धार्तक का मुहर लौटा देना (६) पर्वतक के गहनों को धोखे से राक्षस के हाथ बेंचना। तृतीय अंक—(७) चंद्रगुप्त और चाणक्य का झूठा कलह। चतुर्थ अंक (८) मलयकेतु का राक्षस पर शंका करना और चाणक्य के चर भागुरायण पर विश्वास। पंचम अक—(९) मलयकेतु का राक्षस से कलह कर पाँच सहायक राजाओं को मरवा डालना (१०) मलयकेतु का युद्ध करने जाना तथा कैद होना। छठा अंक—(११) चंदनदास के रक्षार्थ चन्द्रगुप्त की अधीनता मानने के लिए चाणक्य के चर का चतुरता से राक्षस को बाध्य करना। सातवां अंक—राक्षस का मंत्रित्व ग्रहण करना।

आरम्भ में दर्शकों को सभी बातों का पूरा पूरा ज्ञान कराते हुए जो उत्सुकता उत्पन्न की गई है, वह प्रायः अन्त तक बढ़ती गई है और इसके दृश्य इतने सजीव और स्वाभाविक हैं कि कहीं जी नहीं ऊबता।

"इस नाटक के प्रधान पात्र चाणक्य उपनाम कौटल्य हैं और इनके प्रतिद्वन्दी नंदवंश के मंत्री राक्षस हैं। नाटक के नायक मौर्य वश के प्रथम सम्राट चद्रगुप्त तथा प्रतिनायक मलयकेतु हैं। अन्य पात्रों में चन्दनदास, शकटदास और भागुरायण उल्लेखनीय हैं। चाणक्य और चन्द्रगुप्त ऐतिहासिक पुरुष हैं। राक्षस भी ऐतिहासिक पुरुष होंगे, क्योंकि ऐसे प्रधान पात्र को कल्पित मानना उचित नहीं। यदि ये कोरे कवि कल्पना मात्र होते, तो क्या कवि राक्षस से अच्छे नाम भी कल्पना नहीं कर सकता था। मलयकेतु भी ऐतिहासिक हो सकता है। अन्य पात्र कल्पित हैं।

"चाणक्य और राक्षस का समय राज्य के षड्यन्त्रा में व्यतीत होता है। दोनों में स्वार्थ का चिह्न भी नहीं देख पड़ता।......चाणक्य,

दूरदर्शी, दृढ़प्रतिज्ञ और कुटिल नीति में पारगत थे। उन्हें अपने ऊपर पूर्ण विश्वास था और उनकी मेधा तथा स्मरण शक्ति बलवती थी। इन्हीं गुणों के कारण उन्होंने शत्रु के षड्यन्त्रों को निष्फल करते हुए उनसे स्वय लाभ उठाया और निज उद्देश्य सिद्धि के लिए उन्हीं का प्रयोग ठीक समय पर कर वे सफल प्रयत्न हुए। इनमें मनुष्यों के पहचानने की शक्ति भी अपूर्व थी। पर इसके विपरीत राक्षस ने अंत तक अपने विश्वस्त मनुष्यों से ही धोखा खाया। शत्रु के यहाँ से भाग आने को इन्होंने उत्तम प्रमाण तथा प्रशंसापत्र मान लिया था। एक बार इन्हें इस विषय पर शका हुई थी, पर वह भी अतिम समय में। राक्षस वीर सैनिक थे, पर राजनीति के कुटिल मार्गों के वे अच्छे ज्ञाता नहीं थे, जिससे कभी-कभी भूल करते थे। ये स्वभाव के मृदुल थे और उदार हृदय होने के कारण किसी पर अविश्वास नहीं करते थे। स्वामी के सर्वनाश हो जाने के दु.ख तथा उनका बदला लेने के उत्कट उत्साह से भो उनकी मेधा-शक्ति आच्छादित हो रही थी। घटनाओं के वर्णन में यह विशेषता भी है कि सब बातें ठीक वैसी ही होती थीं जैसा कि चाणक्य चाहते थे। कही भी उनकी इच्छा के विपरीत कोई घटना नहीं हुई। ऐसा जान पड़ता है कि चाणक्य घटनाओं का अनुशासन उसी प्रकार करते थे, जैसे काठ की पुतली नचाने वाला सूत्रों को हाथ में पकड़कर इच्छानुकूल उनसे कार्य कराता है। . चाणक्य में पक्षपात का नाम भी नहीं था और शत्रु के उत्तम गुणों की प्रशंसा करने में वे चूकते नहीं थे। स्वस्थापित साम्राज्य के प्रधान अमात्य होने पर भी साधु के समान जीवन व्यतीत करना इनके विराग का अत्युत्कृष्ट प्रमाण है। इनका अपने शिष्यों पर बड़ा प्रेम था। इनमें क्रोध, उग्रता तथा हठ की मात्रा भी पूर्ण रूप से वर्तमान थी। इसीसे सब इनसे डरते थे। यदि इन पर आत्मश्लाघा का दोषारोपण किया जाय तो अनुचित है क्योंकि इन्होंने असभव कार्य को भी सभव कर दिखाया था।

"कहा जाता है कि ऐतिहासिक सुबुद्धि शर्मा नामक ब्राह्मण ही जो चंदनदास के पड़ोस मे रहता था और अपनी तीव्र बुद्धि के कारण नंद का कृपा-पात्र था, राक्षस है। राक्षस मित्र-भक्त और शत्रु की योग्यता की भी प्रशंसा करते थे। ये शकुन अपशकुन में भी विश्वास रखते थे। इनके सेवकों पर इनका रोब नहीं पड़ता था।"

चंद्रगुप्त चाणक्य में पूज्य भाव रखता था और उसे उनकी योग्यता तथा नीति कुशलता पर पूर्ण विश्वास था। मलयकेतु राक्षस पर पहले ही से शंका करता था (अंक ४ पृ० ३६६) और अंत में अविश्वास योग्य पुरुषों के कहने सुनने पर विश्वास कर उसने उन्हें निकाल भी दिया। इसमें चंद्रगुप्त के समान योग्यता नहीं थी। यह बिना विचार किए मनमाना कर बैठता था, जैसे कि पाँच राजाओं को मार डालना। (अक ५ पृ० ४०२) दृढ प्रकृति का न होने से यह शत्रु के भेदियों की बातों में आ गया।

"अन्य पात्रों में चन्दनदास मित्र स्नेह का आदर्श रूप है। धन-प्राण आदि सभी को तिलांजलि देकर इसने उसका निर्वाह किया। शकटदास ने भी मित्रता निबाही। भृगुरायण ने मलयकेतु से स्नेह हो जाने पर भी स्वामिभक्ति का मार्ग नहीं छोड़ा (अ० ५ पृ० ३८३)। अन्य पात्रों में भी यह गुण वर्तमान था।

"कहा जाता है कि इस नाटक से कोई उत्तम शिक्षा नहीं मिलती और इसके बाद दोनों प्रधान पात्र अवसर पड़ने पर मित्रों तथा शत्रुओं को मार्ग से हटाने के लिए किसी उपाय को घृणित नहीं समझते। अस्तु; इसमें आदर्श सामने रख कर दैव पर भरोसा करने वालों को उद्योग या कर्मवीरत्व की उचित शिक्षा दी गई है। कर्म का ही फल दैव या निज कर्म है। कर्म में जो कुछ लिखा जाता है वह पुस्तकाकार किसी के साथ संसार में नहीं आता। पर जो कुछ कर्म किया जाता है वही पुस्तक स्वरूप में जाते समय यहीं छोड़ जाना पड़ता है। कर्मवीरत्व को यदि कुशिक्षा समझा जाय तो इस पर. कुछ

कहना नहीं है। प्रधान पात्रों पर जो कटाक्ष है, उस पर कुछ लिखने के पूर्व इस गौण बात पर विचार करना उचित है। .... इस नाटक के दोनों नायकों में दिखलाया जा चुका है कि स्वार्थ का लेशमात्र भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि व्यक्तिगत दोष तथा समाज के लिए किए गए दोष एक ही बांट से नहीं तौले जाते।

"इस नाटक का अनुवाद भारतेन्दु जी ने राजा शिवप्रसाद के आग्रह से किया था और उन्होंने इसको कोर्स में चलाने का विशेष प्रयत्न किया था। यह नाटक राजा लक्ष्मणसिंह की शकुतला के समान ही कोर्स में उसी समय से अब तक प्रचलित था और है। यह पहले-पहिल 'बाल-बोधिनी' में प्रकाशित हुआ था। इसकी प्रस्तावना वर्ष २ नं २ फाल्गुन स० १९३१ (फरवरी सन् १८७५ ई०) में प्रकाशित हुई और फिर यह क्रमशः सन् १८७७ तक छपती रही। कहा जाता कि मुद्राराक्षस का एक अनुवाद महामना प० मदनमोहन मालवीय जी के पितृव्य पं० गदाधर भट्ट मालवीय जी कर रहे थे, पर उन्हें जब मालूम हुआ कि भारतेन्दु जी ने उसका अनुवाद किया है, तब उन्होंने उसे प्रकाशित नहीं किया कि अब इसकी आवश्यकता नहीं है।" इस अनुवाद की सफलता से भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की कीर्ति में चार चाँद लग गये। पाठ्यक्रम में स्वीकृत हो जाने से इसकी लोक-प्रियता अत्यधिक बढ़ गयी। भारतेन्दु जी की प्रथम कोटि की कृतियों में इसकी गणना होती है।

भारत दुर्दशा

"भारतेन्दु जी ने भारतवर्ष के प्राचीन गौरव तथा वर्तमान दुरवस्था को दृष्टि में रखकर तथा भारतेन्दु की हार्दिक इच्छा रखते हुए भी दासता प्रेमी भारतीयों के हृदय में स्थायी प्रभाव डालने के लिए यह दुखांत रूपक लिखा था। यह छः अंकों में विभक्त है। पहिले अंक में एक योगी आकर एक लावनी गाता है और उसमें अत्यंत

संक्षेप में भारत के प्राचीन गौरव का तथा वर्तमान दुर्दशा का उल्लेख करते हुए कहता है कि 'अब भारत की दुर्दशा नहीं देखी जाती।' दूसरे अक में 'भारत' स्वयं आता है और अपना रोना रोता है। कहता है कि जिस देश के लोग अपनी मातृभूमि की 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव' कहते थे और उसी के लिए मर मिटते थे, वहीं के लोगों की आज क्या दशा है। अंग्रेजों का राज्य होने पर सोचा था कि 'हम' अपने दुःखी मन को पुस्तकों से बहलावेंगे और सुख मानकर जन्म वितावेंगे पर वहाँ भी निराशा है।.. अत में ईश्वर की याद करता है पर वह भी नहीं करने पाता। तब डर कर मूर्च्छित हो जाता है। निर्लज्जता और आशा (एक दिग्गज विद्वान् भी संमति में 'भारतोदय' करने की दृढता का भाव') आती हैं और उसे ले जाती हैं। तीसरे अङ्क में भारत दुर्दैव आता है और उसके मुख से बड़ी खूबी के साथ भारत की दुर्दशा का वर्णन कराया गया है।

"चौथे अङ्क में भारत दुर्दैव रोग, आलस्य, मदिरा और अन्धकार को क्रमशः भारत वर्ष में भेजते हैं। रोग आकर अपनी प्रशंसा करता है और यहां के लोगों की इस मूर्खता पर जो रोग की दवा आदि की व्यवस्था न कर झाड़ फूक ही में लगे रह कर प्राण खोते हैं। गर्व करता है। वैद्यक शास्त्र प्रगति शील न रहा और रोगों की संख्या बढती गई। अफीमची, मदकची आदि की भारत में कमी नहीं और आलस्य का इसमें निवास ही है। कर्मण्यता तथा पुरुषार्थ आलस्य से बहुत दूर रहते हैं। मदिराभक्ति भारतीयों में कितनी है, यह अभी हाल के पिकेटिंग आन्दोलन से सब पर विदित है और इसके प्रेमी कितने प्रकार से तर्क वितर्क कर इसका समर्थन करते हैं, यह भी विनोदपूर्ण शैली से दिखाया गया है। इसके अनतर अज्ञान रूपी अधकार आता है तथा भारत भेजा जाता है। भारत अभी तक इतना अविद्या प्रेमी है कि वह शिक्षा, पठन-पाठन आदि को केवल जीविका का एक साधन मात्र समझता है। ......

"पाचवें अक में एक कमोटी का दृश्य है, जिसमें एक सभापति तथा छ सभ्य हैं। इनमें एक बङ्गाली, एक महाराष्ट्री, दो देशी, एक कवि तथा एक पत्र-सपादक हैं। कमीटी का मूल उद्देश्य भारत-दुर्दैव की चढाई को रोकना है। 'हुज्जते बगाली' प्रसिद्ध है, इससे बगाली सभ्य खूब गोलमाल मचाने के पहिले राय देते हैं। पर यह कितना उपहासास्पद है यह उसी सभ्य के दूसरे उपाय से ज्ञात हो जाता है जैसे स्वेज नहर को पिसान से पाटना। कविजी नायिका बनकर तथा अंग्रेजों का स्वाग बनाकर अपनी रक्षा करना चाहते हैं। सपादक जी अपनी आर्टिकिल बाजी की प्रशसा में लगे हुए हैं। महाराष्ट्री सज्जन स्वदेशी वस्त्र पहिनना, कल आदि व्यवसाय बढाना तथा सार्वजनिक सस्थाए स्थापित करना बतलाते हैं। देशी सभ्य कुछ नहीं बतला सकते, केवल अपने को चापलूसी प्रेमी दिखलाते हैं और दूसरों की खिल्ली उड़ाते हैं पर विद्योन्नति, एकता, कला शिक्षण की ओर भी दृष्टि देते हैं। इसी समय डिसलायल्टी पुलीस आती है और सबको साथ लिवा जाती है।

"छठे अक में भारत भाग्य आता है और प्राचीन गौरव तथा वर्तमान दुर्दशा का सक्षेप में परन्तु अत्यन्त ओजपूर्ण भाषा में दिग्दर्शन कराता हुआ कहता है कि एक समय था कि यही भारत सारे ससार का केन्द्र हो रहा था और इसकी समता करने की ससार के किसी देश में क्षमता नहीं थी। पर नहीं मालूम कि इसने विधि का क्या कसूर किया है कि उसने रुष्ट होकर इसे मिट्टी में मिला दिया। .... ऐसे निर्जीव शक्तिहीन देश का मिट जाना ही श्रेयस्कर है। भारत सागर को सबोधित कर कहता है कि—

> घेरि छिपावहु विंध्य हिमालय।
> करहु सकल जल भीतर तुम लय॥
> धोवहु भारत अपजस पंका।
> मेटहु भारत भूमि कलंका॥

अंत में भारत भाग्य आत्मघात कर लेता है।

"भारतेन्दुजी ने देश-काल-समाज के अनुसार साहित्य को प्राचीन रूढिगत विषयों में संकुचित न रखकर, नए नए क्षेत्र जोड़कर अधिक विस्तृत किया था। इन सभी नए पुराने क्षेत्रों मे देशभक्ति के रंग का ही प्राधान्य था। राजभक्ति, लोक हित, समाज-सेवा सभी में देश भक्ति व्याप्त थी या यों कहा जाय कि इनकी देशभक्ति मूल थी तथा राजभक्ति, लोक-हित, मातृ-भाषा हित चिंतन आदि उसी की शाखाएं थीं। यही कारण है कि उनकी समग्र कृति में देश के प्रति जो उनका प्रेम था वह किसी न किसी रूप में स्पष्ट होता रहता है।......

"किसी स्थान विशेष की दुर्दशा का वर्णन तभी किया जाता है, जब वह पहिले वहुत ही समुन्नत अवस्था में रहा हो। भारत पहिले कितनी समुन्नत अवस्था में था, इसका कवि ने बहुत उदात्त वर्णन किया है पर साथ ही ध्यान रहे कि वह सब कविता भारत की दुर्दशा देखकर कवि के दग्ध हृदय से निकली है।"

नील देवी

कहा जाता है कि भारतेन्दु जी ने जिस अंग्रेजी काल की कुछ पक्तियाँ उद्धृत की हैं, उसी के कथानक के आधार पर इस ऐतिहासिक नाटक की रचना सं० १९३८ मे की, जिसकी ऐतिहासिकता निश्चित नहीं। पर उस काव्य का कहीं उल्लेख नहीं हुआ है।

"नाटक का कथानक सक्षेप में यह है कि अब्दुल शरीफ सूर पंजाबी नरेश सूर्य देव पर चढाई करता है, सम्मुख युद्ध में परास्त होने पर धोखे से रात्रि मे धावा कर उसे कैद कर लेता है। उसके पुत्र आदि सम्मुख युद्ध की राय देते हैं पर रानी नीलदेवी ने यह राय नहीं स्वीकार की और स्वयं गायिका का रूप धारण कर शरीफ के दरबार में गई और वहाँ उसको मार कर पति का शव

ले आईं और सती हो गई। शरीफ की सेना भाग गई। तात्पर्य यह कि वह अंग्रेजी काव्य अवश्य ही इस रूपका का एक आधार रहा होगा, पर पूरे काव्य के पता लगने पर ही इस दृष्टि से दोनों पर विचार किया जा सकेगा।'

आरभ में दुर्गा सहाशती के कुछ श्लोक उद्धृत कर उस देवी का आह्वन सा किया गया है, जिन्होंने दिखला दिया था कि शक्ति अपनी शक्ति भूली नहीं है और उसने प्रचड वीरों को भी ललकार कर मारा है। इसके अनतर मातृ-भगिनी-सखी तुल्या आर्यललनाओं को सबोधन नाटककार उनसे बहुत कुछ कहता है और नारी उत्थान की ओर दर्शकों का ध्यान आकृष्ट करता है। इसका मुख्य उद्देश्य नारी को सबला दिखाना है। वीर रस का इसमें प्राधान्य और करुणा तथा हास्य का भी अच्छा पुट है।

भारतेन्दु जी में देश-प्रेम पराकष्ठा को पहुँच चुका था। वे रोते थे तो देश के लिए और हसते थे तो देश के लिए। उनका नैराश्य भी देश की दुर्दशा और देश के सुपुत्रों की उत्साह हीनता देखकर ही हुआ था और इसी से कह दिया कि—

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा।
दुख ही दुख करिहै चारहु ओर प्रकासा॥

और भी कहते हैं—

वीरता एकता ममता दूर सिधरिहै।
तजि उद्यम सब ही दास वृत्ति अनुसरिहै।
निज चाल छोड़ि गहिहैं औरन की धाई।
रहे हमहुं कबहुँ स्वाधीन आर्य बलधारी।
यह देहैं जिय सों सब ही बात बिसारी।

इस नाटक के नायक सूर्य देव, नायिका नील देवी तथा प्रति-नायक अब्दुरशरीफ खां सूर है। नाटककार ने तीनों के चरित्र-

चित्रण में पूरी सफलता प्राप्त की है और जिस उद्देश्य से इसे लिखा है, उसकी पूर्ति अच्छी तरह हो गई है।

अंधेर नगरी

यह एक मूर्ख राजा को लक्ष्य करके 'नेशनल थियेटर' नामक किसी नाटक मंडल के लिए एक दिन में लिखित और अभिनीत छः अंकों का एक प्रहसन है।

इंशा ने एक शेर में लिखा है—

न होगा राज में हरबोंग के लेकिन।
कहीं हजरत सलामत आप के इंसाफ का जोड़ा।

एक ग्राम ऐसा था जहाँ मूर्ख ही बसे थे और जिनका राजा यही हरबोंग था। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' आदि से उसके न्याय के उदाहरण दिए जाते हैं। अस्तु, भारतेन्दु जी ने इन्हीं सब कहानियों को लेकर यह विनोदपूर्ण प्रहसन रच डाला और उसमें बहुत लोगों पर सच्चा तथ्यपूर्ण आक्षेप भी किया है।

आरंभ में सच्चा गुण ग्रहण करने तथा देश और देशवासियों की सेवा में निरत रहने का मार्मिक उपदेश दिया गया है। प्रथम अंक में गुरु जी दो चेलों के साथ आते हैं और भोजन प्रबंध की बात चीत 'जो है सो' वाली साधु भाषा में होती है। गोवर्द्धनदास को भिक्षा के लिए 'लोभ पाप का मूल' उपदेश देकर भेजते हैं। भारतेन्दु जी के एक दरबारी इसी नाम के थे, जिनमें मुटाई ताजगी के साथ लोभ की मात्रा भी प्रचुरता से थी। यह हर फन मौला भी थे और स्यात् उन्हीं को दृष्टि में रखकर यह चित्रण हुआ है। दूसरे अंक में बाजार का दृश्य है, जिसमें हर बेचने वाला अपनी चीज टके सेर बेचता है। अश्लील बात भी ऐसे ढंग से कही गई है कि वह वैसी जान नहीं पड़ती। इसमें चना बेचने वाला काशी की तत्कालीन प्रसिद्ध वेश्याओं का चर्चा करता है और मकानों की मालियत बढ़ाने

का भी उल्लेख इसी सबंध में करता है। कुँजड़िन हिन्दुस्तान के मेवा फूट और बेर की प्रशसा करती है, तो मुगल मेवे की तारीफ करते हुए उस प्रशसा का मजाक सा बनाता है। मगर बिकता है दोनों ही टके सेर। रिश्वत, महाजन की सूद, अदालत, साहब लोगों की तीर्थ यात्रा, पुलिस, धर्म कर्म पर अच्छी टीका टिप्पणी है। गोबरधन दास जी इस बाजार से माल पूरी तौर से जाचकर मिठाई लेकर चल दिए।

"तीसरे अक में गुरु जी ने अँधेर नगरी का हाल देखकर वहाँ न रहना निश्चय किया पर गोबर्द्धन ने उपदेश न सुना और वहीं रह गया।

"चौथे अक में उसी प्रकार दरबार का तमाशा दिखलाया गया, जिस प्रकार आजकल सिनेमा चित्रकारों में अदालत का तमाशा होता है। बकरी दबने के कारण किसी को फांसी दी जानी चाहिए इसलिए कोतवाल ही उसके योग्य पात्र चुने गए। जैसा दावा वैसा फैसला।

"पाँचवे अक में गोवर्द्धनदास गाते हुए आते हैं। इस गान में कुछ मर्म की बाते हैं, जो अत्यत स्पष्ट रूप से कही गई हैं। इसके अनन्तर टके सेर की मिठाई खाकर खूब तैयार हुए बलिपशु के समान गोवर्द्धन दास पकड़े जाते हैं। कारण केवल इतना ही बताया जाता है कि फासी का फदा बड़ा है और कोतवाल हैं दुबले। अतः न फांसी का फदा छोटा हो सकता है और न बकरी की जान के बदले किसी का जान लेना रुक सकता है। राजा की न्याय विभीषिका से कोई मुक्त नहीं था, इसलिए यही बाबा जी मुफ्त के मिले।

"छठे अक में गोवर्द्धनदास रोता चिल्लाता है, गुरु जी आ पहुँचते हैं और एक चाल चलते हैं कि स्वर्ग जाने का ठीक यही मुहूर्त है, इस समय जो मरेगा वह सीधा स्वर्ग पहुँच जायगा। अँधेर नगरी के सभी मूर्खों के इस अवसर का लाभ उठाकर स्वर्ग सिधारने का प्रयास करने के साथ यह प्रहसन समाप्त होता है।"

सतीप्रताप

"यह एक गीति-रूपक है, जिसे भारतेन्दु जी ने सं० १९४१ के लगभग लिखना आरम्भ किया था। इसके प्रथम कुछ दृश्य 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' सन् १८८४ ई० के अंकों में प्रकाशित हुए थे, परन्तु भारतेन्दु जी के अस्त हो जाने से यह पूरा न हो सका। बा० राधाकृष्ण दास ने अंतिम तीन दृश्य लिखकर इसे पूरा किया था। इसमें उस सावित्री के उपाख्यान को नाटक रूप दिया गया है, जिसका प्रतिवर्ष ज्येष्ठ महीने की अमावस्या को स्त्रियाँ उत्सव मनाती हैं। लाला श्री निवासदास तपतीसंवरण नाटक इसी पातिव्रत-माहात्म्य पर लिख चुके थे और वह हरिश्चन्द्र मेगजीन में प्रकाशित भी हो चुका था। परन्तु कहा जाता है कि भारतेन्दु जी को वह नहीं भाया। अतः उन्होंने इस गीति रूपक को लिखा था।

"प्रथम दृश्य मगल-पाठ मात्र है, जिसमे हिमालय की तराई में तीन अप्सराएँ गाती हुई दिखलाई गई हैं। तीन गान हैं, प्रथम दो में पातिव्रत का गुण-गान है और तीसरे मे प्रकृति का वर्णन है। दूसरा दृश्य सत्यवान् के तपोवन का है। दूर से गान सुनकर युवक तपस्वी के हृदय पर उसका कुछ असर होता है, पर वह शीघ्र ही दूसरी चिंता में पड़ जाता है। गाते हुए सावित्री सखियों के साथ आती हैं। वन, ऋतु तथा आश्रम की बात हो रही है कि वह सत्यवान को देखती है। उधर सत्यवान भी सावित्री को देखता है और दोनों में आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। सखी द्वारा वे एक दूसरे का परिचय पाते हैं और वह दृश्य समाप्त होता है।

"तीसरा दृश्य वैतालिकों के जाने से आरम्भ होता है। चार कवित्तों में एक महाकवि देव का है और तीन भारतेन्दु जी के हैं। दो में प्रेमयोगिनी पर वसंत का सुन्दर रूपक बाँधा गया है और तीसरे में वियोगिनी को योगिनी से बढ़कर सिद्ध किया गया है। ध्यान करती हुई सावित्री आँखे खोलती हैं और अपने विचार स्पष्ट रूप

में प्रकट करती हैं। उनके एक एक शब्द मे एक उच्च आदर्श की पत्नी का चित्रण किया गया है। पातिव्रत की निर्मल उपदेश धारा प्रवाहित की गई है। सखियाँ आती हैं और सत्यवान् के प्रेम के विरुद्ध समझाते हुए उसे इस मनोरथ से निवृत्त करना चाहती हैं। पर इस पर उसे क्रोध आ जाता है और आवेश में कहती है, "निवृत करोगी ? धर्म पथ से ? सत्य प्रेम से ? और इस शरीर में ?" कैसे शब्द चुनकर रखे गये हैं कि हृदय पर चोट पर चोट देते हैं। और उपदेशक को एकदम निरुत्तर कर देते हैं। चौथे दृश्य में सत्यवान् के पिता, माता, तथा ऋषिगण दिखलाई पड़ते हैं। नम्रता, दान, औदार्य के विषय में बातचीत होती है और सावित्री-सत्यवान् का विवाह निश्चित् होता है। भारतेंदु जी ने यहीं तक लिखा था। इसके अन्तिम पाँचवे दृश्य में वन देवी तथा वन-देवता आते हैं और सावित्री-सत्यवान् के निवास से वन की शोभा-वृद्धि की सूचना देते हैं। छठे दृश्य में सावित्री तथा सत्यवान का प्रेमालाप होता है सत्यवान लकड़ी लेने जाता है और उसके अनन्तर अपशकुन होने से सावित्री घबड़ाकर खोजने जाती है। सातवें दृश्य में मूर्छित सत्यवान् व पाकर सावित्री उसका उपचार करती है। यमदूत आते हैं पर पातिव्र के तेज से डर कर चले जाते हैं। तब धर्मराज स्वय आते हैं। सावि धर्मराज से कई वर माँगती हैं, जिसे देने के अनतर उन्हें वा हो सत्यवान् को जीवित छोड़ना पड़ता है और यह रूपक यहीं सम होता है।

"इस रूपक में सावित्री तथा सत्यवान् का अच्छा चरित्र चि हुआ है। यह उपाख्यान साधारण प्रेम-वासना पूर्ण नहीं है। यह अलौकिक प्रेम से भरा है जो सदा अमर रहेगा। वास्तव में की शक्ति ही कितनी है जो शक्ति रूपिणी सती के सम्मुख उठा सके। आँखें तो आप ही उनके चरणों की ओर वंदना वे

झुक जायेंगी। इस रूपक में बहुत से अनूठे पद सतीत्व-माहात्म्य पर दिए गये हैं, जिनकी विवेचना के लिये स्थानाभाव है।

विद्या सुन्दर

'विद्या सुन्दर' और 'चौर पचाशिका' संस्कृत के दो छोटे काव्य है। 'विद्यासुन्दर' में चौवन श्लोक हैं, 'चौरपचाशिका' में इक्यावन। इनके लेखकों तथा काल का ठीक पता नहीं चलता। विश्वास किया जाता है कि ये चौर कवि या सुन्दर कवि कृत हैं। द्वितीय को प्रथम का उपसंहार माना जाता है। इसमें घटना बहुत छोटी सी है। सुन्दर नाम का दक्षिण देश का विद्यार्थी विद्या नाम की राजकुमारी पर मोहित हो जाता है। पहिले राजकुमारी सुन्दर को राज दण्ड का भय दिखाती है और चेतावनी देती है। फिर दोनों में स्नेह हो जाता है। कुछ समय तक दोनों का स्नेह सम्बन्ध चलता रहता है। फिर राजा सुन्दर को पकड़वा लेता है और उसे प्राण दण्ड देता है। सुन्दर अन्तिम इच्छा श्लोक बनाने की प्रकट करता है। आज्ञा मिलने पर वह महल की सीढ़ियों से उतरते-उतरते पचास श्लोक बना डालता है। इन्हीं श्लोकों के सग्रह को 'चौर पचाशिका' कहते हैं। इक्यानवे श्लोक के अनुसार राजा सुन्दर की विद्वता और कुशाग्रता से अत्यधिक प्रभावित होता है और अन्त में उसका विवाह विद्या के साथ कर देता है।

यही मूल कथानक है जिससे प्रेरणा ग्रहण करके बंगला में राम प्रसाद सेन तथा भारत चन्द्र राय 'गुणाकर' ने दो काव्य लिखे इसी के आधार पर महाराजा जतीन्द्र मोहन ठाकुर ने एक नाटक रचा था। भारतेन्दु जी ने अपने 'विद्या सुन्दर' नाटक की द्वितीय आवृत्ति के उपक्रम में लिखा है "विद्या सुन्दर की कथा बंग देश में में अति प्रसिद्ध है। कहते हैं कि चौर कवि जो संस्कृत में चौर पचाशिका का कवि है यही सुन्दर है। कोई कोई इस चौर पंचाशिक को

वररुचि की बनाई मानते हैं। जो कुछ हो, विद्यावती की अख्यायिका का मूल सूत्र वही चौरपंचशिका है। प्रसिद्ध कवि भारत चन्द्रराय ने इस उपाख्यान को बंग भाषा में काव्य स्वरूप में निर्माण किया है और उसकी कविता ऐसी उत्तम है कि बंगदेश में आबाल वृद्ध वनिता सब उसको जानते हैं। महाराज यतीन्द्र मोहन ठाकुर ने उसी काव्य का अवलम्बन करके जो 'विद्या सुन्दर' नाटक बनाया था उसी की छाया लेकर आज पन्द्रह बरस हुये यह हिन्दी भाषा में निर्मित्त हुआ है।"

भारतेन्दु जी ने अपने नाटक में मूल कथानक को बहुत अधिक नहीं बदला है। नाटक शृंगार रस का है और हास-परिहास के भी अनेक स्थल हैं। संयोग तथा वियोग दोनों प्रकार के शृंगार का वर्णन इसमें हैं। नाटक सुखान्त है।

विद्या सुन्दर की रचना भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने १८ वर्ष की उम्र में की। इसका प्रथम संस्करण अप्राप्य है। १८८३ ई० में इसका द्वितीय संस्करण चन्द्र प्रभा प्रेस से प्रकाशित हुआ। १८९९ ई० में भारत जीवन प्रेस से भी इसका एक संस्करण प्रकाशित हुआ था। इस नाटक की भाषा सरल और सुबोध है। इसमें गद्यांश अधिक है, पद्यांश कम। पद्यांश से भारतेन्दु जी की कवित्व शक्ति का अनुमान हो जाता है।

रत्नावली

'रत्नावली' की भूमिका में भारतेन्दु जी लिखते हैं, "शकुन्तला के सिवाय और सब नाटकों में रत्नावली नाटिका बहुत अच्छी है और पढने वालों को आनन्द देने वाली है। इस हेतु से मैंने पहले इसी नाटिका का तर्जुमा किया है।...इस नाटिका में मूल संस्कृत में जहाँ छंद थे वहाँ मैंने भी छंद किये हैं। यदि संस्कृत के छंदों से इसके छंदों को मिला के पढ़िये तो इसका परिश्रम प्रगट होगा।"

'रत्नावली' की प्रस्तावना तथा विष्कम्भक मात्र का अनुवाद

प्राप्त है। इसकी भूमिका भारतेन्दु जी ने वैशाख कृष्ण १ सम्वत् १६२५ में लिखी थी। सम्भवतः भारतेन्दु जी ने पूरे नाटक का अनुवाद कर डाला था। परन्तु वह प्राप्त नहीं है। रत्नावली के मंगलाचरण के तीनों श्लोकों का अनुवाद गद्य ही में है। उसके बाद चार पद्यों का अनुवाद पद्य में हुआ है। इसकी भाषा विद्या सुन्दर की भाषा जैसी ही है।

पाखण्ड-विडम्बन

संस्कृत नाट्य साहित्य में कृष्ण मिश्र का 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ है। उसी नाटक के तीसरे अंक का अनुवाद भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'पाखण्ड विडबन' नाम से किया। इस नाटक की रचना कुछ नये प्रकार की है। इसमें व्यक्तियों के नहीं भावों के द्वन्द्व और संघर्ष चित्रित किये गये हैं। विवेक और मोह प्रधान नायक हैं। मोह विवेक के प्राबल्य को समाप्त करना चाहता है। वह दंभ को साथ लेकर काशी आता है। साथ ही वह श्रद्धा तथा धर्म में भेद डालने के लिये मिथ्या दृष्टि का प्रयोग करता है। वह शांति को बंदी बनाना चाहता है। इसके बाद तृतीय अंक में शांति और करुणा अपनी माता श्रद्धा को खोजने निकलती हैं। इसके उपरान्त दिगम्बर जैन, बौद्ध तथा सोम सिद्धान्त मानने वाला कापालिक—एक एक कर आते हैं और अपने अपने मतों के समर्थन में वक्तव्य देते हैं। प्रथम दो सोम पीकर कापालिक के शिष्य बन जाते हैं। वे श्रद्धा को खोजते हैं। उन्हें पता लगता है कि श्रद्धा तथा धर्म श्री विष्णु भक्ति के पास हैं। वे उन्हें अपनी ओर खींचने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार यह अंक समाप्त हो जाता है।

जैसा कि स्पष्ट है, इस नाटक में अन्य मतमतान्तरों के नाम पर चलने वाले ढोंगों का पर्दाफाश किया गया है और भक्ति की उच्चता दिखला कर वैष्णव धर्म की महत्ता और विशिष्टता पर बल दिया गया है। 'पाखण्ड-विडम्बन' की भूमिका में भारतेन्दु बाबू

कहते हैं, "भला इससे पाखण्ड का विडंबन क्या होना है ? यहाँ तो तुम्हारे सिवा सभी पाखण्ड है, क्या हिन्दू, क्या जैन ! क्योंकि मैं पूछता हूँ कि बिना तुम को पाये मन की प्रवृत्ति ही क्यों है ? तुम्हें छोड़ कर मेरे जान सभी झूठे हैं, चाहे ईश्वर हो, चाहे ब्रह्म, चाहे वेद हो चाहे इजील। तो इससे यह शंका न करना कि मैंने किसी मत की निन्दा के हेतु यह उल्था किया है।"

इस भूमिका के माध्यम से भारतेन्दु जी ने उन सब लोगों का मुँह बन्द कर दिया है जो उन पर किसी मत विशेष का विरोधी अथवा विद्वेषी होने का आरोप लगाते। सत्य तो यह है कि उनके जैसे उदार व्यक्ति के हृदय में किसी भी प्रकार के सकुचित भाव आ ही नहीं सकते थे। एक सच्चे उदाराशयी सुधारक के नाते उन्होंने कृष्ण मिश्र की इस प्रसिद्ध रचना के एक अश का अनुवाद करके एक प्रकार से अपना सामाजिक कर्तव्य पूरा किया है।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र भक्त वैष्णव थे। मासाहार के वे प्रबल विरोधी थे। प्रस्तुत नाटक में उन्होंने उन लोगों की खिल्ली उड़ाई है जो अपने रक्त मास को पुष्ट करने के लिये दूसरों के पुष्ट रक्त मास का भक्षण कर जाते हैं—और ऐसा वे करते हैं धर्म ग्रन्थों के नाम पर, उनको साक्षी देकर। इस नाटक के शीर्षक का अर्थ है "धर्म शास्त्र के अनुसार हिंसा करना हिंसा नहीं है।" सवत् १९३० वि० के आरम्भ तक इसकी रचना हो चुकी थी और २१ जून १८७२ ई० के 'कवि वचन सुधा' में इसकी विज्ञप्ति प्रकाशित हो गयी थी। इसके प्रथम सस्करण का प्रकाशन मेडिकल हाल प्रेस से सन् १८७३ में प्रकाशित हुआ था।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में, आरम्भ में छोटी सी प्रस्तावना है। फिर चार अंक हैं। नाटक के नायक महाराज गृद्धराज हैं। उन्हीं की मांस लीला का अभिनय करने का प्रस्ताव सूत्रधार करता

है। प्रथम अंक में राजा आता है। उसके मंत्री आदि शास्त्रों से उद्धरण देकर मांस भक्षण का समर्थन करते हैं और मांसाहार को निर्दोष बतलाते हैं। मद्य—मैथुनादि का समर्थन भी जोरदार ढंग से किया जाता है।

इसके बाद विधवा विवाह प्रचारक एक बंगाली आता है। बंगाली की भाषा ठीक वैसी ही है जैसी बंगाली लोग बोलते हैं। पण्डित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर भारतेन्दु जी के मित्र थे और उन्होंने बंगाल में ही सर्व प्रथम विधवा विवाह का प्रचार किया था। कुछ लोगों का मत है इस नाटक के बंगाली बाबू पंडित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ही हैं।

दूसरे अंक में राजा साहब सभी पात्रों के साथ आते हैं, उसके बाद वेदान्ती और विदूषक आते हैं। फिर एक शैव और एक वैष्णव सज्जन प्रवेश करते हैं। धूर्तराज गंडकी दास ढोंगी वैष्णव है। वह कोई भी कुकर्म कर सकता है। तीसरे अंक मे उन्मत्त पुरोहित पागलों जैसा बकवास करता है। राजा और मंत्री भी प्रवेश करने पर मद्यपान का गुणानुवाद करते हैं। उसी समय एक महत्वपूर्ण वाक्य कहा जाता है "मदिरा को अब लोग कमीटी करके उठाया चाहते हैं।" ऐतिहासिक दृष्टि से यह वाक्य महत्वपूर्ण है। क्या उस समय जब कि यह नाटक लिखा गया था, मद्य निषेध सम्बन्धी कमिटियां थीं? कांग्रेस ने महात्मा गांधी के नेतृत्व मे मद्य निषेध सम्बन्धी सत्याग्रह का कार्यक्रम अपनाया था। परन्तु भारतेन्दु जी के समय मद्य-निषेध सम्बन्धी आन्दोलन अपने प्रारम्भिक रूप मे ही था। इस वाक्य को यहाँ इस सदर्भ में डाल कर उन्होंने अपनी सामाजिक सजगता का ही परिचय दिया था।

अन्तिम अंक में सभी यमराज के दरबार में एकत्र होते हैं। राजा, मंत्री, पुरोहित, गंडकी दास—सभी यमराज द्वारा दण्डित होते हैं और शैव तथा वैष्णव को कैलास तथा वैकुण्ठवास की

आज्ञा मिलती है। इस नाटक में भारतेन्दु जी ने अपने को मद्य-मांसाहार का विरोधी दिखाया है। यह स्वाभाविक था। परन्तु विधवा विवाह का समर्थन उन्होंने क्यों नहीं किया? भारतेन्दु जी की गाढ़ी मित्रता पण्डित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर तथा श्री राजेन्द्र लाल मित्र से थी। श्री मित्र ने साबित किया था कि प्राचीन काल से ही हिन्दुओं में मांस-मदिरा सेवन की प्रथा थी। श्री विद्यासागर विधवा विवाह के समर्थक और प्रचारक थे। भारतेन्दु जी ने इन महाशयों के साथ अपनी गाढ़ी मित्रता के बावजूद यह नाटक लिखा यह उनकी सामाजिक चेतना, निर्भीकता तथा स्वतंत्र चिन्तन का प्रमाण है।

कर्पूरमंजरी

इस नाटक के मूल लेखक राजशेखर थे। यह महाराष्ट्रीय थे। 'कर्पूरमंजरी' सट्टक है। यह पूरा प्राकृत भाषा में है। मूलतः यह शृंगार प्रधान रचना है। यहाँ वहाँ हास्य का भी पुट है। इसमें चार अंक हैं और कथा प्रेम की ही है। इसमें घटना—वैचित्र्य नहीं है।

प्रथम अंक में वसंतागमन पर राजा और रानी आपस में वार्तालाप करते हैं। वैतालिक गाता है और विदूषक तथा विचक्षणा अपनी कविताएँ सुनाते हैं, फिर दोनों में झगड़ा होता है। फिर सिद्ध भैरवानन्द आते हैं और अपनी शक्ति का चर्चा स्वयं करते हैं। राजा की आज्ञा पर वह कुंतल देश के विदर्भ नगर की राजकुमारी कर्पूरमंजरी को मन्त्रबल से बुलाते हैं। प्रथम दर्शन में ही राजा उस पर आसक्त हो जाता है। पूछने पर कर्पूरमंजरी अपना परिचय देती है और पता लगता है कि वह रानी की मौसेरी बहिन है।

दूसरे अंक में यह मान लेना पड़ता है कि रानी को इन दोनों के प्रेम का पता चल जाता है। वह कर्पूरमंजरी पर कड़ी निगाह रखती है और यहीं से विरह व्यथा आरम्भ हो जाती है।

तीसरे अंक में राजा गुप्त मार्ग से कर्पूरमजरी के पास पहुँचते हैं। रानी को इसकी सूचना मिलती है और वह भी वहाँ पहुँचती है। फलतः रग में भंग हो जाता है।

चौथे अंक में राजा को रानी साहवा का यह समाचार मिलता है कि उनका विवाह होगा। यह नवीन विवाह राजा के कल्याण के लिये ही आयोजित किया गया था। राजा का विवाह होता है और वह नयी रानी को कर्पूर मंजरी देख कर चकित हो जाता है।

इस नाटक का अनुवाद स० १६३३ वि० में हुआ था और यह प्रथम बार स० १६३६ वि० में प्रकाशित हुआ था। अनुवाद अत्यन्त सफल है। इसकी भाषा भी बहुत ही सरल और मुहावरेदार है। पद्यों का अनुवाद पद्य मे ही हुआ है। अन्य कवियों के पद भी यहाँ वहाँ बेजोड़ दिये गये हैं। इस अनुवाद को पढने में मौलिक नाटक का आनन्द प्राप्त होता है।

विषस्य विषमौषधम्

यह भाण है। पहिले यह 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में अक्तूबर १८७६ ई० में प्रकाशित हुआ। कुछ लोगों का भ्रम है कि यह नाटक भारतेन्दु कृत नहीं है। परन्तु इस नाटक को भारतेन्दु जी का न मानने के लिये कोई विशेष आधार नहीं है।

इस नाटक का आधार ऐतिहासिक है। बड़ौदा नरेश मल्हारराव गायकवाड़ के गद्दी से उतार दिये जाने पर ही यह नाटक लिखा गया था। उनका चरित्र ऐसा न था कि उनके साथ देशवासियों को सहानुभूति होती। 'जासुराज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी'—के सिद्धान्त के अनुसार इस घटना को जनता ने भी इसी रूप में देखा। ज़हर ही ज़हर को मारता है। जो जैसा करेगा उसे वैसा ही दण्ड भी मिलेगा।

भारतेन्दु जी गायकवाड़ से कितना चिढ़ते थे और उनके दण्डित होने पर भारतेन्दु जी को कितनी प्रसन्नता हुई यह इस नाटक से स्पष्ट

प्रमाणित होता है। एक जगह आया है—"सुख भी तो हिन्दुस्तान में तीन ही ने किया—एक मुहम्मदशाह ने, दूसरे वाजिद अली शाह ने और तीसरे हमारे महाराज (गायकवाड़) ने। मुहम्मदशाह के जमाने में नादिरशाही हुई, वाजिद अली शाह से लखनऊ छूटा, अब देखें इनकी क्या गति होती है।"

गायकवाड़ के गद्दी से उतार दिये जाने पर कितनी प्रसन्नता होती है यह भंडाचार्य के मुह से ही सुनिये—"अहा, धन्य है सरकार! यह बात कहीं नहीं है। दूध का दूध, पानी का पानी! और कोई बादशाह होता तो राज जप्त हो जाता। यह इन्हीं का कलेजा है। हे ईश्वर, जब तक गगा-यमुना में पानी है तब तक इनका राज स्थिर रहे।" और अन्त में भरत वाक्य है—

> हरिपद में रति होइ, न दुख कोऊ कहं व्यापै।
> अंग्रेजन को राज ईस इति थिर करि थापै॥

भारत जननी

"भारत भूमि और भारत सन्तान की दुर्दशा दिखलाना ही इस 'भारत जननी' की इति कर्तव्यता है। और आज जो यह आर्य वंश का समाज यह खेल देखने को प्रस्तुत है उसमें से एक मनुष्य भी यदि इस भारत भूमि के सुधार में एक दिन भी यत्न करे तो हमारा परिश्रम सफल है"—सूत्रधार के ये शब्द निस्सन्देह स्वय नाटककार के शब्द हैं। इसी प्रेरणा से यह नाटक रचा गया था। लोगों का विश्वास है कि मूलतः यह रचना भारतेन्दु जी की नहीं है उन्होंने उसे सशोधित किया और उसमें अनेक कवितायें जोड़ दीं। किन्हीं कारणों से भारतेन्दु जी ने इसे स्व रचित ही लिखा। उन्हीं के नाम से यह प्रसिद्ध है और आगे भी रहेगा। यह नाटक भारतेन्दु जी के सामने ही अनेक बार खेला गया था। एक बार डुमराव के राय जयप्रकाश लाल ने भारतेन्दु जी को लिखा भी, "आपका नाटक 'भारत जननी' यहाँ खेला गया था।"

भारत जननी तथा उसकी सन्तानें सो रही हैं। भारत की सरस्वती, दुर्गा और लक्ष्मी क्रमशः आती हैं, उन्हें जगाने का प्रयत्न करती हैं और विफल होकर चली जाती हैं। भारत माता अन्त में अपनी सन्तानों को जगाती हैं। पर वे दिग्भ्रान्त हैं। इसी समय एक अंग्रेज़ आता है और गर्जन-तर्जन से सबको डराता-धमकाता है। दूसरा अंग्रेज़ आता है और वह भारत माता को समझाता है कि सभी अग्रेज ऐसे नहीं है। मानों दोनों अग्रेज सिद्धक-साधक हों। दूसरा अग्रेज़ भारत सन्तानों से कहता है, "भ्रातृगण! सचमुच तुम लोगों की अब तक अत्यन्त दुर्दशा हुई है और तुम लोगों ने अनेक आपत्तियों को झेला है और अनेक दुख उठाये हैं। भाई, इसमें कोई क्या कर सकता है? सब उस सृष्टिकारक परमेश्वर के आधीन है। उसी को पुकारो, वह समस्त जगत और सब दीन दुखियों का रक्षक है। जगदीश्वर तुम लोगों को इस विपद-जाल से शीघ्र मुक्त करे।"

इसके बाद धैर्य का प्रवेश होता है और भारत सन्तानों से कहता है, "हे भ्रातृ गण! अब उठो और जननी के दुःखानल के निर्वाण का प्रयत्न करो। अभिमान, लोभ, अपमान, आत्म-प्रशसा, परजात निंदा इन सब का सावधानी पूर्वक त्याग करो, धैर्य का अवलम्बन करो, सब कोई धैर्य को धारण करो। भाई! अवश्य तुम लोगों की कांक्षा पूरी होगी। धीरज धरो, धीरज धरो।"

अन्त में भारत माता अपनी सन्तानो से कहती हैं, "हे मेरे प्यारे वत्सगण! अब भी उठो और धैर्य के, उत्साह और ऐक्य के उपदेशों को मन में रख इस दुखिया का दुख दूर करने में तन-मन से तत्पर हो। अब तक जो हुआ हमने उसको सहन किया। अब तो ऐसा उपाय करो जिसमें मेरा यह शोकनद बढ़ने न पावे।"

भारत माता अपने बच्चों और अपने सम्बन्ध में अन्तिम कामना प्रकट करती हैं—

बल कला कौशल अमित विद्या वत्स मेरे नित लहैं।
पुनि हृदय ज्ञान-प्रकाशतें अज्ञान तम तुरतहिं दहैं।
तजि द्वेष ईष्या द्रोह निंदा देश उन्नति सब चहैं।
अभिलाख यह जिय पूर्ववत धन-धन्य मोहि सबही कहैं।

दुर्लभ बन्धु

शेक्सपियर का अत्यन्त प्रसिद्ध नाटक 'मर्चेन्ट आव वेनिस' है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने "निज बन्धु बा० बालेश्वर प्रसाद बी० ए० की सहायता से और बगला पुस्तक सुर लता की छाया से" यह नाटक लिखा। शायद इसे वह पूरा नहीं कर सके थे। पण्डित राम शकर व्यास तथा बाबू राधा कृष्णदास ने इसे पूरा करके प्रकाशित कराया। इसका प्रथम दृश्य 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में स० १९३७ वि० में प्रकाशित हुआ था। कुछ लाग कहते हैं कि यह अनुवाद भारतेन्दु कृत नहीं है। इसका लेखक वे बाबू बालेश्वर प्रसाद को ही मानते थे। परन्तु बाबू बालेश्वर प्रसाद फारसी के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने 'मर्चेन्ट आव वेनिस' का अलग अनुवाद 'वेनिस का सौदागर' नाम से किया था। स्वंय भारवेन्दु जी ने अपने लेख 'नाटक' में इसका चर्चा किया है।

अनुवाद में स्वाभाविकता और श्रेष्ठता इसलिये आगयी कि पात्रों के नामों का भारतीयकरण हो गया है। यथा—पोरशिया-पुरश्री, एन्टोनियो—अनन्त, वसेनियो—वसन्त आदि। अनुवाद की भाषा भी सहज और साधारण है। यह स्वीकार करना पडेगा कि अनुवाद को भारतीय रग देने की हर कोशिश करने पर भी इसे पूर्णतया भारतीय नहीं बनाया जा सका है। वस्तुत. भारतीय और योरोपियन सामाजिक स्थिति का मूलभूत अन्तर इस कदर चौड़ा है कि सहज उसे पाटा नहीं जा सकता। जो सफलता प्राप्त हुई वही क्या कम है! यह नाटक उर्दू में 'दिलफरोश' के नाम से अनूदित हुआ और अनेक वार खेला भी गया।

यहाँ हमने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समस्त मौलिक तथा अनूदित नाटकों का परिचय मात्र इसलिये दिया कि पाठकों को यह मालूम हो जाय कि किस प्रकार इस कृती साहित्यकार ने सस्कृत, अग्रेजी और बंगला नाटकों का अनुवाद करके तथा स्वयं मौलिक नाटकों की रचना करके हिन्दी साहित्य के भाण्डार को भरा और अपने आगे आने वाले साहित्यकारों के लिये मार्ग प्रशस्त किया। सत्य यही है कि यदि हम भारतेन्दु साहित्य को आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमच की भूमिका कहें तो यह सर्वथा उचित होगा। लगता है उस समय अनेक दिशाओं से प्रकाश की किरणें आकर एक भारतेन्दु जी के व्यक्तित्व में केन्द्रीभूत हो गयीं। उन्हें भारतेन्दु जी ने अपने में समो लिया, समेट लिया। बाद मे उन्होंने आगे आने वाली पीढियो का पथ प्रदर्शन करने के लिये उन्हें विकीर्ण किया। जैसा कि स्वय भारतेन्दु जी ने कहा है उनके पहिले हिन्दी में 'आनन्द रघुनन्दन', 'नहुप', और 'शकुन्तला' नाटकों की रचना हो चुकी थी, फिर भी भारतेन्दु जी को इतना श्रेय तो मिलना ही चाहिये कि उन्होंने नाटकों को लिखने और खेलने की परम्परा को अत्यधिक पुष्ट किया और साहित्य के इस पक्ष को अत्यन्त सम्पन्न और समृद्ध बनाया। उन्हीं की प्रेरणा से हिन्दी मे नाटको के लिखने की प्रथा चल पड़ी और पारसी थियेटरों ने जो अनाचार मचा रखा था उसकी रोकथाम शुरू हुई। साधारणतया भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी आधुनिक हिन्दी के जनक माने जाते हैं। हमारा निवेदन है कि जहाँ तक नाटकों का सम्बन्ध है उनको दिया गया यह सम्मान सूचक नाम और भी अधिक उचित मालूम पड़ता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी केवल हिन्दी नाट्य साहित्य के ही सम्बन्ध में चिन्तित नहीं रहते थे, वे हिन्दी रगमंच को पुनर्संगठित करना चाहते थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेक कदम उठाये और स्वयं नाटकों के अभिनय की व्यवस्था की। उन्होंने नाट्य मण्डलियों का

सगठन किया, निर्देशन किया और नाटकों को रगमच पर प्रस्तुत भी किया। आप अपना दल लेकर बलिया गये थे जहाँ आपके दो नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'नील देवी' अभिनीत हुए थे। नवम्बर १८८४ मे आप एक व्याख्यान देने के लिये बलिया निमन्त्रित किये गये थे। ५ नवम्बर को आपका व्याख्यान बलिया इन्स्टीट्यूट मे हुआ। उसी अवसर पर आपके ये दोनों नाटक रगमच पर प्रस्तुत किये गये। आप अक्सर भ्रमण और यात्रा किया करते थे और उन अवसरों को साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यों में लगाया करते थे। प्रयाग में आपका जो भाषण हुआ था वह अनेक दृष्टियो से अत्यन्त प्रगति शील और क्रान्तिकारी था। यहाँ आपने ललकार कर कहा था—

> परदेशी की बुद्धि पर वस्तुन की करि आस।
> पर बस ह्वै कब लौं कंहो रहिहो तुम ह्वै दास॥

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की शैली के सम्बन्ध मे मिश्र बन्धुओं का निम्नांकित उद्धरण पर्याप्त होगा—"आपकी भाषा गद्य और पद्य दोनों में प्रौढ, प्रभाव पूर्ण, सभी प्रकार के भाव प्रकाशन में सशक्त, लचीली और सुव्यवस्थित है। शब्द चयन लोक पक्ष को लिये हुये बहुत ही मनोहर होता था। भाषा माधुर्य, प्रसाद, अर्थ व्यक्ति, काँति, सुकुमारता आदि प्रसाद गुणों को धारण किये हुये है। छन्दों में धारावाहिता प्रस्तुत है और कथनों में मूर्तिमत्ता के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। नाटकों में छायानुवाद और मौलिक सभी कुछ प्रस्तुत हैं। अनुपम भाव-विधान, चेष्टा चित्रण, सन्चारियों की व्यजना, लोकोक्तियों का प्रचुर समावेश, विचार स्वातन्त्रय, वर्णन विदग्धता, चमत्कार कौशल, दक्षतापूर्ण प्रचुर हास्य विनोद, ऊहा की प्रगल्भता, स्वभावोक्ति की सक्षमता, वियोग की कसक, प्रेमपिपासा, जिन्दादिली, चपलता, रसप्राचुर्य, अलंकारारोपण, विविध मानुषीय स्थितियों के विश्लेषण, प्रबन्ध पटुता, भावावेश

आदि भारतेन्दु की रचना में बहुत आधिक्य से प्राप्त है।.. उस काल में प्रचलित चाल छोड़ कर आपने हिन्दी साहित्य प्रणाली को वर्तमान प्रगति की ओर झुकाया। यह भी आपकी बहुत बड़ी महत्ता है।"

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पूरे साहित्य को आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका समझना चाहिये। भारतेन्दु जी के समय से ही राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रीय पुनरोज्जीवन की जो बाढ़ आयी और बाद में उसने शुद्ध राष्ट्रीयता का जो रूप अपनाया उसमें हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। सच तो यह है कि ज्यों ज्यों राष्ट्रीय आन्दोलन सबल और तीव्र होता गया त्यों-त्यों हिन्दी का आन्दोलन भी सबल और तीव्र होता गया। हिन्दी के साहित्यकारों ने राष्ट्रीय भावना से प्रेरणा ग्रहण करके, राष्ट्रोत्थान की समस्या को ध्यान में रख कर ही साहित्य सृजन किया। यह सब जो कुछ हुआ उसका उद्‌गम स्थान भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का वह प्रचुर साहित्य है जिसमें वह आगे आने वाली विचार धाराओं के लिये चिनगारियां छोड़ गये थे। उन्हीं चिनगारियों को बटोर कर आधुनिक साहित्यकारों ने अपने लिये मशाल जलाई जिसके प्रकाश में उनका विकास होता रहा और उनके साहित्य का भी। इसी अर्थ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी साहित्य के पिता कहे जाते हैं।

देश भक्ति और राष्ट्रीयता का प्रचार, कुशासन और कुव्यवस्था का विरोध, स्वाधीनता और आत्मनिर्भरता के लिये प्रयास, स्वस्थ समृद्ध जन जीवन के निर्माण के लिये प्रेरणा और प्रयत्न—इन सब धाराओं को किसी न किसी रूप में हम भारतेन्दु साहित्य में—विशेषतया उनके नाटकों में—पाते हैं। एक शब्द में भारतेन्दु जी ने हिन्दी साहित्य को सोद्देश्य बनाया, उसको राष्ट्रीय पुनर्जागरण, राष्ट्रीय संघर्ष, राष्ट्रीय मुक्ति और मानव समाज के अभ्युत्थान का साधन बनाया। भारतेन्दु साहित्य आधुनिक हिंदी साहित्य के राज-

मार्ग का प्रथम मील का पत्थर है, उसकी विजय यात्रा का प्रथम जय-घोष और मङ्गलाचरण है।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र इस नश्वर संसार मे केवल चौंतीस वर्ष, तीन महीने, सत्ताइस दिन रहे। आपका जन्म ६ सितम्बर, १८५० ई में हुआ। आप ६ जनवरी १८८५ ई० को गोलोकवासी हुये। आपने सोलह-सत्रह वर्प की उम्र से साहित्य सेवा आरम्भ कर दी और इस ससार से विदा होने के पहिले पुष्कल साहित्य छोड़ गये। आप दर्जनों मौलिक, रूपान्तरित तथा अनूदित नाटक छोड़ गये। अन्तिम साँसों के साथ स्वाभाविक विनोदशीलता, आत्म सयम और धैर्य का प्रमाण देते हुये आप कहते रहे—"हमारे जीवन नाटक का प्रोग्राम नित्य नया छप रहा है। पहले दिन ज्वर की, दूसरे दिन दर्द की, तीसरे दिन खासी की सीन हो चुकी, देखें 'लास्ट नाइट' कब होती है!" लास्ट नाइट की चुनौती भी स्वीकार करते हुये भारतेन्दु जी ने कहा था—

> डङ्का कूच का बज रहा मुसाफिर जागो रे भाई।
> देखो लाद चले सब पन्थी तुम क्यों रहे भुलाई।
> जब चलना ही निहचै है तौ ले किन माल लदाई।
> हरीचन्द हरिपद बिनु नहिं तौ रहि जइहौ मुह बाई॥

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के नाटकों में कहीं कहीं उनके निजी जीवन की निराशाओं और पीड़ा के भी सकेत मिलते हैं। 'प्रेमयोगिनी' नाटक में रामचन्द्र के बारे मे यह वाक्य, "कवित्त बनावनो कुछ अपने लोगन का काम थोरै हय, ई भाटन का काम है", 'सत्य हरिश्चन्द्र' की प्रस्तावना में नटी का लम्बी साँस लेकर यह कहना "हा, प्यारे हरिश्चन्द्र का ससार ने कुछ भी रूप गुण न समझा। क्या, हुआ 'कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि पाछे, प्यारे हरिचन्द्र की कहानी रह जायेगी," और 'भारत दुर्दशा' नाटक के पहिले अंक में योगी की करुण लावनीं—"रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई,

हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।" इन पक्तियों में भारतेन्दु बाबू का निजी पीड़ा का विचित्र चित्रण है। वह क्या कहते थे, क्या करते थे, क्या चाहते थे—इसे न तो उनके इष्ट मित्र तथा परिवार वाले समझ सके, न देश वासी। अब सारा देश उनको याद करता है, श्रद्धा के फूल चढाता है, परन्तु उस समय यह लोग उनसे जान बचाते थे। परन्तु विष पावी नील कण्ठ महादेव हमारे साहित्य देवता सब कुछ सहता हुआ भी जीवन के अन्तिम क्षणों तक अपने कर्त्तव्य पथ पर आगे बढता रहा।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने स्वय जो कुछ किया वह तो महत्व-पूर्ण था ही, उन्होंने आस पास जिन साहित्य प्रेमियों को एकत्र कर लिया था उन्होंने भी काफी काम किया। लाला श्रीनिवास दास ने 'प्रहलाद' 'रणधीर-प्रेम मोहिनी', 'संयोगिता-स्वयवर' तथा 'तपती संवरण', पडित बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमधन' ने 'भारत सौभाग्य वारांगना रहस्य', 'प्रयांग रामागमन' तथा, वृद्ध विलाप'; श्री मथुरा प्रसाद चौधरी ने 'साहसेन्द्र साहस' (मैकबेद का अनुवाद) पडित प्रताप नारायण मिश्र ने 'कलि कौतुक रूपक; 'कलि प्रभाव', 'हठी हमीर' तथा 'जुवारी-खुवारी', रावकृष्ण देवशरण सिंह 'गोप' ने 'माधुरी'; बाबू तोता राम ने 'केटो—कृतान्त, पंडित केशव राम भट्ट ने उर्दू मिश्रित 'शमशाद सौसन' और 'सज्जाद सुंबुल'; पंडित अम्बिका दत्त व्यास ने 'ललिता नाटिका', 'गो संकट' देव पुरुष दृश्य; 'मरहट्टा' तथा 'भारत सौभाग्य'; अमनसिंह गोटिया ने 'मदन-मंजरी'; बाबू राधाकृष्ण दास ने 'दुखिनी बाला', पद्मावती', 'शर्मिष्ठा' तथा 'चन्द्रसेन,; पंडित देवकी नन्दन त्रिपाठी ने जय नार सिंह की; 'होली खगेश', 'चक्षुदान,' 'कलयुगी-विवाह जनेऊ' आदि, पंडित्त शीतला प्रसाद त्रिपाठी ने जानकी मंगल तथा बाबू बालेश्वर प्रसाद ने 'वेनिस का सौदागर' लिखा।

भारतेन्दु जी ने ही अनुवादों की परम्परा चलायी थी। उनके

परलोक वास के उपरान्त भी यह प्रथा चलती रही। श्री रामकृष्ण वर्मा ने 'कृष्णाकुमारी', 'पद्मावती' और 'वीरनारी' नाटकों का, श्री उदित नारायण लाला ने 'सती' नाटक और 'अश्रुमती' का तथा पडित व्रजनाथ ने 'एई कि सभ्यता' का अनुवाद प्रकाशित कराया पडित रविदत्त शुक्ल ने 'देवाशर चरित', पडित कमला चरण मिश्र ने 'अद्भुत' नाटक 'काम भस्म' नाटक, श्री देवी प्रसाद शर्मा ने 'बाल विवाह' पडित अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध ने 'रुक्मणी परिणय' नाटक, बाबू ठाकुर दयालसिंह ने 'मृच्छाकटिक' तथा 'मर्चेन्ट आव वेनिस के अनुवाद किये। मझौली के राजा खड़्ग बहादुर मल्ला ने 'रसकुमायुध', 'कल्पवृक्ष', 'महारास' 'भारत आरत' 'भारत ललना' तथा 'हरितालिका' नाटक लिखा। पडित गदाधर भट्ट मालवीय ने 'वेणी स हार' तथा 'मृच्छ—कटिक' का अनुवाद किया। पंडित राधाचरण गोस्वामी ने 'सती चन्द्रावली' तथा 'श्री दामा' नाटकों की रचना की। पंडित दामोदर शास्त्री ने 'रामलीला' (सात काण्ड), 'बाल खेल' या 'ध्रुव चरित' 'राधा माधव' तथा 'वेणीस हार' लिखे। श्री कार्तिक प्रसाद 'ऊषा हरण' नाटक लिखा। बाबू गोपाल गहमरी ने 'वभ्रुवाहन', देशदका 'विद्याविनोद' और 'चित्रागाद'का अनुवाद प्रकाशित किया। पडित किशोरी लाल गोस्वामी 'चोपट-चपेट', 'नाट्य सम्भव', 'वर्षा की बहार', तथा 'मयक मंजरी' महानाटक लिखा। पुरोहित गोपीनाथ ने शेक्सपिअर के तीन नाटकों का अनुवाद 'प्रेमलीला', 'वेनिस का व्यापारी' और 'मनभावन' नाम से प्रकाशित कराया। 'आर्या' नाम की किसी लेखिका ने भी 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का अनुवाद किया था। लाला सीताराम बी० ए० ने १६०० ई० के पहिले से ही सस्कृत नाटकों का अनुवाद आरम्भ कर दिया था। 'नागानन्द', 'मृच्छ कटिक', 'महावीर चरित', 'उत्तरराम चरित', 'मालती माधव', 'मालविकाग्नि मित्र' आदि महत्वपूर्ण और

प्रसिद्ध नाटकों का अनुवाद आपने किया। राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' ने 'चन्द्रकला-भानुकुमार' नाटक लिखा।

इन नाटकों की अपनी विशिष्ट परम्परा और प्रणाली थी। इनमें पद्यांशों की बहुलता रहती थी। कुछ नाटकों में तो केवल पद्य ही रहता था। इसके बाद बीसवीं शताब्दी के आरम्भ होते होते नाटकों में गद्यांश पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा। यह भी बंगला नाटकों के प्रभाव में ही हुआ था। अब नाटकों में यहाँ वहाँ चार-छः गीत डाल दिये जाते थे, परन्तु नाटक गद्य में ही लिखे जाने लगे थे। इनके पहिले के नाटकों मे पौराणिक कथाओं और देवपात्रों को ही अधिक स्थान मिलता था। समाज के लिये भी जो बातें कही जाती थीं वे भी पौराणिक कथाओं और देवपात्रों के ही माध्यम से। परन्तु अब हिन्दी में 'ज्ञान वृद्धा बड़ी बहिन बंगला' की गद्य की परम्परा भी आ गयी। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ के साथ साथ द्विजेन्द्र लाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, गिरीश चन्द्र घोष, क्षीरोद बाबू, श्री शिशिर कुमार घोष आदि अत्यन्त प्रसिद्ध नाटककारो की रचनायें अनूदित हुई। पंडित सत्यनारायण 'कविरत्न' 'उत्तर राम चरित' तथा 'मालती माधव' का अनुवाद किया। श्री कृष्णचन्द्र ने भी 'उत्तर राम चरित' का अनुवाद किया। इसके कुछ समय बाद बाबू ब्रजवासी दास ने भास के तेरह नाटको का गद्य-पद्यमय अनुवाद प्रकाशित किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथियो और उनके बाद के लोगों ने भी भारतेन्दु जी की परम्परा को कायम रखा और वे लगातार हिन्दी नाट्य साहित्य को अधिकाधिक मात्रा में समृद्ध बनाते रहे। इन समस्त मौलिक, अनूदित तथा रूपान्तरित नाटकों में, यहाँ से वहाँ तक हम कुछ विशेषताए देखते हैं। स्वदेश प्रेम, जाति का अभ्युत्थान, प्राचीन संस्कृति के प्रति गर्व, वर्तमान हीनावस्था पर शोक और क्रोध, आगे बढने और उन्नति करने के लिये प्रेरणा, स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये प्रोत्साहन—ये सब बातें इन

नाटकों में मिलती हैं। इसलिये ये नाटक सीधे भारतेन्दु की परम्परा में आते हैं और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र तथा बाबू जयशंकर 'प्रसाद' के बीच स्वर्ण शृखला का काम करते हैं। यही इन नाटकों का महत्व है। आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य की भूमिका के ये अन्तिम पृष्ठ जैसे हैं।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और जयशङ्कर प्रसाद के बीच में अनेक नाटककार हुए, जिन्होंने सामाजिक ऐतिहासिक और धार्मिक नाटक लिखे। इन सभी नाटककारों ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की आदर्श-वादिता, देशोत्थान और समाज निर्माण की परपराओं को कायम रक्खा। भारतेन्दु युग से लेकर प्रथम महायुद्ध के पहले तक हमारे राष्ट्रीय जीवन में जितने भी सघर्ष और आन्दोलन हुए, उन सबकी प्रतिच्छाया हम इन नाटकों में किसी न किसी मात्रा में अवश्य देख सकते हैं। ये नाटक चाहे मौलिक हों अथवा अनूदित, निस्सन्देह भारतेन्दु की ही परपरा में आते हैं।

श्री जय शकर 'प्रसाद'

उन्नीसवाँ अध्याय

आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य

यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी-साहित्य के (नाट्य साहित्य के भी) पिता कहे जाते हैं, फिर भी हमने उन्हें तथा उनके साथियों और उनके बाद में आने वाले नाटककारों को भी 'आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य की भूमिका' के अन्तर्गत रखा है। जिस समय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण किया, हमारा प्रथम स्वतन्त्रता आन्दोलन दबा दिये जाने के बाद अपने घावों को सेंक रहा था। एक ओर निराशा और पराजय जनित अवसाद ने देश वासियों की कमर तोड़ दी थी, दूसरी ओर देश के हितैषी विचारक, सुधारक और नेता उसके शरीर में प्राण वायु फूक रहे थे। १८५७ ई० की क्रान्ति को दबाकर शासन सत्ता अच्छी तरह जम गया था। साथ ही विरोध, विद्रोह और संघर्ष की प्रवृत्तिया जाग रही थीं। इसी संक्रान्ति के अवसर पर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने साहित्य के माध्यम से देश और जाति को फिर से जगाने का, उसे सक्रिय और कर्मठ बनाने का प्रयास किया। उनके नाटकों में हम जहाँ एक ओर महारानी विक्टोरिया की प्रशस्ति पाते हैं वहीं भारत की दुर्दशा पर आठ आठ आँसू रोते हुये भी हम उन्हें देख सकते हैं। देश की गरीबी, अशिक्षा, भाग्यवादित, फूट, रूढिवादिता, हीनता की भावना और परमुखापेक्षिता देखकर भारतेन्दु जी का दिल रोता था। अंग्रेजी राज्य की अच्छाइयों की ओर भी उनकी दृष्टि थी। परन्तु वह भारत की आजादी के प्रबल समर्थक थे और देशवासियों को इस सम्बन्ध मे ललकारते भी रहते थे। उन्होंने अपने साहित्य को, अपने पत्र-पत्रिकाओं को अपने भाषणों तथा यात्राओं को, अपने जीवन के हर क्षण को देश की उन्नति और

समाज के सुधार में लगाया। इस प्रकार उन्होंने अन्य साहित्यकारों का भी मार्ग प्रदर्शन किया और उन्हें साहित्य को समाज कल्याण, देशोन्नति तथा जाति के उत्थान का माध्यम बनाने की प्रेरणा दी। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने जिस गौरव शाली परम्परा की नींव डाली वह प्रायः अक्षुण्ण रूप से जयशकर 'प्रसाद' के समय तक चलती रही।

जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों में इसी लिए ५०० वर्ष ईसा पूर्व से १००० वर्ष बाद तक के समय में बौद्ध श्रमणों, भिक्षुओं, शैवों, श्रेष्ठियों तथा निम्न श्रेणियों के बीच उपस्थित सघर्ष का चित्रण हमें मिलता है। भारतवर्ष के इतिहास में सम्भवतः यह काल सब से महत्वपूर्ण रहा है क्योंकि इसी काल में बौद्ध संस्कृति अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची और उसका पराभव भी हुआ, ब्राह्मण सस्कृति भी अपने चरम विकास तक पहुँची और फिर ढह गई, भारतीय समाज पुरोहितों, सामन्तों, राजाओं और सम्राटों का उदय और अस्त हुआ, एक नया शक्तिशाली समृद्धिशाली साधन सम्पन्न वर्ग उदित हुआ— श्रेष्ठि वर्ग—जिसने धीरे-धीरे सारी सामाजिक व्यवस्था पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और जिसके इंगित-आदेशों के सहारे राजकाज चलने लगा, बौद्धों के प्रभाव के विस्तार के बाद सहजयान, नाथपथ, बलि-वध, हिंसा, मास-मदिरा, देवदासी आदि की समस्यायें उठीं, बौद्धों ब्राह्मणों के सघर्षों और सामूहिक रक्तपात की परम्परा चली, ब्राह्मण्यवाद विजयी हुआ और धीरे-धीरे उसे राज्याश्रय प्राप्त हुआ, संस्कृत साहित्य का फिर से उदय हुआ और साहित्य राज-दरबारों का गुलाम या पेशकार बना, उसने सतर्कता पूर्वक निम्न, उपेक्षित, दलित श्रेणियों की उपेक्षा की और अगर उनकी चर्चा भी आया तो भी उनको हीन दृष्टि से ही देखा गया। इस प्रकार यह सारा युग ऐतिहासिक दृष्टि से, समाज के विकास-क्रम की दृष्टि से, सस्कृतियों, परम्पराओं, धार्मिक विश्वासों और सामाजिक

मान्यताओं के अन्तर्द्वन्द्वों, उतार-चढ़ाओं और पराभवों की दृष्टि से, अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। भारतीय इतिहास का यह स्वर्ण युग अपने दामन में अनेक संस्कृतियों और परम्पराओं की राख भी समेट हुये था और चिनगारी भी। राख बिखर गई। चिनगारियों ने आगे चल कर प्रकाश बिखेरा।

'प्रसाद' जी ने अपने नाटकों के लिये इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक युग को चुना। 'प्रसाद' जी की अधिकतर कहानियों को भी इन्हीं स्रोतों से प्रेरणा मिली। १५०० वर्षों की इस उलझी हुई विकास-धारा को समझना, उसकी तह तक पहुँचना और उसके विश्लेषणात्मक अध्ययन से ही उन गतिशील, जीवनदायी तत्वों को ढूँढ निकालना जिनके ऊपर समाज की विकासशील व्यवस्था निर्भर होना कोई आसान बात न थी। इस अत्यन्त कठिन, परिश्रम-साध्य कार्य के लिये जितनी मेधा, श्रम, सहनशीलता, गम्भीर अध्ययन, तर्क बुद्धि, पर्यवेक्षण-शक्ति आदि की आवश्यकता थी वह पर्याप्त मात्रा में 'प्रसाद' जी के अन्दर मौजूद थी। इसीलिये वह अपने नाटकों में इस युग का इतना सही, यथातथ्य, प्रेरणा-पूर्ण चित्रण कर सके हैं। नाटककार, कहानीकार 'प्रसाद' की सफलता की कुञ्जी है, बौद्धिकता पर स्थित उनकी जनहितकारी मंगल-भावना। इस भावना पर विवेक शून्यता अथवा संकीर्णता का कुहासा न छा सका, यह बड़ी बात थी। 'प्रसाद' जी ने सज्जन (अप्राप्य), विशाख, प्रायश्चित्त, राज्यश्री, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, कामना और ध्रुव स्वामिनी नाटक लिखे जो मौलिकता की दृष्टि से अब भी अद्वितीय और अपूर्व हैं। इन नाटकों ने 'प्रसाद' जी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ मौलिक नाटककार बना दिया।

मूल चेतना

'प्रसाद' के नाटकों की मूल चेतना के सम्बन्ध में डाक्टर नगेन्द्र के निम्नांकित विचार ध्यान देने योग्य हैं—

शांत गम्भीर सागर जो अपनी आकुल तरङ्गों को दबाकर धूप में मुस्करा उठा है, या फिर गहन आकाश जो झंझा और विद्युत को हृदय में समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा है—ऐसा ही कुछ 'प्रसाद' का व्यक्तित्व था। प्रसाद अपने मूल-रूप में कवि थे, जीवन में उन्हें आनन्द इष्ट था, इसलिए वे शिव के उपासक थे। बस शिव की उपासना उनके मन का विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त है। शिव का शिवत्व इसी में है कि वे हलाहल को पान कर गये। और उसको पचा कर फिर भी शिव ही बने रहे, उनका कण्ठ चाहे नील हो गया हो, परन्त मुख पर वही आनन्द का शान्त प्रकाश बना रहा। 'प्रसाद' के जीवन का आदर्श यही था, वे बड़े गहरे जीवन-द्रष्टा थे। आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को उन्होंने देखा और सहा था, यह जहर उनके प्राणों में एक तीखी जिज्ञासा बन कर समा गया था—उनकी आत्मा जैसे आलोड़ित हो उठी हो। इस आलोड़न को दबाते हुए आग्रह के साथ आनन्द की उपासना करना ही उनके आदर्श की व्याख्या करता है—और यही उनके साहित्य की मूल-चेतना है।

ऐसा व्यक्ति, यह स्पष्ट है, संसार की भौतिक वास्तविकता को विशेष महत्व नहीं देगा—प्रायः वह उसको छोड़ कहीं अन्यत्र आनद की खोज करेगा—एक शब्द में, उसका दृष्टिकोण रोमान्टिक होना अनिवार्य है। वर्तमान से विमुख होने के कारण (जैसा रोमान्टिक व्यक्ति के लिए आवश्यक है) वह पुरातन की ओर जायगा—या कल्पना लोक की ओर। प्रसाद का यही रोमान्टिक दृष्टिकोण उनकी सांस्कृतिक चेतना के लिये उत्तरदायी है।

नाटकों का आधार

प्रसाद के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है। आर्य संस्कृति में उन्हें गहन आस्था थी, इसीलिए उनके नाटकों में भारत के इतिहास का प्राय. वही परिच्छेद है (चन्द्रगुप्त मौर्य—हर्ष) जिसमें

उसकी संस्कृति अपने पूर्ण वैभव पर थी—ब्राह्मण और बौद्ध संस्कृतियों के संघर्ष से जब उसका स्वरूप प्रखर हो उठा था।

एक ओर चाणक्य ब्राह्मण धर्म की व्याख्या करता हुआ घोषित करता है—

"ब्राह्मण एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि-वैभव है—वह अपनी रक्षा के लिऐ, पुष्टि के लिये और सेवा के लिये इतर वर्णों का सङ्घटन कर लेगा।"

दूसरी ओर भगवान बुद्ध की शीतल वाणी सुनाई देती है—

"विश्व के कल्याण में अग्रसर हो। असंख्य दुखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है, इस दुख समुद्र में कूद पड़ो। यदि एक भी रोते हुये हृदय को तुम ने हँसा दिया तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विकसित होंगे……विश्व-मैत्री हो जायगी—विश्व भर अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ेगा।"

इन्हीं दोनों धूपछाँही डोरों से बुना हुआ 'प्रसाद' के नाटकों का आधार है।

प्रसादजी प्राचीन भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य पर मुग्ध थे। स्वभाव से चिन्ताशील और कल्पना-प्रिय होने के कारण वे उसी युग में रहते थे। कोलाहल की अवनी तज कर जब वे भुलावे का आह्वान करते हुए विराम-स्थल की खोज करते होंगे, उस समय यह रङ्गीन अतीत उन्हें सचमुच बड़े वेग से आकर्षित करता होगा इसीलिए उनके नाटकों में पुनरोत्थान की प्रवृत्ति बड़ी सजग रहती है। कामना का रूपक इसका मुखर साक्षी है। वे विदेशी छाया से आच्छादित भारतीय जीवन को फिर से उसी स्वर्ग की ओर प्रेरित करने की बात सोचा करते थे। उन्होंने देखा कि हमारा वर्तमान ही नहीं, भूत इतिहास भी विदेशी प्रभाव की छाया में मलिन हो गया है, अतः फिर से उसका सच्चा स्वरूप प्रदर्शित करने के लिए, उन्होंनें भारतीय ग्रन्थों के ही आधार पर ऐतिहासिक अन्वेषण किये। उनके पुरातत्व-

ज्ञान का आधार प्राचीन शिलालेख, पाणिनि-व्याकरण, पातञ्जलि-योग, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कथासरित्सागर, राजतरङ्गिणी, पुराण, प्राचीन-काव्य-ग्रन्थ आदि ही हैं। प्रसाद की यह जिज्ञासा गहरी थी, उनको अतीत के लिए सिर्फ रोमाटिक मोह ही नहीं था—चन्द्रगुप्त मौर्य, कालिदास, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि के विषय में उनकी खोजें अपना स्वतन्त्र महत्व रखती हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के बिखरे अवयवों को जोड़ कर उन्होंने अपनी भावुकता, चिन्ता और कल्पना द्वारा उसमें प्राण सञ्चार किया।

उन्होंने वातावरण की सृष्टि इतने सजीव रूप में की है कि मौर्य एव गुप्तकालीन भारतीय जीवन हमारे सामने चित्रित हो जाता है—फिर से हम आज की पश्चिम-मिश्र संस्कृति और उससे पहले की मुस्लिम सस्कृति और उससे भी पूर्व की सामन्तीय सस्कृति, इन तीनों को लाँघ कर आर्य-सस्कृति की छाया में पहुँच जाते हैं। यह पुनरोत्थान इतने सहज ढङ्ग से होता है कि दो हजार वर्ष का महान अन्तराय एक साथ तिरोहित हो जाता है। प्रसाद का दृश्य-विधान ही नहीं, उनके पात्रों के नाम, वेशभूषा, चरित्र और बातचीत सभी देश-काल के अनुकूल हैं। आम्भीक, अन्तर्वेद, गोपाद्रि, महाबलाधिकृत, कुमारामात्य, आदि शब्दों का प्रयोग इस सास्कृतिक वातावरण को उपस्थित करने का अमोघ साधन है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि युग-जीवन या युग-धर्म का प्रभाव प्रसादजी पर बिल्कुल नहीं है। मैंने जैसा अभी निवेदन किया, प्रसादजी गहरे जीवन-द्रष्टा थे। उनका आधुनिक जीवन का भी अध्ययन असाधारण था—अतएव उनके नाटकों में आज की समस्याएँ स्पष्ट प्रतिबिम्बित मिलती हैं। चन्द्रगुप्त और स्कन्धगुप्त में राष्ट्रीयता एव देशभक्ति का भव्य आदर्श है। युद्ध में जब सिकन्दर एक बार आहत होकर गिर जाता है, उस समय सिंहरण के कण्ठ में बैठ कर प्रसादजी की देशभक्ति अमर स्वरों में फूट उठती है—

मालव सैनिक—सेनापति, रक्तपात का बदला ! इस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है। प्रतिशोध !

सिंहरण—ठहरो, मालव वीरो ! ठहरो, यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है।

यह प्रसंग इतिहास के अनुकूल हो अथवा नहीं, परन्तु इसमें बोलती हुई देशभक्ति की भावना एकान्त दिव्य है। देश भक्ति का इतना शुद्ध और पवित्र रूप मैंने हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र नहीं देखा। आज की प्रान्तीयता और सम्प्रदायिकता पर भी चन्द्रगुप्त में अनेकों तीखे व्यंग्य हैं। चाणक्य की नीति का प्रमुख तत्व एक-राष्ट्र की स्थापना ही तो है—

'मालव और मागध को भूल कर जब आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी यह मिलेगा।'

'आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मणों में भेद न करेंगे।'

इसके अतिरिक्त हमारी अन्य समस्याएँ जैसे दाम्पत्य-सम्बन्ध-विच्छेद, धार्मिक अथवा जातीय दम्भ आदि का भी प्रौढ़ विवेचन स्थान-स्थान पर मिलता है। परन्तु 'प्रसाद' की कला का यह चमत्कार है कि ये समस्याएँ उस पुरातन वातावरण में पूरी तरह से फिट कर दी गई हैं। जो लोग इस प्रकार के प्रवाह को ऐतिहासिक असङ्गति मानते हैं, वे वास्तव में मानव भावनाओं की चिरन्तनता को ग्रहण करने में अपनी अक्षमता मात्र प्रकट करते हैं।

सुख-दुख की भावना—

प्रसाद के नाटकों के तत्व को समझने के लिए उनकी सुख-दुख की भावना को ग्रहण करना अनिवार्य है। उनके नाटक सभी सुखान्त हैं, परन्तु क्या उनको समाप्त करने पर पाठक के मन में सुख और शान्ति का प्रस्फुरण होता है ? नहीं ! नाटक के ऊपर दुःख की छाया आदि से अन्त तक पड़ी रहती है और उसके मूल में एक करुण

चेतना सुख की तह में छिपी हुई मिलती है। प्रो० शिलीमुख ने बिल्कुल ठीक कहा है कि प्रसाद की सुखान्त भावना प्रायः वैराग्य पूर्ण शान्ति होती। इसका कारण है उनके जीवन की वही करुण जिज्ञासा जो उनके प्राणों को सदैव विलोड़ित करती रहती थी—बौद्ध इतिहास और दर्शन के मनन ने उसे और तीखा कर दिया था। उनके नाटकों मे बौद्ध और आर्य-दर्शन का सघर्ष और समन्वय वास्तव में दुःखवाद और आनन्द-मार्ग का ही सघर्ष और समन्वय है जो उनके अपने अन्तर की सबसे बड़ी समस्या थी। इसी समन्वय के प्रभाव-वश उनके नाटक न पूर्णतः सुखान्त हैं और न दुखान्त, उनमें सुख दुःख जैसे एक दूसरे को छोड़ना नहीं चाहते, कवि आग्रह-पूर्वक सुख का आह्वान करता है, सुख आता भी है, परन्तु तुरन्त ही दुख भी अपनी झलक दिखा ही जाता है।

सिल्यूकस—(कार्नेलिया की ओर देखता है। वह सलज्ज सिर झुका लेती है)—तब आओ बेटी, आओ चन्द्रगुप्त! (दोनों ही सिल्यूकस के पास आते हैं, सिल्यूकस उनका हाथ मिलाता है। फूलों की वर्षा और जयध्वनि!)

चाणक्य—(मौर्य का हाथ पकड़ कर) चलो अब हम लोग चलें।

—(यवनिका) चन्द्रगुप्त।

इस प्रकार आप देखते हैं कि ये नाटक सुखान्त अथवा दुखान्त न होकर प्रसादान्त हैं। इसका एक प्रमाण और है, वह है रस का परिपाक। इन नाटकों में मुख्य रस दो है शृङ्गार और वीर (देशभक्ति)। इन दोनों में भावना अत्यन्त गाढी और तीव्र है। शृङ्गार में एक ओर अपने को लय कर देने की तीखी चाह मिलती है तो दूसरी ओर विलास की उष्ण गन्ध और रूप-यौवन के चटकीले चित्र जो प्रसाद की तूलिका की विशेष विभूति हैं। इसी प्रकार वीरता—देशाभिमान अथवा आत्म-गौरव की अभिव्यक्ति भी अन्तरतम की पुकार ही है। सिंहरण अथवा बन्धुवर्म्मा की देशभक्ति कर्तव्य-पूर्ति नहीं, आत्मा का

आग्रह है। उनकी उक्तियाँ केवल नीति-मुखर ही नहीं हैं, उनमें हृदय का आक्रोश है।—परन्तु इन दोनों के साथ तीसरा रस शान्त भी अनिवार्य रूप से मिलता है जो इन दोनों पर अनुशासन करता है। जब आवेश, चाहे वह मधुर हो या परुष, उबल कर सीमा तोड़ना चाहता है, तभी शान्त रस के शीतल छींटे उसे शान्त और संयत कर देते हैं। स्वभावतः यहाँ रस का प्रवाह आवेग से परिशान्ति की ओर बहता हुआ मिलता है—और यही प्रसाद के नाटकों का 'प्रसादान्त' है।

चरित्र-प्रधान नाटक—

स्पष्टतः ये नाटक चरित्र के द्वन्द्व को लेकर चलते हैं और इनकी सबसे बड़ी सफलता चरित्र-निर्माण में ही है। प्रसाद आधुनिक साहित्य के सबसे महान् स्रष्टा थे। उन्होंने अपने नाटकों में अमर पात्रों की सृष्टि की है जो सभी अपना स्वतन्त्र एवं प्राणवान व्यक्तित्व रखते हैं—दार्शनिक बिम्बसार और उनके तत्वज्ञानी दाण्ड्यायन का व्यक्तित्व भी कितना साफ और तीखा है! कारण यह है कि पात्रों में प्राण फूँकने वाली प्रतिभा की सजीवता और तीव्रता अद्वितीय थी। प्रसादजी के जीवन-रथ की परिधि भले ही घर से दशाश्वमेध और दशाश्वमेध से घर तक सीमित रही हो, परन्तु उनका भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक जीवन चिर-गतिशील था—उसकी गति प्रेमचन्द की तरह विस्तार में अधिक नहीं बढ़ी, परन्तु अन्दर गहराई में बहुत दूर पहुँच गई थी। वे अत्यन्त प्राणवान कलाकार थे, उनके व्यक्तित्व की तीक्ष्णता ने ही पात्रों की रूप-रेखा को काट-छाँट कर इतना तीखा कर दिया था—एक दूसरे प्रकार से भी स्रष्टा ने अपने आपको सृष्टि में व्यक्त किया है। प्रसाद के दर्शन कवित्व-मय व्यक्तित्व का थोड़ा बहुत अंश उनके सभी पात्रों ने प्राप्त किया है। पुरुष-पात्र प्रायः तीन प्रकार के मिलते हैं—(१) जीवन के तत्वों को सुलझाने वाले तत्व-वेत्ता आचार्य, (२) जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होकर जूझने

वाले कर्मठ सैनिक, (३) राजपुत्रों को राजनीति के दाँव-पेच सिखाने वाले कूट-नीतिज्ञ। स्त्रियों में भी स्पष्टतः कई श्रेणियाँ हैं—(१) राज-नीति की आग से खेलने वाली राजमहिषियाँ (२) जीवन-युद्ध में प्रेमी का सम्बल लेकर कूदने वाली स्वाभिमानिनी राजपुत्रियाँ (३) जीवन के भँवर में पड़ी हुई मध्यवर्गी दुर्बल नारियाँ और (४) अपने निस्पृह बलिदान से नाटक के जीवन में एक करुण गन्ध छोड़ जाने वाली फूल-सी सुकुमारियाँ। बौद्ध और शैव दर्शन के समन्वय से जीवन की व्याख्या करने वाले ये आचार्य दार्शनिक 'प्रसाद' के ही प्रतिरूप हैं। उधर निरन्तर कर्म में रत किन्तु फल की ओर से विरक्त सैनिक-रूप राजपुत्रों को, प्रसाद का जीवन के विचार और उपभोग से परिपुष्ट, पौरुष प्राप्त हुआ है। नारी पात्रों में आपको उनके हृदय का रूप-मोह और प्राणों में बैठी हुई जिज्ञासा की टीस मिलेगी। इस प्रकार प्रसादजी ने सभी चरित्रों में अपने व्यक्तित्व की साँस फूँक दी है। स्वभावत' उनमें वह अव्यक्तिगत चित्रण न मिलेगा जो सच्चे अर्थ में नाटकीय कहा जाता है। जहाँ शेक्सपियर जैसे नाटककारों में कौनसा चरित्र उनकी प्रतिच्छाया है, यह पता लगाना असम्भव है वहाँ आप प्रसादजी के व्यक्तित्व की झलक स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, किसी भी चरित्र में थोड़ी बहुत देख सकते हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द प्रसाद की अपेक्षा कहीं अधिक अव्यक्त रह सकते थे।

प्रसाद के काव्य में विराट और कोमल का अपूर्व सयोग है—जिस लेखक ने कामायनी के विराट रूपक की सृष्टि की है, उसी ने अनेक मधु-स्निग्ध गीतियों की उद्भावना भी की है। अतएव आपको उनके नाटकों में इन दोनों तत्वों का अपूर्व योग मिलेगा। उनके दो प्रकार के चित्र साहित्य की अमर विभूतियाँ हैं।—(१) सम्पूर्ण चित्र, (२) रेखा चित्र। पहले चित्र कवि की विराट भावना की प्रसूति हैं, उनका सम्पूर्ण चरित्र विकास शक्ति के आधार पर होता है, स्वभावतः यह चित्र समस्त नाटक की दीवार को घेरे हुए रहता है—चाणक्य

और स्कन्दगुप्त ऐसे ही दो चित्र हैं। अजातशत्रु की मल्लिका में विस्तार तो नहीं परन्तु शक्ति असीम है। इनमें महान् कोमल का एक स्पर्श भर पाकर मुस्करा उठा है।

दूसरे चित्र गीतिमय हैं—वे प्रसाद की सूक्ष्म कोमल गीतिप्रभा के प्रोद्भास हैं। इनमें जीवन की समस्त रेखाएँ अथवा विभिन्न रङ्ग नहीं—इनमें एक रेखा है और एक धुंधला रेशमी रङ्ग है—एक ही स्वर संगीत सभाओं की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान धूपदान की एक क्षीण गंध-धूम-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ—सबों की 'प्रतिकृति' है ये नारी-चरित्र। देव सेना, मालविका और कोमा—ये तीन चित्र-प्रसाद के नाटकों में उनकी ट्रेजेडी की सार—प्रतिमाएँ हैं। इनका व्यक्तित्व जैसे जीवन का सजीव कोमल करुण व्यंग है।

मधु वेष्ठन

प्रसाद के नाटक मधु से वेष्ठित हैं—प्रसाद मूल रूप में कवि हैं अतः उनके नाटकों में काव्य की गहरी एवं पृथुल अन्तर्धार बह रही है। उसके सुन्दरतम गीतों का एक बहुत बड़ा अंश इन नाटकों में बिखरा मिलेगा। इसके अतिरिक्त वस्तु चयन पात्रों के व्यक्तित्व, वातावरण, कथोपकथन और सारभूत प्रभाव—सभी में कविता का रंगीन स्पन्दन है। प्रसाद ने अपनी रंगीन कल्पना के सहारे, दूर अतीत के बिखरे हुए प्रस्तर-खण्डों को एकत्रित कर उनमें प्राणों की कविता का रस भर दिया, अतएव परिणाम-स्वरूप जिन नाटकों का निर्माण हुआ उनका वातावरण रूप और रंग से जगमगा रहा है। सब से प्रथम उनके गीतों को ही लीजिये—यह सत्य है कि ये सभी गीत नाटकीय नहीं हैं, कुछ तो स्पष्ट रूप से स्वतन्त्र हो गये हैं परन्तु उनके भीतर जो वेदना की गहरी टीस, रूप-यौवन का चटकीला रंग, एवं विलास की उष्ण-गन्ध भरी हुई है, वह समस्त नाटक पर सौरभ-श्लथ वासन्ती समीर की भांति सञ्चरण

करती रहती है। यही बात वस्तु-विधान और चरित्रांकन में है। प्रसाद की घटनाएँ रोमांस और रस से परिपुष्ट हैं—अन्धेरी रात में मागन्धी और शैलेन्द्र का मिलन, चाणक्य का सर्वस्व-त्याग, स्कन्दगुप्त और देवसेना की बिदा, मालविका का बलिदान सभी कुछ एक मूक कविता है। पात्रों की स्नायुओं में भी रस का प्रभूत संचार हो रहा है—इनमें से कतिपय तो एकान्त कवित्वमय हैं, उनका अस्तित्व ही नाटक में कविता की साँस फूकने को होता है। ये पात्र प्रायः नारी पात्र होते हैं जिनके जीवन के विरल मधुर क्षण फूल के समान खिलकर अपना सौरभ छोड़ जाते हैं—इनके अतिरिक्त प्रायः और सभी पात्र भी अपने स्रष्टा के कवित्व के भागी हुए हैं—चाणक्य के कर्म-कठोर व्यक्तित्व में भी बाल्यकाल की स्मृतियाँ भाँवरियाँ ले रहीं हैं। उनके संवाद और भाषा का रसीलापन तो दोष की सीमा तक पहुँच गया है। ये नाटक गद्य-गीतों का अक्षय भण्डार हैं।

१—"अकस्मात् जीवन कानन में, एक राका रजनी की छाया में छिप कर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन'?' कह कर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राजकुमारी! फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरन्द सी उसमें छिपी रहती हैं।"

२—"धड़कते हुए रमणी-वक्ष पर हाथ रख कर, उस कम्पन में स्वर मिला कर कामदेव गाता है। और राजकुमारी! वही काम संगीत की तान सौन्दर्य की लहर बन कर युवतियों के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है।"

अब सारभूत प्रभाव लीजिये—वह न तो वास्तविकता की माँग पूरी करता है और न किसी आदर्श की पूर्त्ति। उसके पीछे

भी सिद्धान्त का नहीं काव्य का आग्रह है। देखिये स्कन्दगुप्त का अन्तिम दृश्य।

स्कन्दगुप्त—देवी यह न कहो! जीवन के शेष दिन कर्म के अवसाद में बचे हुये हम दुखी लोग, एक दूसरे का मुँह देखकर काट लेंगे। हमने अन्तर की प्रेरणा से जो निष्ठुरता की थी, वह इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिये। परन्तु इस नन्दन की वसन्त श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी, तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ (कुछ ठहर कर सोचते हुए) और किस वज्र-कठोर हृदय से रोकूँ?

देवसेना! देवसेना!! तुम जाओ! हत-भाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द आह!!

देवसेना—कष्ट हृदय की कसौटी है; तपस्या अग्नि है। सम्राट! यदि इतना भी न कर सके तो क्या सब क्षणिक सुखों का अन्त है? जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए! मेरे इस जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य! क्षमा!

(घुटने टेकती है, स्कन्द उसके सिर पर हाथ रखता है)

दोष—

'प्रसाद' के नाटकों के दोष शायद उनके गुणों से अधिक स्पष्ट हैं—सबसे पहला दोष रङ्ग मञ्च विषयक है। उनके नाटक में अभिनय की त्रुटियाँ हैं। उनमें युद्ध, अभियान आदि के ऐसे दृश्य हैं जो मञ्च पर काफी गड़बड़ करेंगे। दूसरे, उनकी अपरिवर्तनशील गम्भीर भाषा में अभिनयोचित चाञ्चल्य नहीं है। अनावश्यक दृश्यों की संख्या भी बहुत है। दूसरा बड़ा दोष है एकता (Unity) का अभाव। उसके लिए शायद उत्तरदायी है 'प्रसाद' के मन में चलता हुआ सुख-दुख का संघर्ष, जिसके समाधान का प्रयत्न वे अन्त तक करते रहे थे। राज्यश्री या ध्रुवस्वामिनी में वस्तु-विस्तार कम होने से यह दोष नहीं आया। ध्रुवस्वामिनी का सारभूत प्रभाव तो पूर्णतः

एकसार है। परन्तु स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त जैसे बड़े नाटकों में घटना बाहुल्य में फँस कर नाटक की यूनिटी अस्तव्यस्त हो गई है। इन दोनों नाटकों में ऐसी घटनाएँ और पात्र हैं जो प्रभाव की एकता के लिये अनावश्यक ही नहीं वरन् घातक हैं। स्कन्दगुप्त में धातुसेन पृथ्वीसेन, मातृगुप्त, मुद्गल और उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्रसङ्गों का प्रयोजन क्या है? 'चन्द्र गुप्त' में चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण बीच में इतना महत्वपूर्ण हो जाता है कि कथावस्तु वहां एक बार दम तोड़ कर फिर उठती है। तीसरा प्रमुख दोष यह कि वस्तु-विधान में कहीं-कहीं बड़े भद्दे जोड़ लगे हुए हैं। अनेक स्थानों पर नाटककार को घटनाओं की गतिविधि सँभालना कठिन हो गया है और ऐसा करने के लिये उसे या तो वाञ्छित व्यक्ति को उसी समय भूमि फाड़ कर उपस्थित कर देना पड़ा है—अथवा किसी का जबर्दस्ती गला घोंटना पड़ा है। यह बड़े नाटकों में सर्वत्र हुआ है।

इस प्रकार इन नाटकों का महत्व असम है। एक ओर जहाँ पाठक उनके दोषों को देखकर विक्षुब्ध हो उठता है, दूसरी ओर उनकी शक्ति और कविता से अभिभूत हुये बिना भी नहीं रह सकता। ये नाटक अंशों में जितने महान् हैं सम्पूर्ण रूप में उतने नहीं। 'प्रसाद' की ट्रेजेडी की भावना, उनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना, उनके महान्-कोमल चरित्र, उनके विराट मधुर दृश्य, उनका काव्य-स्पर्श हिन्दी में तो अद्वितीय है ही, अन्य भाषाओं के नाटकों की तुलना में भी उसकी ज्योति मलिन नहीं पड़ सकती।

नाट्यकला

जिस समय 'प्रसाद' जी हिन्दी नाट्य साहित्य को इतना मूल्य-वान अनुदान दे रहे थे, उन पर और उनकी कला पर नाना प्रकार के आक्षेप किये गये। उन आक्षेपों का उत्तर आचार्य डाक्टर नन्द दुलारे वाजपेयी ने इस प्रकार दिया था—

'प्रसादजी के दो नाटक'—इस नाम की एक पुस्तक श्रीयुत कृष्णानन्द गुप्त ने गंगा-पुस्तक-माला, लखनऊ से प्रकाशित कराई है, जो वास्तव में उनके लिखे हुए दो लेखों का सग्रह है। ये लेख श्री जयशंकर प्रसादजी के 'स्कदगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' नाटकों की समीक्षा के रूप में लिखे गये थे और अब ये पुस्तकाकार हमारे सामने उपस्थित हैं। हम देखते हैं कि 'स्कंदगुप्त' की समीक्षा छोटी है, शिथिल भी है और अनुभव करते हैं कि पुस्तक का मूल्य १) रु० रखने के आशय से जोड़ दी गई है। पर वास्तव में उससे पुस्तक का मूल्य घटता है, बढ़ता नहीं। 'चन्द्रगुप्त' की समीक्षा लगभग सवासौ पृष्ठों में समाप्त हुई है और उसके पहले लगभग पन्द्रह पृष्ठों की भूमिका दी गई है जो अधिकाश में बेकार-सी है। 'चन्द्रगुप्त' समीक्षा में कृष्णानन्द जी की तर्कशक्ति का चमत्कार दर्शनीय हुआ है। पाठकों को धाराप्रवाह बहा ले जाने वाली यह समीक्षा स्वयम् ही एक स्वतन्त्र रचना बन गई है।

यह वैसी ही चीज है जैसी बर्नार्ड शा की लिखी नाटक-समीक्षाएँ अथवा स्वयम् बर्नार्ड शा पर लिखी गई मिस्टर जी० के० चेस्टरटन की 'जार्ज बर्नार्ड शा' नाम की आलोचनात्मक जीवनी। वैसी ही चीज़ का यह अर्थ नहीं कि यह उतनी ही मार्मिक चीज है; अर्थ है कि वह उसी प्रणाली पर लिखी गई है। शा महाशय ने अपनी नाटक-समीक्षाओं की संग्रहपुस्तक में यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि उन्होंने वे समीक्षाएँ इतनी तीव्र इसलिए लिखी हैं कि उन्हें स्वयम् ही उस (नाटकों के) क्षेत्र में आकर काम करना था और जीविका अर्जित करनी थी। फिर उन्होंने चेस्टरटन की लिखी अपनी जीवनी पढ कर यह सम्मति दी कि यही सबसे श्रेष्ठ पुस्तक है जो मुझ पर लिखी गई है। अंग्रेजी के पाठक जानते हैं कि मिस्टर चेस्टरटन श्रीयुत शा के नाटकों के प्रशंसक नहीं हैं और उन्होंने 'शा की जीवनी' में उनकी एकाङ्गिता का बड़ा ही मार्मिक उद्घाटन किया है। तथापि शा

विचलित नहीं हुए और उन्होंने दूसरे दृष्टिकोण को स्वीकार किया। श्रीकृष्णानन्द की भूमिका में जो वैमनस्य का भाव झलकता है वह उनकी चन्द्रगुप्त समीक्षा के योग्य नहीं हुआ। यदि इस वैमनस्य को वैमनस्य कह कर वे स्वीकार करते, जैसा कि कुछ विद्वान पाठक स्वीकार ही करेंगे, तो पुस्तक को अधिक यथार्थ पद प्राप्त होता। तथापि हम यह स्वीकार करते हैं कि चन्द्रगुप्त-समीक्षा प्रसादजी के सम्बन्ध में लिखे गए अधिकांश साहित्य से अधिक सुगठित और शक्तिशाली हुई है।

किन्तु समीक्षा का आधार बहुत अधिक भ्रामक है। मूल में ही अशुद्धि है। उसीसे सम्पूर्ण पिंड की उत्पत्ति हुई है। जब गुप्तजी ने 'सुधा' में क्रमशः प्रकाशित होने वाली आलोचना का प्रथम खंड हमारे देखने के लिए भेजने का कष्ट किया था तभी हमने संकेत रूप में दो-चार पक्तियाँ लिख कर भेजी थीं जिन्हें उन्होंने अपनी भूमिका में उद्धृत किया है—"मैं समझ रहा हूँ आपको डी० एल० राय बहुत अच्छे लगते होंगे क्योंकि वे आदि से अंत तक पात्रों को एकरस रखते हैं" .यद्यपि भूमिका में गुप्तजी हमारे इस आरोप को स्वीकार नहीं करते तथापि उनकी समीक्षा के मूल में ही वह विद्यमान है। समीक्षा की प्राथमिक पंक्तियों में ही वे लिखते हैं, "आधुनिक नाट्यकार जिस प्रकार मनुष्यचरित्र को अनावश्यक दृश्यावली से विलग करके देखने में आनन्द मानते हैं, मेरे लिए उसी प्रकार समस्त नाटक एक ही दृश्यपट पर खेला जा रहा है।" इस एक ही पक्ति में गुप्त जी ने अपनी सम्पूर्ण समीक्षा की दिशा दिखा दी है, हमने इसी पक्ति का सार समझकर गुप्त जी की उपर्युक्त पक्तियाँ लिखी थीं और अब नीचे उसी पर फिर लिखने की आवश्यकता है।

"आधुनिक नाट्यकार मनुष्य चरित्र को अनावश्यक दृश्यावली से विलग करके देखने में आनन्द मानते हैं।" ये कौन से आधुनिक नाट्यकार हैं और क्या वे नाट्यकार नाट्य-समीक्षक भी हैं? आश्चर्य

की बात है कि जब हम प्रचलित योरोपीय साहित्य में सबसे आधुनिक और प्रतिष्ठित नाट्य-समीक्षकों को एक स्वर से यह कहते सुन रहे हैं कि नाटक की समीक्षा अन्य ललित कलाओं की समीक्षा से बिलकुल भिन्न अभिनव के सम्पूर्ण साजबाज और वातावरण को ध्यान में रख कर करनी चाहिये तब श्रीयुत गुप्त इन 'मनुष्य चरित्र को अनावश्यक दृश्यावली से विलग करके देखने में आनन्द मानने वाले' नाट्यकारों की उद्भावना कर रहे हैं। नाटक सचमुच ललितकला नहीं है। हमारे भारतीय नाट्यशास्त्र में भी जिस विस्तार के साथ रसपद्धति पर विचार किया गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नाटक का प्रभाव उसकी सम्पूर्ण दृश्यावली के भीतर पात्रों की रूपरेखा, अंग-संचालन से लेकर सीन-सीनरी के समुचित चमत्कार तक के द्वारा पड़ता है। आधुनिक नाट्य समीक्षक तो यहाँ तक कहने लगे हैं कि नाटक की समीक्षा करते हुए दर्शकों के कार्य-शिथिल बुद्धि-शिथिल भाव का भी विचार रखना चाहिए। ये जो नाटकों के विजयी प्रतिद्वंदी सिनेमा के चलचित्र आविर्भूत हो गए हैं इनके कारण एक बड़े अंश में दर्शकों की रूपलालसा ही है। परन्तु कृष्णानन्द जी ने जिस काल्पनिक प्रक्रिया से 'चन्द्रगुप्त' का अभिनय देखा है वह नाटकीय-समीक्षा के साथ न्याय करने की दृष्टि के बहुत अधिक अवास्तविक हो गया है।

"मेरे लिए समस्त नाटक एक ही दृश्यपट पर खेला जा रहा है" —यह तो प्राचीन अविकसित ग्रीक अभिनयों और भारतीय रास-मण्डलियों को आधुनिक शोभाशाली नाट्यग्रहों पर कब्जा करने देने का उपक्रम हुआ। आधुनिक नाट्य समीक्षा की यह शैली तो नहीं हुई। परंतु श्री गुप्त इस शैली को लेकर चले हैं। इस शैली का अर्थ ही यह होता है कि आप नाट्य समीक्षा के साथ अन्याय करेंगे। आप एक एक पात्र की बात को इतना अधिक तूल क्यों न दें, जब कि वे बातें ही एकमात्र आपके सामने हैं। इसी तूल देने के कारण तो समीक्षा उस रूप में ढल गई है जिस रूप में ढलने के कारण 'पात्रों

को एक रस' देखने की शिकायत की गई थी। 'एक रस' देखने के लिए श्री गुप्त अपनी समीक्षा शैली के कारण वाध्य हो गए हैं, अनिच्छापूर्वक ही सही। इसके साथ ही अज्ञात रूप में उनकी भावुकता भी अपना करामात दिखाती, पात्रों को और अधिक जकड़ कर (Stereotyped) मूर्तिवत् वना देना चाहती है। नाटककार स्पष्ट रीति से यह वार्त्ता स्वयम् नन्द के मुख से कहा रहा है कि एक दिन के लिए राजधानी के नागरिकों के साथ वह समारोह में सम्मिलित हो रहा है। अन्यत्र उसने यह सकेत भी कराया है कि नन्द वड़ा ही कठोर प्रकृति का शासक है। परन्तु इन दोनों कथनों का गुप्त जी ने अपने मस्तिष्क में सग्रह किए विना ही नन्द की विलास-चेष्टाओं का एक दृश्य देख कर मानो उन चेष्टाओं को ही मूर्तिमान् नन्द समझ लिया। आगे का उद्‌गार इसका साक्षी है—

'विलासिता का वह नग्न रूप जिस दिन प्रजा देख लेती है, उस दिन छत्रधारी नरेशों के राजमुकुट अपने आप ही स्खलित होकर धूलि में लोटने लगते हैं। उसके लिए फिर चाणक्य और उसकी भीमशक्ति की जरूरत नहीं रहती।'

यह कोरी भावुकता समीक्षा में नाटककार के हल्के चित्राकण की प्रशसा करने में असमर्थ और चित्र में मोटी-मोटी गहरी रेखाएँ देखने का आग्रह करती है। हिन्दी में यह भावुकता अपनी अति-शयता में व्याप्त है—यह भिन्न भिन्न रचनाकारों के प्रकृति-भेद के साथ कभी न्याय नहीं कर सकती। इस भावुकता के बहुत से उदाहरण गुप्त जी की समीक्षा में देखने को मिलते हैं। आरम्भ का ही एक नमूना :—नन्द—(चाणक्य से) "ब्राह्मण तुम बोलना नहीं जानते हो तो चुप रहना सीखो।"

चाणक्य—"महाराज उसे सीखने के लिए मैं तक्षशिला गया था इसलिए मेरा हृदय यह नहीं मान सकता कि मैं मूर्ख हूँ।"

इसमें स्पष्ट ही चाणक्य के उत्तर में नन्द के प्रति एक मीठी

चुटकी है कि 'तुम्हारे राज्य में इस बात की शिक्षा नहीं है, जानकारी नहीं है कि किस अवसर पर चुप रहना चाहिए। मुझे उसे सीखने के लिए तक्षशिला जाना पड़ा। अतः मैं मूर्ख नहीं हूँ...'

राजसभा की शिष्टता की रक्षा करते हुए यही सब से श्लाघनीय उत्तर चाणक्य दे सकता था। किन्तु गुप्तजी लिखते हैं 'राजसभा में उसकी (चाणक्य की) यह दुर्बलता हो सकती है किन्तु श्लाघनीय नहीं।' इसी तरह के अनेक हल्के स्वाभाविक चित्रण श्री गुप्त की आस्वाद सीमा के बाहर हैं। और प्रसाद जी की नाटकीय कला में ऐसे ही चित्रणों का बाहुल्य है। फिर मेल कैसे मिले?

प्रसाद जी की नाट्यकला जहाँ एक ओर डी० एल० राय की सी भावप्रधान और एकरस नहीं है, मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक आधार लिए हुए है, वहाँ दूसरी ओर वह 'इब्सन' की अनुयायिनी भी नहीं है। कृष्णानन्दजी की समीक्षा का दूसरा मुख्य आधार है 'इब्सोनियन रंगमञ्च, इब्सोनियन अभिव्यक्ति शैली और इब्सोनियन बुद्धिवाद।' इन मापदण्डों को लेकर वे प्रसादजी को नापने चले हैं। यह स्पष्टतः एक अनौचित्य ही नहीं, सरासर अन्याय भी है। प्रसाद जी की परीक्षा उनकी अपनी अभिव्यक्ति शैली, नाटकीय विन्यास और कला के आधार पर ही की जा सकती है। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी न तो इब्सन की यथार्थवादी अभिव्यक्ति और न उनके बुद्धिवाद को ही ग्रहण करने को तैयार थी। इस सम्बन्ध में स्वयं प्रसादजी के विचारों को उद्धृत करना अधिक अच्छा होगा। इब्सन के पदचारी नवीनता के खोजी हिन्दी नाट्य-समीक्षकों के लिए वे कहते हैं—

"युग के पीछे हम चलने के स्वाग भरते हैं, हिन्दी में नाटकों का यथार्थवाद अभिनीत देखना चाहते हैं और यह नहीं देखते कि पश्चिम में अब भी प्राचीन नाटकों का फिर से सवाक् चित्र बनाने के लिए प्रयत्न होता रहता है। ऐतिहासिक नाटकों के सवाक् चित्र बनाने के

लिए, उन ऐतिहासिक व्यक्तियों की स्वरूपता के लिए, बना मेक-अप का मसाला एक-एक पात्र पर लग जाता है। युग की मिथ्या धारणा से अभिभूत नवीनतम की खोज में इब्सनिज्म का भूत वास्तविकता का भ्रम दिखाता है। समय का दीर्घ अतिक्रमण करके जैसा पश्चिम ने नाट्यशाला में अपनी सब वस्तुओं को स्थान दिया है, वैसा क्रमविकास कैसे किया जा सकता है, यदि हम पश्चिम के 'आज' को ही सब जगह खोजते रहेंगे। और यह भी विचारणीय है कि क्या हम लोगों के सोचने का निरीक्षण का दृष्टिकोण सत्य और वास्तविक है। अनुकरण में फैशन की तरह बदलते रहना साहित्य में ठोस अपनी वस्तु का निर्यंत्रण नहीं करता। वर्तमान और प्रतिक्षण का वर्तमान सदैव दूषित रहता है, भविष्य के सुन्दर निर्माण के लिए। कलाओं का अकेले प्रतिनिधित्व करने वाले नाटक के लिए तो ऐसी जल्दबाजी बहुत ही अवाञ्छनीय है। यह रस की भावना से अस्पृष्ट व्यक्तिवैचित्र्य की यथार्थवादिता ही का आकर्षण है जो नाटक के संबध में विचार करने वालों को उद्विग्न कर रहा है। विश्व प्रगतिशील है किन्तु अधिक उछलने में पदस्खलन का भी भय है। साहित्य में युग की प्रेरणा भी आदरणीय है पर इतना ही अलं नहीं। जब हम यह समझ लेते हैं कि कला को प्रगतिशील बनाए रखने के लिए हमको वर्तमान सभ्यता का—जो सर्वोत्तम है—अनुकरण करना चाहिए, तो हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है। इसलिए साहित्य में हमको एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए। . पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़ कर नए को नहीं पाया है।"

इस लम्बे उद्धरण से सर्वांशतः हम चाहे सहमत न हों किन्तु इसमें बहुत सी सारगर्भित बातें हैं जिनकी ओर नवीन नाट्य समीक्षक बिना ध्यान दिये नहीं रह सकते। इब्सन के अतिरिक्त भी नाटक और नाट्यकला है, भिन्न नाटकीय टेकनीक और अभिव्यक्तियाँ हैं,

उनकी अपनी विशेषताएँ हैं। उनका अध्ययन उन्हीं के अनुकूल होना चाहिए, इतना भी विचार कृष्णानन्दजी ने अपनी समीक्षा में नहीं रक्खा।

समीक्षा में एक और विक्षेप इस कारण उपस्थित हुआ है कि श्री कृष्णानन्द इतिहास की पुस्तक लेकर नाटक देखने बैठे हैं। ऐसा कोई नहीं करता। फिर उनकी यह धारणा भी प्रकट हो रही है कि इतिहास के वर्णन से नाटक का चित्रण अधिक प्रभावशाली होना ही चाहिए। पर इसका क्या अर्थ है? इतिहास का रगमच विस्तृत, उसके पाठक की कल्पना भी उतनी ही विस्तृत, सदैव उसके साथ रहती है। नाटक की छोटी रगशाला से उसका क्या मुकाबला? नाट्य रचना में कथानक, अभिव्यक्ति, चरित्रविकास और जीवन व्यापार के बाहुल्य, उत्कर्ष, अथवा भेदोपभेदों के प्रदर्शन में बहुत से अनिवार्य प्रतिबन्ध लगे रहते हैं जो नाटकीय कला और अभिनय से सबंधित हैं। इतिहास या आख्यानक साहित्य उन सब से बरी रहता है। किन्तु श्री कृष्णानन्द चूँकि नाटक देखते हुए अपनी इतिहास की पुस्तक पढ़ते जा रहे हैं इसलिए उनकी कल्पना वैसी ही होती चली गई है और नाटक की रगशाला के उपयुक्त वह स्वभावतः बन नहीं सकी है।

श्री कृष्णानन्द जैसे नाट्य-समीक्षक को दृष्टि में रखकर ही प्रसाद जी ने लिखा है—

"हिन्दी में कुछ अकालपक्व आलोचक जिनका पारसी स्टेज से पिंड नहीं छूटा है, सोचते हैं स्टेज में यथार्थवाद। अभी वे इतने भी सहनशील नहीं कि फूहड़ परिहास के बदले—जिससे वह दर्शकों को उलझा लेता है, तीन चार मिनट के लिए काला पर्दा खींचकर दृश्यातर बना लेने का अवसर रंगमच को दें। हिंदी का कोई अपना रङ्गमञ्च नहीं है। जब उसके पनपने का अवसर था तभी सस्ती भावुकता लेकर वर्तमान सिनेमा में बोलने वाले थियेटरों का अभ्युदय हो

गया और फलतः अभिनयों का रङ्गमञ्च नहीं-सा हो गया है। साहित्यिक सुरुचि पर सिनेमा ने ऐसा धावा बोल दिया है कि कुरुचि को नेतृत्व करने का सम्पूर्ण अवसर मिल गया है। उन पर भी पारसी स्टेज की गहरी छाप है। . . रङ्गमञ्च की तो अकाल मृत्यु हिंदी में दिखाई पड़ रही है। कुछ मण्डलियाँ कभी कभी साल में एकाध बार वार्षिकोत्सव मनाने के अवसर पर कोई अभिनय कर लेती हैं, पुकार होती है आलोचकों की, हिन्दी में नाटकों के अभाव की। रंगमच नहीं है ऐसा समझने का कोई साहस नहीं करता। क्योंकि दोषदर्शन सहज है। उसके लिए वैसा प्रयत्न करना कठिन है जैसा 'कीन' ने किया था।'

इन उद्धृत वाक्यों से स्पष्ट है कि प्रसादजी नाट्यकला सम्बन्धी स्वतन्त्र आधार लेकर चले हैं और उसकी परीक्षा के लिए अनुकूल रंगमच का होना भी आवश्यक है। बिना ऐसी परीक्षा का अवसर दिये, यह कहना कि प्रसादजी की भाषा जटिल है, नाटक नाट्योपयोगी नहीं, प्राथमिक उत्तरदायित्व से मुँह मोड़ना है। प्रसादजी के ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और रोमैण्टिक नाटकों की अपनी सुस्पष्ट विशेषताएँ हैं जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। उनकी स्वतत्र नाट्यकला का अध्ययन न कर राय या इब्सन की विशेषताओं को उनमें ढूँढ़ना नादानी होगी। प्रसादजी के नाटकों की सर्वाङ्ग समीक्षा बिना हिन्दी के स्वतन्त्र रंगमच की स्थापना नहीं हो सकेगी। उसका नाट्य-चमत्कार तो हम तभी देख सकेंगे। उद्योग उसी के लिए होना चाहिए।

आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी ने यह लेख १९३२ में लिखा था। इस लेख में आपने 'प्रसाद' के नाटकों से सबधित कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर सम्यक् प्रकाश डाला है। आपने श्री कृष्णानन्द गुप्त द्वारा उठाए गए अनेक प्रश्नों का उत्तर दिया है। बाजपेयी जी ने प्रसाद नाटकों के सबध में जो कुछ लिखा वह आज इस चौथाई सदी के बाद

अधिक स्पष्ट और उजागर हो गया है। यह भी आशा है कि श्रीकृष्णा नन्द गुप्त के विचार भी अब अवश्य मूलतः बदल गए होंगे। कृष्णा नन्द जी ने 'स्कन्द गुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' नामक प्रसाद जी के दो महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध नाटकों की कटु आलोचना की और जहाँ तक उनसे बन पड़ा उन्होंने उसे निम्न कोटि का साहित्य और समरस पात्रों का जमघटा प्रमाणित करने का प्रयास किया। परतु 'स्कन्द गुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' नाटकों के सबंध में लोगों की दृष्टि बदल गयी है।

डा० नगेन्द्र ने 'प्रसाद' के नाटकों के आम दोष गिनाते हुए दो बातों पर विशेष बल दिया है। उनकी दृष्टि में 'प्रसाद' के नाटको में पहला दोष यह है कि वे रंगमच पर सफलता पूर्वक अभिनीत नहीं किए जा सकते। उनमें युद्ध, अभियान आदि ऐसे कठिन दृश्य हैं, जिनका अभिनय संभव नहीं। भाषा की कठिनता का भी आरोप 'प्रसाद' के नाटकों पर लगाया जाता है। डा० नगेन्द्र के अनुसार 'प्रसाद' के इन नाटकों में दूसरा दोष है एकता का अभाव।

इस पहले तथाकथित दोष को ले लें। 'प्रसाद' के समय में रंगमंच का विकास बहुत कम हुआ था। पारसी थियेटरों का युग प्रायः समाप्त हुआ था और साहित्यिक समाज ने उस रगमच के प्रति अपने मन में स्वाभाविक वितृष्णा रखने के कारण उसे स्वीकार नहीं किया। फलतः हिन्दी के अविकसित अथवा अर्द्ध विकसित रगमञ्च पर प्रसाद के नाटकों का साधारणतया खेलना सभव नहीं था। परतु अब सारे ससार में रंगमच का विकास अत्यधिक हो गया है। रूस और अमेरिका के रंगमंच तो इतने विकसित हो गए हैं कि उन पर हवाई जहाज उतारे जा सकते हैं, रेलगाड़ी चलाई जा सकती है, घोड़े दौड़ाए जा सकते हैं और फौजों को मार्च करते दिखाया जा सकता है। सोवियत रूस का 'वोलोशोई' थियेटर इन्हीं सुविधाओं के कारण ससार भर में प्रसिद्ध है। हमारे देश में भी रगमच का विकास तेजी के साथ

हो रहा है और हमारा अनुमान है कि निकट भविष्य मे ही हम ऐसे रगमच का निर्माण कर सकेंगे, जिन पर युद्ध, अभियान आदि का दिखाना सहज और सरल हो सकेगा।

जहाँ तक 'प्रसाद' के नाटकों की भाषा में कठिनता और दुरूहता का प्रश्न है, इस सबध में भी हमें विचार कर लेना चाहिए। 'प्रसाद' की भाषा में निश्चित रूप से तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है और कुछ लोगों के लिए उन शब्दों को समझने में कहीं-कहीं कठिनाई हो सकती है। परन्तु 'प्रसाद' की भाषा में लालित्य, माधुर्य, सौष्ठव और प्रसाद गुण इतना अधिक है कि प्रत्येक शब्द का अर्थ न समझते हुए भी भावों को अत्यन्त सरलता पूर्वक हृदयगम किया जा सकता है। उदहारणार्थ—

हिमाद्रि तुंग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती।

इसमें 'से' और 'पुकारती' शब्द को छोड़ कर सारे शब्द कठिन कहे जा सकते हैं। परन्तु यदि रगमच पर फौज इन शब्दों का उच्चारण करती हुई मार्च करती चले, तो निश्चित रूप से इन शब्दों को समझने में दर्शक को कठिनाई नहीं हो सकती। अभी कुछ दिन पहले मास्को के एक रंगमच पर शूद्रक कृत मृच्छकटिक का अत्यन्त सफल अभिनय हुआ था। रूसी कलाकारों ने दो वर्ष में कठिन परिश्रम के बाद इस नाटक का अभिनय किया था। मच पर प्रत्येक दृष्टि से भारतीय वातावरण उपस्थित किया था। यद्यपि नाटक रूसी भाषा में लिखा गया था, परन्तु भारतीय दर्शकों ने इस नाटक के अभिनय का पूरा आनन्द प्राप्त किया था। फिनलैंड, चेकोस्लोवाकिया और रूस में कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनेकों बार प्रदर्शन हो चुका है और दर्शकों ने नाटक के अभिनय की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यदि विदेशों में भाषा का व्यवधान मूल नाटक के रस से प्रेक्षकों को वञ्चित नहीं कर सकता, तो भारत वर्ष में हिन्दू समाज की

ओर से प्रसाद की भाषा में कठिनता ढूंढ कर उन्हें अभिनय के सर्वथा अयोग्य कहना कहाँ तक समीचीन और उचित है ? 'प्रसाद' की भाषा के सम्बन्ध में यह भी आरोप है कि वह अपरिवर्तनशील और गभीर है और उसमें अभिनवोचित चाचल्य-नहीं है। यह दोष 'प्रसाद' जी के नाटकों में निश्चित रूप से है। यह सही है कि उन्होंने समुचित वाता-वरण निर्मित करने के लिए कथावस्तु के ऐतिहासिक काल के अनुरूप अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। महावलाधिकृत, महास्थविर आदि शब्द ऐसे ही हैं। इन शब्दों की उपयोगिता में किसे सन्देह हो सकता है ? विभिन्न पात्रों के स्वभाव और सामाजिक स्थिति के अनु-कूल शब्दों और वाक्यों में अवश्य कुछ न कुछ भिन्नता होनी चाहिए थी। यह कमी अवश्य खटकती है। तेजी, चुस्ती चंचलता इन शब्दों की विशेषता नहीं है परन्तु इन नाटकों को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करते समय कुछ ऐसे संशोधन और कुछ ऐसी काँट छांट की जा सकती है। यह कमी कम खटकती है। इस सम्बन्ध में प्रसाद जी के ये वाक्य विचारोत्तेजक हैं—"हिन्दी का कोई अपना रंगमच नहीं है। जब उसके पनपने का अवसर था तभी सस्ती भावुकता लेकर वर्तमान सिनेमा में बोलने वाले थियेटरों का अभिनव हो गया और फलतः अभिनयों का रंगमंच नहीं सा हो गया है। साहित्यिक सुरुचि पर सिनेमा ने ऐसा धावा बोल दिया है कि कुरुचि को नेतृत्व करने का सम्पूर्ण अवसर मिल गया है··· · रंगमंच की तो अकाल मृत्यु हिन्दी में दिखाई पड़ रही है।" इन शब्दों में 'प्रसाद' जी ने उन कई आरोपों का मुँह तोड़ उत्तर दे दिया है जिनका सहारा लेकर उनके नाटकों को रंगमंच के लिए सर्वथा अनुपयुक्त कहने की प्रथा सी चल पड़ी थी।

डा० नगेन्द्र ने एकता के अभाव की शिकायत की है। आपका कहना है "उसके लिए शायद उत्तरदायी है 'प्रसाद' के मन में चलता हुआ सुख-दुख का संघर्ष, जिसके समाधान का प्रयत्न

अब तक करते रहे थे। 'राज्यश्री' या 'ध्रुवस्वामिनी' में वस्तु-विस्तार कम होने से यह दोष नहीं आया। 'ध्रुवस्वामिनी' का सार भूत प्रभाव तो पूर्णतः एक सार है। परन्तु 'स्कन्द गुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' जैसे बड़े नाटकों में घटना बाहुल्य में फंसकर नाटक की यूनिटी अस्तव्यस्त हो गई है।" इस 'यूनिटी' के ऊपर अनेक बातें कही जा सकती हैं। हो सकता है कि 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्र गुप्त' जैसे बड़े नाटकों में घटनाओं की शिथिलता के दोष कहीं कहीं आ गए हों या कहीं अनावश्यक रूप से कथावस्तु का अक्षम्य विस्तार हो गया हो परन्तु इस दोष को सरलतापूर्वक दूर किया जा सकता है। सभी अनुभवी नाटककार, कलाकार और रंगमंच व्यवस्थापक जानते हैं कि नाटकों को रंगमंच पर प्रस्तुत करते समय इस प्रकार की काँट छाँट करनी ही पड़ती है। शेक्सपीयर और शा के नाटकों में भी कभी कभी इस प्रकार की आजादी लेनी पड़ती है। ऐसे साधारण दोषों को आवश्यकता से अधिक महत्व देना या केवल इनके कारण उन नाटकों को रंगमंच के अनुपयुक्त कहना 'प्रसाद' की नाट्यकला के साथ अन्याय ही नहीं अपराध करना होगा। डाक्टर नगेन्द्र ने तथाकथित 'एकता' की कमी के लिए जो कारण बताया है वह है "प्रसाद के मन में चलता हुआ सुख दुख का संघर्ष, जिसके समाधान का प्रश्न वे अन्त तक करते रहे।" डा० नगेन्द्र ने यह स्वीरकार किया है कि 'राज्यश्री' या 'ध्रुवस्वामिनी' में वस्तु का विस्तार कम होने से यह दोष नहीं आया।" यह दोष किसी न किसी मात्रा में 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्द-गुप्त' में अवश्य है, इसे हम स्वीकार करते हैं। परन्तु इसका कारण सुख-दुख का संघर्ष और उसके समाधान का प्रयत्न नहीं है, बल्कि ऐसे रंगमच की अनुपस्थित है जिसके सम्बन्ध में 'प्रसाद' जी ने भी करुण शब्दों में चर्चा किया है। श्री वाजपेयी ने अपने लेख के अन्त में 'प्रसाद' के नाटकों के रंगमंच पर प्रस्तुत किये जाने से सम्बन्धित

कठिनाइयों का उत्तर देते हुए कहा है कि "प्रसाद जी नाट्यकला सम्बन्धी स्वतंत्र आधार लेकर चले हैं और उसकी परीक्षा के लिए अनुकूल रंगमंच का होना भी आवश्यक है। बिना ऐसी परीक्षा का अवसर दिए, यह कहना कि प्रसाद जी की भाषा जटिल है, नाटक नाट्योपयोगी नहीं, प्राथमिक उत्तरदायित्व से मुँह मोड़ना है। प्रसाद जी के ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और रोमैंटिक नाटकों की अपनी सुस्पष्ट विशेषताएँ हैं जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। उनकी स्वतंत्र नाट्यकला का अध्ययन न कर राय या इब्सन की विशेषताओं को उनमें ढूँढ़ना नादानी होगी। प्रसाद जी के नाटकों की सर्वाङ्ग समीक्षा बिना हिन्दी के स्वतंत्र रंगमंच की स्थापना नहीं हो सकेगी। उसका नाट्य 'चमत्कार तो हम तभी देख सकेंगे। उद्योग उसी के लिए होना चाहिए।"

डा० नन्ददुलारे वाजपेयी भी यह स्वीकार करते हैं कि उनकी कला का 'चमत्कार तो हम तभी देख सकेंगे' जब उसके लिए अनुकूल रङ्गमञ्च होगा। वह दिन कब आएगा? हिन्दी में ऐसे रंगमञ्च का निर्माण कब होगा जिस पर हिन्दी के उत्तमोत्तम नाटक सफलतापूर्वक अभिनीत किए जा सकेंगे? हमें इस प्रश्न का उत्तर देना ही होगा।

अन्त में 'प्रसाद' के नाटकों की विशेषता के सम्बन्ध में एक निवेदन और करना रह जाता है। जैसा कि डा० नगेन्द्र ने बार बार कहा है 'प्रसाद' जी कवि हृदय, कल्पनाशील और अत्यन्त कोमल प्रवृत्तियों के लेखक थे; इसलिए उन्हें विगत इतिहास के पृष्ठों को उलट कर उनमें से आवश्यक और उपयोगी तत्त्वों को बटोरकर ऐसे ऐतिहासिक नाटक लिखने में सुगमता हुई जो हमारी वर्तमान समस्याओं को सुलझाने में सहायता प्रदान कर सके। डाक्टर नगेन्द्र और डा० नन्ददुलारे वाजपेयी ही नहीं प्रायः सभी समर्थ आलोचकों ने 'प्रसाद' के नाटकों की इस विशेषता को स्वीकार किया है। स्वयं

प्रसाद का कथन है "अतीत और वर्तमान देखकर भविष्य का निर्माण होता है इसलिए साहित्य में हमको एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए ... पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़कर नए को नहीं पाया है।" इसी प्रकार 'प्रसाद' जी ने राज समाज की उस उच्छृङ्खलता की भर्त्सना करते हुये एक उद्‌गार प्रकट किया है "विलासिता का वह नग्न रूप जिस दिन प्रजा देख लेती है, उस दिन छत्रधारी नरेशों के गज-मुकुट अपने आप ही स्खलित होकर धूलि में लोटने लगते हैं उसके लिए फिर चाणक्य और उसकी भीमशक्ति की जरूरत नहीं रहती।" प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटकों में इस प्रकार की भावना सर्वत्र पाई जाती है। हम सम सामयिक समस्याओं की झलक 'प्रसाद' के प्रायः सभी नाटकों में देख सकते हैं। 'प्रसाद' के समकालीन और उनके बाद भी प्रायः जितने नाटककार हुए हैं उन सबका ध्यान देश की जलती हुई समस्याओं ने अपनी ओर आकृष्ट किया और अपने अपने नाटकों में किसी न किसी रूप में उनका हल ढूँढने की कोशिश की। 'प्रसाद' के अतिरिक्त अन्य कई नाटककारों ने ऐतिहासिक नाटक लिखे। दूसरे लोगों ने सामाजिक नाटक लिखे। अनुवादों का भी क्रम चलता रहा परन्तु उपयुक्त रङ्गमञ्च की अनुपस्थिति के कारण इस दृष्टि से उन नाटकों की परीक्षा नहीं हो सकी कि वे सफल अभिनय के योग्य हैं अथवा नहीं। आज भी यह समस्या प्रायः ज्यों की त्यों बनी हुई है। उपयुक्त रङ्गमञ्च के निर्माण की ओर अब लोगों का ध्यान जाने लगा है और यह आशा बँधने लगी है कि धीरे-धीरे हिन्दी नाटकों के निर्माण में इस दृष्टिकोण को मान्यता मिल जायगी कि सत्यमेव हम उसी रचना को नाटक कह सकते हैं जिसकी रङ्गमञ्च पर सफलतापूर्वक प्रस्तुत किए जाने की सम्भावना हो। जब ऐसा होगा तभी नाट्य साहित्य और रंगमंच के बीच की तथा नाटककारों और कलाकारों—अभिनेताओं के बीच की दूरी समाप्त हो सकेगी।

समकालीन नाटक साहित्य

प्रसाद जी जिस समय अपने नाटकों की रचना कर रहे थे, हमारा सामाजिक जीवन एक उथल पुथल से होकर गुज़र रहा था। अनेक पुरानी मान्यताएँ मिट रही थीं और नयी मान्यताएँ बन रही थीं। विभिन्न रूपों में स्वतन्त्रता का जो आन्दोलन चल रहा था, वह साथ ही हमारे सामाजिक और सास्कृतिक पूर्वग्रहों को झकझोड़ भी रहा था। आस्थाएँ डांवाडोल हो रही थीं। विश्वास डिग रहे थे और जीवन के मूल्य तेजी के साथ बदल रहे थे।

इस समय श्री दुर्गादत्त पाडे ने 'रास नाटक' (१९२४) और कुन्दनलाल शाह ने 'रामलीला नाटक' (१९२७) में लिखे। ये नाटक मुख्यतः रामलीलाओं के अवसर पर खेलने के लिए लिखे गए। इसी समय कानपुर के पं० ललिता प्रसाद त्रिवेदी ने 'सुमति-मन-रंजन' नाटक की रचना की। वियोगी हरि ने 'छद्म योगिनी' नाटक की रचना १९२३ में की। जयपुर के मथुरा दास ने 'रुक्मिणी परिणय' नाटक १९१७ में लिखा। इस समय पौराणिक आख्यानों का सहारा लेकर निम्नांकित नाटक लिखे गए —

मैथिलीशरण गुप्त कृत 'तिलोत्तमा' (१९१६) और 'चन्द्र हास' (१९१६) तथा 'अवध' (१९२५), विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' कृत 'भीष्म' (१९१८), शिवनदन मिश्र कृत 'उषा' (१९४८), द्वारिका प्रसाद गुप्त कृत 'अज्ञातवास' (१९२१), बद्रीनाथ भट्ट कृत 'वेन चरित्र' (१९२१), मिश्रबन्धु कृत 'पूर्व भारत' (१९२२), हरद्वार प्रसाद जालान कृत 'क्रूर वेन' (१९२४), बलदेव प्रसाद मिश्र कृत 'असत्य-सकल्प' (१९२५) और 'वासना वैभव' (१९२५), गोविन्द वल्लभ पत्त कृत 'वरमाला' (१९२५), जगन्नाथ शरण कृत 'कुरुक्षेत्र' (१९२८), गोपाल दामोदर तामस्कर कृत 'दलीप' (१९२९) एव कामता प्रसाद गुरु कृत 'सुदर्शन' (१९३१)।

इन नाटकों में पंडित बद्रीनाथ भट्ट, सुदर्शन और गोविन्द वल्लभ

पन्त के नाटक अधिक साहित्यिक और महत्वपूर्ण हैं। बद्रीनाथ के नाटक में 'वेन' के कठोर चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। सुदर्शन की 'अजना' प्राय: सभी दृष्टियों से सफल नाटक है। 'अजना' की कथा पौराणिक आख्यानों में बहुत प्रसिद्ध है। इस नाटक में भी अजना के विवाह और हनुमान के जन्म की कथा कही गई है। गोविन्द वल्लभ पन्त की 'वरमाला' भी एक बहु प्रशसित नाटक, है। इसमें विदिशा की राजकुमारी वैशालिनी के विवाह के इर्द गिर्द नाटक का कथानक घूमता है। वैशालिनी अन्त में अपनी सूखी वरमाला अनिक्षित के गले में डाल देती है। इस नाटक में रोमांस का पुट है। कथोपकथन तेज़ और चुस्त है। भावुकता की प्रधानता के कारण पत जी का यह नाटक प्रसाद के नाटकों के अधिक निकट पहुँचता है।

यह सही है कि प्रसाद के जैसे महत्वपूर्ण नाटक इस युग में नहीं लिखे गए। फिर भी ऐतिहासिक वीरों और महापुरुषों के चरित्र पर आधारित अनेक सफल नाटक रचे गए। इन नाटकों में से कुछ ये हैं—

सुदर्शन कृत 'दयानद' (१९१७), बलदेव प्रसाद मिश्र कृत मीरा बाई (१९१८) बेचन शर्मा उग्र कृत 'महात्मा ईसा' (१९२२), चन्द-राज भडारी कृत 'सिद्धार्थ कुमार' (१९२२) और 'सम्राट अशोक' (१९२३), प्रेमचन्द्र-कृत 'कर्बला' (१९२४) बद्रीनाथभट्ट कृत 'दुर्गावती' (१९२६), लक्ष्मीघर वाजपेयी कृत 'राजकुमार कुन्तल' (१९२८); जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द कृत 'प्रताप-प्रतिज्ञा' (१९२८), वियोगी हरि कृत 'प्रबुद्ध यामुन' (१९२९), कृष्णकुमार मुखोपाध्याय कृत 'तुलसीदास' (१९२९), उदयशकर भट्ट कृत 'चन्द्रगुप्त मौर्य' (१९३१) और 'विक्रमादित्य' (१९३३), गोविददास कृत 'हर्ष' (१९३५)।

इन चरित्र प्रधान नाटकों के लिखने की मूल प्रेरणा केवल यह थी कि इनके माध्यम से मानव समाज के उन महान नेताओं और मंत्र-द्रष्टाओं के विचार और जीवन चरित्र को जनता के सामने रखकर

उसे अधिकाधिक प्रबुद्ध और कर्मठ बनाया जाय; क्योंकि इन नाटककरों का विश्वास था कि जब तक जन समाज सत्यमेव, प्रबुद्ध, कर्मठ और परिश्रमशील नहीं होता, तब तक न स्वतत्रता ही प्राप्त हो सकती है और न राष्ट्र निर्माण का कार्य ही आगे बढ़ सकता है। जिन लोगों ने स्वराज्य आंदोलन में भाग लेने वाली जानता से निकट सम्पर्क स्थापित किया, उन्होंने शुद्ध राजनैतिक और राष्ट्रीय दृष्टिकोण से नाटकों की रचना की। काशीनाथ वर्मा ने 'समय' नाटक की रचना (१९१७) की, प्रेमचन्द्र का 'सग्राम' (१९२२) प्रकाशित हुआ, कन्हैया लाल का 'देश-दशा' नाटक (१९२३) और लक्ष्मण सिंह कृत 'गुलामी का नशा' नामक नाटक (१९२४) प्रकाश में आया।

प्रेमचन्द्र का 'सग्राम' नाटक विचार प्रधान है और उसमें किसानों की जीत, जमींदारी प्रथा के हटने और दरिद्रता के दूर होने का चित्रण किया गया है। इस प्रकार के अनेक राष्ट्रीय नाटक केवल रंगमंच के लिए ही लिखे गए थे।

समस्या प्रधान नाटकों में कहीं "कर्मयोग का वर्णन है, किसी में गुण्डों के हथकडो की कथा है, कुछ में अछूतोद्धार की समस्या है।" इसी प्रकार धार्मिक, साम्प्रदायिक, सामाजिक और पारिवारिक समस्याओं को लेकर भी अनेक समस्या नाटक लिखे गए। उनमें से कुछ नाटक ये हैं—

गोपाल दामोदर तामस्कर कृत 'राधा-माधव' (१९२२), जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी कृत 'मधुर मिलन' (१९२३), छविनाथ पांडे कृत 'समाज' (१९२९), आनदी प्रसादी श्रीवास्तव कृत 'अछूत' (१९३०), जय गोपाल कविराज कृत 'पश्चिमी प्रभाव' (१९३०), घनानंद बहुगुणा कृत 'समाज' (१९३०); लक्ष्मी नारायण मिश्र कृत 'सन्यासी' (१९३१), 'राक्षस का मंदिर' (१९३१) और 'मुक्ति का रहस्य' (१९३२), नरेन्द्र कृत 'नीच' (१९३१), आनन्द स्वरूप जी महाराज कृत 'ससार चक्र' (१९३२) तथा प्रेमचन्द कृत 'प्रेम की वेदी' (१९३३)।

इस युग मे दुर्गादत्त पाडे ने 'चन्द्राननी' (१९१७), व्रजनन्दन सहाय ने 'उषागिनी' (१९२५) और धनीराम ने 'प्राणेश्वरी' (१९३१) प्रेम-प्रधान नाटको की भी रचना की।

इस समय के प्रहसनो की सूची इस प्रकार है—

जी० पी० श्रीवास्तव कृत 'उलट फेर' (१९१८); 'दुमदार आदमी' (१९१९), 'गड़बड़ झाला' (१९१९), 'मरदानी औरत' (१९२०) और 'भूल चूक' (१९२०), राधेश्याम मिश्र कृत 'कौंसिल की मेम्बरी' (१९२०), हरशकर प्रसाद उपध्याय कृत 'भारत दर्शन' नाटक या कौंसिल के उम्मेदवार' (१९२१), हरद्वार प्रसाद जालान का 'धरकट सूम' (१९२२), गोविंद वल्लभ पत का 'कजूस की खोपड़ी' (१९२३), रामदास गौड़ कृत 'ईश्वरीय न्याय' (१९२४), बद्रीनाथ भट्ट कृत 'लबड़-धौंधौ' (१९२६), 'विवाह विज्ञापन' (१९२७) और 'मिस अमरीकन' (१९२९), वेचन शर्मा उग्र कृत 'चार वेचारे' (१९२९), ठाकुरदत्त शर्मा कृत 'भूल-चूक' और 'टाई दुम' (१९२९) और सुदर्शन कृत 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' (१९२९)।

नाट्य साहित्य में अनुवादों की परम्परा पुरानी है। इस युग में भी विभिन्न भाषाओं के प्रसिद्ध नाटककारों के नाटकों का अनुवाद हिंदी में हुआ। भवभूति के 'मालती माधव', कालिदास का 'मालविकाग्निमित्र', भास के 'स्वप्न वासवदत्ता','मध्यम व्यायोग', 'पचरात्र' और 'प्रतिमा' नाटक, दिगनाग का 'कुदमाला', हर्ष का 'नागानन्द' आदि सस्कृत नाटकों के अनुवाद इस युग में हुए। शेक्सपियर के 'आथेलो' का अनुवाद हुआ। टालस्टाय के तीन नाटकों के अनुवाद 'कलवार की करतूत' (१९२६),'अधेरे में उजाला' (१९२८) और 'जिंदा लाश' (१९२९) नाम से प्रकाशित हुए। मोलियर के अनेक नाटकों के आधार पर जी० पी० श्रीवास्तव ने अपने नाटकों की रचना की। डा० लक्ष्मण स्वरूप ने भी मूल फ्रांसीसी भाषा से इनके अनुवाद किए। गाल्सवर्दी के 'स्ट्राइक' और 'जस्टिस' का अनुवाद प्रेमचन्द ने

'हड़ताल' (१६३०) और 'न्याय' (१६३१) नाम से किया। ललिता प्रसाद सुकुल ने 'सिलवर बाक्स' का अनुवाद 'चांदी की डिबिया' नाम से (१६३१) में किया। इसी समय अन्य कई योरोपीय नाटकों के भी अनुवाद हुए। माइकेल मधुसूदन दत्त के नाटकों का अनुवाद तो भारतेन्दु युग में हो चुका था। अब गिरीश घोष, रवीन्द्रनाथ और द्विजेन्द्र लाल राय के नाटकों का भी अनुवाद हुआ। इनमें से द्विजेन्द्र लाल राय कृत 'राणा प्रताप', 'दुर्गादास', 'मेवाड़ पतन', 'शाहजहाँ', 'नूरजहाँ', 'सीता', 'भीष्म', 'पाषाणी', 'सिंहल विजय' और 'चन्द्रगुप्त' नाटकों का अनुवाद हुआ। साथ ही रवीन्द्रनाथ के नाटकों का अनुवाद 'डाकघर' (१६२०), 'विसर्जन' (१६२४) 'व्यंग कौतुक' (१६२४), 'मुक्त धारा' (१६२५), 'राजरानी' (१६२५) 'चिर कुमार सभा' (१६२८) और 'चित्रांगदा' (१६२८) के नाम से अनुदित हुए।

इस पूरे युग में नाटक साहित्य की समृद्धि हर दृष्टि से अत्यधिक बढ़ी। इन नाटकों में प्राचीन संस्कृति, देशप्रेम, साम्प्रदायिक एकता, नारी स्वातंत्र्य आदि महत्वपूर्ण समस्याओं को प्रकाश में लाया गया।

प्रसाद के बाद का युग

इस युग में देश भक्ति से प्रभावित होकर लिखे गए नाटक बड़े स्वस्थ और अमूल्य हैं। इनकी कथाएँ ऐतिहासिक हैं और इनमें पौराणिक युग से लेकर मध्ययुग तक की सामग्री ली गई है। इनका उद्देश्य भी एक प्रकार की नैतिकता की ही सृष्टि है जिसकी पृष्ठभूमि अतीत है।

पौराणिकता से संबंधित नाटकों में तीन नाटक रामधारा के हैं; यथा—सेठगोविन्द दास का 'कर्तव्य' (पूर्वार्ध), (१६३५), तथा चतुरसेन शास्त्री का 'सीताराम' (१६३६) और 'श्रीराम' (१६४०) तथा तीन कृष्णधारा के हैं, यथा—सेठ गोविन्द दास का 'कर्त्तव्य' (उत्तरार्ध), उदय शंकर भट्ट का 'राधा' (१६४१) और किशोरी दास बाजपेयी का

'सुदामा' (१६३६)। सेठ जी ने इन नाटकों में अपनी वैष्णवता आरोपित न करते हुए राम को मनुष्य रूप में देखा है। विवाद ग्रस्त घटनाओं के विषय में लेखक ने तर्कसंगतता का आधार लिया है। राम का शरीरान्त दिखाकर लेखक ने एक धार्मिक और पौराणिक विषय पर बुद्धि का रंग चढ़ाया है। 'कर्त्तव्य' के उत्तरार्द्ध में कृष्ण और राधा के संबंध में भी लेखक वही दृष्टिकोण रखता है। दोनों नायकों का अन्त दुःखद है। वाजपेयी जी के 'सुदामा' में सुदामा के चरित्र में ब्राह्मण के लोक-कल्याणकारी रूप को दिखाया गया है।

इस धारा के अन्य उल्लेखनीय नाटकों में उदयशंकर भट्ट का 'अंबा' (१६३५), 'सगर-विजय' (१६३७), 'मत्स्य गंधा' (१६३७) और 'विश्वामित्र' (१६३८), चतुरसेन शास्त्री का 'मेघनाद' (१६३६) तथा बेचन शर्मा 'उग्र' का 'गंगा का बेटा' (४०) और डा० लक्ष्मण स्वरूप का 'नलदमयन्ती' (१६४१) हैं। ये कथानक भी पौराणिक ही हैं किंतु पात्रों में राम और कृष्ण जैसा अवतार ग्रस्त इनमें कोई नहीं है।

ऐसे लेखकों में उदयशंकर भट्ट प्रधान हैं। प्रसाद जी ने हिन्दू काल को अपना विषय मनाया था, परन्तु भट्ट जी ने प्रागैतिहासिक काल से अपने नाटकों को संबंधित किया है। सन् १६३३ में लिखे गए अपने ऐतिहासिक नाटक दाहर अथवा सिंध-पतन द्वारा वह ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उस नाटक में सिंध के पतन पर वहाँ की राज-कुमारियों सूर्य देवी और परमाल देवी द्वारा खलीफा की मृत्यु करने के पश्चात् परस्पर खंजर भोककर हत्या करने की कथा है। 'दाहर' दुखान्त नाटक है। अपनी भूमिका में भट्ट जी ने वियोगान्त नाटक के प्रभाव के कारण उसे सुखान्त की अपेक्षा अच्छा माना है। उनका विचार है कि 'वियोग की अनुभूति मनुष्य को तन्मय बना देती है।'

'अम्बा' भी वियोगान्त नाटक है। काशिराज ने अपनी पुत्रियों के स्वयंवर में हस्तिनापुर के राजकुमार विचित्र वीर्य को

निमंत्रित नहीं किया। इस पर रानी सत्यवती ने भीष्म द्वारा तीनों कन्याओं का हरण करवा लिया। तीन पुत्रियों में से अंबिका और अंबालिका ने विचित्र वीर्य से विवाह कर लिया। अबा को राजा शाल्व के यहाँ भेज दिया गया, क्योंकि वह उन्हें संवरण कर चुकी थी। परतु राजा शाल्व ने अपहरित कुमारी को अपनाना स्वीकार नहीं किया। इस अपमान का वदला लेने के लिए अम्बा जो संघर्ष करती है, वही इस नाटक की कहानी है। इसमें भट्ट जी ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और व्यक्ति-समस्या का समावेश किया है। अंबा के माध्यम से उन्होंने वर्तमान नारी को चित्रित करने का प्रयास किया है। प्रथम अक में नाटक की सारी परिस्थिति का वातावरण उपस्थित कर दिया गया है, जो धीरे-धीरे अपने क्रमिक विकास द्वारा अंतिम परिणाम पर पहुँचता है। दूसरे अक का पाचवा दृश्य अंबा के हृदय को मानो कागज पर निकाल कर रखे दे रहा है। वही उसका केन्द्रित आत्म वल है तो तीसरे अक में शाल्व से अपमानित होने पर उसके मुख से निकलता है—

"...किन्तु जाती हुई एक वार, हां एक वार तुमसे कहे देती हूँ कि इसी मान अपमान की आग में, इसी क्षत्रियत्व की अविवेकिनी अग्नि शिखा में, इस पापी समाज का अनन्त काल के लिए नाश होगा। वीरता और विवेक की आँखों से देखने का झूठा आडम्बर रखने वाली क्षत्रिय जाति को सुदूर भविष्य में दास, निकृष्ट दास वनना होगा।..." परशुराम की सेवा से जब उसका मनोरथ सिद्ध नहीं होता, तो वह महादेव की शरण जाकर उनसे अगले जन्म में 'देवव्रत' के नाश का वरदान प्राप्त करती है, जिसे शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करने के लिए वह गगा में कूद कर प्राण दे देती है। अंतिम दृश्य में मृत्यु शय्या पर पड़े भीष्म इन सारे दृश्यों की स्मृति से व्याकुल हो उठते हैं। कृष्ण और पांडव महात्मा व्यास से इसका कारण पूछते हैं। व्यास उत्तर देते हैं —"काशिराज की कन्या अवा की प्रतिहिंसा का फल भीष्म को भुगतना पड़ रहा है......एक स्त्री के अनादर का फल

यह महाभारत हुआ और दूसरी स्त्री के अनादर का फल है भीष्म की मृत्यु।" भीष्म प्राण त्याग करते हैं और शिखण्डी के वेष में अंबा आकर पागल सी होकर रंगमंच में निकल जाती है।

'सगर-विजय' में अयोध्या के राजा बाहु की दो रानियाँ विशालाक्षी और बर्हि थीं। राजा बाहु का राज्य छिन जाता है और उनकी मृत्यु हो जाती है। विशालाक्षी और्व ऋषि के आश्रम में रहने लगती हैं। अपने स्वभाव के अनुसार दूसरी बर्हि विशालाक्षी सगर को मरवा डालने का प्रयास करती है, किन्तु वह बच जाता है। विशालाक्षी भी आत्महत्या का असफल प्रयास करती है। बड़ा होकर सागर राजा बनता है और रानी बर्हि आत्महत्या कर लेती है। इसी दुःख में विशालाक्षी की भी मृत्यु होती है। अंत में राजा सगर चक्रवर्ती राजा बनता है। 'सगर-विजय' की अपेक्षा 'अंबा' अधिक सफल नाटक है, क्योंकि इसमें अन्तर्द्वन्द दिखाने के कारण लेखक को 'स्वगत' बहुत अधिक आश्रय लेना पड़ा है जो कला की दृष्टि से उच्च कोटि की वस्तु नहीं। बर्हि का चरित्र सुन्दर, स्वाभाविक और विचित्र है।

'मत्स्यगन्धा' और 'विश्वामित्र' के कथानकों में तो साम्य है, किन्तु संघर्ष विभिन्न हैं। यौवन की आकांक्षा, समस्त संसार को अपने में समालने की उत्कट अभिलाषा का नर्तन 'मत्स्यगंधा' की प्रेरक भावना है। मत्स्यगन्धा और अनङ्ग का प्रेम होता है। मत्स्यगंधा को अपना धीवर पुत्रीत्व भूलता नहीं, किन्तु उसका यौवन रोके नहीं रुकता। वह अनंग से कातरता पूर्वक अपनी हीनता की बात कहती है और अनंग उसे चिर यौवन का वरदान देना चाहता है। दूसरे दृश्य में पाराशर मत्स्यगन्धा को नदी में नाव लेकर चलने के लिए कहते हैं। नाव में बैठे पाराशर का मन मचल जाता है और वे मत्स्यगन्धा से रति का प्रस्ताव करते हैं। वह जब समाज और नीति की बाधा प्रस्तुत करती है, तो पाराशर का कामार्त मन धर्म

की अनन्त रूपता एवं नीति की परिवर्तन शीलता की व्याख्या करने लगता है। ....जब पाराशर प्रकृति की स्वच्छदता का विवेचन बडे प्रभावशाली शब्दों में करते हैं तो समाज और मर्यादा के बन्धनों को तोड़ता हुआ मत्स्यगन्धा का यौवन उमड उठता है और वह पाराशर से अनन्त यौवन का वरदान माँग लेती है।... बस पराशार के एवमस्तु कहते ही वह भी उनके प्रस्ताव पर एवमस्तु कह देती है। यह दृश्य नाट्य की दृष्टि से बड़ा प्रबल है। मन की हलचल बढते बढते एक साथ स्तब्ध हो जाती है—बस मानो उसीके फलस्वरूप एक दम अंधकार छा जाता है और उस अधेरे मे आवाज आती है—

(एक आवाज)—नाथ यह कन्यकात्व !
(दूसरी आवाज)—वह भी कलक हीन...
(पहली आवाज)—नाथ वह इष्ट मुझे !
(दूसरी आवाज)—एवमस्तु एवमस्तु !
(पहली आवाज)—एवमस्तु प्रियतम !

आदि आदि। ये सब आवाजें मत्स्यगधा के आलोकित हृदय के ही विरोधी चीत्कार हैं। यहां दृश्य की सघनता एक दम चरम सीमा पर पहुँच जाती है। चौथे दृश्य में निगति है। मत्स्यगन्धा अपने नवीन परिवर्तन पर विषाद सकुल दृष्टि डाल रही है। अन्त में पतन है ही...... अनन्त यौवना मत्स्यगधा विधवा सत्यवती के रूप में प्रसाद पर खड़ी हुई है।........इतने ही में उसकी जलन पर नमक छिड़कने के लिए अनग का दर्शन होता है। वह उससे मनुहार करती है—

ले लो, ले लिया जो ले लो, अविलम्ब हे अनंग !
दण्ड लघु कार्य का अमेय है, महान है।

परन्तु अनग केवल यही कहकर चल देता है—

पियो कण्ठ तक पियो, ओंठ तक डाल डाल,

यौवन महान् है, अलभ्य है जगत में।

इस प्रकार यह गीत-नाट्य यौवन की दुर्गम लालसा का प्रकृति एवं समाज के बन्धनों से संघर्ष दिखाता हुआ अन्त में उसकी पराजय का दिग्दर्शन कराता है।

'विश्वामित्र' नर नारी के अनवरत भाव संघर्ष की कथा है। विश्वाधिकार की इच्छा से परम अहंकारी विश्वामित्र समाधि लेते हैं। उर्वशी और मेनका वहाँ आती हैं। उर्वशी विश्वामित्र को पराजित करने के लिए मेनका को प्रेरित करती है। मेनका पुरुष की शक्ति और दौर्बल्य दोनों ही जानती है। उसकी इच्छा से वसन्तागमन होता है और समस्त प्रकृति अपने यौवन मद में झूमने लगती है। ऐसी ऋतु में मेनका जैसी नारी के भृकुटि-कटाक्ष से विश्वामित्र को समाधि टूट जाती है और वे मेनका को विमुग्ध दृष्टि से देखने लगते हैं। मेनका विश्वामित्र की मनुहारों की उपेक्षा कर देती है। उधर विश्वामित्र के हृदय में नारी के स्पर्श से कोमलता का संचार होने लगता है और वह अपनी भूल मान लेते हैं —

तापस जीवन नीरस की लघु प्रेरणा।
जिसमें ईश्वर नहीं अहं का वास है,
स्वयं ब्रह्म होने की मीठी कामना।

मेनका द्वारा तिरस्कृत होकर विश्वामित्र इस आनन्द उपभोग की विनष्टि के कारण आत्महत्या के लिए प्रस्तुत होते हैं। परन्तु मेनका उनको ऐसा करने से रोक लेती है। यह विजय प्राप्त करके मेनका अपने को विश्वामित्र को समर्पित कर देती है। बारह वर्ष बाद मेनका माता के रूप में आती है। तभी विश्वामित्र का अहं और मेनका की चेतना लौट आती है। मेनका का मातृरूप आरम्भ होते ही समाप्त भी हो जाता है। उधर विश्वामित्र का मन फिर स्निग्ध सो जाता है और वे सोचने लगते हैं —

नारी को निज सुख का साधन मानकर
उसे बनाया हमने निज पथ का पुष्प है।
हम सब सुख से रहें समान विभाग से
जीवन का सुख भोगें ·.....।

"परन्तु पुरुष का अह फिर उन्हें दूसरी ओर प्रेरित कर ही देता है और वे नवजात बालिका को छोड़कर चले जाते हैं। इस प्रकार नर नारी के सघर्ष की समस्या उलझी ही रह जाती है।"

नाट्य तत्व की दृष्टि से 'मत्स्यगधा' 'विश्वामित्र' से श्रेष्ठतर है। कवित्व की दृष्टि से अवश्य ही अधिक स्वच्छ और पुष्ट है। उसमें मनोभावना का मूर्तिकरण बड़ा सुन्दर और सुव्यक्त है।

'मत्स्यगधा, और 'विश्वामित्र' के अतिरिक्त एक और नाट्य गीत 'राधा' है। राधा और कृष्ण के प्रेम की कथा इसका विषय है। यहा कृष्ण को उनके 'योगेश्वर' रूप में लिया गया है। इसमें हृदय और मस्तिष्क, आवेग और विवेक तथा प्रकृति और ज्ञान का संघर्ष है।

उग्र जी का 'गंगा का बेटा' भीष्म का चरित्र है। नाटकीय दृष्टि से उसमें कोई उसमें कोई विशेषता नहीं है।

ऐतिहासिक धारा के उल्लेखनीय नाटकों में उदय शंकरभट्ट का 'दाहर या सिंध पतन' (१६३४), द्वारका प्रसाद मौर्य कृत 'हैदर अली' (१६३४), भगवती प्रसाद पांथरी का 'काल्पी' (१६३४), श्यामकान्त पाठक का 'बुन्देल केसरी' (१६३४), धनीराम का 'वीरागना पन्ना' (१६३४), चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का 'अशोक' (१६३५) और 'रेवा' (१६४२), गोविन्द वल्लभ पंत का 'राजमुकुट' (१६३५) और 'अंतः पुर का छिद्र' (१६४०), कुमार हृदय का 'भग्नावशेष' (१६३५), गोपाल चन्द्र देव का 'सरजा शिवा जी' (१६३७), कैलाश नाथ भटनागर का 'कुणाल' (१६३७) और 'श्रीवत्स' (१६४१), उपेन्द्र नाथ 'अश्क' का 'जय पराजय' (१६३७),

हरिकृष्ण प्रेमी के 'रक्षा बंधन' (१९३४), 'शिवा-साधना' (१९३७), 'प्रतिशोध' (१९३७), 'स्वप्न भंग' (१९४०), 'आहुति' (१९४०) और 'मन्दिर' (१९४२), शिवदत्त रमानी का 'नीमाड़-केसरी' (१९३८); परिपूर्णानन्द का 'रानी भवानी' (१९३८), सत्येन्द्र का 'मुक्तियज्ञ' (१९३८), लक्ष्मी नारायण मिश्र का 'अशोक' (१९३९), मायादत्त नैथानी का 'संयोगिता' (१९३९), मुरारी शरण मांगलिका का 'मीरा' (१९४०), शंभुदयाल सक्सेना का 'साधना-पथ' (१९४०), सेठ गोविन्द दास का 'कुलीनता' (१९४१) एवं 'शशिगुप्त' (१९४२) और हरिश्चन्द्र सेठ का 'पुरु और एलेक्जेंडर' (१९४२), वृन्दावन लाल वर्मा के 'फूलों की बोली' (१९४७) जहांदार शाह (१९५०) बीरबल (१९५०) 'काश्मीर का कांटा' (१९४७) तथा 'ललित विक्रम' (१९५३) हैं।

ऐतिहासिक नाटककारों में हरिकृष्ण प्रेमी प्रमुख हैं। 'शिवा-साधना', 'प्रतिशोध', 'रक्षा बंधन' और 'स्वप्न भंग' का कथानक मध्ययुग से लिया गया है।'शिवा-साधना' में महाराष्ट्र के वीर शिवाजी के साहसिक आक्रमणों का वर्णन है। नाटक में शिवाजी और उनके मराठा सरदारों की बातचीत से आरम्भ होता है और समर्थ गुरु रामदास के उपदेश से अंत होता है। 'प्रतिशोध' बुन्देलखंड के नायक छत्रसाल से संबंधित है। बुन्देलों की यत्र तत्र बिखरी हुई शक्ति को औरंगजेब के विरुद्ध लगाने में किस प्रकार का यत्न किया गया, यही इस में दिखलाया गया है। अन्त में प्राणनाथ के उपदेश से नाटक की समाप्ति होती है। 'रक्षा-बंधन' का कथानक एक बड़ी प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना से संबंधित है। इसकी मुख्य कथा मुगल सम्राट हुमायूँ और उदयपुर की साम्राज्ञी कर्मवती में भाई-बहन के संबंध की स्थापना और हुमायूँ का उस संबंध की मर्यादा रक्षा के लिए महाराणा का विरोधी होते हुए, अपने वजीरों की राय के विरुद्ध, गुजरात के बादशाह बहादुरशाह के उदयपुर पर आक्रमण का समाचार सुनकर रानी की रक्षा के लिए चंबल से चलकर उदयपुर पहुँचना है। रक्षा

की आशा न देख कर्मवती जौहर द्वारा अपना शरीर त्याग देती है। हुमायूँ को इससे बड़ा दुःख होता है और कहता है —

"जिन राखी के धागों से बहनें भाइयों के सर खरीद लेती हैं, वे हम मुसलमानों कहा नसीब हैं ? मैं तो हिन्दुओं के कदमों में बैठकर मोहब्बत करना सीखना चाहता हूँ।" अथवा "बहन के प्यार की क़ीमत, इन राखी के धागों की क़ीमत दुनिया की बादशाहत और बहिश्त की सल्तनत से भी बढ़कर है।...चलिए महाराणा आप को बाकायदा मेवाड़ के तख़्त पर बैठाकर अपने सर से राखी का कुछ कर्ज उतार लूँ। पूरा कर्ज़ तो उस दिन उतरेगा, जब सारी मुसलिम कौम की बहनें हिन्दू भाइयों के हाथों में बेहिचक राखी बांधने की हिमम्त करेंगी और सारी हिन्दू क़ौम की बहनें मुसलमान भाइयों के हाथों में दिली मुहब्बत के साथ अपनी पाक राखी बाँधने की मेहरबानी करेंगी, जब हमारी आँखों से पाप का मैल धुल जाएगा।..."

इस प्रकार के विचार तत्कालीन राष्ट्रीय आवश्यकता और चेतना के फलस्वरूप अत्यावशक हिन्दू-मुसलिम एकता की अभिवृद्धि के लिए व्यक्त किए गए हैं। इसी दृष्टि से 'स्वप्न भग' का महत्त्व मालूम होता है, खासकर यह ध्यान में रखने पर कि दारा स्वय ही हिन्दू-मुसिलम एकता का बड़ा ईमानदार समर्थक था। 'स्वप्न भंग' में इसी महान दारा के अभागे जीवन के उस भाग का, जिसमें वह अपने भाई औरगजेब के साथ सघर्ष करता है, चित्रण है। हिन्दू-मुसलिम एकता उसका स्वप्न था और औरगजेब द्वारा उसका विनाश इस स्वप्न का भग है। जहानारा कहती है—

"मनुष्य का ऐसा पतन कहीं सुना है, कहीं देखा है ? यह ससार क्या अब भी रहने योग्य है ?" और प्रकाश से उत्तर पाती है "रहना तो पडेगा ही।. .आज एक महान स्वप्न भंग हो गया। क्या राष्ट्रीय एकता के लिए एक महात्मा का बलिदान व्यर्थ जाएगा ? क्या भारत

की भावी पीढ़ियाँ इस महान बलिदान को भूल जावेंगी...हिन्दुस्तान क्या तू इस आवाज को सुनेगा ? सुनकर कुछ करेगा ?"

यह लेखक का चीत्कार है। इन चारों नाटकों की कथावस्तु का निखार चरित्र-विभाग की स्पष्टता और उत्तम कलात्मकता द्रष्टव्य है। बंगला नाटककार द्विजेन्द्र लाल राय का इन नाटकों पर जो प्रभाव है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

ऐतिहासिकता की दृष्टि से सेठ गोविददास का नाटक शशिगुप्त बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें एक विवाद-ग्रस्त ऐतिहासिक घटना पर एक पक्ष की ओर से लिखा गया है। प्रो० हरिश्चन्द्र सेठ ने अपनी खोजों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि चन्द्र गुप्त और शशि गुप्त एक ही व्यक्ति थे और पुरु ने सिकन्दर को वास्तव में उस युद्ध में हराया था, जिसमें उसकी हार का चर्चा किया जाता है। नाटक में लेखक द्वारा समय, अवस्था और दृश्य के विषय में दिए गए संकेत अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' और इस 'शशिगुप्त' के कथानक में अन्तर प्रोफेसर साहब की खोज के ही कारण है।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का 'अशोक' खेलने की दृष्टि से महत्व रखता है। अशोक का चरित्र भी बड़ा सुन्दर बना है। 'रेवा' में इतिहास के आधार पर कल्पना को प्रमुखता दी गई है। गोविन्द वल्लभ पन्त का 'अन्तःपुर का छिद्र' बुद्ध कालीन कथावस्तु से संबंधित भावकुता प्रधान नाटक है।

वृन्दावन लाल वर्मा से आज का हिन्दी संसार भली भाँति परिचित है। ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में वे सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर चुके हैं। उनके पाच ऐतिहासिक नाटक उल्लेखनीय हैं। 'फूलों की बोली' विख्यात अरब यात्री अलबेरूनी की सन् १०३० में हमारे देश की यात्रा से संबंधित एक घटना पर आधारित है। अपनी पुस्तक 'किताबुल हिन्द' में उसने यहीं के लोगों के आधार पर दिखाया है कि किस प्रकार लोग स्वर्ण रसायन के लोभ में मूर्ख और अंधों जैसा

व्यवहार करते थे। इस लोभ की परम्परा आज तक चली आई है। इस कहानी को वर्मा जी ने माधव, पुलिन, सिद्ध बलभद्र आदि पात्रों द्वारा नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है। 'जहाँदार शाह' मध्य युगीन काल से सबन्धित वास्तविक घटनाओं पर आधारित नाटक है। अनियंत्रित सत्ता का परिणाम कितना क्रूर होता है, इसे सफलतापूर्वक दिखाया गया है। 'बीरबल' भी इसी तरह का ऐतिहासिक नाटक है, जिसके पात्रों और घटनाओं में अधिकांशतः सदेह नहीं है। इसमें बीरबल को अकबर की उदारता का एक बड़ी सीमा तक प्रेरक माना गया है। 'काश्मीर का काटा' देशभक्ति से प्रेरित होकर भारतीय ब्रिगेडियर राजेन्द्रसिंह के सैनिकों और स्त्री-डाक्टरों के बलिदान की कहानी पर आधारित है। इसका अभिनय उत्तर प्रदेश के कुछ मन्त्रियों ने भी देखा है और इसकी प्रशसा की है। 'ललित विक्रम' एक महत्वपूर्ण नाटक है। इसका क्षेत्र अधिक व्यापक है। इसमें प्राचीन भारत के गौरव की झाँकी मिलती है। प्राचीन विषय वस्तु से संबधित होने के कारण इसकी भाषा स्वाभाविक रूप से गभीर है।

इन नाटककारों ने अपने देश के इतिहास पर गर्व करने योग्य स्थलों को चुन कर राष्ट्रीय जन जीवन को आंदोलित करने की प्रेरणा-दायक सामग्री दी है।

प्रसादोत्तर काल के दो प्रेम-प्रधान नाटक उल्लेखनीय हैं—कमला कान्त वर्मा का 'प्रवासी' (१६४१) और सुमित्रानदन पंत का 'ज्योत्सना' (१६३४)। 'ज्योत्सना' में अलकार के रूप में सध्या तथा उसके क्रमशः विकास ज्योत्स्ना, उषा और प्रकाश का सजीव वर्णन है। अज्ञान से ज्ञान तक का यह मनोवैज्ञानिक विकास पंत जी ने बड़े सुन्दर ढग से चित्रित किया है। कामना की तरह इसमें मानवी वासनाओं का मानवीकरण नहीं है। यह मनुष्य-जीवन के उद्देश्य के विषयों में लेखक की अद्भुत कल्पना है। उसने पाँच भागों में अपनी

कथावस्तु को विभाजित किया है। हिन्दी नाटक साहित्य में यह एक नवीन और बड़ा सफल प्रयास है। प्रथम अक में सध्या समय का वर्णन है। दूसरे अक में इन्दु अपनी पत्नी ज्योत्स्ना से प्रेमालाप करता है और उसे मृत्यु लोक में जाने को कहता है। तीसरे अक में ज्योत्स्ना पृथ्वी पर आती है। इसके बाद सुरभि और वायु की सहायता से इस प्रकार बने नए वातावरण का वर्णन है। इसमें पत जी की सौंदर्यपरक सूक्ष्म दृष्टि बहुत विस्तार में जाती है। चौथे अक में प्रकाश के आगमन की सूचना है। पाँचवें अक में उदयाचल के प्रभात का वर्णन है। प्रातःकालीन सम्पूर्ण सृष्टि और मानव जगत के उल्लास का वर्णन है। इस प्रकार प्रतीक वादी धारा में पत जी के इस नाटक का विशेष महत्व है।

देश की आर्थिक, सामाजिक और सस्कृति विकास के साथ मनुष्य के मनुष्य से सबध भी विकसित हुए हैं, उनमें परिवर्तन आया है। यातायात के साधनों में विकास, तार टेलीफोन आदि के कारण उनकी दूरी कम हो गई है। व्यक्तिगत चेतना के फलस्वरूप मनुष्य अपने को अन्य मनुष्यों के बराबर मानने लगा है। हर क्षेत्र में यदि साधन हों, तो उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचने के लिए स्थान है। जाति, धर्म, रग और आस्थाएं व्यवधान नहीं हैं। इससे मनुष्य की आकांक्षा बढी है। उसको अपनी महत्ता का भान हुआ है। बड़ी निम्न परिस्थितियों के लोग उच्चतम स्थानों पर पहुँचकर इतिहास में अपना एक स्थान बना गए हैं। व्यक्ति जब उन पृष्ठों को पढता है, तो वह सब कर गुजरने के लिए तड़पता है। यह जो तड़पना है, उसके कारण हैं। कुछ बात है जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति नैपोलियन, लिंकन, लेनिन और गाधी नहीं हो पाता, फोर्ड, राकफेलर आदि जितना धन अर्जित नहीं कर पाता। मतलब यह कि निराशा जीवन का एक अग बनती जा रही है। यह निराशा मध्यमवर्ग की अपनी

अमूल्य निधि है और उसका सबसे बड़ा दुर्भाग्य भी। यह एक ऐसा वर्ग है जिसकी आकांक्षा बड़ी ऊंची है, किन्तु साधन नहीं है। इसकी भ्रांतियों में जकड़े लोग दिवा स्वप्न देखते हैं। प्रेम क्षेत्र में भी इस भावना को बल मिला है। किसी सुन्दरी को अपनी प्रियतमा मानना कोई युवक अनाधिकार चेष्टा नहीं मानता। इतिहास में इसके उदाहरण हैं कि हीनतम परिस्थितियों में रहने वाली युवतियों ने शीर्षस्थ कुमारों को और मामूली युवकों ने राजकुमारी जैसी तरुणियों का प्रेम प्राप्त किया है। मगर यह निर्विवाद है कि यह सबके साथ नहीं होता। यह तो इक्के दुक्के यहाँ वहाँ हो जाता है, लेकिन यह अन्य लोगों को उस ओर प्रवृत्त कर जाता है। स्पष्ट है इस राह पर चलने वाले को निराशा ही हाथ आएगी। जो लोग इस सामाजिक सत्य का विश्लेषण और समाधान वैज्ञानिक पद्धति से करना चाहते हैं, उनके सम्मुख समस्या उपस्थित होती है जब वे विभिन्न व्यक्तियों को नज़दीक से देखते हैं या स्वयं उन्हीं भावनाओं के शिकार हो बैठते हैं।

लेखक वर्ग या तो समाजचेतना के रूप में इस समस्या की ओर देखता रहा है और सोचता रहा है, अथवा स्वय ही शिकार हो गया है। उसकी छाप साहित्य पर भी पड़ी है। हिन्दी में भी ऐसे विषय तत्व पर लेखकों की परम्परा है। नाटक के इस प्रकार के साहित्य को समस्या-प्रधान नाटक धारा की संज्ञा दी गई है। इसमें ये नाटक उल्लेखनीय हैं—

प्रेमसहाय सिंह का 'नवयुग' (१९३४); लक्ष्मी नारायण मिश्र के 'राजयोग' (१९३४), 'सिंदूर की होली' (१९३४) और 'आधीरात' (१९३७), बेचन शर्मा उग्र के 'डिक्टेटर' (१९३७) 'चुम्बन' (१९३८) तथा 'अवारा' (१९४२), गोविन्द वल्लभ पत का 'अगूर की बेटी' (१९३७); भगवती प्रसाद वाजपेयी का 'छलना' (१९३९), सूर्य नारायण शुक्ल का 'खेतिहर देश' (१९३९), गोविंद दास के 'विकास' (१९४१), 'सेवा पथ' (१९४०) तथा 'प्रकाश' (१९३५), उपेन्द्रनाथ

'अश्क' का 'स्वर्ग की झलक' (१९४०); पृथ्वी नाथ शर्मा कृत 'दुविधा' (१९३८) और 'अपराधी' (१९३९), शारदा देवी का 'विवाह-मडप', हरिकृष्ण प्रेमी के 'छाया' (१९४१) और 'बंधन' (१९४१), वृन्दावन लाल वर्मा के 'राखी की लाज' (१९४६) 'बांस की फांस' (१९४७) 'पीले हाथ' (१९४८) 'खिलोने की खोज' (१९५०) 'नीलकण्ठ' (१९५१) 'मगल सूर्य' (१९५३), 'केवट' (१९५४) और 'निस्तार' (१९५५)

लक्ष्मी नारायण मिश्र ऐसे नाटककारों में प्रमुख हैं। उनका विषय मुख्यतया आज भी नारी की विभिन्न समस्याएँ हैं। उसका प्राचीन और नवीन सस्कृतियों से सबंध, उसके चरित्र, शरीर और मन की पवित्रता का वास्तविक रूप, पाप और पुण्य (आरोपित और चिंतित), उसके प्रेम का स्वरूप, परिवार से उसके संबंध, उसके व्यक्तिगत जीवन की आवश्यकता और वाछनीयता आदि आदि। मिश्र जी के नाटक 'सन्यासी', 'राक्षस का मदिर', 'मुक्ति का रहस्य, 'राजयोग', 'आधी रात' और 'सिंदूर की होली' हैं। आशा देवी, चम्पा, चन्द्र कला और मनोरमा ये मिश्र जी की नायिकाएँ हैं। अनेक स्थलों पर इन पात्रों के सुव्यवस्थित संवाद तर्क वितर्क प्राप्य हैं। इसमें पुरुष और नारी का विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न रूढ़ियों के विरुद्ध सघर्ष है और नारी अपने व्यक्तित्व की बलपूर्वक रक्षा करती है। नाटककार इसमें नारी की विजय दिखाता है। नाटककार नारी की इन समस्याओं को 'चिरंतन नारी की समस्या' कहता है और इन्हें रूढ़ियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया मानता है। इस चुनौती में नारी की विजय होती है, यह बड़ा स्वस्थ चिन्ह है। समाज यदि उसे ग्रहण कर सका, तो साहित्यिक दृष्टि से मिश्र जी का स्थान स्मरणीय होगा।

हमने अभी अभी कहा है कि पुरुष और नारी के संघर्ष में मिश्र जी की नारी पुरुष के सम्मुख अपने मस्तक को उन्नत बनाए रखने में सफल होती है। समाज के संघर्ष में नारी की विजय दिखाकर

मिश्र जी समाज के विरुद्ध व्यक्ति की विजय पताका स्थापित करते हैं। आत्म-संतोष इसका तार्किक फल है। यह संतोष हीन नहीं है, यह बहुत अच्छा है क्योंकि ये नारी पात्र कर्तव्य पालन द्वारा इसे प्राप्त करते हैं। इसे देखते हुए मिश्र जी प्रसाद जी के अति निकट हैं। प्रसाद जी के पात्रों में यह संतोष धार्मिक आधार पर अवस्थित मानवीय भावनाओं पर हैं, परन्तु मिश्र जी के पात्र धार्मिक रूढ़ियों का विरोध करते हैं और स्वस्थ बौद्धिकता का अवलम्ब ग्रहण करते हैं। धार्मिकता के जिन गंदे पहलुओं को प्रसाद जी छोड़ गए हैं, उनके विरुद्ध मिश्र जी के पात्र आवाज उठाते हैं। 'मुक्ति का रहस्य' और 'सिन्दूर की होली' इस दृष्टि से बड़े सफल नाटक हैं। संभव है कुछ विद्वान मिश्र जी से पूर्णतः सहमत न हों, "परन्तु नाटक साहित्य में विशुद्ध काम-समस्या (sex problem) का श्री-गणेश उन्होंने किया है......अपने नाटकों के प्राक्कथन और भूमिकाओं में उन्होंने अपने विचारों को स्पष्ट करने का उद्योग किया है। ...मिश्र जी के रंग-संकेतों ने—जो पात्र, स्थल और दृश्य आदि सभी के सम्बन्ध में बड़े विस्तार से लिखे गये हैं—उनके पात्रों की गति और कार्य-व्यापार को सजीव रूप दे दिया है।"

'दुविधा' में पृथ्वीनाथ ने भी ऐसी समस्या को लिया है। 'अपराधी' में अपराध को कानूनी और समाजिक दृष्टियों से विश्लेषण किया गया है और दोनों में कितना अन्तर है, यह बड़ी सफलता पूर्वक दिखाया है।

गोविंद दास जी के नाटक राजनीतिक समस्याओं पर आधारित हैं। गोविंददास जी ने गांधी जी के व्यवहार पक्ष को ग्रहण किया है, उनके सूक्ष्म दर्शन तत्व को नहीं। इसलिए इनके नाटकों में व्यक्ति के जीवन के मूल तत्वों का विश्लेषण नहीं हो पाया है और कथानक 'राजनीति और समाज नीति की ऊपरी सतह' ही छू पाते हैं। इनके नाटकों में देश प्रेम का, देश सेवा का और देशोन्नति का सबसे

उत्तम मार्ग कौन सा है, जनता की भलाई के लिए कौन सी शासन-प्रणाली सबसे अधिक उपयुक्त है, राजनीतिक जागृति के लिए सबसे उत्तम मार्ग कौन सा है, इन्हीं प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। सेठ जी स्वय कर्मठ राजनीतिक कार्यकर्ता रहे हैं। गांधी जी से सबंधित प्रायः सभी आन्दोलनों से आपका नाता रहा है। उनके पात्र विभिन्न धाराओं के समर्थकों के प्रतीक हैं। उनके सवाद सुगठित और ओजपूर्ण हैं।

उनके 'सेवा-पथ' की समस्या जनता की सेवा का क्या रूप होना चाहिए इसे लेकर है। दीनानाथ निम्न श्रेणी का और गाधीवादी है जो त्याग को श्रेष्ठ सेवा मानता है। शक्तिपाल मध्यम श्रेणी का बौद्धिक साम्यवादी है, जो सुख भोग न छोड़कर भी ईमानदारी से देश की सेवा करना चाहता है। श्रीनिवास पूँजीवादी वर्ग का प्रतिनिधि है, जो देश सेवा को प्रतिष्ठा वृद्धि द्वारा अपना अहम् सतुष्ट करने का साधन मानता है। 'सेवा पथ' में दीनानाथ की विजय दिखाकर गांधीवादी मार्ग की श्रेष्ठता स्थापित की गई है। 'प्रकाश' सम्पन्न वर्ग के खोखलेपन, दम्भ, ईर्ष्या और कलुष को दिखाने वाला नाटक है। अजय सिंह वाह्य ऐश्वर्य की प्राप्ति के लोभ में अपना वलिदान करता है।

वृन्दावन लाल वर्मा का 'धीरे धीरे' कांग्रेस और गांधीवादी नीति पर तीव्र व्यङ्ग है। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल के तथा कथित उद्देश्यों और क्रिया कलापों में कितना भेद था, परिस्थिति पर किस तरह का उनका कमजोर नियन्त्रण था, धीरे धीरे काम करने की नीति किस प्रकार सब समय ले लेती है यहाँ तक कि मन्त्रिमण्डल का समय ही समाप्त हो जाता है, इसका इसमें दिग्दर्शन कराया गया है। कांग्रेसी नीति के विरुद्ध मनोविज्ञान रखने वाले, स्वय उदारपथी होते हुए भी उन्होंने पूरे नाटक में सतुलन रखा है और किसी प्रकार की कटुता नहीं आने पाई है। कहीं-कहीं कुछ अस्वाभाविकता आ गयी है। निरपेक्ष रहने की सतत चेष्टा के बावजूद पूरे नाटक में जिस प्रकार हुल्लड़बाजी का वातावरण

बनाए रखा गया है, उससे लगता है कि शायद लेखक की दृष्टि कांग्रेस के इसी हुल्लड़वाले रूप पर ही टिकी है। हीरा को गाँव की अशिक्षिता जमींदार की गृहसेविका होते हुए भी राजनीति में अधिकार रखने वाली, सगुनचंद का चरित्र, धारा सभा के माननीय सदस्यों को अपने पद की मर्यादा का ध्यान न रखने वाला दिखाना अस्वाभाविक हो गया है।

किन्तु उनके अन्य सामाजिक नाटक अच्छे बन पड़े हैं। उनमें सीधा साधा सुधारवादी दृष्टिकोण है। उनमें यदि भारतीय सस्कृति की मानवीय और मर्यादाशील भावनाओं की रक्षा का सदेश है, तो उसके साथ ही रूढ़ियों का विरोध करने की स्पष्ट आवाज भी। 'राखी की लाज' में उस पुरातन सदेश को दुहराया गया है, जिसमें भाई के हाथ में बहन द्वारा बाँधी हुई राखी भाई को उसकी रक्षा के लिए सर्वस्व न्यौछावर कर देने की स्मृति दिलाती रही है। 'राखी' के दिन भाई की बहन को पैसे देकर कर्तव्य से निवृत होने की भावना कितनी हास्यास्पद है! 'बाँस की फांस' में विवाह की समस्या और उसे लेकर खड़े होने वाले पाखण्डों का उल्लेख है। 'पीले हाथ', 'नीलकंठ', 'मंगलसूत्र', 'केवट' और 'निस्तार' भी सामाजिक कुरीतियों और भोंडे आदर्शों का पर्दाफाश करते हैं।

'अश्क' की लेखनी में विचारों को सरलता और ओज के साथ व्यक्त करने की शक्ति है। 'स्वर्ग की झलक' उस आधुनिक शिक्षिता नारी पर व्यंग्य है जो गृह कार्यों से उदासीन है। अशिक्षिता नारी यदि फूहड़ और कुसस्कृत थी, तो आधुनिका और अश्क जी की शिक्षिता नारी तितिली की ही सज्ञा प्राप्त कर सकती है। आज के नवयुवकों का ऐसी नारी के साहचर्य्य से आनन्द और सुख प्राप्ति का स्वप्न भ्रांति पूर्ण है। रघुनन्दन इसी स्वर्ग की झलक को मिस्टर अशोक, प्रो० राजेन्द्र के घर और रात की कसर्ट में देखकर अपनी भूल स्वी-

कार करता है और बी० ए० में फर्स्ट आने वाली कला-निपुण उमा को छोड़कर अर्ध शिक्षिता रक्षा को ग्रहण करता है।

'अश्क' जी पंजाबी जीवन के अधिक निकट हैं। भाषा में पजाबी-पन है। सेठ जी की भाँति व्यक्ति के जीवन में ये भी गहरे नहीं उतर पाए हैं। 'स्वर्ग की झलक' में मिस्टर अशोक और प्रो० राजेन्द्र के अनवरत बच्चा खेलाने की ड्यूटी का मजाक बड़ा छिछला है।

'अगूर की बेटी' में गोविन्द वल्लभ पंत ने मद्यपान का दोष दिखलाया है। कथानक बड़ा हल्का है। वह चलचित्र के लिए लिखा गया है और उसमें उसी का नाट्य विधान है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्या-नाटकों की मुख्य समस्या व्यक्ति और राजनीतिक आदर्शवाद की समस्या है। इस क्षेत्र में लक्ष्मी नारायण मिश्र और भगवती प्रसाद वाजपेयी अत्यधिक सफल हुए हैं।

हिन्दी के कुछ एकांकी नाटक

एकांकियों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उनमें से कुछ तो पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर ही रह गए। निम्नलिखित संग्रह उल्लेखनीय हैं—

(१) भुवनेश्वर प्रसाद का 'कारवां' (१९३५)
(२) गणेश प्रसाद द्विवेदी का 'सोहाग बिंदी' (१९३५)
(३) रामकुमार वर्मा के तीन संग्रह हैं (१) 'पृथ्वीराज की आँखें' (१९३६) 'रेशमी टाई' (१९४१) (३) और 'चारुमित्रा' (१९४२)
(४) सत्येन्द्र का 'कुणाल' (१९३७)
(५) द्वारका प्रसाद का 'आदमी' (१९४०)
(६) सद्गुरु शरण अवस्थी का 'दो एकांकी'
(७) उदय शंकर भट्ट के (१) अभिनव एकांकी (१९४२) (२) स्त्री का हृदय

(८) गोविंददास के (१) सप्त रश्मि (१९४१) (२) पंच भूत (१९४२), (३) दो नाटक (१९४२), (३) बन रस (१९४०)
(९) प्यारे लाल का 'माता की सौगात' (१९४०)
(१०) उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का देवताओं की छाया में (१९४०) 'अश्क' के अन्यान्य एकांकी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निकल चुके हैं जिनमें से चरवाहे, किरण (चिलमन), खिड़की, चुम्बक, मैमूना, चमत्कार और सूखी डाली उल्लेखनीय हैं।
(११) हसका विशेषांक (एकांकी नाटक, १९३८)
(१२) वृन्दावन लाल वर्मा का कनेर और लो भाई पंचो लो।

इस आधार पर वर्तमान एकांकी का समय १९३५-४२ है। वैसे लोग इस काल को भारतेन्दु की 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' के अकों को दृश्य मानकर उस समय तक ले जाते हैं। साथ ही उनकी अपूर्ण कृति 'प्रेमयोगिनी' को भी इसी में गिना जाता है। वास्तव में हिन्दी एकांकी का जन्म 'प्रसाद' के 'एक घूंट' से है। 'प्रसाद' पर संस्कृत का प्रभाव है, इसलिए वे हिंदी के एकाकी के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते, यह बात मान्य नहीं।

एकांकी की टेकनीक का 'एक घूंट' में पूरा निर्वाह है—उतना जितना कमलाकान्त की 'उस पार' में—हाँ उसमें प्रसादत्व का गहरा रग अवश्य है। 'एक घूंट' में प्रकृति के रूपरंजित पटल पर विवाह-समस्या का विवेचन और समाधान किया गया है। 'एक घूट' की समस्या 'प्रेम की एक घूंट' है।

'एक घूंट' के बाद रामकुमार वर्मा का 'बादल की मृत्यु' उल्लेखनीय हैं। वर्मा जी ने दर्जनों एकाकियों का प्रणयन किया है। वे कवि, आलोचक और विचारक हैं। कल्पना और भाव का विस्तार तो वर्मा जी में है ही, परंतु शिल्प की उत्कृष्टता उनके एकाकियों में चरम सीमा पर पहुँच जाती है। इनके नाटकों का आधार रोमांस है।

आधुनिक भद्र जीवन का प्रेम ईर्ष्या, सन्देह, असतोष और दम्भ जिसमें शिक्षा ने पालिश कर दी है, इन नाटकों में किसी न किसी रूप में मिलता है। चरित्रों के स्केच बड़ी स्पष्टता से खींचे गए हैं। अभिनय की दृष्टि से रामकुमारजी के एकाकी श्रेष्ठतम हैं। उनमें से अधिकांश अभिनीत हो चुके हैं।

'उग्र' के एकांकी नाटकों में 'अफजल-बध', 'उजबक', 'चार बेचारे' और 'भाई मियाँ' आदि हैं। 'उग्र' भी, एकांकी नाटकों के जन्मदाताओं में हैं। उनके एकाकी रूढियों का विरोध करनेवाली परम्परा में सबसे पहले आते हैं। उनके साहित्य में एक 'फक्कड़पन' है। वे साहित्य में जोश के हामी हैं और यह जोश उनकी रचनाओं में खूब मिलता है। परन्तु यह प्रायः वाणी का जोश अधिक है, हृदय और आत्मा का जोश कम। इसी कारण लांछना, भर्त्सना और उपेक्षा के बीच भी वह उस दृढता और शक्ति से साहित्य-सर्जना नहीं कर सके, जैसा कि निराला ने किया।

भुवनेश्वर को जिन्दगी की सख्ती का परिचय है; फलस्वरूप वह सन्देहवादी हो गए हैं। जीवन की ओर उनका दृष्टिकोण 'व्यग्य और विष' का है। 'जिस प्रकार जीवन असार और निष्फल है, उसी प्रकार कला भी जीवन एक लजीली मुस्कान है, कला एक शुष्क और कठोर हास्य है।' इसलिए वे प्रश्न कर सकते हैं, उनके पास उत्तर नहीं है—वह समस्या उठा सकते हैं लेकिन उसके समाधान में विश्वास नहीं करते। किन्तु वही सब उनकी शक्ति है। 'शैतान' में उनका जीवन दर्शन देखा जा सकता। 'श्यामा' के 'मनोज' में वे रम से गए हैं। अग्रेजी साहित्य से वह प्रभावित हुए हैं और शा का इनकी कथावस्तु और विचार धारा पर विशेष प्रभाव है।

गणेश प्रसाद द्विवेदी का विषय स्त्री-पुरुष का परस्पर स्वभाविक आकर्षण है। इसमें व्यवधान या बाधाए हैं, किन्तु समाज के कारण नहीं, मनोविज्ञान की चिरन्तन जटिल समस्या के कारण। इसीलिए प्रेम का 'मानसिक' रूप ही उन्होंने लिया है, आदर्शवादी

नहीं। स्त्री और पुरुष के प्रेम के हीन और श्रेष्ठ दोनों ही पक्षों पर इन्होंने दृष्टि रखी है।' पुरुष का प्रेम पुरुष का है और स्त्री का प्रेम स्त्री का है। इसलिए वे यदि 'सुहाग विन्दी', 'दूसरा उपाय ही क्या है' और 'सर्वस्व समर्पण' में स्त्री के मन का विश्लेषण करते हैं, तो 'वह फिर आई थी', 'परदे का अपर पार्श्व', 'शर्मा जी' में पुरुष के मन का। 'कामरेड' में दोनों का चित्र एक साथ आता है।

'अश्क' ने अपने एकांकियों में सामाजिक समस्याओं को छूकर छोड़ दिया है। किन्तु उनकी शैली सरल और स्पष्ट है। 'लक्ष्मी का स्वागत', 'छठा बेटा' और 'पहेली' इसके उदाहरण हैं। 'अधिकार रक्षा' में यह समस्या गहराई तक ले जाई गई है, किन्तु 'देवताओं की छाया में' छत गिरने की आकस्मिकता सस्ती है। अश्क जीवन के आलोचक हैं। व्यंग्य और हास्य का उन्होंने सफल प्रयोग किया है। 'पहेली', 'जोक', 'समझौता' 'छठा बेटा' 'स्वर्ग की झलक' आदि में यह स्थापना प्रतिफलित होती है। सबसे बड़ी बात 'अश्क' के एकाकियों के विषय में है उनके नाटकों और रंगमंच के विषय में घनिष्ट सम्बन्ध। घटनाओं को वह धीरे धीरे सफलता पूर्वक खोलते हैं। 'समझौता' घटनाक्रम में तेजी लाने के प्रयत्न के कारण ही असफल है।

उदय शकर भट्ट का 'अभिनव एकांकी' भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। 'कमला' में उन्होंने आज के जीवन के साथ अपने साहित्य का संबन्ध स्थापित किया है। 'नेता', 'वर-निर्वाचन', 'उन्नीस सौ पैंतालिस', 'सेठ लाभचन्द' आदि नाटकों में समस्या की विभिन्नता होते हुए भी एक बात समान है—मन को छूने की विधि! हमारे समाज में व्याप्त जो दम्भ है, उसके पीछे एक दयनीय व्यथा बैठी हुई है। यही दम्भ और व्यथा इन नाटकों की व्याख्या है।

सेठ गोविन्द दास का एकांकी सग्रह 'सप्त रश्मि' है। पत्र-पत्रिकाओं मेंभी इनके एकांकी आते रहते हैं। सेठ जी का महत्व

प्रधानतः उनके मोनोड्रामा-एक पात्री नाटकों-के कारण है। इस श्रेणी में उनके 'शाप और वर', 'सृष्टि और प्रलय', 'अलबेला' आदि हैं। ऐसे नाटक अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं। 'शाप' और वर में मनोविश्लेषण और वैषम्य का सुन्दर प्रयोग है।

मार्कण्डेय के 'पत्थर और परछाइयाँ' के छः एकांकियों में 'पत्थर और परछाइयाँ' 'अधेरी झांकी' और 'दो पैसे का नमक' ग्रामीण जीवन और 'चिड़िया खाना', 'मैं हारूँगा नहीं' और 'रूपक' नागरिक जीवन पर लिखे गए हैं।

इसके अतिरिक्त जैनेन्द्र की 'टकराहट', भगवतीचरण वर्मा का 'ससार का सबसे बड़ा आदमी' और 'दो कलाकार', अज्ञेय का 'चित्र-कर्मा' और कमलाकान्त वर्मा का 'उसपार' उल्लेखनीय हैं। श्री जगदीश चन्द्र माथुर के 'ओ मेरे सपने' और 'भोर का तारा', लक्ष्मी नारायण लाल के 'ताज महल के आँसू' और 'पर्वत के पीछे', सत्येन्द्र शरद् का 'तार के खभे' और विष्णु प्रभाकर के एकांकियों को देखकर इन एकाकी नाटककारों से बड़ी-बड़ी आशाएँ करने का आधार मिलता है।

इतने कम समय में हिन्दी एकांकियों का इतना बड़ा साहित्य हो गया है, यह बड़ी बात है यह बड़ा उत्साहजनक है कि नाटककार मच की मागों की ओर भी दृष्टि रखते हैं। उसकी विषय वस्तु विस्तृत होती जा रही है। शिल्प में नवीनता और आधुनिकता बढती जा रही है। आज के व्यस्त जीवन में साधारण मनुष्य भी मनोरजन के लिए यह साधन पा सकने की आशा और विश्वास रख सकता है। परतु इसके लिए एकांकी के रगमन्च का विकास होना चाहिए। इस दिशा मे हिन्दी और उसके एकाकी प्रेमियों का अनवरत प्रयास अपेक्षित है।

बीसवाँ अध्याय

हिन्दी रंगमंच की परम्परा

इस अध्याय में हम हिन्दी रंग-मंच के विषय में विचार करेंगे। वैसे हिन्दी के पास अपना रंगमंच अभी भी नहीं है, किन्तु इस दिशा में विकास के कई प्रयत्न अवश्य दिखाई पड़ते हैं। इन प्रयत्नों का इतिहास या तो उन नाटक मंडलियों का इतिहास है जो इस नगर या उस नगर में उत्पन्न हुईं या इन्हीं के प्रभाव में लिखे गए नाटकों का विवरण मात्र। ये नाटक मंडलियाँ दो प्रकार की होती थीं—व्यवसायी और अव्यवसायी। व्यवसायी कम्पनियाँ अपना रंगमंच अपने साथ ही लिए फिरती थीं, किंतु अव्यवसायी मंडलियों का भी अपना उल्लेखनीय प्रेक्षागृह नहीं था। कोई नाटक खेलने के समय ही ये लोग अपना अस्थायी रंगमंच बनाते थे और अभिनय के पश्चात उसे हटा देते थे।

व्यवसायी नाटक मंडलियों में सबसे पहले पारसी नाटक मंडलियाँ हैं। कुछ सम्पन्न पारसियों ने भारतीयों में पाश्चात्य प्रभाव लक्ष्य करते हुए नाटक दिखाकर धनोपार्जन करने के लिये लगभग १८७० ई० में 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' की स्थापना की। सेठ पेस्टन जी फ्राम जी इसके मालिक थे और परवेज, खुरशेद जी बल्लीवाला, कावस जी खटाऊ, सोहराब जी और जहाँगीर जी आदि ने अभिनय के क्षेत्र में इसमें काफी अच्छा नाम पैदा किया। पेस्टन जी फ्राम जी के अतिरिक्त मोहम्मद मियाँ 'रौनक' बनारसी और हुसैन मियाँ 'जरीफ' कम्पनी के लिए नाटक लिखते थे। 'रौनक' साहब का 'इन्साफे-महमूद शाह' जिसका गुजराती में अनुवाद हुआ था, बहुत प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अंग्रेजी के कई नाटकों का रूपान्तर कम्पनी द्वारा खेले जाने के लिए किया था। 'जरीफ' ने लगभग ३०

नाटक लिखे, जिनमें नतीजये-अस्मत, तौफये-दिलकुशा, खुदा दोस्त, बुलबुले बीमार, चाँद बीबी, तोहफये दिल पज़ीर, शीरीं-फरहाद, नकशये सुलेमान, अलीबाबा, इशरत सभा, लैला-मजनूं, छैल बटाऊ, गुल-बकावली, नौरंगे-इश्क, हवाई मजलिस, नहारो हुमायूं, हातिम-ताई, लाल गौहर, बदरे मुनीर और खुदादाद थे। पेस्टन जी की मृत्यु के पश्चात् इस कम्पनी के दो अभिनेताओं खुरशेद जी बल्ली-वाला और कावस जी खटाऊ ने सन् १८७७ ई० में 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी' और 'आलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' खोली। 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी' के प्रमुख नाटककार मुंशी विनायक प्रसाद थे, जिनके हिन्दी नाटकों में गोपीचन्द, हरिश्चन्द्र, रामायण, कनकतारा और उर्दू नाटकों में लैलो-निहार, दिलेर-दिलशेर निगाहे गफलत आदि प्रसिद्ध हैं। 'आलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' के नाटककार लखनऊ निवासी मेंहदी हसन 'अहसान' और देहली के नारायण प्रसाद 'बेताब' थे। 'अहसान' ने चन्द्रावली, बकावली, दिल फरोश, गुल फरोश, चलता पुर्जा, हेमलेट और भुलभुलैया लिखीं। 'बेताब' के कत्ले नजीर, जहरी साँप, फरेबे-मुहब्बत उर्दू के और महाभारत, रामयण, गोरखधन्धा, पत्नि-प्रताप और कृष्ण-सुदामा हिंदी के प्रसिद्ध नाटक हैं। बल्ली वाला स्वय बडे अच्छे 'कामेडियन' थे और उनकी कम्पनी की प्रसिद्ध नर्तकियों में मिस खुरशीद और मिस मेहताब थीं। इस कम्पनी में एक अंग्रेज महिला मैरी फैंटन भी काम करती थीं। कावस जी खटाऊ 'ट्रैजिक ऐक्टर' थे। रूपान्तरित 'रोमियो और जूलियट' में उन्होंने बड़ा उत्तम अभिनय किया था। इनकी कम्पनी के प्रमुख अभिनेता और अभिनेत्रियों में मनशेर शाह, गुलज़ार खाँ, माधोराम, मास्टर मोहन, मास्टर मनशेर जी, मिस ज़ोहरा और मिस गौहर थीं। बल्ली वाला अपनी कम्पनी विलायत भी ले गए थे, किन्तु उन्हें वहाँ सफलता नहीं मिली। उनके मरने के बाद यह कम्पनी तितर बितर हो गई। १९१४ में कावस जी

खटाऊ की मृत्यु के पश्चात् 'आलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' को मि० मदन के हाथ बेंच दिया गया। इस प्रकार ये दो प्रमुख कम्पनियाँ भी अपने मालिकों के साथ समाप्त हो गईं। चौथी कम्पनी 'न्यू आलफ्रेड कम्पनी' थी, जिसके मालिक मुहम्मद अली 'नाखुदा' और सोहराब जी थे। सोहराब जी हास परिहास के स्वयं बड़े अच्छे अभिनेता थे। इस कम्पनी के मुख्य अभिनेता अब्बास अली और अमृत लाल केशव थे। इसके मुख्य नाटककार आगा मोहम्मद 'हश्र' काश्मीरी और पं० राधेश्याम थे। 'हश्र' के शहीदे नाज, मीठी-छुरी, ख्वाबे ठंढी आग, सैदे हविस, खूबसूरत बला, सिलवर किंग, तुरकी हूर उर्दू में और सूरदास, गङ्गा-अवतरण, वन देवी, सीता वनवास, मधुर-मुरली, श्रवण कुमार, धर्मी बालक और आँख का नशा आदि हिन्दी में बहुत प्रसिद्ध हुए। पं० राधेश्याम कथावाचक के वीर अभिमन्यु ने तो धूम मचा दी थी। पारसी थियेटरों की इस परम्परा को साधारणतया अच्छी निगाह से नहीं देखा जाता था। उनके नाटककारों को भी वह प्रतिष्ठा नहीं मिली जो साहित्यिक नाटक लिखने वालों को मिली। ऐसा क्यों हुआ? कैसे हुआ? क्या यह उचित था? इन सब बातों पर फिर से विचार करने और इन नाटक कम्पनियों की सच्ची देन का पुनर्मूल्यांकन करने का समय आ गया है। हो सकता है कि शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से इन कम्पनियों के नाटक निम्नकोटि के रहे हों परन्तु इनके कारण लोगों में नाटक देखने की प्रवृत्ति बनी रही और हिन्दी क्षेत्रों में भी किसी न किसी प्रकार का रङ्गमञ्च बना रहा, इसमें किसको सन्देह हो सकता है? यहाँ हम हिन्दी रङ्गमञ्च के विकास के सम्बन्ध में विचार करेंगे और इस विकास क्रम में इन उपर्युक्त तथा अन्य थियेट्रिकल कम्पनियों की देन का भी मूल्यांकन करेंगे।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपने नाटक नामक लेख में दो महत्वपूर्ण बातें कही थीं। एक तो यह कि, "हिन्दी भाषा में जो सबसे

पहला नाटक खेला गया वह 'जानकी मगल' था। स्वर्गवासी मित्रवर बाबू ऐश्वर्य नारायण सिंह के प्रयत्न से चैत्र शुक्ल ११ सम्वत् १९२५ (सन् १८६२ ई०) से बनारस थियेटर में बड़ी धूम धाम से यह खेला गया।" दूसरी बात जो भारतेन्दु जी ने कही वह यह थी, "पश्चिमोत्तर देश में ठीक नियम पर चलने वाला कोई आर्य शिष्ट जन का नाटक समाज नहीं है।" भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की इन दोनों बातों की दृष्टि से भी हिंदी रङ्गमञ्च के विकास का यह अध्ययन महत्वपूर्ण है।

हमने अभी जिन कम्पनियों का चर्चा किया उनके अतिरिक्त ओल्ड पारसी थियेटर कम्पनी, जुबिली कम्पनी, अलेकजन्ड्रिया कम्पनी, इम्पीरियल कम्पनी और लाइट आफ इण्डिया कम्पनी आदि ने इस परम्परा को कायम रखा। ये कम्पनिया बहुत दिनों तक नहीं रह सकीं। मगर ये जब तक रहीं सारे भारत में घूम घूमकर प्रदर्शन करती रहीं। अलकजेन्ड्रिया कम्पनी का 'वतन' नाटक उस समय जनता के हार्दिक अरमानों और राष्ट्रीय माग की अभिव्यक्ति करने के कारण अत्यंत लोकप्रिय हो गया था। अब भी ऐसे लोग जीवित हैं जो पुरानी बातों को याद करते हुये बडे गर्व और जोश के साथ 'वतन' नाटक का चर्चा करते हैं और 'नैयर' के गानों को भी उसी नाटकीय ढंग से सुना देते हैं। नैयर के गाने सचमुच बडे मार्मिक और चोट करने वाले हुआ करते थे। जिस समय भारतवासियों की गुलामी और अंग्रेजी राज का चित्र खींचते समय गाया जाता था—"मकाँ से बाहर मकान वाले खड़े हुये हैं" तो लोगों की नसों में गरम लोहू बहने लगता था। जरा इन टुकड़ों की मार्मिकता देखें—

अभी तो हाथ का कगन न खुलने पाया था।
कजा सुहाग दुल्हन का बढ़ाने आई है।

अथवा—

कलेजा ग़म से टुकड़े टुकड़े क्यों न हो 'नैयर'।
हमें तो लाश पर रोने की भी मनाई है।

इन गीतों और चोट करने वाले टुकड़ों को सुनकर कायर से कायर दर्शकों को भी जोश आ जाता था। वे कभी देश और जाति की दयनीय स्थिति पर आखों में आँसू भर लाते और कभी क्रोध तथा आवेश में ओंठ काटने लगते। 'वतन' नाटक सचमुच तत्कालीन भारत की दयनीय स्थिति और जनता के सच्चे मनोभावों का प्रदर्शन करता था। इस नाटक को खेलने वाली अलक्जेन्ड्रिया कम्पनी की लोक प्रियता अत्यधिक बढ गयी थी और विदेशी सरकार का कोप भाजन भी उसे बनना पड़ा था। श्री सोमनाथ गुप्त ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' के 'रगमच और रगमचीय नाटक' अध्याय में विवरण के साथ इन कम्पनियों और उनके नाटकों का चर्चा किया है। हम यहाँ उसी के आधार पर अपने पाठकों के लिये थोड़े में इस धारा के नाटकों और रगमंच का वर्णन करेंगे।

हमने ऊपर जिन व्यवसायी कम्पनियों का चर्चा किया है उनके अतिरिक्त काठियावाड़ की श्री सूर-विजय और मेरठ की 'व्याकुल-भारत' नाम की दो मंडलियाँ और थीं। यद्यपि इनमें भी पारसीपन का प्रभाव विद्यमान था परन्तु इनका ध्येय हिन्दी के नाटक खेलना था और इसमें सन्देह नहीं कि पारसी कम्पनियों द्वारा जो कुरुचि और भद्दापन जनता को प्रिय हो चला था, उसको हटाने में इन्होंने बड़ी सहायता पहुँचाई। पंडित राधेश्याम का 'उषा-अनिरुद्ध' सूर विजय कम्पनी के बड़े सफल नाटकों में से था। मेरठ की व्याकुल-भारत कम्पनी ने भी हिन्दी की पर्याप्त सेवा की। विश्म्भर सहाय 'व्याकुल' का 'बुद्धदेव' और जनेश्वर प्रसाद 'मायल' द्वारा लिखित 'सम्राट चन्द्रगुप्त' और 'तेगे सितम' इस कम्पनी के बडे सफल नाटक थे। इस कम्पनी के सस्थापक स्वयं 'व्याकुल' जी थे जो उच्चकोटि के सङ्गीतज्ञ एवं कुशल लेखक थे।

इस मडली को अन्य विद्वानों का सहयोग भी प्राप्त था। काशी की भारतेन्दु नाटक मडली के प्रसिद्ध अभिनेता डा० वीरेन्द्रनाथ दास,

कुंवर कृष्ण कौल एम० ए० और केशवदास टंडन इसमें सक्रिय भाग लेते थे।

नाट्य-विधान

व्यवसायी कम्पनियों के नाटकों का प्रायः एक ही प्रकार का नाट्य-विधान था। अपने नाटकों के लिए प्रत्येक कम्पनी अपने-अपने नाटककार रखती और कम्पनी के मालिक अपनी रुचि के अनुसार उनसे नाटक लिखाते। वे स्वयं ही उनका निर्देशन करते। नाटकों के चुनने में उनका ध्यान सदैव यही रहता कि अमुक नाटक जनता में लोक-प्रिय होकर अधिक से अधिक धनोपार्जन करा सकेगा या नहीं और उनके नाटक मे अन्य कम्पनियों की अपेक्षा कोई ऐसा चमत्कार है या नहीं जिसके कारण जनता उसकी ओर अधिक आकर्षित हो। इस चमत्कार में भी एक विचित्र मनोवाञ्छा रहती। चमत्कार उन्हें नाटक के प्लाट, उसकी भाषा अथवा रस-भावना के सम्बन्ध में अभीष्ट नही था। उनका अभिप्राय चमत्कार से दृश्य-दृश्यान्तर, रग मच की ऊपरी चटकमटक और वेश-भूषा की नवीनता में ही सन्निहित रहता था। साधारण पर्दों के साथ 'कटे-परदे' या टूटने वाले परदे और 'टेबला' इसी का परिणाम थे। उन्हें इस बात के देखने की इच्छा नहीं थी कि दृश्य-दृश्यान्तर गति, समय और स्थान-समन्वय के अनुकूल हैं अथवा प्रतिकूल। उन्हें तो केवल अपनी दर्शकमडली में आश्चर्य उत्पन्न करने और इस प्रकार उन्हें अपना गाहक बनाये रखने की धुन सवार थी। अपने विज्ञापनों में भी वह यही कहते। 'नये सीन सीनरी से युक्त' नाटक दिखाना ही उनका ध्येय था। किसी हिन्दुस्तानी राजा के दरबार में अगरेजी वेशभूषा से सुसज्जित नर्तकियों का नाच केवल इसीलिए कराया जाता था कि एक दृश्य में दर्शकों ने उन नर्तकियों को जिस पोशाक में देखा था उससे दूसरे दृश्य में भिन्नता हो और कम्पनी के मालिक को यह सुनने के लिए मिले कि उसके पास कितने प्रकार की ड्रेसें हैं।

प्रत्येक अंक के अन्त में ड्राप के साथ साथ यह विशेषतायें और भी अधिक महत्त्व रखती थीं। उदाहरण के लिए—

१ न्यू अलफ्रेड कम्पनी के वीर अभिमन्यु में जयद्रथ की मृत्यु पर नाटक के अन्त में यह दृश्य दिखाया जाता है—

["सब का जाना, सीन बदलना। वृद्धक्षत्र का तपस्या करते हुए दिखाई देना, उसकी गोद में जयद्रथ का कटा हुआ शीस पहुँचना। वृद्धक्षत्र का उठना और उसके शीस के भी टुकड़े टुकड़े होकर फटना।"

२. महाभारत नाटक में द्रौपदी के चीर-हरण के समय का दृश्य—

["दुश्शासन का द्रौपदी को नग्न करने के लिये चीर खींचना; चीर का बराबर बढ़ते जाना; परदे के भीतरी भाग में श्रीकृष्ण भगवान का अनन्त चीर प्रदान करते दिखलाई देना।"]

३ व्याकुल-भारत कम्पनी के बुद्धदेव में नायक को अपनी तपस्या से भग्न करने के उद्योग में—

['दृश्य बदलता है। आँधी चलती है। अंधकार में बिजली की चमक और कड़क होती है। बादल गरजता है। आकाश में तारे टूटते हैं। बड़ी-बड़ी भयंकर विकराल नारकीय मूर्तियाँ दिखाई देती हैं। किसी के मुँह से आग और किसी के मुँह से साँप निकलते हैं। अन्तरिक्ष में इधर से उधर तीर चलते हैं"]

इनके अतिरिक्त सामने दिखाई देने वाले रंगमंच के खम्भों के टूटने और उनके पीछे से अभिनेताओं के प्रगट होने अथवा आकाश मार्ग से देवी देवताओं के आविर्भाव तथा पुष्प-वर्षा के दृश्य तो बहुत ही साधारण सी वस्तु थे जो समयानुकूल प्रत्येक कम्पनी में दिखाये जाते थे। दर्शकमंडली इन अद्भुत दृश्यों को देखकर चकित और मंत्रमुग्ध हो जाती थी। अभिनय के गुण दोष आदि की परख तो उसे पहले ही नहीं होती थी और जो कुछ थोड़ी सी होती भी तो ये दृश्य उन्हें भुलाने में समर्थ हो जाते।

नाटकों की कथावस्तु अधिकतर पौराणिक या धार्मिक ही रखी जाती क्योंकि कम्पनी मालिक यह अच्छी तरह जानते थे कि अधिकांश हिन्दू जनता में ऐसे ही नाटकों का चलन हो सकता है। 'गगा-अवतरण,' 'गणेश-जन्म,' 'कृष्ण-सुदामा,' 'महाभारत,' 'सत्य-हरिश्चन्द्र' आदि ऐसे ही नाटक थे। कुछ नाटक सामाजिक सुधारों को दृष्टि में रखकर भी लिखे गये थे। 'धर्मी बालक' या 'गरीब की दुनिया', 'सिलवर-किंग', 'पत्नीप्रताप' आदि ऐसे ही नाटक थे। इन नाटकों की भाषा और सवादों में पर्याप्त शक्ति थी। व्यंग्य के अच्छे-अच्छे उदाहरण उनमें से सुगमता से निकाले जा सकते हैं। उनमें एक बात खटकती है। साधारण बातचीत में भी लय-युक्त गद्य का प्रयोग विशेषरूप से किया गया है। बोलते-बोलते फौरन ही कविता आरम्भ हो जाती और जब तक पात्र के उतार-चढ़ाव से युक्त उसकी यह वार्ता चवन्नी वालों को सुनाई न दे जाती तब तक नाटक का अभिनय असफल ही समझा जाता।

सगीत—गानों की मात्रा भी इन नाटकों में बहुत अधिक है। साहित्यिक नाटकों का गीति काव्य इनमें नहीं है। ये तो केवल तुकबन्दियाँ हैं जो किसी न किसी तर्ज' पर बैठा दी गई हैं। यहाँ तक कि इनके कारण 'थियेट्रिकल-तर्ज' नाम से एक नई तर्ज नाटक-ससार में चल पड़ी। इन के उदाहरण हैं:—

१. मै आलम मे बाँका जवाँ,
जिधर भरके देखी नज़र शेरेब्बर
काँपे जिगर, थरर थरर
मैं आलम मैं बाँका जवाँ॥

२. युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में मेहमान रानियाँ यज्ञशाला और भवन को देखकर आनन्द के गीत गा रही हैं—

आली छाई आज जगत खुशहाली,
उमड़ घुमड़ आई घटा पीतवर्णा लिये लाली ॥
उत्सव की छवि माहिं हैं सब के नैन लगे,
पक्षिन के सब जोड़े शुभ आशिष देने लगे।
निज निज बोली मनहर हैं,
सुरंग सुमन विच छरत हरियाली ॥आली०॥

(महाभारत)

३. उत्तरा वीर अभिमन्यु नाटक में गाती है—

हे हरि, झाँझरी नैया पार करो।
सूझ परत, कछु न जुगत तुम ही खिवैया ॥
पाण्डव जय पावें, हरपावें, तेरो गुण गावें।
जय के डंके बाजें, सुख साजें, दुख भाजें ॥

४. बुद्धदेव नाटक में कामकला गाती है—

आज मिले तोही सखी कुंजन पिहरवा।
काहे बोलो झूठ बैन, कहे देत तोरे नैन
देखो न बिथुर रहे मुख पर बरवा . आज मिले।
अँगिया के बंद टूटे, कर से कंगन छूटे।
एक एक के चार चार उपटे हैं हरवा—आज मिले...

४. सिलवर किंग में शराबी जुआरी गाते हैं—

दे दे आला, भर भर प्याला, पीने वाला हो मतवाला।
बादल बरसे काला काला, फूला आँखों में गुललाला ॥

इसी प्रकार अन्य नाटकों में भी यही रूप मिलेगा। उर्दू लेखकों ने अधिकतर गजलों का सहारा लिया है जिसके कारण वे गाने इतने बुरे नहीं लगते जितने अन्य लेखकों के।

रंगमचीय सब नाटकों का आरम्भ कोरस से होता है। यह कोरस भी एक अजीब वस्तु है। वास्तव में यह संस्कृत नान्दी का

अनोखा नूतन सस्करण मात्र है। उर्दू लेखक तो इसे कहते ही 'हम्दे खुदा' हैं। कुछ नाटकों के कोरस इस प्रकार हैं—

(१) श्रीहर जगदीश्वर नागर नटवर ॥श्रीहर०॥
जय जय भूप, हो चमकत रूप, वन्दौं श्रीहरि दृष्टि अनूप।
तेरो सब जग रैन दिनन, गुन गाएँ, चाहें चित चरण शरण॥
व्यापक तूँ घर घर सहाय कीजो हलधर ॥श्रीहर०

—सती अनसूया या पत्नि प्रताप (१), मुंशी जायक साहब

(२) जय गणेश गणनाथ गुणाकर
सकल विघ्न कर दूर हमारे ॥जय०
प्रथम धरे जो ध्यान तिहारो
तिनके पूरण कारज सारे ॥जय०
लम्बोदर गज बदन मनोहर
कर त्रिशूल परशूवर धारे ॥जय०
ऋद्धि सिद्धि दोउ चँवर डुलावें
मूषक - वाहन परम सुखारे ॥जय०
ब्रह्मादिक सुर ध्यावत मन में
ऋषि मुनिगण सब दास तिहारे ॥जय०

(३) सर्वेश, निक्लेश, यह देश, हाँ,
भारत अस शुभ नाम कहत सुख रहत न दुख लवलेश।
हमारा प्यारा भारत देश॥
सुख सम्पत्ति सम्पन्न सजीला स्वाभाविक सर्वेश
रमा समेत रमापति रमते गिरजा सहित महेश॥
सविशेष, अखिलेश, सुख वेश हाँ,
सुर सुरपुर तरसत सुखमा लखि देती प्रकृति निदेश।
हमारा प्यारा भारत देश॥

—मीराबाई (१६२४), रघुनन्दनप्रसाद शुक्ल

(४) गंगे तोरी अमृतधार, सुरगण नभ तरसैं।
पाप हरनि मोच्छ वरनि ज्ञानि सुजन परसैं ॥ गंगे० ॥
शीतल सुख कर सुस्वाद कलकल ध्वनि महानाद।
मुक्ति शक्ति तुम अनाद, नमन किए हिय हरषैं ॥ गंगे० ॥
—श्रीगंगावतरण (१६२५) द्वि० स०, श्रीकृष्ण हसरत

(५) हरहर महादेव देव शंकर त्रिपुरारी ॥ हर० ॥
भस्म।अंग भुजंग माल, तिलक चन्द्र शोभित माल।
रुण्ड मुण्ड राजत व्याल, जय पिनकधारी ॥ हर० ॥
जटा जूट शिर गङ्ग राजे, डमरू डिमि डिम कर विराजे।
अंग अनंग रूप छाजे, जय जय असुरारी ॥ हर० ॥
उदार अङ्ग अति विशाल, वृषभ वाहन व्याघ्र छाल।
काल काल महाकाल, हर हर भय हारी ॥ हर० ॥
विश्वनाथ विश्वम्भर हर, आदि अनन्त अजर अमर।
चरण सेवत सकल सुर नर, जय जय दैत्य विहारी ॥ हर० ॥
—पतिभक्ति (१६२६ द्वि० स०), विश्वनाथ पोखरे

परन्तु उपरोक्त उदाहरणों एवं अन्य स्थलों को देखने से यह स्पष्ट विदित होता है कि व्यवसायी होने के कारण अपने नाटकों को जनता में अधिक से अधिक लोक-प्रिय करने के लिए भाषा के रूप में अनेक प्रयोग किये गये। इस विषय में इनका निर्णय बेताब के महाभारत का यह अंश मानना चाहिए—

"न खालिस उर्दू न ठेठ हिन्दी, ज़बान गोया मिली जुली हो।
अलग रहे दूध से न मिसरी, डली डली दूध में घुली हो ॥"

क्लिष्ट उर्दू से इस सूत्र पर आने के कारण आगे के नाटककारों का मार्ग अधिक सुगम हो गया यद्यपि इन कम्पनियों के व्यावसायिक रूप ने नाटक-साहित्य में अधिक कलात्मकता न आने दी।

प्रहसन

इन कम्पनियों के नाटकों में एक विचित्रता और भी थी। प्रत्येक

नाटक के साथ एक कामिक (प्रहसन) रहता था। पहले पहल इस कामिक का कोई सम्बन्ध मूल कथा से नहीं रहता था। यह एक स्वतन्त्र वस्तु थी और इसका मुख्य कारण मूल नाटक के द्वारा दर्शकों में प्रस्तुत किए गए करुणरस अथवा उसी प्रकार के भावों को कुछ शिथिल करने का प्रयास था अथवा एक दृश्य के पश्चात् दूसरे दृश्य को मच पर जमाने के लिए कुछ समय निकाल लेना था। इस प्रकार एक ही तीर से दो चिड़ियां के मारने की बात हो जाती। दर्शक मण्डली में भाव-परिवर्तन भी हो जाता और मच-मालिक को अपने नये-नये दृश्य ठीक करने का समय भी मिल जाता।

कला की दृष्टि से यह कामिक बडे भद्दे लगते, क्योंकि इन में प्रायः निम्न श्रेणी की बातें होतीं। प्रेमी-प्रेमिका अथवा पति-पत्नी में पहले जूता-पैजार होती या चुम्बन के झगडे होते और फिर एक दूसरे का हाथ और कमर पकड़ कर गाते हुए वे मंच से अन्दर चले जाते। जनता 'वाह' 'वाह' कर उठती और तालियों से सारा मडल गूँज जाता। वास्तव में कुरुचि के उत्पन्न करने में ये कामिक ही सब से अधिक उत्तरदायी थे और इन्हीं के कारण पारसी रगमच की ओर से सभ्य लोग उदासीन हो गए थे।

प० राधेश्याम तथा आगा हश्र ने आगे चलकर कामिक और मूल नाटक में सम्बन्ध स्थापित करना आरम्भ कर दिया। यहीं से पारसी नाटकों का उद्धार आरम्भ हुआ। 'बेताब' ने कामिक को अलग न रखकर उसे मूल नाटक में ही स्थान दिया। व्यंग्य और हास्य का पुट मूल कथा-वस्तु के साथ साथ पात्रों के सवादों में ही प्राप्त होने लगा। वीर-अभिमन्यु में 'राजा बहादुर' तथा हश्र के सिलवर किंग में 'जीटक' और बेताब के महाभारत में यह विकास सुगमता से समझ में आ जाता है।

इनकी देन

उपरोक्त नाटक कम्पनियों ने जो कुछ रगमच के लिए किया

उसमें अधिकतर व्यवसाय की वृत्ति ही निहित थी। एक बार एक हिन्दी के विद्वान ने पारसी कम्पनी के मालिक से उनके नाटकों की आलोचना करते हुए कुछ सुधार करने की चर्चा की। इस पर उन्हें उत्तर मिला—"हम यहाँ रुपया पैदा करने आए हैं, कुछ साहित्य भंडार भरने नहीं। देशोद्धार और समाज-सुधार का ठेका हमने नहीं ले रक्खा। हमें तो जिसमें रुपया मिलेगा वही करेंगे।" ये उद्धत वचन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हिन्दी या उर्दू रंगमंच का श्रीगणेश कलात्मक विकास और सांस्कृतिक उन्नति के लिए नहीं हुआ। इसमें संदेह नहीं कि इन मंडलियों से भारतीय जनता में एक नए आमोद-प्रमोद का जन्म हुआ जो संगीत वाली परम्परा से अधिक कलात्मक था परन्तु यदि किसी भी प्रकार सुन्दर और सुचारु ढंग से इसका सूत्र पात हो गया होता तो आज का भारत अपनी वर्तमान अवस्था से बहुत कुछ परिवर्तित होता हुआ दिखाई पड़ता और हमारा रंगमंच अपनी कमजोरियों एवं त्रुटियों को दूर करने में बड़ा सहायक तथा सफल साधन बन जाता।

सन् १८८३ ई० में स्व० भारतेन्दु ने इनके प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखा था—

"काशी में पारसी नाटक वालों ने नाच-घर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटे-वालियों की तरह कमर पर हाथ रख कर मटक-मटक कर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डा० थिबो, बाबू प्रमदा दास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कह कर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।"

'पारसी थियेटर' शीर्षक देकर सन् १९०३ में भट्ट जी ने एक लेख लिखा था जो टिप्पणी के रूप में था। उसमें लिखते हुए इनके प्रभाव का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है :—

'हिन्दू जाति तथा हिन्दुस्तान को जल्द गिरा देने का सुगम से

सुगम लटका यह पारसी थियेटर है जो दर्शकों को आशिकी-माशूकी का लुत्फ हासिल करने का बड़ा उम्दा जरिया है। क्या मजाल जो तमाशबीनों को कहीं से किसी बात में पुरानी हिन्दुआनी की झलक मन में आने पावे। इतना पीर पैगम्बर, परी, हूर का ज़हूर कहीं न पाओगे। तीसरे शायस्तगी की नाक उर्दू का जौहर मुफ्त में दस्तयाब होता है। सच कहो तो यही तीन बडे-बड़े फायदे नाटकों के अभिनय के हैं—पहला धर्म-सम्बन्धी, समाज सम्बन्धी या राजकीय सम्बन्धी उत्तम उपदेशों का मिलना, दूसरा देश की पुरानी रीति नीतिको किसी पुराने इतिहास या घटनाओं का अभिनय कर दरसाना अथवा प्रचलित कुरीति की बुराइयों को दिखाना, तीसरा भाषा का प्रचार। थोड़े से भव्य लोग यही समझ, जब वहाँ कोई जानता भी न था कि नाटक क्या वस्तु है, इसके अभिनय में प्रवृत्त हुए और हिन्दी के कई एक नाटकों का उन्होंने अभिनय कर लोगों को इसका शौक दिलाया। पीछे बम्बई के पारसियों का एक दल बम्बई से चला और वे बड़े-बडे शहरों में इस ढङ्ग का अभिनय करने लगे। अस्तु, यहाँ तक बुरा न था क्योंकि उनके अभिनय में भी किसी किसी तमाशे में पुरानी रीति नीति और हिन्दी का विरोध न था। पीछे दिल्ली, लखनऊ, आगरा आदि कई शहरों के बिगडे नौजवानों की गिरोह जमा हो, अभिनय को जो सभ्यता का प्रधान अग था और भलाई के प्रचार तथा सदुपदेश प्राप्त करने का उत्तम द्वार था, इस दुर्गति को पहुँचाया हमारी पुरानी हिन्दुआनी का सत्यानाश कर डाला और नई उभार के तरुण जनों को उनकी नई उमग के लिए बड़ा सहारा मिल गया। भविष्य में इसका परिणाम यही होने वाला है कि हमारी नई सृष्टि में आर्यता और हिन्दुपन का चिह्न भी न बचा रहेगा। बोल-चाल, रहन-सहन में अर्ध यवन तो हुई हैं अब 'पूरे आशिकतन यवन बनबैठेंगे।'[1]

---

१. हिन्दी प्रदीप, भाग २९, संख्या ६-१२

इसमें सन्देह नहीं कि पारसी थियेटर के अभिनय कला में एक प्रकार का ऐसा उथलापन आ गया जिसके दूषित प्रभाव से हम बहुत दिनों तक उभरने नहीं पाये परन्तु इसके साथ ही यह भी नहीं छिपाया जा सकता कि इन्हीं के कारण हमें हिन्दी में कुछ अच्छे नाटककार मिले। यदि इन कम्पनियों ने उन्हें आश्रय न दिया होता और उनकी प्रतिभा का उपयोग न किया होता तो हमारा हिन्दी साहित्य और भी अधिक असंपूर्ण रहता।

प० राधेश्याम कथा-वाचक, आगा हश्र काश्मीरी, नारायण प्रसाद 'बेताब', कृष्णचन्द 'ज़ेबा', हरिकृष्ण 'जौहर' और तुलसीदत्त 'शैदा' आदि लेखक इन्हीं कम्पनियों की देन हैं। आगे चल कर इन्हीं के प्रभाव से 'व्याकुल' और 'मायल' का जन्म हुआ। अतएव उनके द्वारा प्रचारित बुराइयों को छोड़ हमें उनकी सेवा के लिए आभारी होना चाहिए।

कुछ प्रमुख नाटक-कार

आग़ा हश्र काश्मीरी

इनका जन्म अमृतसर में हुआ था परन्तु सपरिवार बनारस में रहते थे और वहीं शाल दुशालों का व्यापार उनके कुटुम्ब की आजीविका का साधन था। परन्तु स्वयं कुशल नाटक-लेखक और अभिनेता थे। सब से प्रथम इनका सम्बन्ध 'न्यू अलफ्रेड' से था और उसके लिए यह उर्दू में नाटक लिखा करते थे। इनके उर्दू नाटकों की सख्या लगभग १६ है जिनमें से कुछ अगरेजी नाटक-कार शेक्स-पियर के नाटकों के रूपान्तर हैं। दिल-फरोश (१६००) मरचेन्ट आवबेनिस का रूपान्तर है; शहीदेनाज (सन् १६०६) मेज़र फार मेज़र का; सैदे-हविश (१६०६) और सफेद खून (१६०६) क्रमशः रिचार्ड तृतीय तथा किंग लियर के रूपान्तर हैं। रूपान्तरों में लेखक ने मूल को बहुत बदल दिया है। पात्रों के नाम बदलना तो बड़ी

बात नहीं परन्तु आगा हश्र ने तो घटनाओं और उनके क्रम एव साधनों तक में परिवर्तन कर दिया है। दिल-फरोश (दिल बेचने वाला) में कासिम और उसका बड़ा भाई महमूद दोनों पोरशिया के साथ विवाह करने में प्रतिस्पर्धा करते हैं। इसी प्रकार अन्य नाटकों में भी मूल से बड़ा अन्तर है।

आग़ा हश्र ने निम्नलिखित नाटक हिन्दी में लिखे—सूरदास, गगा औतरण, बनदेवी, सीता बनवास, मधुर-मुरली, श्रवणकुमार, धर्मी बालक या गरीब की दुनिया, भीष्म-प्रतिज्ञा और आँख का नशा। इन नाटकों के रचना अथवा प्रकाशन समय की निश्चितता होना असभव है। इसके दो कारण हैं—नाटक लिखे जाने पर पहले रगमच पर खेला जाता था। अतएव उसके प्रकाशन का काल रचना-काल से भिन्न हो जाता था। दूसरा कारण यह है कि कम्पनियाँ अपने नाटकों को तभी प्रकाशित करती थीं जब उनसे पहले समुचित धन कमा लेती थीं। ऐसी अवस्था में रचना-क्रम-काल को दृष्टि से कोई खोज करना तब तक सभव नहीं जब तक नाटकों के खेले जाने के समय की सही जानकारी न हो। कुछ भी हो हश्र ने उर्दू की तरह हिन्दी में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त की। आँख का नशा देखकर एक बार प० जनार्दन भट्ट कलकत्ता में हश्र से मिलने गए। भट्ट जी का कहना है :—"लु गी बाँधे, नगे बदन एक मियाँ दिखाई पड़े जो रग के गोरे, शरीर के सुडौल थे। चेहरे की मस्ती, बदन की गठन और सारे अगों की फड़कन देखकर मालूम होता था कि कोई मस्त हाथी झूम रहा है। आँखों से ज्योति निकल रही थी—एक से कम दूसरी से ज्यादा। मैंने जाते ही पूछा 'क्या आप ही का नाम आगा मोहम्मद हश्र काश्मीरी है ?' विस्मित हो रुखाई से उत्तर दिया जैसे कोई तकाजगीर को देखकर घबड़ा जाय और उसको टरकाना चाहे। पर जब उनको मेरे आने का अभिप्राय समझ में आया तो जी खोल कर मिले। उर्दू

लिपि में लिखा स्वरचित नाटक सुनाने लगे. ... ..।" इन्होंने सब मिलाकर हिन्दी के १० नाटक लिखे हैं।

हश्र की भाषा में बड़ी शक्ति है और साथ ही धारा-वाहिकता भी। उनके पात्र साधारण जीवन के होते हुए भी आदर्श की सीमा को पहुँच जाते हैं। पतनोन्मुखी और उत्थानोन्मुखी का विरोध उनके चरित्र-चित्रण की साधारण शैली है। अपनी रगीन लेखनी से वह ऐसी घटनाओं और चरित्रों का निर्माण करते हैं जिनमें अनुभव की तीव्रता और मानवी भावनाओं की कोमलता एवं कठोरता दोनों का समावेश हो जाता है। ऐसे दृश्यों को देखकर दर्शक-मडली का हृदय अपने तनाव की उच्च सीमा पर पहुँच कर करुणा से विभोर हो उठता है। अपराधियों के अत्याचारों और कुकर्मियों के कार्य-व्यापार में भी यही गहरापन दिखाई देता है। वे अपने अपने वर्ग के अन्तिम प्रतिनिधि हैं।

हश्र का एक दोष और भी है। मूल कथानक में एक अन्य कथानक को जोड़कर वह सारे नाटकीय प्रभाव पर पानी फेर देते हैं तथा कहीं कहीं उनका शिथिल हास्य बड़ा भोंडा मालूम पड़ने लगता है।

अन्यथा हश्र के नाटक बहुत उत्तम हैं।

पं० राधेश्याम

पंडित जी बरेली के निवासी हैं और रामायण लिखकर उसकी कथा बाँचने के कारण भारतवर्ष भर में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। इसी कारण उन्हें 'कथा-वाचक' के नाम से लोग अधिक जानते हैं। रामायण के जोड़ का उन्होंने 'कृष्णायन' भी लिखा है जिसमें श्रीकृष्ण का चरित्र वर्णित है। परन्तु उनकी प्रसिद्धि के लिए उनके हिन्दी नाटक भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

पंडित जी ने अनेकों नाटकों की रचना की है। उनका सब से पहला नाटक 'वीर-अभिमन्यु' है जो बम्बई की 'न्यू अल्फ्रेड

Comedy of Errors के आधार पर लिखा गया है परन्तु जैसे हश्र और अन्य लेखकों ने किया है, वेताब ने भी अपने नाटक में मूल से अनेक परिवर्तन कर दिए हैं। पहले पहल यह नाटक उर्दू में ही लिखा गया था परन्तु बाद में इसका हिन्दी सस्करण भी प्रकाशित हो गया।

वेताब के अन्य नाटकों में महाभारत, ज़हरी साँप, रामायण, पत्नि प्रताप और कृष्ण-सुदामा प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा न हिन्दी है और न उर्दू, एक विशेष प्रकार की खिचड़ी है जिसे आजकल के शब्दों में 'हिन्दुस्तानी' कहना अधिक उचित है। नाटकों के दृश्यों में चमत्कार का ध्यान अच्छी तरह रखा गया है। पत्नि-प्रताप में कुमार्गी पति पर सती पत्नी के बलिदान का प्रभाव दिखाकर उसे सन्मार्ग पर लाया गया है।

जनता में लोक-प्रियता के हिसाब से वेताब किसी भी प्रकार अन्य समकालीन नाटककारों से कम नहीं।

अन्य नाटककार

किशनचन्द 'ज़ेबा', तुलसी दत्त 'शैदा', हरिकृष्ण 'जौहर' तथा श्रीकृष्ण 'हसरत' आदि अन्य नाटककारों ने भी कुछ रंगमचीय नाटक लिखे हैं। इनके नाटकों का सम्बन्ध उर्दू से बहुत अधिक है हिन्दी से कम। परन्तु जिस प्रकार हश्र को उर्दू और हिन्दी दोनों प्रकार के नाटककारों में रखा जा सकता है उसी प्रकार इन लेखकों की गणना भी हिन्दी में गौरव के साथ की जा सकती है। परन्तु इन सब लेखकों के विषय मे अन्तिम निर्णय करने के समय एक बाधा उत्पन्न हो जाती है। प्रश्न है यह कि इन लेखकों ने मौलिक नाटक पहले उर्दू में लिखे और फिर उनका हिन्दी अनुवाद हुआ अथवा वे लिखे ही हिन्दी में गए क्योंकि नाटकों के दोनों रूप वर्तमान हैं। वास्तव में यही कठि-नाई इनके पूर्व लेखकों के विषय में भी उत्पन्न होती है।

कुछ भी हो इन्होंने रंगमंचीय नाटक साहित्य की वृद्धि ही की है।

अव्यवसायी कम्पनियाँ

इनके दो रूप हैं। कुछ तो वे मण्डलियाँ हैं जिन्होंने नाटक का अभिनय इसलिए भी किया कि नाटक साहित्य का प्रचार हो और उनके खर्चे का काम भी चल जावे और इसलिए भी कि आमदनी का पैसा किसी सुकार्य में लगा दिया जाय। दूसरे प्रकार की मंडलियाँ वे हैं जो प्रायः प्रत्येक विश्व-विद्यालय और स्कूल आदि में पाई जाती हैं। उनका उद्देश्य प्रायः मनोविनोद हुआ करता है और नाटकों का अभिनय किसी विशेष उत्सव के ऊपर किया जाता है। इसमें भाग लेने वाले अवैतनिक और अव्यवसायी छात्रगण होते हैं। इन दोनों ने ही रंगमंच और तत्सम्बन्धी नाटक साहित्य में योग दिया है।

हाँ, पूर्वोक्त व्यवसायी कम्पनियों के विवरण से यह न समझ लेना चाहिए कि हिन्दी का रंगमंच केवल उन्हीं तक सीमित था और उर्दू वालों के अतिरिक्त उस समय में हिन्दी भाषाभाषियों ने अपने साहित्य के प्रसार के लिए कोई उद्योग नहीं किया।

युक्त प्रान्त में हिन्दी के इस काल के मुख्य केन्द्र काशी, प्रयाग और कानपुर थे। भारतेन्दु और उनके समकालीन एवं परवर्ती नाटककारों का क्रिया-क्षेत्र भी यही भूभाग था। अतएव सब से प्राचीन हिन्दी नाटक-मंडलियों की स्थापना और उनके द्वारा अभिनय का आरम्भ भी यहीं हुआ। पं० शीतलाप्रसाद का जानकी-मंगल इस प्रकार का पहला हिन्दी नाटक था जिसका उल्लेख भारतेन्दु ने किया है। अन्य नाटकों के विषय में दूसरा उल्लेख पं० प्रतापनारायण मिश्र (सन् १८८८) का है। इस विषय पर उनकी टिप्पणी यह है—

"कानपुर और नाटक :—अनुमान १२ वर्ष हुए कि यहाँ के हिन्दुस्तानी भाई यह भी न जानते थे कि नाटक किस चिड़िया का नाम है। पहिले पहल श्रीयुत पंडितवर रामनारायण त्रिपाठी (प्रभाकर

महोदय) ने हमारे प्रेमाचार्य का बनाया हुआ सत्य हरिश्चन्द्र और वैदिकी हिंसा खेला था। यह बात कानपुर के इतिहास में स्मरणीय रहेगी कि नाटक अभिनय के मूलारोपक यही प्रभाकर जी हैं। और श्रीयुत बाबू बिहारीलाल जी परोपकारी इनके बडे भारी सहायक हैं। यद्यपि द्वेषियों ने बहुत सिर उठाया और लज्जा के साथ प्रकाश करना पड़ता है कि इस पत्र का सम्पादक भी इन्हीं में से था, पर उस देशाभिमान रूपी आकाश के प्रभाकर ने परम धीरता के साथ अपना सकल्प न छोड़ा। रामाभिषेकादि कई बडे-बडे अभिनय ऐसी उत्तमता से किए कि किसी से अद्यापि हुए नहीं। पर जब त्रिपाठी महाशय उद्यम-वशतः गोरक्षपुर चले गए तब से कई वर्ष तक इस विषय में सूनसान रही। केवल 'अंधेर नगरी' खेली गई थी। फिर लोगों के अनुत्साह से कई वर्ष कुछ न हुआ। हाँ ८५ के सन् में 'भारत दुर्दशा' खेली गई और 'भारत इन्टरटेनमेन्ट क्लब' स्थापित हुआ जिसके उद्योग से दो बेर अजामे बदी नाटक (फारसी वालों के ढग का नाटकाभास) खेला गया। कुछ आशा की गई थी कि कुछ चल निकलेंगे पर थोडे ही दिन में मेम्बरों के परस्पर फूट जाने से दो क्लब हो गए। फूटी हुई शाखा एम० ए० क्लब के नाम से प्रसिद्ध है। और पहिली का नाम दो एक हिन्दी रसिकों के उत्साह से श्री भारत-रजनी सभा हो गया। इसका वृत्तान्त पाठक गण उसके नाम से और प्रतापमिश्र की शराकत से समझ सकते हैं। सिवा इसके कि बाबू पप्पनलाल प्रेसीडेंट और बाबू राधेलाल मैनेजर भी उत्साही पुरुष हैं। इन दोनों सभाओं की देखा-देखी कई क्लब और भी खड़े हुए पर कई उगते ही ठिठुर गए। जागे भी तो इतना मात्र कि पारसियों की शिष्यता की इतिकर्तव्यता समझ के! सो भी न कर सके। ... .

. ...

.. . .

वर्ष भर से एक ए० बी० क्लब और हुआ है जिसने कई बेर उलट फेर

खाये पर अंत में एक परमोत्साही पुरुष रत्न की शरण ले के रक्षित रहा। ६ अगस्त को इस क्लब ने अभिनय किया पर हम यह मुक्त कंठ से कहेंगे कि यदि हमारे प्रिय मित्र श्री भैरवदास वर्मा तन, मन, धन से बद्धपरिकर न होते तो यह दिन कठिन था। नाटक पहिले-पहल था और भाषा भी उर्दू थी पर पात्र गण चतुर थे इससे अभिनय सराहने योग्य था इसमें शक नहीं। एम० ए० क्लब के कई सभासद नाराज हो के उठ गए यह अयोग्य किया और बहुत से अशिक्षित जन कोलाहल की लत भी दिखाते हैं पर हमारे कोटपाल श्री अली हुसेन साहब के परिश्रम और प्रबन्ध से शान्ति रही। सदमए-इश्क और गोरक्षा निर्विघ्न खेला गया। सुनते हैं कि इस क्लब में उत्तमोत्तम नागरी के नाटक भी खेले जाया करेंगे। परमेश्वर इस किंवदन्ती को सत्य करे।.... ....।"[1]

इस विवरण से पता चलता है कि कानपुर में भी रगमंच कायम करने का उद्योग हुआ परन्तु स्थायी रूप से कुछ न हो सका।

श्रीरामलीला नाटक मण्डली

मण्डलियों की स्थापना की दृष्टि से सबसे पहली मण्डली प्रयाग में स्थापित हुई। इस नाटक मण्डली का सर्वप्रथम नाम श्रीरामलीला नाटक-मण्डली था क्योंकि रामलीला के अवसर पर ही नाटक खेलने की दृष्टि से इसका श्रीगणेश हुआ था। प० माधव शुक्ल, प० बालकृष्ण भट्ट के द्वितीय सुपुत्र पं० महादेव भट्ट एवं अलमोड़ा निवासी प० गोपालदत्त त्रिपाठी के उद्योग से सन् १८९८ ई० में इसका जन्म हुआ। प्रयाग के उत्साही युवकों की यह त्रिमूर्ति राष्ट्रीय जागृति से अनभिज्ञ नहीं थी। अतएव इस मडली ने अपना उद्देश्य बनाया 'रामलीला के प्रसग मे वर्तमान राजनीति की भी आलोचना करना'। सबसे पहला नाटक 'सीय-स्वंयवर' अभिनीत किया गया। इसके

---

[1]. ब्राह्मण, भाग ६, संख्या १, पृ० ३४, १९ अगस्त १८८८।

लेखक प० माधव शुक्ल ही थे। नाटक खेला जा रहा था। दर्शक मडली में पं० मदनमोहन मालवीय भी सम्मिलित थे। पडित जी उस समय तक माडरेट थे। धनुष-भग के प्रसग में राजाओं की असफलता पर राजा जनक ने जो बात कही उसके साथ-साथ उनके मुख से एक कविता भी कहला दी गई (संभवतः यह पारसी रगमच का ही प्रभाव था) जिसका आशय कुछ इस प्रकार था—'ब्रिटिश कूटराजनीति के समान कठोर इस शिव-धनुष को तोड़ना तो दूर रहा, वीर भारतीय युवक इसे टस से मस भी न कर सके—यह अत्यन्त दुख का विषय है हाय!'

मालवीय जी इस उक्ति को सहन न कर सके और उसी सीन पर ड्राप डलवा दिया गया। परन्तु उत्साही त्रिमूर्ति ने अपने उद्देश्य की पूर्ति में किसी प्रकार की शिथिलता न आने दी। १६०७ तक यह मंडली चलती रही और यदा-कदा नाटकों का अभिनय कर लेती।

हिन्दी नाट्य समिति

परन्तु सन् १६०७ में आपस में कुछ मन मुटाव हो गया। मडली छिन्न-भिन्न हो गई। परन्तु सन् १६०८ में माधव शुक्ल ने फिर से इसका सगठन किया। अब की बार इसका नाम 'हिन्दी नाट्य समिति' रखा गया। स्व० पं० बालकृष्ण भट्ट, स्व० प्रधानचन्द्र प्रसाद, बा० भोलानाथ, बा० मुद्रिका प्रसाद, प० लक्ष्मी नारायण नागर और मैत्रेय बाबू ने विशेष रूप से इसमें सहयोग दिया। बा० पुरुषोत्तमदास टंडन, प० सत्यानन्द जोशी, पं० मुरलीधर मिश्र और स्व० 'प्रेमघन' जी के पुत्र भी इसमें सम्मिलित हो गए।

इस प्रकार नवीन व्यवस्थित समिति में बा० राधाकृष्ण दास जी कृत महाराणा प्रताप खेलने का निश्चय हुआ बाबू साहब उस समय जीवित थे। वह यद्यपि रोगग्रस्त थे फिर भी प्रयाग के निमंत्रण पर नाटक देखने के लिए आये और उन्हीं की उपस्थिति में 'महाराणा प्रताप' अभिनीत हुआ। उस समय प्रताप (शुक्ल जी), भामाशाह

(मिर्जापुर निवासी श्री प्रथम नाथ बी० ए०), मालती (बा० देवेन्द्रनाथ बनर्जी), गुलाब सिंह (प० लक्ष्मीकान्त भट्ट) और कविराज का अभिनय पं० महादेव भट्ट ने किया था। नाटक बड़ा सफल रहा विशेष रूप से उसका प्रहसन जिसमें एक मशायरा हुआ। मिसरा तरह था—

नहूसत का कौवा उड़ा चाहता है।

महादेव भट्ट अपने इस अभिनय में भी बहुत अधिक सफल रहे। अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के छठे अधिवेशन पर जो प्रयाग में स्व० डा० श्यामसुन्दर दास की अध्यक्षता में सन् १६१५ में हुआ था प० माधव शुक्ल प्रणीत 'महाभारत' (पूर्वार्ध) नाट्य समिति द्वारा अभिनीत हुआ। इस बार शुक्ल जी ने भीम, महादेव भट्ट ने धृतराष्ट्र, रास बिहारी शुक्ल ने दुर्योधन, बाबू प्रथमनाथ भट्टाचार्य ने युधिष्ठिर, लक्ष्मीकान्त भट्ट ने शकुनि, बा० पुरुषोत्तम नारायण चड्ढा ने अर्जुन, रामनारायण सूरि ने सजय, वेणी शुक्ला ने विदुर और देवेन्द्रनाथ बनर्जी न द्रोपदी का पार्ट किया था। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक बा० शिवपूजन सहाय ने लिखा है—"प्रत्यक्षदर्शी के नाते मैं जोर देकर कह सकता हूँ कि आज तक मैंने किसी हिन्दी रंगमंच पर वैसा सफल एव प्रभावशाली अभिनय नहीं देखा है।" अभिनेताओं के सम्बन्ध में बाबूजी का कहना है—

"यदि मैं बलपूर्वक इतना कह सकता हूँ कि पं० माधव शुक्ल जैसा 'भीम' और पं० महादेव भट्ट जैसा 'धृतराष्ट्र' आज तक मैंने किसी रगमच पर नहीं देखा है तो मैं यह भी जोर देकर कहना चाहता हूँ कि प० रासबिहारी शुक्ल जैसा 'दुर्योधन' भी मैंने कहीं नहीं देखा है।"[1] इस प्रशसा से प्रमाण-पत्र समीति की अभिनय सफलता का और क्या हो सकता है?

---

1 माधुरी वर्ष ८, खण्ड १, पृ० ८८२

नागरी-नाट्यकला प्रवर्तन मंडली

दूसरी मडली काशी की 'नागरी-नाट्य-कला प्रवर्तन मडली' थी। सन् १९०९ में इसकी स्थापना हुई थी। भारतेन्दु के घराने के स्व० बा० बृजचन्द जी, साह घराने के श्री कृष्णदास जी तथा काशी के प्रसिद्ध अभिनेता श्री हरिदास जी माणिक इसके संस्थापकों में से थे। कुछ दिनों बाद इसके भी दो भाग हो गए। एक का नाम भारतेन्दु नाटक मडली पड़ा और दूसरे का काशी नागरी-नाटक मंडली।

आरभ में इस मण्डली को बड़े बडे धनी राजों और महाराजों का सहयोग प्राप्त था और उन्होंने बड़ी उदारता से इस की धन से सहायता की थी। २७ जुलाई सन् १९०९ को इसमें पहला नाटक खेला गया। भारतेन्दु का ही लिखा हुआ कोई नाटक था। उस समय प्रधान अभिनेताओं में श्री हरिदास माणिक और श्री धर्मदत्त गुर्जर थे। उसके पश्चात् २७ नवम्बर सन् १८८९ को 'महाराणा प्रताप' का अभिनय हुआ। दर्शक-मडली में काशी-नरेश, गिद्धौर-नरेश, मझौली-नरेश, राजा मुशी माधोलाल जी, राजा मोतीचंद एवं राजा साहब बस्ती भी उपस्थित थे। ७ वीं जून १९१२ को काशी-नरेश के राज्याधिकार प्राप्त करने पर 'युधिष्ठिर अथवा 'पांडव-प्रताप' का अभिनय हुआ। काशी विश्व-विद्यालय के लिए आए हुए प्रति-निधि-मडल के आने पर 'महाराणा प्रताप' फिर से अभिनीत हुआ। युक्तप्रान्त में बाढ़ आने पर पीड़ितो की सहायतार्थ ६ जनवरी १९२६ को 'अत्याचार' का अभिनय किया गया। और तत्पश्चात् समय समय पर क्रमशः 'सम्राट अशोक', 'महाभारत', 'भीष्म-पितामह', 'वीर बालक अभिमन्यु', 'भक्त सूरदास', 'बिल्व मगल', 'संसार स्वप्न', 'कलियुग', 'पाप-परिणाम एवं 'अत्याचार' आदि रंगमच पर खेले गए। उस समय के सफल अभिनयो और पात्रों के कौशल के सम्बन्ध में प्रशसात्मक लेख लिखे। यथा—

"....तीन दिन खासी भीड़ रही और अभिनय बहुत लंबा होने पर भी दर्शक अन्त तक उत्सुक दृष्टि से देखते रहे। अभिमन्यु का पार्ट मंगली प्रसाद और जयद्रथ का बनारसीदास ने बहुत अच्छा किया। सबसे अधिक सफलता बा० आनन्द प्रसाद कपूर को अर्जुन का पार्ट करने में हुई। उनकी अभिनय कुशलता देखकर दर्शक-मंडली मुग्ध-हो गई।"[1]

"मंडली दिन प्रति दिन उन्नति कर रही है। प्रत्येक पात्र ने अपना अपना पार्ट उत्तमता से दिखलाया। कितने ही पात्रों को दर्शकों और रईसों की ओर से स्वर्ण और रौप्य पदक दिए गए। बा० आनन्द प्रसाद जी ने अर्जुन का पार्ट बहुत ही उत्तमता से दिखलाया। एक विशेषता और थी कि जितने पात्र स्टेज पर आए सब स्वदेशी वस्त्र में थे। किसी के शरीर पर विदेशी वस्त्र नहीं दिखलाई पड़ा।"[2]

इस काशी नागरी-नाटक मण्डली के अभिनेताओं में उल्लेखनीय हैं श्री प० राधाशङ्कर व्यास, पं० काशीनाथ (बच्चू जी), बा० दुर्गा प्रसाद शास्त्री, बा० श्यामसुन्दर दास, बा० हरिदास माणिक, बा० आनन्द प्रसाद कपूर, बा० बनारसीदास खन्ना, बा० ठाकुरदास बी० ए०, एल-एल०-बी०, रलियाराम, प० मंगली प्रसाद अवस्थी, पं० श्री कृष्ण शुक्ल, पं० लक्ष्मी नारायण शास्त्री, पं० विशेश्वर नाथ बी० ए०।

तीसरी नाटक मंडली श्री भारतेन्दु नाटक-मंडली (काशी) थी। जैसा कहा जा चुका है, यह मण्डली काशी-नागरी-नाटक मण्डली की ही साथी संस्था थी। इसकी स्थापना सन् १९०८ ई० में भारतेन्दु के भतीजे कृष्णचन्द्र और ब्रजचन्द्र द्वारा हुई। इसके विषय में कोई विशेष विवरण प्राप्त नहीं। इतना पता चलता है कि इसमें राधाकृष्ण

१—दैनिक 'आज' २-२-१९२२

२—'भारत-जीवन' ६-२-१९२२

दास जी के 'महाराणा प्रताप', भारतेन्दु के 'सत्य-हरिश्चन्द्र' और श्री गोविन्द शास्त्री दुग्वेकर के 'सुभद्रा-हरण' का अभिनय हुआ था। इसके अभिनेताओं में प्रमुख व्यक्ति थे श्री गोविन्द शास्त्री दुग्वेकर, विद्यानाथ सुकुल, बालकृष्ण दास (राधाकृष्ण दास के सुपुत्र), डा० वीरेन्द्रनाथ दास, मनोहर दास सोनी, भगवतीप्रसाद मिश्र बी० ए०, महेन्द्र लाल मेंढ, कुवर कृष्ण कौल एम० ए०, केशव राय टडन, ब्रजरत्न दास बी० ए० एल-एल० बी०, वीरेश्वर बनर्जी एम०एस-सी० और पं० रामचन्द्र मिश्र बी० ए०, एल० टी०।

हिन्दी नाट्य परिषद्

चौथी नाटक मण्डली कलकत्ते की हिन्दी नाट्य परिषद थी जिसकी स्थापना प्रयाग के प० माधव शुक्ल द्वारा हुई। नाट्य परिषद ने भी अनेक नाटक खेल कर ख्याति प्राप्त की। इसके अभिनेताओं में शुक्ल जी के अतिरिक्त उनके पुत्र विजयकृष्ण, ईश्वरीप्रसाद भाटिया, भोला-नाथ बर्मन, अर्जुनसिंह, परमेष्ठीदास जैन, देवदत्त मिश्र, श्री बच्चू बाबू, श्री कृष्ण पांडे, केशवप्रसाद खत्री एव अबाशकर नागर प्रमुख हैं।

उपर्युक्त नाटक मण्डलियों के अतिरिक्त हिन्दी रगमच का अस्थायी रूप और भी है जिसे विद्यार्थी-रगमंच कहा जा सकता है। आज कल भी प्रायः यह सभी कालेजों, विश्व विद्यालयों और कुछ प्रमुख स्कूलों में पाया जाता है। किसी विशेष उत्सव पर विद्यार्थी अपनी-अपनी सस्थाओं में नाटक खेलते हैं। यद्यपि इस सस्था के साधन बडे परि-मित होते हैं परन्तु फिर भी नाटक की परम्पराओं को सुरक्षित रखने में इन्होंने बड़ी सहायता दी है।

प्रयाग विश्वविद्यालय के छात्रावास हिन्दू बोर्डिग हाउस द्वारा प्रत्येक उपाधि-वितरण के अवसर पर नाटक खेलने का उपक्रम हुआ करता था। वर्तमान युद्ध की कठिनाइयोंकेकारण उसमें कुछ विघ्न होगया, अन्यथा यह सत्य है कि इस अव्यावसायिक नाटक को देखने के लिए प्रयाग की जनता उमड़ पड़ती थी। उक्त छात्रावास के रंगमच से द्विजेन्द्र-

लाल राय के प्रायः सभी नाटकों का अभिनय हो चुका है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री सुमित्रानदन पंत भी स्त्री-वेश में इस मञ्च पर आ चुके हैं। विश्वविद्यालय के प० श्री गोविन्द तिवारी एम० एस-सी० तथा केवल कृष्ण मेहरोत्रा एम० ए०, बी० लिट् (आक्सफोर्ड) अपने समय के सफल अभिनेता थे। मेहरोत्रा बाबू स्त्री पार्ट के लिए प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं।

प्रयाग में बगालियों के धार्मिक तथा सामाजिक उत्सवों पर बगला नाटकों के खेलने की प्रथा चली आ रही थी। सन् १६४५ ई० में जब भारतीय नाट्य सघ के केन्द्रीय दल ने अखिल भारतीय भ्रमण किया और अपने नाटकों का प्रदर्शन स्थान-स्थान पर किया गया तो उसके कारण स्थानीय कलाकारों और अभिनय प्रेमियों को भी प्रेरणा मिली। फलतः प्रयाग मे भी जन नाट्य संघ की शाखा खुली और उसके मच पर दर्जनों नाटक खेले गये। ये नाटक राजनीतिक-सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डालते। बङ्गला से अनूदित नाटकों के अतिरिक्त अनेक हिन्दी के मौलिक तथा कहानियों के रूपान्तरित एकांकी भी खेले गये। प्रयाग और सम्भवतः इस प्रदेश में नारी पात्रों की भूमिका करने के लिये सम्भ्रान्त कुलों की पढ़ी लिखी और देश भक्त लड़कियों ने प्रथम बार रंगमच पर प्रस्तुत होकर अभिनय किया। भारतीय जन नाट्य सघ का वार्षिक अधिवेशन भी दिसम्बर १६४६ ई० में प्रयाग में ही हुआ था। उस समय प्रसिद्ध कलाकार बलराज साहनी, अमर शेख, प्रेम अदीब आदि ने अभिनय किया। इस समय प्रयाग में रगमच, रगवाणी, रंगभूमि और रंगशाला नाम की चार सस्थाओं के अतिरिक्त अनेक नाटय संस्थायें काम कर रही हैं। रंगवाणी तो अखिल भारतीय संस्था है और उसका सचालन श्रीमती महादेवी वर्मा करती हैं। इस सस्था को मामा वरेरकर तथा अन्य ख्याति प्राप्त अभिनेताओं, कलाकारों और नाट्यकारों का सहयोग और आशीर्वाद प्राप्त है। प्रयाग में श्रीमती रेखा जैन, श्रीमती

सादिका सरन, श्रीमती चाड्ना दास जैसी महिलाओं ने अपने सफल अभिनयों से कीर्ति ही नहीं अर्जित की वरन् दूसरी लड़कियों और महिलाओं को भी रंगमंच पर आकर अभिनय करने के लिये प्रोत्साहित किया। प्रयाग में अनेक नाटककार है जो नाटक तो लिखते रहे हैं परन्तु उनके अभिनय के सम्बन्ध में वे चिन्ता नहीं करते थे। मगर अब धीरे धीरे तथाकथित साहित्यनाटकों और रंगमंचीय नाटकों की दूरी कम होती जा रही है। पृथ्वी राज कपूर कई बार अपने नाटकों को प्रयाग में रंगमञ्च पर प्रस्तुत कर चुके हैं। इस समय प्रयाग में आधुनिक रंगशाला निर्मित करने का चर्चा चल रहा है। आज प्रयाग में नाटकों और रंगमञ्च के संबंध में जो उत्साह दिखायी दे रहा है वह प्रयागवासियों के रङ्गमञ्च प्रेम और अभिनय की पुरानी परम्परा की ही अभिनव कड़ी है।

प्रयाग के बाद काशी में रंगमञ्च के संबंध में सब से अधिक उद्योग हुआ है। नाट्य साहित्य तथा रंगमञ्च के सम्बन्ध उत्तराखंड में सब से अधिक और सबसे पहिले काशी में ही उद्योग हुआ। अतः काशी नाटक प्रेमियों ने इस समय भी उस परम्परा को कायम रखा है और वहाँ सदैव नाटकों तथा रङ्गमञ्च से सम्बन्धित अभिनय, उद्योग और प्रयोग होते रहते हैं। काशी में पुरानी नाट्य संस्थाओं के अतिरिक्त इस समय 'नटराज' नाटक संस्था ने भी काफी काम किया है और अनेक नाटकों को रङ्गमंच पर प्रस्तुत किया है। वहाँ भी इस प्रकार का प्रयास हो रहा है कि साहित्य नाटकों और अभिनेय नाटकों के बीच जो खाई है वह किसी प्रकार समाप्त हो जाय। काशी वासियों को भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का उत्तराधिकार प्राप्त है। इस लिये वहां के साहित्यकार और कलाकार इस उद्योग में अधिक शीघ्र ही सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

रंगमचीय नाटकों की परम्परा यों तो अमानत की इन्दर सभा से आरम्भ होती है। परन्तु जहाँ तक हिन्दी रंगमंच का प्रश्न है यह

बात पूर्णतया सत्य नहीं है। भाषा, भाव, परम्परा, प्रेरणास्रोत, दृष्टि
कोण, आदर्श और रूप विधान—सभी दृष्टियों से आरम्भ से ही
हिन्दी रंगमच, 'इन्दर सभा' आदि के बावजूद अपना स्वतत्र औ
स्पष्ट स्थान बनाता आया है। यह सही है कि पारसी नाटक
मण्डलियों और कम्पनियों के लिये हिन्दू तथा उर्दू दोनों भाषाओं
नाटक लिखे गये और थियेट्रिकल कम्पनियों के अनेक ढंगों औ
टेकनीक को भी लिया गया परन्तु यह भी सत्य है कि यह सब कुछ
होते हुये भी हिन्दी रगमंच अपनी स्वतत्र सत्ता बनाये रखने में सफल
रहा। जहाँ उसमें कहीं-कहीं ओछापन, अश्लीलता, सस्ता मनोरंज
कुरुचि के चिह्न दिखाई दिये वहीं उसमें भारतीय संस्कृति पर गव
स्वतत्रता की उत्कट अभिलाषा, राष्ट्रीय एकता, दलितोद्धार, नारी व
मर्यादा आदि से सम्बन्धित समस्यायें भी उठाई गयीं। पौराणि
आख्यानों का सहारा लेकर जो नाटक रचे गये, उनमें भाषा अथ
कला की दृष्टि से चाहे जो भी कमी रही हो, मगर आदर्श, सन्दे
और उद्देश्यों की दृष्टि से वे सदैव उच्चस्तरीय और प्रशंसनीय रहे
कमी कभी तो इन नाटकों ने क्रान्तिकारी आन्दोलन को उभारने
जन जीवन को जाग्रत करने और मूक जन समाज को प्रखर चुनौत
पूर्ण वाणी प्रदान करने में भी सफलता प्राप्त की।

> भारत माता की याद में यह गाना भी रोना है।
> पानी नहीं है पास अब आंसुओं से मुँह धोना है॥

तथा

> हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।
> आवहु सब मिलि कर रोवहु भारत भाई—

दोनों में मूल भावना और प्रेरणा एक ही है। इसीलिये ज
एक ओर पंडित माधव शुक्ल, पंडित राधेश्याम कथावाचक आदि
रगमंचीय नाटक सामने आये वहीं पडित माखन लाल चतुर्वेदी

दास मेहरा का 'जावानी की भूल' आदि नाटक भी हिन्दी प्रेमी भारतीयों के सामने आये।

यहाँ हम हिन्दी के उन कुछ नाटककारों और उनके नाटकों का परिचय दे रहे हैं जिन्होंने पारसी थियेटरों की बहती हहराती आंधी के सामने हिन्दी के स्वस्थ रंगमच और नाट्य परम्परा के उच्च आदर्शों के दीपक को जिलाये और जलाये रखा। श्री सोमनाथ गुप्त की पुस्तक 'हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास' में विवरण के साथ यह परिचय दिया हुआ है।

पं० माधव शुक्ल

यद्यपि इन्होंने केवल दो नाटक लिखे—सीय-स्वयंवर (सन् १८९८) और महाभारत पूर्वार्ध (सन् १९१६) परन्तु नाटक-साहित्य की उन्नति के लिए इन्होंने बड़ा प्रयास किया। सीय-स्वयवर छपा नहीं परन्तु महाभारत के कारण इनकी पर्याप्त ख्याति हुई।

इनका कार्य-क्षेत्र केवल प्रयाग तक ही सीमित नहीं था। लखनऊ, जौनपुर और कलकत्ते में जाकर इन्होंने नाटक मडलियों की स्थापना की परन्तु यह मण्डलियाँ किसी प्रकार का उल्लेखनीय कार्य न कर सकीं। केवल कलकत्ते की नाट्य-परिषद् ने अवश्य नाटक साहित्य और कला के प्रसार में अच्छा हाथ बटाया। कलकत्ता-निवासियों को हिन्दी-नाटकों की ओर आकर्षित करने का बहुत बड़ा कार्य इस परिषद् ने किया। इसी परिषद् की स्थापित परम्परायें अभी तक भी नाटक साहित्य और कला को कलकत्ते में जीवन दान दे रही हैं।

आनन्द प्रसाद खत्री,(र० का० १९१२-३०)

इनका जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित घराने में हुआ है। सब से प्रथम मूक-सिनेमा की ओर इनकी रुचि हुई और सिनेमा मैनेजरी से ही अपने जीवन का आरंभ किया। इसके पश्चात् स्वयं अभिनय करना आरम किया। यद्यपि वीर अभिमन्यु में अर्जुन का तथा किंग

लियर में लियर का इन्होंने बहुत ही सुन्दर अभिनय किया था परन्तु इनकी प्रशंसा पागल का पार्ट करने में विशेष थी। सवाक् चित्रों के आने पर मूक चित्रों ने विदा ले ली और खत्री जी भी बंबई में आकर शारदा कम्पनी के डाइरेक्टर पद पर नियुक्त हो गए।।

आनन्द प्रसाद जी ने कई नाटक लिखे—गौतम बुद्ध (१९२२) कृष्ण-लीला (१९२२), ध्रुव-लीला (१९२६) परीक्षित, भक्त सुदामा आदि। इनके अतिरिक्त कलियुग, संसार स्वप्न, बिल्व-मंगल और राधा-माधव आदि नाटकों का संपादन भी किया।

इनके नाटकों में चमत्कार होते हुए भी वस्तु-गठन सुन्दर है। भाषा बड़ी प्रौढ़ है, यद्यपि तुकान्त गद्य का प्रयोग कभी कभी खटकने भी लगता है।

हरिदास माणिक (र० का० १९१५-२०)

इनका निवास स्थान काशी है वहीं पर स्कूल में मास्टर हैं। आरंभ से ही अभिनय कला में रुचि रही है और अनेक बार सफल अभिनय कर दर्शक मण्डली द्वारा प्रशंसित किए गए हैं। इन्होंने हरिश्चन्द्र नाटक में शैव्या का, राणा प्रताप या मेवाड़ मुकुट में वीरसिंह और अफीमची का, पाण्डव-प्रताप में ढोलक शास्त्री का, कलियुग में रायबहादुर घसीटासिंह का और संसार-स्वप्न में बेटा दीना का सुन्दर अभिनय किया था, जिसके परिणाम स्वरूप मञ्च पर ही दर्शकों ने इन पर रुपये और गिन्नियाँ फेंकी थीं। सेंट्रल हिन्दू कालेज के संगीत-अध्यापक प्रोफेसर हरिकृष्ण हरिहरलेकर से विष्णु दिगम्बर की गायन पद्धति भी सीखी थी। अपने नाटकों में इन्होंने इस ज्ञान से समुचित लाभ उठाया।

माणिक जी के तीन नाटकों का पता चला है—इनमें से प्रथम दो उनके सफल नाटक हैं।

१. संयोगिता-हरण या पृथ्वीराज (१९१५)
२. पाण्डव-प्रताप या युधिष्ठिर (१९१७)

३. श्रवण कुमार (१६२०)

सयोगिता-हरण या पृथ्वीराज—(१६१५)—तीन अंक का नाटक है। कथा-वस्तु प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना पर अवलम्बित है। प्रथम अक के नौ दृश्यों में सयोगिता का विनय, मगल पाठ, और पृथ्वीराज की वीरता एवं शौर्य का समाचार सुनकर उन्हें अपना पति बनाने की इच्छा, जयचन्द की राजसूय-यज्ञ करने की अभिलाषा और पृथ्वी-राज द्वारा उसमें विघ्न होने की आशङ्का, सयोगिता की पृथ्वी-राज-प्रेम-दृढ़ता, पृथ्वीराज द्वारा जयचन्द की पुत्री को भगा लाने का परामर्श आदि प्रसगो की घटनाओं का वर्णन है। दूसरे अक के चार दृश्यों में पृथ्वीराज और उसके साथियों का कान्नौज में प्रवेश तथा चन्दवरदायी और राजा जयचन्द की भेंट का प्रसंग है। इस अक के अन्तिम दृश्य में चद द्वारा पृथ्वीराज के शौर्य और प्रताप की सुन्दर व्याख्या है। तीसरे अक के तीन दृश्यों में सयोगिता-हरण, राजमार्ग में पृथ्वीराज और सयोगिता की जयचढ से मुठभेड़ होते-होते बचना और अजमेर पहुँचकर उसका पाणि-ग्रहण करने की कथा है। अन्तिम दृश्य में यह भी दिखाया गया है कि राजा जयचंद द्वारा प्रेषित एक पुरोहित देवता बहुत सा दहेज का सामान लेकर अजमेर पहुँचते हैं और यह समाचार देते हैं कि पगराज जयचद ने कहा है कि 'जो कुछ हुआ सो हुआ पर अब मर्यादा सहित विवाह हो।' पृथ्वीराज उसे स्वीकार करते हैं। सब आशीर्वाद देते हैं।

पांडव-प्रताप अथवा युधिष्ठिर (१६१७)—यह भी तीन अंक का नाटक है। प्रथम अक में आठ दृश्य हैं। धर्मराज युधिष्ठिर की राजसभा में नारद मुनि प्रवेश करते हैं और कहते हैं :

"हे कुन्तीपुत्र ! तुम्हारे पिता कौरवनन्दन पांडु ने भी राजा हरिश्चन्द्र की शोभा देखकर मुझको यह सन्देशा तुमसे कहने के लिए कहा है कि महाप्रतापी युधिष्ठिर के सब भ्राता वश में हैं। इस कारण सपूर्ण धरती विजय कर वे राजसूय यज्ञ करें। यदि वह पूरा

हो गया तो मैं भी इन्द्र-सभा में राजा हरिश्चन्द्र की समता करने लगूँगा।"

पिता की इच्छा के अनुकूल धर्मराज अपने भाइयों और मित्रों से मंत्रणा करते हैं और श्रीकृष्ण की सम्मति मिलने पर राजसूय यज्ञ की तैयारी आरभ हो जाती है। सबसे पहली बाधा जरासन्ध राजा की बढ़ती हुई शक्ति और उसका प्रताप प्रतीत होता है। अतएव कृष्ण की योजना के अनुकूल भीम और अर्जुन को लेकर वह जरासन्ध की राजधानी में पहुँचते हैं और वहाँ भीम गदा-युद्ध में उसका वध करता है। बन्दी राजाओं को स्वतंत्र कर कृष्ण सबसे युधिष्ठिर का आधिपत्य स्वीकार कराते हैं। दूसरे अक के आठ दृश्यों में जरासंध के पुत्र सहदेव के राजतिलक, कृष्ण आदि के वापिस आने, और भाइयों के भी देश-विदेश को अधीन कर बहुत सा धन लाने की कथा है। तीसरे अक के ५ दृश्यों में शिशुपाल-वध और युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति है।

नाट्य-विधान—दोनों नाटकों का आरंभ और अन्त संस्कृत प्रणाली पर हुआ है। सूत्रधार और नटी के संवाद द्वारा नाटक का परिचय दिया गया है और भरत-वाक्य की तरह दोनों का शुभ-कामना के रूप में अन्त हुआ है। मगलाचरण के रूप में दो गाने हैं। ड्राप के उठते ही इन गानों से ही नाटक का आरभ होता है। कथा-वस्तु का विभाजन गति और घटनाओं के विकास के अनुकूल है और जैसा ऊपर वर्णित है भिन्न भिन्न दृश्यों के अन्तर्गत रखा गया है। दृश्यों का क्रम रगमंच की सुविधाओं के अनुसार है। पात्रों का प्रवेश और प्रस्थान, दृश्य (पर्दे) गिरना और उठना इस प्रकार रखे गए हैं कि मंच तनिक सी देर के लिए भी खाली नहीं रहता। यद्यपि दोनों नाटक वीर रस प्रधान हैं और उनमें शृगार की पर्याप्त मात्रा है परन्तु हास्य का पुट भी प्रस्तुत है। सयोगिता-हरण के

त्र्यम्बक महाशय और पांडव प्रताप के ढोलक शास्त्री हास्य की पूर्ति के निमित्त कारण हैं।

कलात्मक दृष्टि से भी नाटकों में कोई विशेष त्रुटि नहीं है। कथावस्तु का विकास सुन्दर है, चरित्र-चित्रण भी स्वाभाविक और इतिहासानुकूल है। सवादों में यथेष्ट शक्ति है, दो-एक स्थानों पर आवश्यकता से अधिक लम्बे होने के कारण उनमें एकरसता आ गई है। सगीत भी यथा-स्थान उपयुक्त है। परन्तु सबसे बड़ी कमी यही है कि गीति-काव्य कुछ उच्च कोटि का नहीं।

इसमें सन्देह नहीं कि दोनों नाटक पारसी नाटक वालों की कृत्रिमता और चमत्कार से रहित होने से कारण अधिक स्वाभाविक और रुचिकर लगते हैं। यदि गीतों मे भी उच्च कोटि की कविता होती तो दोनो नाटक उत्कृष्ट कोटि में रखे जाते। इन नाटकों के देखने से यह भी समझ में आ जाता है कि पारसी नाटकों के विपरीत ये हिन्दी वालों की प्रतिक्रिया स्वरूप हैं और इसके द्योतक हैं कि पारसी कम्पनियों वाले भद्दे नाटकों में मजा लेते हुए भी हिन्दी-भाषा-भाषी जनता अपनी रुचि को बिलकुल ही नहीं गँवा बैठी थी।

नागरी नाटक मडली द्वारा पाडव-प्रताप का बड़ा सफल अभिनय काशी में हुआ था। ७ जून सन् १९१२ ई० को उसे देखने के लिए स्वय श्रीमान काशी-नरेश आए थे। नाटक के लेखक ने ढोलक शास्त्री का अभिनय किया था। काशी-नरेश ने प्रसन्न होकर पात्रों के सम्मानार्थ २००) प्रदान किए थे।

प्राचीन नाटक-प्रणाली (सस्कृत वाली) और अर्वाचीन नाटक-प्रणाली (पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली) का सुन्दर समन्वय इन दोनों नाटकों में प्रस्तुत है।

इन मडलियों से सम्बन्धित नाटककारों मे सुभद्रा-हरण (सन् १९१०) और हर हर महादेव (१९३०) के लेखक प० गोविंद शास्त्री दुग्वेकर नाम भी उल्लेखनीय है।

५० माखनलाल चतुर्वेदी

चतुर्वेदी जी हिन्दी जगत में कवि और पत्रकार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। परन्तु अपने कृष्णार्जुनयुद्ध (सन् १९१८) नाटक में उन्हें बड़ी सफलता मिली है। नाटक की कथा-वस्तु का आधार यद्यपि पौराणिक है परन्तु उसमें वर्तमान राजनीति का पुट विद्यमान है। द्वितीय अक के चौथे दृश्य में इन्द्र की सभा लगी हुई है। अग्नि, वरुण, कुवेर, यम आदि सब देवता अपने अपने अधीनस्थ का विवरण देते हैं। प्रत्येक देवता के वचनों में राजनीति का वर्तमान कलेवर विद्यमान है। कुवेर तो भावी आशंका का वर्णन करते हुए यहाँ तक कह देते हैं :—

"इन्द्र—धनराज ! आपका शासन अत्यन्त उत्तम है किन्तु यह कहिए, उस मूर्ख और अयोग्य पुत्र ने कौन सा उद्यम किया है जो अपने करोड़पति पिता से धन-वैभव का स्वामी बन जाता है।'

"कुवेर—महाराज ! इसमें मेरे प्रबन्ध का दोष नहीं। दोष है अपने को बुद्धिमान और स्वाधीन समझने वाले मनुष्य का। उसने किस कारण वश ऐसे सामाजिक और राजकीय नियम बना रखे हैं जिनके कारण धूर्त और अयोग्य भी अपार सम्पत्ति के स्वामी बन सकते हैं और धनवान तथा गरीब का भेदभाव सदा के लिए दृढ होता रहता है। किन्तु आगे चलकर पृथ्वी पर समष्टिवाद का बल बढ़ेगा। लोग प्रयत्न करेंगे कि धनवान और धनहीन का भेद मिटे। सुवर्ण तथा ऐश्वर्य से दमकते हुए महल और पास ही छप्पर रहित झोपड़ी दिखाई न देगी। महल तोड़े जावेंगे, झोपड़ियाँ हवेलियों में परिणत की जावेंगी। धन और धरती का संसार के सभी मनुष्यों में बराबर बँटवारा होगा। सब सुख से रहेंगे। केवल धन के कारण किसी को बड़प्पन नहीं मिल सकेगा क्योंकि एक के पास दूसरे से अधिक धन रहेगा ही नहीं।"

नारद जी तो मानो सत्ताधारियों और उनके मनमाने अत्याचार

करने की शक्ति का नाश करने पर ही तुले बैठे हैं। स्थान स्थान पर वह कहते हैं—

"......मेरी नई युक्ति सध गई तो कृष्ण की प्रतिज्ञा मृगजल हो जावेगी। सत्ताधारियों की बुद्धि ठिकाने आजावेगी। अत्याचारियों की आँखों की अधेरी हट जायगी और अविचारी प्रतिज्ञावादी अपना सिर सदा के लिए नीचा कर लेंगे।"

"..... सत्ता का दुरुपयोग करने से क्या दुर्घटनायें होती हैं—यह सब को मालूम हो जायगा।......"

"राजमद में आकर श्रेष्ठ राजा भी न्याय के सिद्धान्तों का उल्लङ्घन करने में नहीं हिचकते। ऐसी अवस्था में दीन निर्बल की रक्षा का कोई ठिकाना नहीं रहता।"

नाटक में हास्य का भी उपयोग उचित रीति से किया गया है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए दो पात्रों का आश्रय लिया गया है—शशि और शख गालव के दो शिष्य हैं। शशि गुरुभक्त है और शख शक्ति-भक्त। शख के द्वारा प्राचीन अध्ययन-प्रणाली और ब्राह्मणी तपस्या श्राप एव क्रोध का सुन्दर और शिष्ट परिहास कराया गया है।

नाटक साहित्यिक दृष्टि से भी उत्कृष्ट है और रंगमचीय दृष्टि-कोण से भी सफल है। दोनों आवश्यकताओं का सुन्दर समन्वय इसी नाटक में हुआ है।

यह नाटक हिन्दी की ठोस और अमूल्य निधि है। यदि माखन-लाल जी ने दो चार और ऐसे नाटक लिख दिए होते तो हिन्दी साहित्य के लिए वे गर्व की वस्तु होते।

जमनादास मेहरा (र० का० १९२१-३२)

इन्होंने प्रचुर मात्रा में नाटक लिखे हैं जिनमें से अनेकों का अभिनय अव्यवसायी नाटक-समाजों तथा मण्डलियों द्वारा हो चुका

है। इन नाटकोंमें से सब का रचनाकाल विदित नहीं हो सका है। इनका रचनाकाल १६२१ से १६३२ तक सुगमता से माना जा सकता है। प्रमुख रचनाएँ—

विश्वामित्र (१६२१), देवयानी (१६२२), जवानी की भूल (१६२२), हिन्द (१६२२), विपद्-कसौटी (१६२३), कन्या विक्रय (१६२३), कृष्ण-सुदामा (१६२४), भक्त चन्द्रहास (१६२४), पाप परिणाम (१६२४), मोरध्वज (१६२६), पंजाब केसरी (१६२६), सती चिंता (१६२६), भारत पुत्र (१६३०), हिन्दू-कन्या (१६३२)। वसन्त-प्रभा का समय उस पुस्तक पर नहीं दिया गया परन्तु पढ़ने से वह लेखक की आरंभिक रचना प्रतीत होती है।

जवानी की भूल (१६२२)—सामाजिक नाटक है। रामनाथ नामक एक धनी व्यक्ति का पुत्र मानिकलाल अपनी सती पत्नी रमा को छोड़ कर फूलमणि वेश्या के प्रेम-जाल में फँस जाता है। उसका मित्र होकर भी किशोर, जो स्वय फूलमणि से प्रेम करता है, इस प्रपञ्च में शामिल है। मानिकलाल सब कुछ खो बैठता है और किसी की सलाह की परवाह नहीं करता। परिणाम यह होता है कि फूलमणि उसके सब माल पर कब्जा कर अपने नौकर की हत्या के अपराध में उसे जेल भिजवा देती है। परंतु मानिकलाल का एक अन्य मित्र मोहन, उसकी पत्नी रमा और वफादार नौकर रामसेवक सब षड्यंत्र का पता लगा कर मानिकलाल को छुड़ा लेते हैं। मानिकलाल अपनी जवानी के जोश में वेश्या-प्रेम की जो भूल कर बैठा है उस पर पश्चात्ताप करता है और रमा तथा मानिक का मिलन हो जाता है।

नाटक की कथा-वस्तु सामाजिक जीवन के चित्र पर अवलम्बित है। उसका विकास अच्छा है। भाषा में शक्ति है। पद्य अधिक है। गीतों में गजलों की प्रधानता है।

घुड़दौड़ के शौकीन सम्पतराम की जुआ खेलने की आदत के कारण अपनी अमूल्य सम्पत्ति का नाश और अन्त में अपनी स्त्री

तारा तथा वफादार मुनीम के कारण फिर से भाग्यशाली बनते दिखाने वाला प्रहसन मूल कथानक का ही रूपान्तर है। दोनों में घटनाओं के कारण में थोड़ा अन्तर है परन्तु परिणाम एक से ही हैं।

वसन्त-प्रभा उर्फ एक पैसा—यद्यपि लेखक ने इसे 'प्राचीन भारत की एक सत्य घटना का जीता जागता चित्र' माना है परन्तु इसका कथानक एक आदर्श को लेकर लिखा गया है जो सब कालों में सत्य है। प्राचीनता की इसमें केवल दो ही बातें हैं—वसन्त और प्रभा का गुरुकुल में अध्ययन और सिंहल द्वीप की ओर व्यवसाय के लिए वसन्त का जाना।

विवाहित होने पर वसन्त और प्रभा में आपस में एक जरा से व्यग्य पर मनमुटाव हो जाता है जिसके कारण दोनों एक दूसरे से जबरदस्ती अलग हो जाते हैं यद्यपि अलग होने का मुख्य कारण स्वयं वसन्त है जो नल की तरह प्रभा को अकेला सोया हुआ छोड़कर चल देता है। अनेक घटनाओं द्वारा लेखक ने प्रभा के चरित्र का विकास किया है जो देखने में बड़ी विचित्र और रहस्यमयी मालूम होती हैं। दोनों के मिलन में भी यही बात है।

नाटकीय प्रदर्शन की दृष्टि से अनेक घटनाओं का चमत्कार दर्शकमडली के लिए उत्सुकता से पूर्ण है क्योंकि उसमें अस्वाभाविकता की मात्रा अधिक है और रंगमचीय ढंग से दिखाने में कौतूहल भी पर्याप्त है।

हिन्दू-कन्या (१६३२) एक सामाजिक नाटक है जिसमें कन्या का आदर्श दिखाया गया है। पति महोदय अपने पिता के कहने से पहली पत्नी का त्याग कर देते हैं क्योंकि वह एक गरीब की लड़की है। दोष यह लगाया जाता है कि उसका (राधा का) जन्म दलित कुल में हुआ है। अनेक प्रकार के अनुनय विनय पर भी रमणलाल का कलेजा उसके लिए नहीं पसीजता और अपने ससुर एव सास द्वारा तो राधा को पग पग पर ठुकराया जाता है। अपनी इज्जत

को बचाना भी उसके लिए कठिन हो जाता है। जिस समाज में टोडरमल जैसे धनवान विलासी हों एवं राधा जैसी विधवा असती युवतियाँ हों वहाँ ऐसा संकट कोई आश्चर्य की बात नहीं! लेखक ने अपनी कथावस्तु को इसी आधार पर विकसित किया है और अन्त में रमणलाल और उसके पिता को अपनी भूल सुझा कर उस पर पश्चात्ताप करते दिखाया है। नाटक की समाप्ति रमण और राधा के मिलन पर होती है।

मेहरा जी की लेखनी पौराणिक आख्यान और सामाजिक विषयों पर चली है। पौराणिक नाटकों—देवयानी, कृष्ण-सुदामा, भक्त चन्द्रहास, मोरध्वज, विश्वामित्र में उन्होंने यथाशक्ति प्राचीन आदर्श को रखने का प्रयास किया है। सामाजिक नाटकों में—जवानी की भूल, कन्या विक्रय, हिन्दू-कन्या, पाप-परिणाम—आदि में समाज की प्रतिदिन की समस्यायें हैं।

दुर्गाप्रसाद गुप्त (र० का० १९२२-३६)

यह भी काशीवासी थे। रंगमच पर इन्होंने पहले अभिनेता के रूप में प्रवेश किया और अवैतनिक क्लबों में अभिनीत होनेवाले नाटकों में भाग लेकर प्रशंसा प्राप्त की। तत्पश्चात् नाटक लिखने की ओर ध्यान गया और अपने अध्यवसाय से कई नाटकों की रचना की। थोड़े दिनों पश्चात् इन्होंने भी बम्बई जाकर एक नाटक कम्पनी में प्रवेश किया और उसी में स्वरचित हम्मीर-हठ का अभिनय भी किया। इसमें इन्हें विशेष सफलता प्राप्त हुई। तत्पश्चात् बीमार पड़ गए और काशी में आकर इनका शरीरांत हुआ।

गुप्त जी ने अनेक नाटक लिखे हैं जिनमें से कुछ का रचनाकाल संदिग्ध है। इनके प्रसिद्ध नाटकों में से हैं—भक्त तुलसीदास (१९२२), भारत-रमणी (१९२३), महामाया (१९२४), नवीन सङ्गीत थियेटर (१९२४) और नकाबपोश (१९३२)। इनके अतिरिक्त नलदमयन्ती, थियेटर बहार, दोधारी तलवार, गरीब किसान, देशोद्धार और श्रीमती

मंजरी नामक नाटक भी इन्होंने लिखे। इनमें श्रीमती मजरी सुन्दर नाटक है।

गुप्त जी के आरम्भिक नाटकों पर बगाल के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय का विशेष प्रभाव दिखाई देता है। 'महामाया नाटक' की कथा-वस्तु और उसका सम्बन्ध-सौष्ठव बिलकुल राय महाशय के दुर्गादास के अनुरूप है। महामाया के दूसरे अक का तीसरा दृश्य और तीसरे अंक का दूसरा दृश्य तो दुर्गादास से क्रमशः दूसरे अंक के छठे दृश्य एव चौथे अक के छठे दृश्य से इतना अधिक मेल खाते हैं कि उन्हें केवल रूपान्तर ही कहा जा सकता है।

श्रीमती मजरी में हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या को बहुत ही सुन्दर ढग से रखा गया है। आगा हश्र के नाटकों की तरह इस नाटक में भी दो कथानक हैं। मूल कथा का सम्बन्ध मंजरी, उसके पिता की दरिद्रता और विवशता एवं एक मुसलमान बालक का पालन पोषण कर उसे अपने पुत्र के समान मानने की उत्कठा तथा समाज के अभिशाप धनी, विलासियों के प्रतिनिधि की मजरी के प्रति प्रेम-लिप्सा, एव साधारण हिन्दू मुसलिम वैमनस्य के भावों की प्रचुरता से है। दूसरी का सम्बन्ध उधारचन्द्र की पुत्री चम्पा और रोकड़चन्द एव नैना के कार्य-कलाप से है। दोनों में से मूल कथा-वस्तु का विकास स्वाभाविक और पुष्ट है।

उसकी भाषा, भाव और संवाद सब में शक्ति है, प्रेरणा है, धारावाहिकता है। यद्यपि पारसी नाटकों की तरह इसमें भी पद्य की प्रधानता है परन्तु उन पद्यों में प्रौढता है और उनकी भाषा बड़ी मँजी हुई है।

श्रीमती मजरी उनके नाटकों में श्रेष्ठतम है।

शिवराम दास गुप्त

यह भी काशी निवासी हैं। नाटक ससार में इनका प्रवेश पहले स्वरकार के रूप में हुआ। उनके पश्चात् क्रमशः अभिनेता, सचालक

और लेखक हुए। साहित्य में इन्होंने द्विजेन्द्रलाल राय और आगा हश्र को अपना गुरु स्वीकार किया है। नाटक संसार समाप्त होने पर भी अभी तक नाटक लिखने में रुचि है। इनकी संस्था उपन्यास बहार आफिस स्वयं इसका प्रमाण है। अनेक लेखकों की रचनाओं को अपनी संस्था से प्रकाशित कर उन्हें नाटक लिखने के लिए इन्होंने प्रोत्साहित किया है।

रचनाओं की संख्या पर्याप्त है—

चिरागे चीन (१६२५), दूज का चाँद (१६३०), परिवर्तन (१६३१), पहली भूल (१६३२) और दौलत की दुनिया (१६३३)। इनके अतिरिक्त अन्य नाटक जिनका समय ज्ञात नहीं हो सका—मेरी आशा, बलिदान, देश का दुर्दिन, समाज का शिकार, वीर भारत, जवानी का नशा, आज की बात, आज कल, धरती माता, पशु-बलि आदि आदि।

शिवराम दास जी के नाटकों ने पर्याप्त लोक प्रसिद्धि प्राप्त की है। रंगमंच पर भी इन नाटकों को बड़ी सफलता मिली है।

बाबू बलदेवप्रसाद खरे *(र० का० १९२२-२५)*

इन्होंने भी कई नाटक लिखे परन्तु उनमें कोई विशेषता नहीं आ पाई। इसी कारण वे पारसी नाटक कम्पनियों के केवल हिन्दी रूप मात्र होकर ही रह गए।

अन्य नाटककारों और उनकी रचनाओं का उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है। इस प्रकार संक्षेप में हमने हिन्दी रंगमच की परम्परा और रगमंचों पर खरे उतरे कुछ नाटकों का चर्चा यहाँ किया। सत्य यह है कि हिन्दी में इस कोटि के नाटकों की संख्या भी बहुत बड़ी है। उनकी तालिका तैयार करना और क्रमिक रूप से उनका अध्ययन प्रस्तुत करना स्वयं अपने में बहुत बड़ा काम है। इस कोटि के नाटकों का अभी समुचित मूल्यांकन न हो पाया है। हिन्दी में जिन विद्वानों ने

इधर ध्यान दिया है वे भी न तो पूरी तालिका ही दे पाये हैं न सभी नाटकों का सम्यक् अध्ययन ही प्रस्तुत कर सके हैं। परन्तु जब तक इस पूरे युग के समस्त नाटकों का अध्ययन नहीं हो जाता, तब तक इस कोटि के नाटकों के सम्बन्ध में मत भी नहीं बनाया जा सकता।

जैसा कि हमने तथाकथित 'साहित्यिक' नाटकों का चर्चा करते हुये बताया है इस कोटि के नाटकों को हेय दृष्टि से देखा गया और साहित्यिक नाटकों को समादृत किया गया। मगर रगमच पर इसी कोटि के नाटक सफल उतरे और साहित्यिक नाटकों का प्रवेश रगमच पर नहीं हो सका। इसके लिये एक वर्ग को दोषी ठहराना उचित न होगा। असल में हिन्दी नाट्य साहित्य और रगमच का विकास ही कुछ इस प्रकार का हुआ कि साहित्यिक नाटककारों का सीधा सम्बन्ध प्रचलित रंगमच से न हो सका। इस दोष को मिटाने और हिन्दी रगमंच तथा नाट्य-साहित्य के विकास में नया युग आरम्भ करने का समय आ गया है।

उपसंहार

भारतीय वाङ्मय में हमें नाटकीय कथोपकथन का प्रथम उदाहरण 'सोमयाग' में प्राप्त होता है। इसी प्रकार यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी, इन्द्र-इन्द्राणी आदि का वार्तालाप भी इसी कोटि में आता है। हिन्दू धर्म ग्रन्थों तथा जैन और बौद्ध साहित्यों में भी नाटकों और रङ्गमञ्च के सम्बन्ध में कुछ न कुछ चर्चा मिलता है। अशोक के एक शिला लेख में समजा (सम्भवतः नाटक अथवा अन्य उत्सवों में भाग लेने वाला समाज) पर प्रतिबन्ध लगाया गया। यह प्रतिबन्ध ही इस बात का प्रमाण है कि अशोक के समय में समजा का प्रचलन था। छोटा नागपुर स्थित रामगढ पहाड़ी में दो गुफाएँ 'सीता बेंगा' और 'जोगी मारा' मिली हैं जहाँ पर डा० टी० ब्लाख के मत से ईसा के प्रायः तीन सौ वर्ष पहले नाट्योत्सव तथा नृत्यादि हुआ करते थे। 'सारिपुत्र प्रकरण' के लेखक अश्वघोष के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वह अयोध्या, काशी और पाटलिपुत्र में सामूहिक रूप से घूम घूम कर कविता पाठ और नाट्य अभिनय करते थे। 'सारिपुत्र प्रकरण' नामक नाटक पर १९२७ ई० में कुछ जर्मन खोजियों को चीन के कांसू प्रान्त में प्राप्त हुआ। भास के भी १३-१४ नाटक प्राप्त हो हैं चुके और उनका सम्पादन भी हो चुका है। शूद्रक के 'मृच्छकटिक', कालिदासकी 'शकुन्तला' आदि नाटकों, भवभूति के 'उत्तर रामचरित' नाटक, विशाख दत्त के 'मुद्रा राक्षस' नाटक और इनके जैसे अन्य कोड़ियों नाटक संसार प्रसिद्ध हो चुके हैं। कहते हैं कि संस्कृत में लगभग ६०० नाटक लिखे गए। नाट्य साहित्य के निर्माण के साथ रंगमञ्च के निर्माण की ओर भी आरम्भ से ही लोगों का ध्यान जाता रहा। अनेक नाटकों में, शिला लेखों में तथा अन्य

स्थानों पर ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनके सहारे तत्कालीन नाट्य साहित्य तथा रङ्गमञ्च के सम्बन्ध में कुछ अनुमान हम लगा सकते हैं। सस्कृत नाट्य साहित्य की परम्परा के समाप्त होते होते अपभ्रश ने उसका स्थान ले लिया और इस अपभ्रंश भाषा में ही किसी न किसी रूप में नाटकों का निर्माण होता रहा। लेकिन बाधाएँ तो अनेक आई और कभी-कभी तो ऐसा लगा कि नाट्य साहित्य की रचना की परम्परा ही समाप्त हो जायगी। परन्तु ऐसा हुआ नहीं। सस्कृत के नाट्य साहित्य और रगमच के अन्तिम काल में अपभ्रश में रचनाएँ हुई। यद्यपि मुसलमानी प्रभाव के कारण सामाजिक जीवन में रङ्गमञ्च का महत्व धीरे धीरे कम होने लगा परन्तु उनका स्थान अलिखित लोक नाट्यों ने ले लिया। इन लोक नाट्यों की परम्परा भी बहुत पुरानी है। शिष्ट नाट्य के सामने ये लोक नाट्य यद्यपि कुलीन वर्ग में बहुत अधिक प्रभावशाली न हो सके फिर भी इनकी परम्परा अविच्छिन्न रही। साधारण जन-समाज के हृदय को उल्लसित और उत्साहित करने की क्षमता इन लोक-नाट्यों में थी इसलिए साधारण जन समाज की ही सरक्षता में इनका विकास होता रहा। इसके बाद बगाल में यात्राओं का, गुजरात, राजस्थान और उत्तर प्रदेश में रासों का, मिथिला, नेपाल तथा आसाम में कीर्तनिया नाटकों का युग आया। साथ ही नेपाल, उड़ीसा तथा दक्षिण भागों के विशेष अचलों में सस्कृत नाट्य साहित्य के निर्माण का क्रम भी किसी न किसी रूप में चलता रहा। गुजरात, महाराष्ट्र, कन्नड़ प्रदेश, तमिलनाड, केरल और आन्ध्र में यद्यपि सस्कृत रगमच की परम्परा बहुत क्षीण हो गई थी फिर भी रिक्त स्थान को वहाँ के स्थानीय लोक नाट्य पूरा करते थे। बंगाल और उड़ीसा में श्री चैतन्य महाप्रभु तथा वृन्दावन में कृष्ण भक्त कवियों की साधना के फल स्वरूप सस्कृत नाट्य साहित्य तथा यात्रा और रास नाटकों का निर्माण भी होता रहा। अग्रेजी

देश का सर्वोत्कृष्ट और सर्वोन्नत रंगमच है। जैसा कि हम कह चुके हैं गुजरात में सस्कृत नाट्य परम्परा के अन्त के बाद अपभ्रंश और प्राचीन गुजराती के काल में नाट्य साहित्य की रचना बहुत कम हुई। वहाँ गर्वा और पवाड़ा आदि ने नाट्य परम्परा को किसी प्रकार जीवित रखा है। यहाँ भी उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में अंग्रेजी रगमंच का प्रभाव पड़ने लगा। परन्तु गुजराती रगमच को सबसे अधिक हानि पारसी थियेटरों से पहुँची। किसी प्रकार गुजरात के समर्थ नाट्यकारों और कलाकारों के प्रयत्न से अब गुजराती नाट्य साहित्य और रगमच का बहुमुखी विकास हो रहा है। जहाँ तक हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमच के विकास का प्रश्न है उसके विभिन्न स्तरों और युगों का विवरणपूर्ण वर्णन हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। यहाँ पर सस्कृत नाट्य परम्परा के अन्त के बाद सास्कृतिक जीवन को बनाए रखने का श्रेय 'रासों', नौटकियों तमाशों आदि को ही है। यहाँ पर अग्रेजी रंगमच का प्रभाव कभी भी नहीं पड़ा। वाजिद अलीशाह के रहसों और अमानत की इन्दर सभा के साथ ही यहाँ के नाट्य साहित्य और रगमंच का युग आरम्भ होता है; यद्यपि इसके पहले भी सस्कृत के नाटकों का अनुवाद होता रहा, कहीं कहीं मौलिक गीत नाट्य भी लिखे जाते रहे और नाट्याभिनय भी इधर उधर होते रहे। इन्दर सभा को पारसी कम्पनियों ने अपना लिया और व्यावसायिक तथा अव्यावसायिक रगमचों की परम्परा शुरू हो गई। जिन नाटकों को हम साहित्यिक वर्ग में रखते हैं उनका सम्बन्ध गैर पेशेवर रगमंच से था। पारसी कम्पनियों के लिए लिखे गए नाटकों की भी अपनी एक परम्परा आरम्भ हो गई। उर्दू नाट्य साहित्य की परम्परा सीधे इन्दर सभा से ही आरम्भ होती है। पारसी कम्पनियों के लिए ही आरम्भिक काल में उर्दू के अधिकतर नाटक लिखे गए। इनके विषय या तो पौराणिक आख्यान थे या लैला मजनू और शीरीं फरहाद की

प्रेमकथा थी। इन कम्पनियों से अलग हटकर हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमच का स्वतंत्र विकास हुआ। परन्तु यह बात उर्दू नाट्य साहित्य के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। यह सही है कि भारतेन्दु युग में भी उर्दू के दो चार नाटक लिखे गए थे और बाद में भी इक्के दुक्के नाटक लिखे जाते रहे परन्तु इनकी सख्या बहुत बड़ी नहीं है। इन थोडे से नाटकों के अध्ययन के आधार पर हम किसी अटूट परम्परा को नहीं खोज सकते। उन्नीसवीं सदी के अन्त तथा बीसवीं सदी के आरम्भ में उर्दू के नाटकों की रचना हुई है परन्तु पढने में चाहे वे कितने ही भले लगते हों रंगमच की दृष्टि से वे उन्हें शायद सफल नहीं कह सकेंगे। सच यह है कि उर्दू साहित्य में कविता, कहानी और उपन्यासों की जितनी पुष्ट और उच्च परम्परा है वैसी परम्परा नाटकों की नहीं। हिन्दी से अलग उर्दू के रंगमंच का भी स्वतन्त्र निर्माण नहीं हो सका। इसके अनेक सामाजिक और ऐतिहासिक कारण हैं। परिशिष्ट ५ में उर्दू नाट्य परम्परा का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत कर दिया गया है। उर्दू रंगमंच का परिचय भी इसमें दे दिया गया है।

इस प्रकार पूरे देश के नाट्य साहित्य तथा रंगमंच के विकास क्रम पर एक बार सिंहावलोकन कर लेने के बाद हम केवल एक ही नतीजे पर पहुँचते हैं और वह यह कि हमारे इस प्राचीन, विशाल और महान देश में यदि चिर विकासशील समाजोपयोगी नाट्य साहित्य का निर्माण करना है और यदि हमें सशक्त, प्रगतिशील और नाना शुभ संभावनाओं से पूर्ण राष्ट्रीय रंगमंच का निर्माण करना है तो फिर हमें इस महान कार्य को आरम्भ करने के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए। इस कार्य में हमें तभी सफलता मिलेगी जब हम व्यापक दृष्टिकोण को अपना कर उदारता और सहयोग की भावना से प्रेरित होकर राष्ट्रीय रंगमच के निर्माण के कार्य में हाथ लगावें। इस कार्य के दो स्तर होंगे।

एशियाई रंगमंच का जन्मदाता है।" डाक्टर कुमार स्वामी ने १६२१ ई० में यही भावना व्यक्त की जब कि उन्होंने कहा था कि भारतीय रंगमंच की परम्परा के अवशेष आज भी जावा में ३ तीन रूपों में मौजूद हैं—'कठपुतली नाटक', 'छाया नाटक' और नियमित रंगमंच पर खेले जानेवाले नाटक। नाटकों के ये समस्त रूप भारत से निःसृत होकर केवल जावा, स्याम और कम्बोडिया में ही नहीं पल्लवित एवं पुष्पित हुए वरन् इन्होंने चीनी नाटकों तथा जापान के 'नो-प्लेज' (अ-नाटकों) को भी प्रभावित किया। भारतीय नाट्यकला का बहुत ही विकृत तथा अव्यवस्थित रूप हमें यात्रा नाटकों और रामलीलाओं में उपलब्ध होता है। बाद में कलाकार उदयशंकर ने इसके पुनरुत्थान के कुछ प्रयास किये। मैंने आधुनिक चीनी रंगमंच पर खेले गये कुछ नाटक देखे हैं जिनमें बहुत से ऐसे तत्व नज़र आये जो मूलतः भारतीय थे। भरत नाट्य शास्त्र में यद्यपि भारतीय रंगमञ्च के विषय में बहुत सी बातें—नाटक के अंकादि के क्रम का विवरण, सज्जा, दृश्य सम्बन्धी अन्य बातें एवं रंगमंच व्यवस्था मिलती हैं, परन्तु भारतीय नाट्यकला ने, खुले मैदान में खेले जाने वाले ग्रीक नाटकों की तरह, बिना किसी दृश्य-दृश्यावली के स्वयं अपने वातावरण तथा परिस्थितियों का विकास किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि यवनिका, पर्दों, पट आदि का प्रयोग टेकनीक एवं सिद्धान्त के निर्वाह के लिए सामान्यतः किया जाता था।

भरत नाट्य शास्त्र में तीन प्रकार के रंगमंचों की निर्माण विधियाँ बतायी गयी हैं। उनके नाप, यवनिका, सज्जागृह, विंग आदि के नाप तथा अन्य विवरण दिये गये हैं। मत्त-वारिणी नाम से विख्यात एक दो मंजिले खम्भे का भी विवरण दिया गया है। मत्त वारिणी की संज्ञा का अभिप्राय संभवतः यह है कि रंगमंच पर यहाँ हाथी को चित्रित किया जाता था। मत्तवारिणी दो मंजिला चौखटे पर बनती थी। इसके सहारे अनेक ऐसे दृश्य दिखाये जाते थे जो साधारणतया मञ्च पर नहीं दिखाये जा सकते थे।

किन्तु नियमतः भारतीय नाटकों के अभिनय के समय प्राचीन काल में रंगमच की व्यवस्था को नजर अन्दाज भी किया गया है।

टैगोर का योगदान

महाकवि एव नाटककार रवीन्द्र नाथ टैगोर ने सर्व प्रथम भारतीय रगमच द्वारा योरोपीय रंगमञ्च के अन्धानुकरण को दूर करने का प्रयास किया। कई ऐसे नाटकों की रचना करके उन्होंने सिद्ध कर दिया कि भरत मुनि की आहार्य वस्तु की बिना सहायता लिए भारतीय नाटकों को अभिनीत किया जा सकता है। वास्तव में टैगोर का यह दृढ़ मत था कि योरोपीय रंगमञ्च के दृश्य दृश्यावलियों के अनुकरण से भारतीय नाटक की अभिव्यक्ति तथा उसका कोमल मनोवैज्ञानिक प्रभाव नष्ट हो गया। समय-समय पर टैगोर ने कृत्रिम वस्तुओं—घर अथवा ग्रामीण झोपड़ियों आदि की अपेक्षा साकेतिक एवं प्रतीकात्मक दृश्य-दृश्यावलियों को पसद किया। ये तत्व 'किंग आफ दि डार्क चैम्बर', जिसका अभिनय सर्वप्रथम शान्ति निकेतन में किया गया था, तथा 'डाकघर' में देखने को मिले। 'विचित्रा' के हाल में इन नाटकों का अभिनय हुआ था जिस अवसर पर श्रीमती एनी बेसेन्ट उपस्थित थीं। उन्होंने यह घोषित किया कि "मैंने रूस में जितने अभिनीत नाटक देखे, उन सब में उत्तम नाटकों से इन नाटकों का अभिनय उच्चकोटि का रहा।" इन नाटको को अभिनीत करने में महाकवि को गगनेन्द्र नाथ टैगोर तथा डाक्टर नन्द लाल बोस से बड़ी मदद मिली। संकेत एवं प्रतीक के रूप में न्यूनतम सामग्रियों दीपक, स्तम्भ, काला वस्त्र आदि का प्रयोग कर टैगोर ने एक ऐसे वातावरण की सृष्टि की जिससे नाटक के क्रिया कलापों तथा भावुकतापूर्ण अभिनय में बड़ी मदद मिली। दर्शको को बिना किसी तड़क-भड़क के आकर्षित कर लेने तथा समस्त रसों से उनको अभिभूत कर देने का यह तरीका बंगाली यात्रा-नाटको मे विगत कुछ

वर्षों से देखने को मिलने लगा था। इन यात्रा नाटकों में नारद केवल मौखिक रूप से विवरण दृश्यों को प्रस्तुत कर वृन्दावन की समस्त छटा प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त कर लेते थे। ऐसा करने में उन्हें कभी वाह्य आडम्बर की आवश्यकता नहीं पड़ी।

शिशिर भादुड़ी की टेकनीक

भारतीय रंगमच के कर्णधार आचार्य शिशिर कुमार भादुड़ी ने भी बिना किसी वाह्य आडम्बर की वस्तुओं की मदद लिए अनेक बार पार्श्व के आवरण, सिंहासन अथवा दीपक आदि से भारतीय नाटकों का सफल अभिनय प्रस्तुत किया है। आज भी मुझे वह दृश्य याद है जब कि उन्होंने एक पुराने नेपाली तावे के दीपक मात्र से रंगमञ्च पर एक शानदार वातावरण प्रस्तुत कर दिया था। मैंने स्वय वह वस्तु उन्हें उस समय दी थी जब उन्होंने विगत कई वर्ष पूर्व कलकत्ता के ईडन गार्डन में 'सीता' का अभिनय प्रस्तुत किया था। उस प्रकार का प्रभावोत्पादक अभिनय तथा परिकल्पना रंगमञ्च के तत्वों तथा दृश्य-दृश्यावलियों के अभाव की पूर्ति कर सकती है। चीनी नाटकों में यही मौलिक सिद्धान्त माना जाता है। इस प्रकार 'रन अवे नन' नामक नाटक में, जिसमें पहाड़ों, मठों तथा मूर्तियों को चित्रित करने की जरूरत पड़ती है, ये सारी चीजें प्रभावोत्पादक प्रतीकों के रूप में दी जाती हैं। "रंगमञ्च पर न तो पहाड़ है, न युवक, न मठ, न मूर्तियाँ ही हैं। भिक्षुणी के नर्तन द्वारा ही समस्त वस्तुएँ आँखों के सामने नाचने लगती हैं। .. ..चीनी नाटक में साधारणतम वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है। रंगमञ्च पर भी किसी प्रकार की तड़क भड़क नहीं होती .... एक कुर्सी से जेल के द्वार का बोध हो सकता है या निवास की गुफा बनायी जा सकती है। दो कुर्सियों के पीछे छड़ी के बीच जरीदार पर्दा टाँग कर चदोवा या चारपाई दर्शायी जा सकती है। यातायात के साधन सर्वदा प्रतीक के रूप में दिखाए जाते हैं।

चाबुक लिए हुए किसी व्यक्ति को ऊपर-नीचे चढते-उतरते देखने पर ऐसा मालूम होता है—जैसे वहाँ सचमुच घोडे मौजूद हैं।"

जावा का भ्रमण करके लौटने के बाद महाकवि टैगोर ने वेष भूषा, आभूषण और मुकुट सम्बन्धी कई वस्तुएँ जावाइयों के रंगमञ्च से लेकर अपने नाटकों में प्रस्तुत किया। वास्तव में रंगमञ्च निर्माण कला और वेशभूषा की ये डिजाइनें शताब्दियों पूर्व जावाई रंगमञ्च पर हमारे देश से गयी थीं जिन्हें पुनः हम लोगों ने अपना लिया। वेष भूषा तथा मुकुट सम्बन्धी डिजाइनें जो आज भी जावा और कम्बोडिया में प्रचलित हैं, मूलतः भारत से ही ली गयी थीं। लेखक ने गत वर्ष रामकृष्ण इन्स्टीट्यूट में 'भारतीय रंगमञ्च का इतिहास' पर जो भाषण प्रस्तुत किया था, उसमें इस तथ्य को समझाया था। दृश्य-दृश्यावलियों एव अन्य सज्जाओं की अपेक्षा वेप भूषा और मुकुट आदि के द्वारा हमारे प्राचीन नाटक-निर्माताओं को वातावरण की सृष्टि में पर्याप्त सहायता मिलती थी। दर्शक के समक्ष नायक-नायिकाओं के व्यक्तित्व और चरित्र की अभिव्यक्ति इन पोशाकों के माध्यम से ही हो जाती थी। भरत नाट्यशास्त्र की प्राचीन परम्पराओं एव सिद्धान्तों को अपनाकर भारतीय नाट्य कला की मर्मज्ञा रुक्मिणी देवी ने गत कुछ वर्षों पूर्व मद्रास स्थित 'कला क्षेत्र' में कालिदास के 'कुमार संभव' का अभिनय, रंगमञ्च के लिए आवश्यक बिना किसी सामग्री के, केवल मिट्टी के रंगमञ्च पर, सफलता के साथ प्रस्तुत किया था। केवल दो या तीन दीवार के पर्दों की जरूरत पड़ी थी।

उनका संगीत, नृत्य तथा अभिनय उच्चकोटि का रहा तथा प्रभावशाली वातावरण की भी सृष्टि सफलतापूर्वक हुई। उन्होंने यह प्रदर्शित कर दिया कि योरप से उधार लिये हुये रंगमञ्च के अनावश्यक तत्वों के बिना भी नाटकीय प्रभाव तथा रसों की सृष्टि संभव है।

वास्तव में २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में योरोपीय रंगमच ने

रंगमञ्च-निर्माण के क्षेत्र में तड़क-भड़क की समस्त वस्तुओं के स्थान पर नाटक के विभिन्न कार्यकलापों एवं विविध भावनाओं को अभि-व्यक्त करने के साधारण एवं प्रतीकात्मानक साधन ग्रहण कर नयी टेकनीक को जन्म दिया। इन नये आन्दोलन के सूत्रधार एडवर्ड गारडन क्रेग थे जिन्होंने १६००-१६०३ के बीच कई नाटक और आपेरा का निर्माण किया। सर्वप्रथम 'डिडो एण्ड एनीस' के निर्माण में उसको सफलता मिली। इसके निर्माण के बारे में डब्लू० बी० यीट्स ने लिखा था—"गार्डन क्रेग के आवरण पृष्ठभूमि में बैंगनी वस्त्रद्वार ऐसा प्रतीत होता है कि 'डिडो एण्ड एनीस' अनन्त के छोर पर भ्रमण कर रहे हैं।" यह लगभग १६०० ईसवी की बात है जब कि उसने अपनी माता एलेन टेरी के लिए रंगमंच के दृश्यों का निर्माण किया। इस प्रकार के सरलीकरण और वास्तविकता से मुख मोड़ लेने से समस्त लन्दन में आश्चर्य व्यक्त किया गया। इस सन के शुरू में 'दि वाइकिंग्स'के लिए क्रेग ने रंगमञ्च की पृष्ठ भूमि में केवल पर्दों का प्रयोग किया था। उसमें केवल ऐसी वस्तुएं उपयोग में लाई गयीं जो कार्य कलापों के लिए आवश्यक थीं। 'मच एडू एबाउट नथिंग' में गिरिजाघर के दृश्य के लिए पर्दों के अतिरिक्त केवल सूर्य की एक तेज किरण दिखाई पड़ती थी जिसका बहुरङ्गी प्रकाश खिड़की से हो कर रंगमञ्च पर पड़ता था।

रंगमञ्च के निर्माण में इन सुधारों, तथा विक्टोरिया युग की तड़क-भड़क से पूर्ण और भद्दी वास्तविकता के उन्मूलन, की आलो-चकों तथा समाचार पत्रों ने बड़ी प्रशंसा की। टाइम्स ने लिखा—"दृश्यों की सादगी और कठोरता प्रभावोत्पादक थी, रंगों में सुघड़ता थी और डिजाइन व्यापक और विशाल थी।" क्रेग के विचार सम-स्त योरप में प्रचारित हुए। जर्मनी में क्रेग को आमन्त्रित किया गया और उनसे अनुरोध किया गया कि वह बर्लिन स्थिति लेसिंग थियेटर में अपने तरीकों पर प्रकाश डालें। इस कार्य में उनको पर्याप्त सफलता

मिली। इसके बाद जर्मनी के मशहूर अभिनेता मैक्स रेनहार्ट ने योरप के अन्य थियेटरों में इस नये आन्दोलन को चलाया।

भारतीय रंगमञ्च पर खेले जाने वाले हमारे नाटकों में आज भी वही पुरानी बात देखने को मिलती है। विक्टोरिया युग की मृत परम्परा का बोझ आज भी लदा हुआ है और क्रेग तथा रेनहार्ट के सुधारों पर ध्यान नहीं दिया गया है। सामाजिक नाटकों में, जहाँ भव्य दृश्यों की उतनी आवश्यकता नहीं पड़ती, ये बुराइयाँ दृष्टिगोचर नहीं हो पातीं। स्थिति और वातावरण के निर्माण के लिए थोड़े बहुत फर्नीचर आदि की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु हमारे प्रचलित सामाजिक नाटकों में भी कीमती दृश्य-दृश्यावली सम्बन्धी वास्तविकता लाने की यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है। स्वर्गीय मनोरंजन भट्टाचार्यजी द्वारा निर्देशित और 'बहु रूपी' द्वारा निर्मित कई सफल नाटकों में भावुक स्थितयों के सफल अभिनय के लिए कई नयी टेकनीक अपनाई गई। उनमें वास्तविक दृश्यों के लिए कृत्रिम उपदानों की आवश्यकता नहीं थी।

प्रचलित नाटकों के अभिनय में विकास के बावजूद, जिसमें मुख्यतः अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों का विशेष योग रहा, आज भी हम इस बात की प्रतीक्षा में हैं कि रंगमञ्च निर्माण में निपुण व्यक्ति आगे आवें। नाटक परस्पर सहयोग पर आधारित कला है जिसमें अभिनेता और संगीतज्ञ आदि सभी को व्यक्तिगत तौर से संयुक्त होकर सहयोग प्रदान करना होगा। बहुत पहले भरत मुनि ने इसी मौलिक सिद्धान्त की ओर इंगित किया था—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न सायोगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते।

परिशिष्ट २

रंगमंच और राष्ट्रीय आन्दोलन

मामा वरेरकर

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में रगमच का महत्व-पूर्ण स्थान है। पुराणकालीन विद्वानों ने नाटक को पाचवां वेद कहा है। और इसी पांचवें वेद के घोष से भारत का कोना-कोना प्राचीन काल से गूंज रहा है।

पुराने जमाने की तरफ नजर डालने से यह पता चलता है कि नाटककार के नाते भास कवि की कला पर हम गौर ही नहीं कर सके। भासका काल करीबन ढाइ हजार साल पहले का है। ऐसा ख्याल किया जाता है। विविध साहित्यग्रथों में भासका उल्लेख जहाँ तहाँ पाया जाता हैं इस पर से यह आनुमान किया जा सकता है कि भास के करीब ३५ नाटक हैं। वीसीं सदी के दूसरे दशक के आरम्भ में दक्षिण भारत के सुविख्यात सशोधक श्री गणपति शास्त्री की खोज के बाद भासके साढे तेरह नाटक मिले। तब तक भासका सिर्फ नाम ही मशहूर था। भास के यह नाटक उपलब्ध हुये आज करीबन पैंतालीस साल बीत चुके, पर अभी तक भास के इन नाटकों का योग्य मूल्यमापन नहीं हो सका। भासके इन उपलब्ध नाटकों पर बारीकी से नजर डालने पर यह पता चलेगा कि किसी भी सभ्य तथा उन्नत देश के आधुनिकतम नाटकों के तत्रसे वे तुल्यबल हैं। एकांकिकाओं के साथ ही साथ भास ने दो-तीन चार से लेकर सात सस्करण तक के नाटक लिखे थे, आज से आधुनिक नाटकों के समान वे एकाकप्रवेशी भी हैं। पौराणिक कथाभाग के अनुसार अर्थात् उस युग की ऐतिहासिक तथा काल्पनिक कथाओं पर वें आधारित थे। "दरिद्र चारुदत्त", को अधूरा सामाजिक नाटक भी कहा जा सकता है। इसके

अतिरिक्त भासके कुछ नाटक उपलब्ध नहीं हैं। उनमें इस असामान्य नाटककार ने लेखक के किन प्रयोगों को आविष्कृत किया होगा, इसकी केवल कल्पना ही जा सकेगी। 'व्यासोच्छिष्टम् जगत्सर्वम्' उक्ति के अनुसार नाटक साहित्यक्षेत्र में 'भासोच्छिष्टम् जगत्सर्वम्' यह कहा जा सकेगा।

भास के ग्रन्थ उपलब्ध होने तक भारतीय नाटकों में कालिदास का ही नाम लिया जाता था। तात्पर्य यह कि कालिदास के नाटकों का योग्य मूल्यमापन किया गया। इसलिये भारतीय कालिदास को ही श्रेष्ठ नाटककार कहते थे। इसका असली कारण यही था कि पाश्चिमात्य लेखक कालिदास की स्तुति करते थे। कालिदास के साथ ही साथ शेक्सपिअर का भी बड़ा प्रभाव था। वह भी इसलिये कि उस जमाने के अंग्रेज, शासकों ने शेक्सपिअर को सर आखों पर चढाया था। इसीलिये कालिदास और शेक्सपिअर के नाटकों का यथायोग्य मूल्यमापन करने के लिये, इन दोनों का तुलनात्मक अभ्यास करते समय उस तुलना के कारणों की चर्चा नहीं की जाती थी। Kalidasa is the Shakespeare of India कहते समय कालिदास की शेक्सपिअर से तुलना करने में कालिदास को नीचा दिखाने की कोशिश की जाती थी, यह बात किसी के ध्यान में नहीं आयी। नाट्यरचना की दृष्टि से कालिदास और शेक्सपिअर की तुलना असम्भव है। दोनों की नाट्यलेखन पद्धतियों में किसी भी तरह का साम्य नहीं है। कालिदास का नाट्यलेखन सम्प्रदाय भास का है। कालिदास ने कुछ नाटकों में भास के नाटक के कुछ श्लोक जैसे के तैसे अपने नाटकों में लिये हैं। कालिदास भास की लेखन शैली से इतने प्रभावित हो उठे थे। कालिदास का लेखनयन्त्र एकांकी- प्रवेशी है और शेक्सपियर बहुप्रवेशी नाटकोंका पुरस्कार करते थे। यदि दोनों की नाट्यरचना और तंत्र पर ध्यान दीजिये तो आपको पता चलेगा कि कालिदास और शेक्सपिअर में जमीन आसमान का फर्क है। पर दोनों होकर

ही रही। कालिदास को नाट्य साहित्य में उच्च स्थान प्राप्त था। पर भारतवासियों ने कालिदास का तंत्र छोड़कर शेक्सपिअर का भारी तंत्र अपनाया और परिणाम स्वरूप भारतीय नाट्य साहित्य के साथ ही साथ भारतीय रंगमंच भी पिछड़ता गया। कम से कम मराठी रंगमंच का यही हाल रहा!

भारतीय रंगमंच की प्रगति की दृष्टि से विचार करने पर यह पता चलेगा कि आधुनिक युग में बंगाली रंगमंच सबसे पुराना है। कन्नड़ रंगमंच भी इसी समय अस्तित्व में आया—पर वह प्रगति पथ पर अग्रसर नहीं हो सका और आज भी वह कहने लायक प्रगति कर नहीं सका है। बंगाली रंगमंच ने संस्कृत या अंग्रेजी नाटकों का अंधानुकरण नहीं किया था। हालां कि बंगाली नाटकों का प्रारम्भ लगभग दो सौ साल पहले एक अंग्रेजी नाटक के अनुवाद से किया गया था और वह भी Herashim Lebadef नामक रूसी सज्जन ने किया था, पर बंगाली रंगमंच को आधुनिक मान स्थान बंगाली नाटककारों की नाट्य लेखन की स्वतन्त्र शैली से ही प्राप्त हुआ है। बंगाल के पहले नाटकों पर शेक्सपिअर का प्रभाव पड़ा। संस्कृत नाटकों का तंत्र बंगाल ने उस समय अपनाया नहीं था। तो भी अन्य रंगमंचों की तुलना में बंगाल का नाट्य साहित्य और रंगमंच उन्नत रहा। परिणाम-स्वरूप आज भी बंगाली रंगमंच, अन्य किसी भी भारतीय रंगमंच से अभिनय और तांत्रिक दृष्टिकोण से अग्र स्थान पर विराजमान है। पर बंगाली नाट्य साहित्य के बारे में यह नहीं कहा जा सकता। साहित्यिक दृष्टिकोण से गिरीश घोष के जमाने में बंगाली नाटक उस युग में जितना प्रगत था उतना वह आगे चलकर नहीं हुआ ऐसा दिखाई देता है। गिरीश घोष के बाद द्विजेन्द्रलाल राय आये। उन्होंने शेक्सपिअर की बहु प्रवेशी पद्धति को पहले से ज्यादा बढाया। नाटक के खेलने की अवधि भी बढायी गयी। पर नाट्यतन्त्र की दृष्टि से यह पीछे का कदम था।

अभिनय की दृष्टि से बंगाली रंगमंच आगे कदम बढ़ा रहा था। पर नाट्य लेखन में वह पिछड़ता जा रहा था। बंगाल ने इस पर ध्यान नहीं दिया कि नाट्य साहित्य के क्षेत्र में उसकी प्रगति के पंख टूट चुके हैं। और इसका असर हिन्दी रंगमंच को भुगताना पड़ रहा है—नाट्य साहित्य की दृष्टि से।

हिन्दी लेखकों ने अपना ध्यान बंगाल की ओर लगाया। बंगाली उपन्यासों के साथ ही साथ बहुत से बंगाली नाटकों के अनुवाद भी हुये। इसी से हिन्दी नाट्य-साहित्य अपनी सही राह पर चल नहीं सका। अनुवादित नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक ही अधिक थे। उपन्यास साहित्य की दृष्टि से बंगाल का आदर्श हिन्दी साहित्य का पोषक रहा, पर नाट्य साहित्य-आदर्श तो उसके लिये अधिकतर मारक ही प्रतीत हुआ है। बंगाली रंगमंच भारत में अग्रस्थान पर विराजमान था—आज भी है ऐसा मेरा ख्याल है—पर नाट्य साहित्य की दृष्टि से उसने अग्र स्थान प्राप्त नहीं किया, यह साफ जाहिर है।

द्विजेन्द्रलाल राय के बाद बंगाल में कोई नामवर नाटककार नहीं हुआ। लगभग तीस साल पहले बङ्गाल में पश्चिमी नाटकों के अनुवादों की बाढ़ आई थी, पर वह शीघ्र ही उतर भी गई। लेखन में बङ्गाल का यह स्वाभिमान उपयोगी साबित हुआ और इसी से स्वयम्-कल्पित यानी मौलिक ग्रन्थ निर्माण करने की बङ्गाल की परम्परा अबाधित रही। गत १५ वर्षों में बङ्गाल ने शरद्चन्द्र चट्टोपाध्याय के उपन्यासों पर आधारित नाटक खेलना शुरू किया है और अभिनय पद्धति में भी आधुनिकता अपनायी गयी है। पुराने समय का कृत्रिम अभिनय अब इतिहास की वस्तु हो गया है। इस नयी परम्परा का प्रारम्भ विश्वास भादुरी के 'विप्रदास' नाटक द्वारा हुआ, पर एक ही साल के भीतर वे स्वर्गलोक सिधारे—और नाट्य साहित्य की दृष्टि से प्रगति की योजना भी उन्हीं के साथ चल बसी। आज अहीन्द्र

चौधरी ने यह परम्परा जारी रखी है और इसी से बङ्गाली रगमञ्च को आधुनिक स्वरूप प्राप्त हुआ है।

बङ्गाली रङ्गमञ्च के साथ ही साथ कन्नड़ रङ्गमञ्च का निर्माण हुआ, पर साहित्य और अभिनय दोनों दृष्टि से कई वर्षों तक उसमें प्रगति नहीं हुई। तामिल और तेलुगु रङ्गमञ्च कन्नड़ रङ्गमञ्च का ही अनुकरण करते रहे। इसीलिये वे जैसे थे वैसे ही रहे। आज भी वे विशेष उन्नत नहीं हैं। इसीलिये मराठी रङ्गमञ्च का विचार करना आवश्यक है।

आधुनिक मराठी रङ्गमञ्च का जन्म कन्नड़ रङ्गमञ्च के अनुकरण से ही हुआ। इस रङ्गमञ्च पर कई वर्षों तक अलिखित नाटक खेले जाते थे। किसी पौराणिक कथा सूत्र पर आधारित इन नाटकों के संवाद अभिनेता द्वारा स्वयम् रचित रहते थे। अभिनेता, अपने ख्याल के अनुरूप सवादों को आविष्कृत करते थे। नाटक का सूत्र अबाधित रखने के लिये सूत्रधार गाने गाते थे। केवल गीत ही पहले लिखे जाते थे। तन्त्र की दृष्टि से यह रङ्गमञ्च प्रगत नहीं था—पर उसका दृष्टिकोण व्यापक था। इस पुराने तन्त्र के मुताबिक मराठी अभिनेता हिन्दी और गुजराती नाटक भी खेलते थे।

आगे चलकर इस रङ्गमञ्च पर लिखे हुये गद्य नाटक खेले जाने लगे। पहले पहल कुछ मराठी उपन्यासों पर आधारित नाटक लिखे जाने लगे। शेक्सपिअर के Comidy of Errors नाटक के 'भ्राति-कृत चमत्कार' नामक अनुवाद से मराठी रङ्गमञ्च पर शेक्सपिअर का पदार्पण हुआ। इस नाटक के अभिनेता जुड़वा थे। इसी से नाटक में रङ्ग भर आता था। इस तरह मराठी नाट्य लेखकों का ध्यान शेक्स-पिअर की ओर आकर्षित हुआ।

इसी समय मराठी रङ्गमञ्च पर सङ्गीत नाटकों की परंपरा शुरू हुई। अण्णा साहेब किर्लोस्कर इस परम्परा के प्रवर्तक थे। उनका कालिदास के शाकुन्तल नाटक का किया हुआ पद्यमय अनुवाद सन्

अठारह सौ अस्सी में रङ्गमञ्च पर खेला गया। इससे पहले गुजराती रङ्गमञ्च पर पद्य मय नाटक खेले जाते थे। कन्नड़ रङ्गमञ्च भी पद्यमय था। इन दोनों का अवलोकन करते हुये किर्लोस्कर जी को स्फूर्ति प्राप्त हुयी। अति प्रभावी गायन तथा अभिनय कुशल अभिनेताओं की सहायता से सङ्गीत नाटकों की यह परम्परा पलक झपकते ही लोकप्रिय हो गयी।

ढाई नाटक लिखकर किर्लोस्कर जी स्वर्ग लोक सिधारे। पर उनके अनुकरण से प्रभावित देवल जी नामक नाटककार संस्कृत नाटकों के ऐसे ही अनुवाद करते हुये इस परम्परा को अबाधित रख सके। उन्होंने 'मृच्छकटिक' नाटक की पद्यमय रङ्गावृत्ति तैयार की जो बहुत ही लोकप्रिय हुई। इँदौर के महराज शिवाजी राव होलकर ने बाणभट्ट की 'कादम्बरी' पर आधारित रङ्गमंच पर खेलने लायक नाटक को १०००) रुपयों का पुरस्कार प्रदान करने की घोषणा की थी। देवल जी ने 'शापसभ्रम' नाटक लिखकर यह पुरस्कार जीता। यह नाटक भी किर्लोस्कर के रङ्गमञ्च पर अति लोकप्रिय हुआ।

इन संस्कृतानुयायी नाटकों में सगीत को प्रधान स्थान प्राप्त था। अभिनय पर बारीकी से ध्यान दिया जाता था। यह नाटक साधारण-तया Opera अर्थात सङ्गीतिका के रूप में पेश किये जाते थे, पर उन्हें आपेरा कहा नहीं जा सकेगा। क्योंकि उसमें गद्यभाग भी बहुत था और गाने समय अभिनय पर भी उतना ही ध्यान दिया जाता था।

सङ्गीत की यह परम्परा लोकप्रिय हो रही थी। साथ ही साथ गद्यनाटक भी उतने ही लोकप्रिय बन रहे थे। उस गद्य शाखा को शेक्सपिअर के अनुवादित नाटकों ने वैभव प्रदान किया था। डेक्कन कालेज के प्रोफेसर वासुदेव बालकृष्ण केलकर का लिखा हुआ 'त्राटिका' (Taming of the shrew) नाटक, और फरगुसेन कालेज के प्रिन्सिपल गोपाल गणेश आगरकर का किया हुआ Hamlet का अनुवाद इन दोनों नाटकों ने मराठी रङ्गमञ्च को स्थायी स्वरूप प्रदान

किया। यह दोनों नाटक प्रोफेसर केलकर ने खुद दिग्दर्शित किये थे। उनके निर्देशन में तैयार गणपतराय जोशी और बलवतराव जोग अभिनेताओं ने मराठी रङ्गमञ्च पर बड़ा नाम कमाया और रङ्गमंच जगमगाया। गणपतराव जोशी का Hamlet देखकर बडे बडे विदेशी प्रेक्षक भी दाँतों तले उगली दबाते थे और उनकी तुलना यूरोप के अभिनेताओं से करते थे। इस गद्य रङ्गमञ्च की अनेक शाखायें पल्लवित हुई। अभी बताये हुए शेक्सपिअर के दो अनुवादित नाटकों के अतिरिक्त अन्य नाटकों के भी आनुवाद हुये पर वे अधिक लोकप्रिय न हो सके। तो भी कुछ नाटककार तैय्यार हुये और उनके लिखे हुये नाटकों से मराठी रङ्गमञ्च गुलाबी बनता गया। यह सब ठीक था। पर शेक्सपीअर का अनुकरण करते हुए बहुप्रवेशी नाटक लिखने की परम्परा भी मराठी साहित्य में आगई, उसने मराठी साहित्य की प्रगति पथ पर रोड़ा डाल दिया। पश्चिमी देशों में इस समय Ibsen का तन्त्र अपनाया जाने लगा था। Henry Arthur Jones, Pinero आदि नाटककारों के लिखे हुए स्वतन्त्र नाटक और William Archer द्वारा Ibsen के अनुवादित अंग्रेजी नाटक—इन नाटकों से पश्चिमी रङ्गमञ्च को पूर्णता से आधुनिक स्वरूप प्राप्त हो चुका था। पर महाराष्ट्र के अनुसार ही पूरे भारतवर्ष में शेक्सपिअर का ही डका अवास्तविक रूप में पिट रहा था। विश्वविद्यालयों ने शेक्सपिअर के अतिरिक्त अन्य किसी भी आधुनिक नाटककार के नाटक विद्यार्थियों के हाथ में पड़ने नहीं दिये थे। इस लिये आधुनिक पाश्चात्य नाटककारों के नाटकों का अभ्यास करते हुए, नयी परम्परा का निर्माण करने का कार्य भारत के किसी भी प्रदेश में नहीं हो सका। मूल सस्कृत नाटकों के एकाक प्रवेशी तन्त्र पर शेक्सपिअर का तत्र चढ बैठा और नाट्यलेखन की प्रगति न हो सकी। नाट्य साहित्य की इस दुर्दशा का उत्तरदायित्व भारतीय विश्वविद्यालयों पर है!

भारतीय रंगमच के अन्य क्षेत्रों में पारसी थियेट्रिकल कपनियों

द्वारा खेले जाने वाले उर्दू नाटकों का प्रभाव भी था इसे हिन्दी रंग-मच कहना ही ठीक होगा, क्योंकि इस रंगमच पर अक्सर खड़ी बोली में लिखे हुये हिन्दी नाटक खेले जाते थे। उनमें प्रमुख अभिनेताओं की जबान में ज्यादातर उर्दू का असर पाया जाता था। पर मोटे तौर पर नाटक की भाषा हिन्दी ही थी।

इन नाटकों में बहुत से नाटक अंग्रेजी के रूपान्तर थे। इन्हें पूरी तरह से अनुवाद नहीं कहा जा सकेगा। ये नाटक बहुप्रवेशी रहने से एक गम्भीर और एक मजाकिया ऐसे प्रवेश खेले जाते थे। गम्भीर प्रवेश अंग्रेजी नाटकों पर आधारित थे और विनोदी प्रवेश नये लिखे जाते थे। विनोद का दर्जा ऊँचा नहीं था, साहित्यिक दृष्टिकोण से। और गाने भी अकसर मजाकिया प्रवेश में ही होते थे। उनकी तर्जें भी हल्की फुल्की रहती थीं। गम्भीर प्रवेश में शायद ही गाने रहते थे और वे शास्त्रीय रागों पर आधारित रहते थे। एक गम्भीर नाटक और दूसरा विनोदी एक ही समय प्रवेश अदल बदलकर खेला जाता था।

उर्दू नाटकों में अपनायी गई नाट्यरचना की यह पद्धति गुजराती रंगमच ने उठा ली। गुजराती रंगमंच का आरम्भ संस्कृत परम्परा के नाटक से हुआ था। प्रारंभ के नाटककार विद्वान थे—और रंग-मंच के साहित्यिक स्तर को नीचे गिरते देखकर वे सतर्क रहते थे। नाटक का धंधा पैसे कमाने का है इस ओर गुजराती पूँजीपतियों का ध्यान आकर्षित हुआ—तब पैसों का जोर लगाकर उन्होंने रंगमंच पर कब्जा किया और उसे बाजारी स्वरूप प्राप्त हुआ। सुसंस्कृत और सुविद्य नाटककारों के हाथों से यह कला निकल जाने के कारण—नाटक मंडलियों के मालिकों ने उर्दू रंगमच का अनुकरण आरम्भ किया। गुजरात के व्यावसायिक रंगमच पर यह परम्परा अब तक अपना पंजा जमाये हुए है।

उर्दू नाटकों अर्थात् पारसी रङ्गमञ्च के नाटकों की लोकप्रियता ने

मराठी रगमंच भी भिन्न भिन्न प्रकार से और भिन्न-भिन्न प्रमाण में प्रभावित हुआ। श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर ने उन्नीसवीं सदी के अन्त में मराठी रगमंच को आधुनिक स्वरूप दिया। आजकल के सब नाटककार उन्हीं की परम्परा का अनुसरण कर नाटक लिखा करते थे और लिख रहे हैं। श्रीपाद कृष्ण जी ने उर्दू नाटक की सगीत पद्धति अपने नाटकों में अपनायी। इसका यह मतलब नहीं कि उन्होंने उसकी हूबहू नकल की, बल्कि गानों की अच्छी-अच्छी तर्जें चुन लीं और साथ ही साथ शास्त्रीय सगीत की पद्धति का भी उपयोग किया। पहले के नाटकों में तर्जें लावणी ढग से यानी लोकगीतों पर आधारित थीं। लावणी यह महाराष्ट्र की अपनी एक विशेष सगीत पद्धति है। पर वह बिल्कुल एकांगी रहने के कारण नाट्य सगीत के लिये अनुकूल नहीं थी। शास्त्रीय संगीत पद्धतियाँ अर्थात् उत्तर भारतीय और दक्षिणादि संगीत पद्धतियों की तर्जें लेकर उन्होंने नाट्य सगीत की एक पद्धति निर्माण की और वह जारी रही।

श्रीपाद कृष्ण जी को मराठी साहित्य के विनोद का जनक समझा जाता हैं। अपने नाटकों में उन्होंने विनोद की जो शैली अपनायी वह साहित्यिक दृष्टिकोण से उच्च श्रेणी की थी। इसमें वे मोलियर के अनुयायी कहलाये जा सकेंगे। अपने नाटकों में विनोद का स्तर ऊँचा करते समय उर्दू नाटक की रचना का भी उन पर असर हुआ होगा। पर उर्दू नाटकों के समान हल्के दर्जे का मजाकिया और नकली ढग उन्होंने नहीं अपनाया। विनोद का स्तर ऊंचा रखने में वे सतर्क थे। श्रीपाद कृष्ण जी के दो प्रमुख शिष्यों में एक मैं और दूसरे राम गणेश गडकरी थे। किसी भी परम्परा का अंधानुकरण न करके खुद की नयी रचनापद्धति अस्तित्व में लाने की श्री पाद कृष्णजी की टेक मैंने निबाही, टेक मैंने निभा ही लिया। साथ ही साथ उनकी सगीत पद्धति भी अपने नाटकों में मैंने अपनायी। श्रीपाद कृष्ण जी विनोद करते समय शब्दों का खेल खेलते थे—मैंने अपने नाटकों में प्रसगनिष्ठ

विनोद प्रचलित करने का यशस्वी प्रयत्न किया। शिष्य बनने का अर्थ गुरू की नकल करना नहीं होता, इसी तत्व का अनुसरण कर मैंने उन्हें अपना गुरू माना।

मेरे चार साल बाद गडकरी रंगमच पर पधारे। उन्होंने श्रीपाद कृष्ण जी के गुणों के साथ उनके दोषों को भी अपनाया। दोषों को बढ़ाकर ही उन्होंने विनोद का निर्माण किया। नाट्य रचना में उन्होंने उर्दू नाटकों का इतना ही नहीं वरन् अधिक अनुकरण किया। तात्पर्य यह कि एक गंभीर और एक विनोदी प्रवश लिखने की उर्दू पद्धति को स्वीकार किया। उनके प्रत्येक नाटक पर श्रीपाद कृष्ण जी के किसी न किसी नाटक की अमिट छाप स्पष्ट रूप से दिखायी देती थी। स्वभावतः ही वे कवि थे। उनका काव्य केवल उसी जमाने में नहीं, पर आज भी मराठी साहित्य में अग्र स्थान पर विराजमान हैं। कवि होने के कारण उनके नाट्य लेखन मे अभिनय के लिये अनुकूल गद्य की अपेक्षा काव्यात्मक गद्य ही प्रमुख रूप से पाया जाता है। उनके नाटक उस युग में जितने लोकप्रिय थे उतने ही आज भी हैं! वह लोकप्रियता आज तक टिकी हुई है।

मराठी रगमच पर शुरू में प्रयोग विज्ञान (Stage Craft) की दृष्टि से उस काल के नाटककारों ने या दिग्दर्शकों ने ज्यादा ध्यान नहीं दिया। भारतीय परम्परा के अनुसार एकांकप्रवेशी नाटक लिखना छोड़कर शेक्सपियर और मोलियर जैसे पुराने पश्चिमी नाटक-कारों के अनुकरण से प्रभावित बहुप्रवेशी नाटक ही लिखे जाते थे। इन नाटकों में बहुत से प्रवेश रहते थे—इसलिये रंगमच की सजावट में कोई नवीनता नहीं लाई जा सकी थी। प्रवेश बदलते समय परदे गिराना और उठाना जरूरी था। इसी से इसी तन्त्र पर आधारित नाटक खेले जाते थे। भरतकालीन भारतीय तन्त्र अर्थात् आधुनिक इलिज़ाबेथन तन्त्र रंगमंच पर अपनाने का पहला प्रयत्न सन् उन्नीस सौ बाईस में मैंने किया था।

परदों की प्रथा त्यागकर, गृहशिल्प के अनुकूल दृश्य—जिन्हें Box Scenes—कहा जाता है—ने पेश किये। बगल के Wings और झालर को निकाल दिया गया। उसी युग में तीन घंटे तक जारी रहने वाला एक एकांक प्रवेशी नाटक रंगमंच पर लाया गया। पर छः घटों तक नाटक देखने के शौकीनों को उससे तसल्ली न हुई। इसलिये मुझे यह प्रयत्न अधूरा ही छोड़ना पड़ा। प्रकाश योजना के प्रयोग भी इसी समय किये गये। उस समय बिजली के दिये आसानी से नहीं मिलते थे—फिर भी नयी-नयी तरकीबें खोजकर मैंने प्रकाश योजना में यश प्राप्त किया। पर जिस नाटक कंपनी में मेरे नाटक खेले जाते थे—उसे छोड़कर अन्य किसी भी नाटक कंपनी ने इस तरह के प्रयोग नहीं किये, क्योंकि उनके नाटक बहुप्रवेशी थे। पर जमाना बदलता गया। और परिस्थिति के सामने झुककर आजकल मराठी रंगमंच पर यह सब योजनाएँ कम ज्यादा प्रमाण में उपयोग में लाई जा रही हैं।

बंगाली रंगमंच अभिनय की दृष्टि से पहिले भी अग्रस्थान पर था और आज भी है। पर नाट्य साहित्य की दृष्टि से अब भी उसमें विशेष प्रगति नहीं हुई। उन्नीसवीं सदी के अन्त में और बीसवीं सदी के प्रारंभ में केवल गिरीशचन्द्र घोष ने लोकक्षोभ निर्माण करने वाले नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किये। इनसे पहले दीन बन्धु मित्र ने भी ऐसा ही एक नाटक लिखा था।

कर्जन साहब ने बंगभंग का प्रस्ताव पेश किया—तब तक ऐसे लोक जागृति के नाटक बंगाली रंगमंच पर खेले जाते थे और सरकार उन्हें जब्त कर लेती थी। कारण कुछ भी हो पर आगे चल कर बंगाली रंगमंच ने अपना यह व्रत छोड़ दिया और सर्वसामान्य लोकरंजन के नाटक रंगमंच पर पेश करना शुरू किया। अब तक यही प्रथा जारी है।

दक्षिण भारतीय रंगमंच बंगाली की तरह ही पुराना है पर उसे आधुनिक स्वरूप देने का प्रयत्न किसी ने नहीं किया। पुरानी परिपाटी

के सैकड़ों गीत वाले नाटक रंगमच प : • वे विशेषतया पौराणिक नाटक थे। रंगमच द्वारा लोक जाग्रति का कार्य किया जा सकता है यह कल्पना किसी भी दक्षिण भारतीय नाटककार को नहीं सूझी। अर्थात् वह रगमंच प्रगति पथ पर अग्रसर नहीं हो सका।

लोक जाग्रति के कार्य में महाराष्ट्र ने रंगमंच का पूरा पूरा उपयोग किया। महाराष्ट्र के कुछ नाटककार समाज शुधारक थे और कुछ राजनीतिज्ञ थे। अपने विशिष्ट उद्देश्य का ध्यान रखते हुए समाज सुधारक और राजनीतिक नाटक लिखे। गुजराती रंगमच के अनुसार महाराष्ट्रीय रंगमंच पूँजीपतियों के पजों में नहीं गया, क्योंकि उस समय महाराष्ट्र में पूंजीपति नहीं थे। मराठी रंगमंच का नेतृत्व करने वाले अधिकतर प्रोफेसर थे अथवा स्वतंत्रता आंदोलन के पुरस्कर्ता थे! मराठी नाट्य संस्थाओं के सचालक इन नेताओं की शिक्षा में तैयार हुए थे—इसलिये वे देश प्रेम की पवित्र भावना से प्रेरित हो उठे थे। यही कारण था कि मराठी रगमच के नाटक लोकजाग्रति के साथ जनता के हृदय में लोकक्षोभ की प्रेरणा प्रदान कर सके।

स्वतन्त्रता आन्दोलन में महाराष्ट्र पहले से ही अग्रसर था। इस आन्दोलन के नेता निस्वार्थी थे। और इसी सेवा भाव से लोकजाग्रति का कार्य करते थे। इसी कार्य में उन्हें अकिंचन वृत्ति भी अपनानी पड़ी। एक तरह की संन्यासी वृत्ति धारण करके वह नेता समाचार पत्रों द्वारा देश प्रेम की ज्योति प्रज्वलित रखने का प्रयत्न कर रहे थे। उनके इस महत्वपूर्ण कार्य में रंगमंच भी उनका हाथ बटा रहा था। अर्थात् रंगमच के प्रवर्तक और नाट्य संस्थाओं के मालिक के रूप में अभिनेता भी नेताओं के समान ही देश प्रेम से प्रेरित हो उठे थे। उनकी रग रग में देश प्रेम समा गया था। इन अकिंचन नेताओं की सब तरह से सहायता नाट्य संस्थाएँ भी करती थीं। कुछ नाट्य संस्थाओं ने अर्थात् उनके मालिकों ने हजारों रुपयों का गुप्तदान

दिया था। जब-जब राजनीतिक नेताओं को भूमिगत होने का प्रसंग आता था तब-तब वे नाटक कम्पनियों का आश्रय लेते थे। इसीलिये खुफिया पुलिस हमेशा इन सस्थाओं के पीछे लगी रहती थी। इस प्रकार कम से कम महाराष्ट्र में नाटक कपनियाँ कला की ही सस्थायें नहीं थीं, सस्कृति की सस्थाएँ नहीं थीं, किन्तु स्वतन्त्रता आदोलन को सहायता पहुँचाने वाली बलवान संस्था थी।

इस तात्विक अधिष्ठान पर नाट्य सस्थाओं की नींव रखी गई थी—इसीलिए केवल मनोरजन के नाटक मराठी रगमच पर शायद ही खेले जाते थे। बगभग के आन्दोलन में भाग लेने के लिये लोकमान्य तिलक की प्रेरणा से महाराष्ट्र भी कूद पड़ा था। उस समय मराठी रंगम च ने भी इस आन्दोलन में महत्वपूर्ण भाग लिया। इस जमाने में लिखे हुए नाटकों में से पचास फीसदी नाटक सरकार ने जब्त कर लिये। आजकल उनके नाम का भी पता चलना असम्भव हो गया है। सन् उन्नीस सौ सैंतीस में जब काँग्रेस का पहिला म त्रिमण्डल प्रतिष्ठापित हो रहा था तब ब्रिटिश सरकार ने ये सभी जब्त नाटक और उनकी हस्तलिपियाँ जलाकर खाक कर दीं। इसीलिये आज उनका नमोनिशान तक मिट चुका है।

जुल्मी सरकार और भारत के व्यापारी के नाते बसे हुये गोरे पू जीपतियों के खिलाफ जनता में इन्कलाब पैदा करने के लिये रंगभूमि का उपयोग करने का तरीका बगाल ने अख्तियार किया था, लेकिन आगे चलकर बगाल ने उसे छोड़ दिया। लोक क्षोभ का कार्य इस कारण यदि किसी ने आगे बढ़ाया तो वह मराठी रगम च ने ही। मराठी रगम च का सौभाग्य था कि स्वतन्त्रता का पुरस्कार करने वाले नाटककार ही अग्रणी बने। इसीलिये मराठी रगमंच को आन्दोलन का यह स्वरूप प्राप्त हुआ।

मराठी रगमच की दो शाखाएँ हैं। एक गद्य और दूसरी संगीत। गद्य शाखा में राज कारणात्मक नाटक लिखे जा रहे थे

क्योंकि गद्य शाखा के नाटककार तो तिलक के अनुयायी थे। सगीत शाखा में समाज सुधार का विषय प्रमुख था, क्योंकि इस शाखा के नाटककार रानाडे और आगरकर के अनुयायी थे। महाराष्ट्र को जाग्रत करने का महत्कार्य करने वाले 'केसरी' अखबार के पहले सम्पादक थे लोकमान्य तिलक और गोपालराव आगरकर। आगे चलकर दोनों के विचारों में मतभेद हुआ। राजनीतिक और समाजिक आन्दोलन दोनों एक साथ होना चाहिये ऐसा आगरकर जी का विश्वास था। और तिलक सनातन वैदिक धर्माभिमानी थे, इसीलिये केवल राजनीति पर ही उन्होंने जोर दिया। समाज सुधार के प्रमुख अंग थे—नारीशिक्षा, पुनर्विवाह, अस्पृश्यता निवारण। इस सुधार से महाराष्ट्र की परंपरावादी पीढ़ी का विरोध था। इस विरोधात्मक आन्दोलन में अगुआ बनने से राजनीतिक आन्दोलन से रूढिप्रिय जनता मुँह मोडेगी इस ख्याल से तिलक दोनों को समान दृष्टि से देखना नहीं चाहते थे। परिणामस्वरूप आगरकर 'केसरी' छोड़कर चले गये और उन्होंने अपना 'सुधारक' नामक समाचारपत्र प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने समाज सुधार के साथ राजनीति का पुरस्कार भी किया। सनातनी वृत्ति की पूनावासी जनता ने आगरकर और रानाडे को सताना प्रारम्भ किया। पर इस विरोध से उनका उत्साह दुगना होता गया। बुरा इतना ही हुआ कि, महाराष्ट्र में लोक जागृति करने वाले ये दो महान योद्धा एक दूसरे से बिछुड़ गये और स्वतन्त्रता के आन्दोलन में महाराष्ट्र को एक तरह की कमी महसूस हुई।

भारत में राष्ट्रीय सभा का (Indian Nantional Congress) का अधिवेशन जब-जब आयोजित होता था तब उसी मण्डप में सामाजिक परिषद का अधिवेशन भी होता था। कई सालों तक यह प्रथा जारी रही। राजनीति और सामाजिक आन्दोलन का एक ही मंच पर अधिष्ठित होना असम्भव था। तिलक चल बसे,

और भारतीय कॉंग्रेस की डोर महात्मा गाधी के हाथों मे आयी! उन्होंने भारत के राजनीतिक आन्दोलन में सामाजिक आन्दोलन का भी समन्वय किया और कॉंग्रेस के अधिवेशन के साथ सामाजिक परिषद का आयोजन खत्म कर दिया गया।

रगमच पर भी इसका असर हुआ और महात्मा गाधी की कृपा से राजकारण और समाजकारण दोनों का रगम च पर समन्वय करने का भाग मुझे प्राप्त हुआ। गद्य रगम च पर राजनीति और सगीत रगमंच पर सामाजिक नाटक खेलने की परम्परा को मैंने तोड़ा और रगम च के एक ही व्यास पीठ पर इन दोनों आन्दोलनों का समावेश होने लगा। यह युग मराठी रगम च का वैभवशाली स्वर्ण युग था। पर सरकार के बधन दिनोदिन कडे होते जाते थे। अखबारों पर भी इतने प्रतिबंध भी नहीं थे जितने सरकार ने नाट्य निर्मोताओं पर रखे थे। सरकार से पहले म जूर कराए बगैर कोई भी नाटक खेला नहीं जा सकता था। इस दौरान में बहुत से नाटक रंगभूमि पर आने के पहले ही रद्द कर दिये गये। जो कुछ नाटक खेले गये उनमें अधिकारियों की अन्यायी इच्छा के अनुसार चाहे जो काट-छांट की गई। इससे नाटककार के लिये नाटक लिखना तलवार की धार पर कसरत करने के समान कठिन हो गया। इसी में से हमें राह टटोलनी पड़ती थी। सरकार की तीखी नजर से बचकर, धूल झोंक कर हमें लोक जागृति के नाटक रगम च पर पेश करने पड़ते थे! इस कार्य में अगर उस समय की नाट्य सस्थाओं के मालिक जो स्वय अभिनेता भी थे अपूर्व साहस न दिखाते तो शायद ऐसे नाटकों का रगम च पर खेलना भी असम्भव हो जाता। इन सब कठिनाइयो में हिम्मत बांधकर रगमच पर नाटक पेश किये जाते थे और बहुजन समाज उनसे प्रभावित हो उठता था। इतना विकट काम सिर्फ मराठी रगम च द्वारा ही सफलता से किया जा रहा था!

भारत के साधारणतया जितने भी प्रांतीय रगमंच सबको

परिचित है उन्हीं का उल्लेख मैने किया है। मेरा जहाँ तक ख्याल है। पजाब और आसाम का गम च पुराना नहीं है। उड़ीसा प्रदेश में रंगम च की प्रतिष्ठापना आधुनिक है। हिन्दी रंगमंच के बारे में मैं पहले ही बता चुका हूँ। मुम्बई की (बम्बई नहीं) उर्दू नाटक मंडलियाँ हिन्दी भाषी प्रान्तों में जाती थीं और इसी पर हिन्दी प्रदेश अपने नाट्य प्रेम की भूख ठंडी करने की कोशिश करते थे। हिन्दी नाटक खेलने वाली कुछ मराठी नाट्य संस्थाएँ भी हिन्दी प्रदेश में भ्रमण करती थीं और यह दौरे समय-समय पर होने के कारण उन्हें अच्छी आमदनी होती थी। यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हुए भी हिन्दी भाषाभाषी प्रदेशों में नाटक म डलियाँ क्यों प्रस्थापित नहीं हो सकीं, यह एक अजीब पहेली है।

हिन्दी नाटककार बम्बई की उर्दू नाटक म डलियों को नाटक लिख देते थे और उन्हे यश भी प्राप्त होता था। पर इन नाटककारों को अपने प्रदेश में नाटक म डलियाँ प्रस्थापति करने की इच्छा क्यों नहीं हुई यह अचरज की बात है!

प्रत्यक्ष नाटक देखे बिना नाटककार नाटक लिख नहीं सकता। नाटक दृश्यकाव्य है। वह एक प्रतिसृष्टि की निर्मिति है। जो विधाता निर्माण नहीं कर सका, उसकी कल्पना नाटककार करता है और अभिनेता इस कल्पना को मूर्त स्वरूप प्रदान करता है। सृष्टि और स्थिति इन दोनों की निर्मित का नाटक द्योतक है।

कथा या उपन्यास के लिये प्रत्यक्ष कसौटी नहीं है। लेखक अपनी बुद्धि से ही कथा या उपन्यास की कल्पना को मूर्त स्वरूप देता है। और वाचक भी अपनी बुद्धि के अनुसार उसे पढ़ता है। इसमें प्रात्यक्षिक की कसौटी नहीं है। नाटककार नाटक लिखता है पर जब तक उसे रंगम च पर पेश नहीं किया जाता हमें उसकी वास्तविकता का दर्शन नहीं होता। आज हिन्दी भाषा में बहुत से नाटक लिखे जा रहे हैं। पर प्रात्यक्षिकता की कसौटी पर कसने के

वाद उनमें कुछ कमी महसूस होगी ऐसा प्रतीत होता है। लेखक एक विशेष कल्पना से लिखता है—पर प्रत्यक्ष रंगमंच पर पेश करने योग्य वह है या नहीं यह पेश होने तक पता नहीं चल सकता। इसी लिये यह नहीं लगता कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के बहुत से नाटक खेले जाने की क्षमता रखते हैं। खेलने के लायक नाटक लिखे बिना अभिनेता का निर्माण नहीं होगा और कुशल अभिनेताओं के बगैर नाटक सफल नहीं हो सकता। ऐसा यह एक दुष्ट चक्र है। इसमें से रास्ता निकालकर हिन्दी रंगमंच की स्थापना होनी चाहिये।

मेरे ख्याल से इसका एक ही इलाज है। जिन प्रदेशों में रंगमंच पर कुछ मशहूर नाटक खेले गये हैं उन्हीं प्रदेशों के इने गिने नाटकों को अनुवादित करके उन्हें खेला जाय। भारत को अखंड बनाने से यह अनुवादित नाटक सफलता से हाथ बटाएँगे।

आजकल हमारे भारतवर्ष की हालत बड़ी विचित्र है। हमारे विश्व विद्यालयों से अंग्रेजी भाषा भिज्ञ पदवीधारी युवक, अंग्रेजी और अमरीकी साहित्य की जानकारी के साथ ही साथ जर्मन, रूसी स्केंडिनेवियन आदि साहित्यों की जानकारी भी अंग्रेजी द्वारा पा लेते हैं। सवाल यही है कि प्रत्यक्ष भारत की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य और साहित्यकारों का सब प्रदेशों के सुशिक्षित लोगों को कितना ज्ञान है? भारत स्वतन्त्र हो चुका है। अंग्रेजी भाषा को वह तिलांजलि दे रहा है। ऐसे समय पर भारतीय भाषाओं की तरफ अधिक ध्यान देना आवश्यक है। भारतीय भाषाएँ हमारी अपनी भाषाएँ हैं। इन भाषाओं में कुछ भाषाओं का साहित्य विदेशी भाषाओं के तुल्य बल ही नहीं बल्कि उनको भी मात करने वाला है। वह विदेशी साहित्य को नीचा दिखाने की ताकत रखता है। लेकिन कई वर्षों के अंग्रेजी शासन के कारण और अंग्रेजी ऐनक से

भारतीय साहित्य को परखने की न्यूगंडात्मक (Inferiority Complex) दृष्टि के कारण भारत के हर प्रदेश के विद्वानों की ओर भारत के अन्य प्रदेशों के साहित्य और साहित्यिकों की अपेक्षा की जा रही है। यह वृत्ति आत्मघातक है । इसे शीघ्रातिशीघ्र छोड़ देना आवश्यक है। मातृभाषा के समान भारत की प्रत्येक भाषा के लिये अभिमान की भावना दृढ होनी चाहिये। और भारत की इन अभिमानास्पद भाषाओं में वहुत सी भाषाओं का साहित्य इतना सनृद्ध है कि सव प्रदेशवासियों को उसका पूरा पूरा उपयोग करना चाहिये।

कभी-कभी साहित्यिक रंगमंच और व्यावसायिक रंगमंच इन दो प्रकार के रगमचों की चर्चा भी चलायी जाती है। कुछ प्रदेशों में यह भेदभाव प्रमुखतः दिखाई देता है। वगाल का व्यावसायिक रंगमञ्च अभिनय की दृष्टि से उन्नत है पर आधुनिक वंगाली नाटकों का अवलोकन करने पर साहित्यिक दृष्टिकोण से वे शायद ही उच्च श्रेणी के साबित हो सकेंगे। दाक्षिणात्य रंगमच अभी तक उतनी प्रगति नहीं कर सका है। यह वस्तुस्थिति है। अर्थात् दाक्षिणात्य भापाओं के नाटक भी उच्च श्रेणी के शायद ही होंगे।

गुजराती रगमच पर भी यह भेद पाया जाता है। गुजराती रगमंच के मुद्दत से पूँजीपतियो ने हथिया लिया है। इसलिए गुजराती नाटकों का दर्जा साहित्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। नाटक के सुरक्षा हक (Copy right) नाटक छपने के वाद ही निर्माण होते हैं इसीलिये पूँजीपतियों ने नाटक छपने ही नहीं दिये। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। गुजराती रगमंच पर पेश किये जाने वाले तीन चार सौ नाटक अब उपलब्ध नहीं हैं। दुष्ट पूँजीपतियों की इस बुराई से रंगमंच के नाटक लिखित रूप मे प्राप्त नहीं हैं। गत १५-२० सालों में चन्द्रवदन मेहता और गुजराती नाटककारों के प्रयत्नों से साहित्यिक रगमंच का निर्माण हो रहा है। रगमञ्च को

आधुनिक स्वरूप देने के उनके और अनुयायियों के प्रयत्न अभी तक पूरी तरह कामयाब नहीं हो सके हैं। इसका कारण गुजराती समाज का पूंजीवादी दृष्टिकोण है।

मराठी नाट्य साहित्य इस दृष्टि से समृद्ध तथा बलशाली है। रंगमञ्च और साहित्य दोनों मूल्यों की दृष्टि से मराठी नाटक किसी भी तरह पाश्चात्य नाटक से श्रेष्ठ कहा जा सकता है, वह इतना बलशाली है। मराठी नाटककार जिस भाँति कुशल लेखक थे वैसे ही साथ-साथ वे कुशल दिग्दर्शक भी थे। स्वयम् दिग्दर्शन किये बगैर लेखक पेश करने लायक सफल नाटक लिख नहीं सकता। इस अनुकूल वातावरण के फलस्वरूप मराठी नाटक शुरू से ही साहित्य की कसौटी पर पूरी तरह उतर सके। बगाल के पुराने नाटकों में में यानी गिरीशचन्द्र घोष के युग के नाटकों में यही दिखाई देता था। उस जमाने में रगमञ्च इतना उन्नत हुआ और उतना ही नाट्य साहित्य भी साहित्यिक दृष्टि से उन्नत हुआ। तब भी वह मराठी नाटक की तुलना में कसौटी पर नहीं उतर पाता। मेरा यह निर्णय एक नाटक वाले का निर्णय है। केवल नाटककार का ही नहीं, केवल दिग्दर्शक का भी नहीं और न केवल एक महाराष्ट्रीय का है।

रगमञ्च लोकशिक्षा का अतिप्रभावी माध्यम है। रगमञ्च से देश की प्रगति का अनुमान किया जा सकता है। वह देश के उत्कर्ष का प्रतीक है। रगमञ्च की प्रगति में साहित्य के साथ कला का भी आविष्कार नजर आता है! इस पर से किसी भी देश की प्रगति का अन्दाज किया जा सकता है। रगमञ्च उन्नत होगा तो देश भी उन्नत माना जाएगा। जो स्वतत्र हैं या स्वतत्र हुए हैं उन राष्ट्रों का यही अनुभव है। रगमञ्च को संसार का चित्र कहा जाता है। उसका यही कारण है। भारत स्वतंत्र हो चुका है। वह अपना शासन स्वय चलाने लगा है। भारत के स्वतन्त्रता सग्राम में रंगमञ्च

का एक भारी हिस्सा था। इस बात को भारत ने अभी तक स्वीकार नहीं किया है, ऐसा प्रतीत होता है।

पहली पंचवार्षिक योजना में रंगमञ्च के लिये कुछ भी नहीं किया गया। पर पंचवार्षिक योजना के प्रचार के लिए रगमञ्च का बराबर उपयोग किया जा रहा है। मैं नहीं समझता कि आगामी द्वितीय पंचवार्षिक योजना में रंगमञ्च के लिये कुछ किया गया है। बड़े-बड़े कारखाने खडे किये जा रहे हैं, बड़ी-बड़ी नहरें खोदी जा रही हैं, रेलमार्गों को बढ़ाया जा रहा है, बडे-बड़े रास्ते तैय्यार किये जा रहे हैं, कुएँ खोदे जा रहे हैं, आवश्यक अनाज अधिक से अधिक उगाने के उपाय खोजे जा रहे हैं। पर शारीरिक भूख के साथ बौद्धिक भूख बुझाने के लिए रंगमञ्च की आवश्यकता है, यह हमारी सरकार से कौन कहेगा और कब? कला है, कलाकार हैं, तत्रज्ञ हैं, नाट्यगृह बनाने के लिये भूमि भी है। कमी है सिर्फ नाटक गृह की। चित्रपट व्यवसाय है, यह मानकर उसकी उन्नति के भरसक प्रयत्न किये जा रहे हैं। चित्रपट व्यवसाय का क्षेत्र बढाने के लिए पूछताछ कमीशन नियुक्त हुआ है। दिल्ली की संसद में सवाल पूछे गये और बहस की गयी।

क्योंकि चित्रपट व्यवसाय को व्यवसाव के नाते देखा गया है। रंगमञ्च कला के प्रदर्शन का एक प्रज्वलित स्वरूप है, शिक्षा का माध्यम है—यह सब जानते हैं, बूझते हैं। पर उसकी जाँच के लिये आज कमीशन नियुक्त नहीं किया जाता। न ही शिक्षा के इस माध्यम की प्रगति के लिए हमारी सरकार प्रयत्नशील बन रही है। क्योंकि रगमञ्च केवल व्यवसाय नहीं है, इसीलिये!

आज हमारी सरकार का दृष्टिकोण व्यावसायिक है, सांस्कृतिक नहीं है। यूँ समझा जाय। उद्योग धंधे बढाने के लिए सरकार दिलोजान से कोशिशें कर रही है। क्या उसका कुछ हिस्सा इस सांस्कृतिक विभाग को नहीं मिल सकेगा? देहातों के पुनरुज्जीवन

का सवाल उठाया जाता है। Community Projects (साधिक योजनाएँ) तैयार की जा रही हैं, पर इन योजनाओं और प्रकल्पों के लिये रंगमञ्च कितना उपयोगी हो सकता है ? यह सरकार को बताने वाला कोई सामर्थ्यशाली व्यक्ति क्या आज विद्यमान नहीं है ? क्या कोई सस्था नहीं है ? रगमञ्च की सेवा में हमने सर्वस्व जीवन अर्पण किया, तलवार की धार पर नाचते हुए, अंग्रेजों के जुल्म सहे और अपने निश्चय पर अडिग रहे। स्वतन्त्रता आन्दोलन में किसी भी तरह के पुरस्कार की उम्मीद न करते हुये हमने बहुत बडे पैमाने पर भाग लिया। रगमञ्च को जब तक भारत के गाँव गाँव में स्थान प्राप्त नहीं होता तब तक हमारी आत्मा को शान्ति नहीं मिलेगी ! सरकार को जब कुछ करना होगा तब करेगी, हमें सरकार की राह देखते नहीं बैठना चाहिये ! हमें अपनी शक्ति के अनुसार जो कुछ भी करना संभव हो उसे हम करें !

परिशिष्ट ३

नाटक अभिनय अधिनियम, १८७६ ई०

नाटक अभिनय अधिनियम, १८७६ ई० के सम्बन्ध में डाक्टर सोमनाथ गुप्त ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' के पृष्ठ १४० पर लिखा है, "सब नाटक सुरुचि ही उत्पन्न करने वाले हों, ऐसी बात नहीं थी। इनमें अराजकता की वृद्धि और सुरुचि का अभाव देख कर सन् १८७६ में भारत सरकार ने 'The Dramatic Performances Act of 1876 नामक कानून बनाकर अभिनय पर कड़ा बंधन लगा दिया। यद्यपि इसका विशेष कारण अंग्रेज़ी नाटकों के अभिनय और उनसे उत्पन्न होने वाले अवांछित वातावरण का प्रसार ही प्रमुख था।"

विद्वान लेखक ने नाटक अभिनय अधिनियम के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उससे सहमत होना सम्भव नहीं है। हम इसे नाटक विरोधी ऐक्ट के रूप में देखते हैं। पिछले अस्सी वर्ष में इस ऐक्ट ने किस प्रकार हमारे रंगमञ्च और नाट्य साहित्य के विकास को रोका यह हम भली भाँति जानते हैं। 'गजदानन्द', 'चाकर दर्पण', 'नील दर्पण', 'सुरेन्द्र विनोदिनी' आदि नाटकों को अश्लील अथवा अराजकतावादी कहने में विदेशी सरकार चाहे जितना गर्व अनुभव करे, हम तो इन नाटकों को अपने सुरुचिपूर्ण, राष्ट्रीय, युगान्तरकारी नाटकों की गर्वीली शृङ्खला की महत्वपूर्ण कड़ियाँ ही मानते हैं।

१६ दिसम्बर १८७६ ई० को भारत के तत्कालीन वाइसराय लार्ड लिटन के आदेशानुसार नाटक अभिनय अधिनियम लागू हुआ। यह अधिनियम किन परिस्थितियों में और किन भावनाओं से प्रेरित होकर लागू किया गया था, उसका वर्णन हम पुस्तक के पृष्ठ ३२२-

३२७ में कर चुके हैं। विगत १४ मई १९५६ ई० को प्रयाग उच्च-न्यायालय के लखनऊ बेंच ने,'जिसमें माननीय न्यायाधीश श्री किदवई तथा श्री ए० एन० मुल्ला निर्णायक थे, उक्त अधिनियम से सम्बन्धित एक मामले में महत्वपूर्ण निर्णय दिया। न्यायाधीशों ने यह मत व्यक्त करते हुए कि १८७६ ई० का नाटक अभिनय अधिनियम भारतीय सविधान का उल्लघन करता है, चारों अभियुक्तों को दोष मुक्त कर दिया।

माननीय न्यायाधीशों ने अपने फैसले में कहा कि इस मामले में दो बातें विचारणीय थीं। प्रथम-नाटक अभिनय अधिनियम भारतीय सविधान के विपरीत है अथवा नहीं। द्वितीय-यदि वह संविधान के विपरीत भी है, तो जिन परिस्थितियों में अभियुक्तों पर अभियोग लगाया गया क्या वह उचित था या केवल इस बिना पर उनको शिकार बनाया गया कि वे सत्तारूढ दल के विरोधी थे और वे दूसरी राजनीतिक विचार धारा रखते थे।

इन सदस्यों की एडीशनल सिटी मजिस्ट्रेट की आदलत में डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट की शिकायत पर नाटक अभिनय अधिनियम की धारा ४ और १० के अन्तर्गत जांच होती रही। भारतीय जन नाट्य सघ की लखनऊ शाखा की ओर से इन्होंने मु शी प्रेमचन्द की कहानी 'ईदगाह' का १६ जून सन् १९५३ को रेफाह-ए-आम क्लब, लखनऊ, में अभिनय किया था। १५ जून को 'मन्त्री ने सिटी मजिस्ट्रेट को तारीख, समय और स्थान के विषय में सूचित कर दिया था और सिटी मजिस्ट्रेट ने आवश्यक आज्ञा भी प्रदान कर दी थी। उसी दिन अतिरिक्त जिलाधीश ने सयोजकों पर इस नाटक की निषेधाज्ञा का नोटिस तामील कर दिया कि उन्होंने नाटक अभिनय अधिनियम की धारा १० के अनुसार जिलाधीश से आज्ञा नहीं ली है। सिटी मजिस्ट्रेट ने भी आज्ञा वापिस ले ली। यह निषेधाज्ञा आरोपियों को प्रदर्शन के दौरान में ही दी गई, किन्तु उन्होंने इसकी परवाह किये

बिना प्रदर्शन जारी रखा। इसीलिए जिलाधीश की शिकायत पर इनका चालान कर दिया गया।

बेंच की राय में अभियुक्त चार गैरकानूनी कार्यों के लिए जिम्मेदार बताये गये—(१) कि उन्होंने वास्तविक कहानी को अपने राजनैतिक उद्देश्यों के मुताबिक बिगाड़ा, यह नाटक अभिनय अधिनियम की धारा ४ के विरुद्ध है। (२) कि उन्होंने प्रदर्शन के लिए अनुमति-पत्र प्राप्त नहीं किया। (३) कि उन्होंने उपयुक्त अधिकारियों को अभिनेय नाटक की प्रति नहीं दी। (४) कि उन्होंने एडीशनल डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट की प्रदर्शन करने की निषेध आज्ञा का उल्लघन किया। पिछले तीन आरोप अधिनियम की धारा १० के अन्तर्गत बताये गये हैं।

योग्य न्यायाधीशों ने दफा ४ के अंतर्गत आरोप को गलत बताया है। फैसले में कहा गया है कि "दफा ३ के शब्दों से यह स्पष्ट है कि निषेध आज्ञा केवल उसी हालत में दी जा सकती है जब कि अधिकारी यह समझे कि प्रदर्शन का रूप उक्त दफा की कलम (अ), (ब), (स) में वर्णित प्रकार का हो। हम यह स्वीकार करेंगे कि एडीशनल डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट को इस प्रकार की निषेध आज्ञा का अधिकार था। डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट द्वारा जो शिकायत की गई है उससे स्पष्ट है कि उनकी राय में किसी व्यक्ति को ऐसे राजनीतिक विचारों का प्रचार करने और पक्ष लेने का अधिकार नहीं है, जो सत्तारूढ दल के राजनीतिक विचारों के विपरीत हो। यदि वह ऐसा करता है तो उसका आचरण नाटक अभिनय अधिनियम की धारा ३ की कलम (ब) के अनुसार जुर्म हो जाता है। डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के दावे में इसका कोई हवाला नहीं दिया गया, जिससे यह जाहिर हो सके कि 'ईदगाह' का रूपान्तर, जिसका प्रदर्शन किया गया, गलत या मानहानि पूर्ण या दर्शकों को भ्रष्ट करने वाला था।

फैसले में स्पष्ट रूप से योग्य न्यायाधीशों ने लिखा है, "हमें इसका कारण बताने की कोई आवश्यकता नहीं है कि नाटक अभि-

नय अधिनियम की धारा ३ की कलम (व) भारत के स्वतन्त्र हो जाने के बाद और ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित कानून की जगह भारतीय सविधान द्वारा ले लिए जाने के बाद व्यर्थ हो गई है। सरकारी वकील को यह स्थिति स्वीकार करनी चाहिए।

"सरकारी वकील ने कहा है कि आरोपियों ने अपने राजनीतिक विचारों के अनुरूप असली कहानी में तोड़-मरोड़ की। आगे चल कर इस्तगासे के अनुसार यह साबित करने की कोशिश की गयी कि इस परिवर्तन से नाटक का स्वरूप भ्रष्ट हो गया और इससे प्रदर्शन के समय उपस्थित लोगों के आचार पर प्रभाव पड़ने की सभावना थी। हमें इस दलील पर आश्चर्य है। हमें तो इसमें सरकारी अधिकारियों की राजनीतिक विरोध को दबाने की सशकित प्रवृत्ति ही दृष्टिगोचर होती है, जिसके लिए वे राजनीतिक विरोध पर आरोप लगाते हैं कि वह ऐसे विचारों का प्रचार करता है जिससे जनता के भ्रष्ट होने की सभावना है। इससे हमारे दिमाग में वह पुरानी याद ताजी हो जाती है, जबकि शासक वर्ग का धर्म स्वीकार न करने वाले लोगों को नास्तिक और शांति को भग करने वाला करार दे दिया जाता था।

"डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने या तो यह सोचा कि चूँकि वर्तमान सरकार ने ब्रिटिश सरकार की जगह ले ली, अतः कलम (ब) अब भी जारी है या अपने दावे को उचित बताने के लिए उन्होंने धारा ३ की कलम (अ) और (स) के अर्थ को खूब तोड़-मरोड़ डाला। इस इस्तगासे से स्पष्ट हो जाता है कि नाटक अभिनय अधिनियम के द्वारा सरकारी अधिकारियो को जो अधिकार दे दिये गये हैं उनके दुरुपयोग से आवश्यक और उचित बचाव के लिए उसमें कोई व्यवस्था नहीं है।

"चूँकि हमारी राय में आरोपियों पर धारा ३ की कलम (अ) और (स) के अतर्गत मामला नहीं चलाया जा सकता और कलम

(ब) रद्द हो गई है, अतः दफा ४ के अन्तर्गत आरोपियों पर जुर्म बिलकुल गलत है।"

आगे धारा १० का उल्लेख करते हुए योग्य न्यायाधीशों ने राय व्यक्त की है कि "दो प्रश्नों पर निर्णय की जरूरत है। पहिला यह कि क्या अभिनय अधिनियम संविधान के विरुद्ध है या नहीं। दूसरा, यदि अधिनियम संविधान के अनुरूप है तो आरोपियों के विरुद्ध जुर्म इन परिस्थितियों में उचित है अथवा सत्तारूढ दल के विचारों से भिन्न राजनीतिक विचार रखने के कारण ही इन व्यक्तियों को सजा दी गई है। हमें मुकदमे के बारे में अनेक शंकाएँ हैं। लेकिन हमें उनके बारे में निर्णय देने की जरूरत नहीं क्योंकि हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि नाटक अभिनय अधिनियम संविधान के विपरीत है, जब तक कि इसकी धाराओं को लागू करने के लिए न्यायसंगत तरीका न अपनाया जाय। इस अधिनियम को अमल में लाने से संविधान की धारा १९ के अनुसार नागरिकों के अधिकार पर नाजायज अंकुश लगता है।"

बचाव पक्ष की ओर से श्री एस० एन० द्विवेदी और श्री तेज नारायण ने मुकदमे की पैरवी की।

इस प्रकार प्रायः ८० वर्षों तक हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक प्रगति पर रोक लगाने वाला नाटक अभिनय अधिनियम रद्द हो गया और अब हमारे अभिनेता, नाटककार तथा नाट्य प्रेमी जनता को पुनः अपनी प्रेरणा, योग्यता और क्षमता के अनुसार नाटकों के रचने और उन्हें रंगमंच पर प्रस्तुत करने की स्वतंत्रता मिल गयी है।

परिशिष्ट ४

श्री कृष्ण चरित्रोपाख्यान

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पहिले हिन्दी में कौन कौन से नाटक लिखे गये और उनमें से कौन कौन से नाटक रगमच पर प्रस्तुत किये गये इस सम्बन्ध में अभी तक पूरी और अन्तिम खोज नहीं हुई है। कहीं भारतेन्दु जी ने अपने पिता श्री गिरिधर दास रचित 'नहुष' नाटक को प्रथम माना है, कहीं रींवा नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह रचित 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक को। हिन्दी नाटक तालिका में भी भारतेन्दुजी ने 'नहुष' नाटक को ही प्रथम स्थान दिया है। इसी प्रकार भारतेन्दुजी का कथन है, "हिन्दी भाषा में जो सबसे पहला नाटक खेला गया वह 'जानकी मगल' था। स्वर्ग-वासी मित्रवर बाबू ऐश्वर्य नारायणसिंह के प्रयत्न से चैत्रशुक्ल ११,सवत् १६२५ में बनारस थियेटर में बड़ी धूमधाम से यह खेला गया था। रामायण से कथा निकालकर यह नाटक पडित शीतला प्रसाद त्रिपाठी ने बनाया था। इसके पीछे प्रयाग और कानपुर के लोगों ने भी 'रणधीर-प्रेममोहिनी और 'सत्य हरिश्चन्द्र' खेला था।" 'देवमाया प्रपच', 'प्रभावती', 'आनन्द रघुनन्दन' आदि के सम्बन्ध में भारतेन्दु जी का कथन है कि ये "यद्यपि नाटक रीति से बने हैं किन्तु नाटकीय यावत नियमों का प्रतिपालन इनमें नहीं है और ये छंद प्रधान ग्र थ हैं।"

इस सम्बन्ध में मुझे डाक्टर शारदा देवी वेदालकार का एक महत्वपूर्ण प्राप्त हुआ है। उसके आवश्यक अश यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं। इस पत्र में डाक्टर शारदा देवी वेदालकार ने 'श्री कृष्ण चरित्रोपाख्यान' नाटक का चर्चा किया है। यह नाटक काठमाण्डू में १ सितम्बर १८३५ ई० को खेला गया था। १७ सितम्बर १८३५ ई०

तक इसका क्रम चलता रहा है। इस बीच यह नाटक आठ रातों तक लगातार खेला गया। इस नाटक में अवधी, ब्रज भाषा और संस्कृत का प्रयोग हुआ है। सम्पूर्ण नाटक सर्गों में विभक्त है। डाक्टर शारदा देवी वेदालंकार लिखती हैं—

"इण्डिया आफिस के 'नेपाली संग्रह' से मुझे कुछ राजकीय पत्र, वंशावली, राज्य के आवश्यक समाचार तथा एक नाटक 'कृष्ण चरित्रोपाख्यान' नामक उपलब्ध हुए हैं। इनकी भाषा हिन्दुस्तानी और बोलचाल की खड़ी बोली है।

"उपरोक्त नाटक भागवत पुराण दशम स्कन्ध के आधार पर लिखा गया है। इसमें १०२ पृष्ठ (Folios 1—102) हैं। अभिनय की तिथि है सितम्बर १८३५। नाटककार का नाम नहीं दिया गया है। 'नेपाली संग्रह' के सब हस्तलिखित ग्रन्थों में लेखक के नाम का अभाव ही मिलता है। यह नाटक 'इन्द्र यात्रा' के अवसर पर नेवारियों द्वारा १८३५ में खेला गया था। इसमें संस्कृत के श्लोक मंगलाचरण तथा देवाताओं की स्तुति के लिए मिलते हैं। इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर बिहारी—मिश्रित अवधी (भाषा) में लिखे दोहे भी हैं। परन्तु गद्य के अंश सब बोल चाल की खड़ी बोली में है। बीच बीच में कुछ नेवारी और पर्वतिया भाषा के शब्द भी प्रयुक्त हुये हैं। स्टेज का निर्देशन भी नेवारी भाषा में ही मिलता है।

इस ड्रामा में नौ सर्ग हैं।

अपनी थीसिस के कुछ अंश मैं उद्धृत कर रही हूँ।

Supplication, incantation and other religious ceremonies, throughout the drama are in Sanskrit.[1] Scattered throughout the prose text are verses in Avadhi and Braj bhasa.

1. Chap VI, Hindi in Nepal.

से आया। फारसी शायरी की परम्परा में गजल, कसीदा और मसनवी आदि चीजें सम्मिलित थीं। गद्य के मैदान में अच्छी से अच्छी और सजी हुई भाषा के प्रयोग करने का रिवाज था। इस समय तक नाटक का कोई विशेष जिक्र नहीं मिलता। हाँ, यह चर्चा मिलता है कि कुछ नाटक मण्डली वाले अक्सर शहरों में नाटक दिखाया करते थे। वे जब इस प्रकार की नाटक मंडलियाँ बनाकर गाँव और शहरों में खेल तमाशा करते थे तो उन्हें बादशाह बड़ी से बड़ी दौलत देने का प्रयत्न करता था। इस जमाने में नाटकों की तरफ से लोगों की रुचि भी फीकी हो चुकी थी, क्योंकि इतिहास का एक लम्बा चौड़ा मैदान नाटकों की ओर से अपनी नजरें फेर चुका था।

आखीर के मुगल बादशाहों की दिलचस्पी नाटकों के सम्बन्ध में बहुत रही। फर्रुखसियर के कहने से नेवाज नाम के एक आदमी ने शकुन्तला का अनुवाद उर्दू में किया। यह उर्दू वही उर्दू थी जिस पर फारसी का अधिकतर प्रभाव था। डाक्टर एजाज़ हुसेन के अनुसार नेवाज ने व्रजभाषा में शकुन्तला का अनुवाद किया था।

इसके फौरन बाद ही नाटक का इतिहास अँधेरे में चला जाता है।

वाजिद अलीशाह और योरोपियन आपेरा

कहते हैं कि एक बार वाजिद अली शाह के दरबार में एक फ्रांसीसी आया और उसने योरोपियन आपेरा के सम्बन्ध में बतलाया। वाजिद अली शाह को शौक हुआ कि इसी तरह के आपेरा उर्दू भाषा में भी लिखे जायें। वाजिद अली शाह को नाच गाने का पहले ही से बड़ा शौक था। इसीलिये उन्होंने आगा हसन 'अमानत' से पहला उर्दू नाटक 'इन्द्र सभा' लिखवाया। 'अमानत' अपने इस नाटक द्वारा बहुत मशहूर हुये और इसीलिये चारों ओर यह सुनाई देने लगा—

"खलायक में है धूम 'इन्दर सभा' की !"

अब विद्वानों का ख्याल है कि 'अमानत' ने वाजिद अली शाह

के कहने से 'इन्दर सभा' नहीं लिखा, बल्कि उस जमाने में 'रहस' को लोग पसन्द करते थे, इसी लिये 'अमानत' ने उससे लाभ उठाया और लोगों के सामने इन्दर सभा पेश की। यह पूर्ण रूप से कविता के रूप में है। इसकी भाषा 'अमानत' ने रोजाना की बोल चाल ही रखी है—

साया रहे पीरो पयम्बर का
मौला की सदा रहे नेक नजर।
उस्ताद कहो हर से हर दम
दुनिया में रहें हजरत अकबर।

मदारी लाल की 'इन्दर सभा'

'अमानत' की इन्दर सभा की देखा देखी मदारी लाल ने भी अपनी 'इन्दर सभा' लिखी। इनके अलावा भी और लोगों ने इन्दर सभायें लिखी हैं। मगर 'अमानत' की 'इन्दर सभा' बहुत मशहूर हुई और भारत की समस्त भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ।

'अमानत' और मदारी लाल की इन्दर सभा में बहुत अन्तर है, देखिये—

सभा में दोस्तों इन्दर की आमद आमद है,
परी जमालो के अफ़सर की आमद आमद है।
फ़रोग़े हुस्न से आँखों को अब करो रौशन,
ज़मीं पे मेहरे मुनव्वर की आमद आमद है।
(अमानत)

सुल्तान शाह बज़्म में तशरीफ़ लाते हैं।
सारे जहा को अपना तजम्मुल दिखाते हैं।
ख़िलअत से सब अमीरों को करते है सरफ़राज़,
रुतबा किसी का, शान किसी की बढ़ाते हैं।
(मदारी लाल)

अमानत और मदारी लाल के बाद जरीफ ने अपना 'नैरंग इश्क' नाम का नाटक लिखा, जो बहुत मशहूर हुआ। ज़रीफ के

बाद अहसन और तालिब के नाटक स्टेज पर आये। तालिब के नाटक का नाम 'लैलो नहार' था। इस नाटक में एक जगह फलक सियर कहता है—

निकल जा मेरे मकान से आलम सोज़ !

और उसका उत्तर दूसरा पात्र अशरफ इस प्रकार देता है—

बड़ी इनायत है, मुझे खुद ऐसी जगह से नफ़रत है।

इसी बीच अहसन ने एक बहुत बड़ा काम कर डाला। उन्होंने 'हैमलेट' का अनुवाद उर्दू में 'खूने नाहक़' के नाम से किया। जिस समय यह नाटक मंच पर प्रस्तुत किया गया इसकी बड़ी वाह वाह हुई और इसने बहुत प्रसिद्धि कमाई।

अनुवाद में भाव का विशेष ध्यान रक्खा गया है। जैसे एक स्थान पर हैमलेट कहता है—

"या अल्लाह कैसा दहशतनाक ख्वाब है, जिससे दिल को बेहद इज़तेराब है। मैं जागता हूँ या सोता हूँ, या अपने बाप की रुह से मुक़ाबिल होता हूँ। ऐ मेरे बाप का भेस बदलने वाली रुह ! तू नेक है या बद है, मगर मेरे लिये गैबी मदद है। लिल्लाह मोहरे खामोशी दूर कीजिये, मग़मूर दिल को मसरूर कीजिये—

अपनी हसरत का न मालूम था अंजाम हमें,
किसलिये छोड़ दिया आपने नाकाम हमें।"

वास्तव में यह नाटक पारसी कम्पनी के लिए लिखा गया था और इन्हीं नाटकों से इन लोगों ने बहुत पैसे भी वसूल किये। अलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी ने सबसे पहले १८९८ ई० में इसको स्टेज किया। इस समय स्टेज की वही दशा थी जिससे शेक्सपियर को शुरू शुरू में मुक़ाबला करना पड़ा था।

"स्कूलों के हाल थियेटर के काम आये और बेंचों से स्टेज बनाया गया।"

(नाटक सागर)

शकुन्तला के और दूसरे अनुवाद

नेवाज के बाद मिर्जा काज़िम अली जवां ने शकुन्तला का अनुवाद लल्लू लाल जी की सहायता से किया। उनकी देखा देखी मुहम्मद तक़ी ने भी इसका अनुवाद 'मसनवी रश्के गुलजार' के नाम से किया। इसके बाद इसी का अनुवाद 'मसनवी सहर' के नाम के मुशी इक़बाल वर्मा सियालकोटी ने किया। १९०७ मे कालीदास के 'विक्रमोर्वशी' का अनुवाद अजीज मिर्जा दक्कनी ने किया।

सस्कृत के महत्वपूर्ण नाटकों के अनुवाद के बाद जर्मन और अग्रेजी भाषा के अनुवाद की ओर उन लोगो ने जोर दिया। जर्मनी के मशहूर कवि शिलर के एक नाटक का अनुवाद इसी बीच 'महबूबये जर्मन' के नाम से हुआ। 'शी स्टूप्स टू कानकर' (गोल्ड स्मिथ) का भी अनुवाद हुआ। यह सूची इस तरह है—

दि लेडी लियन—लार्ड लिटन—धूप छाँव—मुरादअली
चार्ल्स ग्रान्ट—दिल की प्यास
दि जिविस—करिश्मये क़ुदरत (तालिब १९१३)
पिजारू—शेरिडान—असीरोहिर्स—आगा हश्र (१९००)
दि टावर आफ वेसीलेस—डूमा—खूने जिगर—महशर (१९११)

आगा हश्र और उनके नाटक

"यह देखिये ऐसे लोग हमारे स्टेज की रौनक बने हुये हैं, जिन्हें गिलास थामने की तमीज नहीं।" आगा हश्र का उस समय के स्टेज के बारे में यही ख्याल था। उस समय के उर्दू नाटककारों में आगाहश्र ही एक ऐसे आदमी थे, जिन्होंने सबसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की। इस मैदान में आते ही उन्होंने बड़े से बड़ा काम करने का बीड़ा उठाया और उसे पूरा भी किया।

यह १८९६ का जमाना रहा होगा जब वह बनारस में हाई स्कूल में पढ़ते थे। उसी समय पारसी अलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी वहाँ पहुँची। हश्र को भी देखने का शौक हुआ। इसको देखने के बाद उनके दिल में भी इसी तरह के नाटक जो स्टेज पर खेले जा सकें, लिखने का शौक पैदा हुआ। लेहाज़ा 'चन्द्रावली' के तरीके पर उन्होंने 'आफतावे मुहब्बत' लिख डाला। १९०१ में घर छोड़ कर वह बम्बई चले आये और अलफ्रेड कम्पनी में नौकरी कर ली। वहाँ उन्होंने 'मुरीदे शक', 'मीर आसवीन', 'मीठी छुटी', 'असीरे हिर्स' आदि नाटक लिखे।

सचमुच उर्दू नाटकों की शोहरत जितनी आगा हश्र की वजह से हुई शायद ही किसी दूसरे की वजह से हुई हो। ऊपर लिखे हुये नाटकों के अलावा भी आगा ने बहुत से दूसरे नाटक लिखे जिनमें 'बिल्व मगल', 'भागीरथ गगा', 'मधुर मुरली', 'आँख का नशा', 'बन देवी', 'सीता वनवास' और 'भीष्म प्रतिज्ञा' हैं।

आगा हश्र काफी दिनों तक इसी तरह डटे रहे। उनका एक नाटक 'तस्वीरे वफा' बहुत मशहूर हुआ। कई भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ। बगाली में इसका अनुवाद 'मिश्र कुमारी' के नाम से मौजूद है। 'तस्वीरे वफा' का एक टुकड़ा इस प्रकार है—

सरदार—सिजदा!

अज़रा—किसे?

सरदार—इस आलीशान को!

अज़रा—इस फानी इन्सान को? हम सिजदा करते हैं अपने सुब्हान को—

टुकड़े मेरे उड़ जायें, यह डर कर न झुकेगा।
आगे किसी इन्सान के यह सर न झुकेगा।

१९१६ में आगा हश्र की बीबी का देहान्त हो गया। इससे

उनको बड़ा शोक हुआ। लाहौर में अपनी बीबी को दफन करते समय उन्होंने यह कहा—

"जाओ नेक बख्त! मैं भी इसी मुक़ाम पर तुम्हारे पहलू में दफन होने चला आऊँगा।"

इसके बाद से उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। उन्होंने अपने आखिरी नाटक 'रुस्तम व सोहराब' में इस प्रकार स्वतन्त्रता का झंडा बुलन्द किया है—

"मेरी तमन्ना है कि मेरे हमवतन जियें, मगर गुलाम बनकर नहीं, आज़ाद होकर! मोतीय होकर नहीं—सर बुलन्द होकर!"

और, फिर इसके बाद इस महान कलाकार की आँखें बन्द हो गईं।

आगा हश्र के बाद के नाटक

उस जमाने में कलकत्ते में एक वेश्या को मार डाला गया। नारायण प्रसाद 'बेताब' ने इसी घटना को नाटक के रंग में पेश किया, जिसका नाम 'कत्ले नज़ीर' रक्खा। १६१८ में ढाके से अहमद हुसेन बाक़र ने 'बहारे बुलबुल' नाम का नाटक छपवाया।

मौलाना मुहम्मद हुसेन आजाद ने एक बड़ा काम अपने ज़िम्मे लिया और 'मैकबथ' का अनुवाद आरम्भ किया, लेकिन उसे पूरा न कर सके। बीच ही में नूरजहाँ और जहाँगीर की मुहब्बत पर नाटक लिखने का काम आरम्भ किया वह भी अधूरा रह गया।

'मैकफेरसन लूसी' और 'क़ासिमो ज़ोहरा' नाम के नाटक अहमद अली शौक़ ने लिखे जो बहुत मशहूर हुये। 'शहीदेवफा' और 'मेवये तल्ख' शरर ने लिखे जो काफी सफल हुये। किशन चन्द ज़ेबा ने 'ज़ख्मी पंजाब' नाम का नाटक लिखा जिसे सरकार ने तुरन्त ज़ब्त कर लिया। यही हाल उमराव अली के नाटक 'अलबर्ट बिल' के साथ हुआ। हकीम अहमद शुजा ने सामाजिक नाटक लिखे,

जिसमें से 'बाप का गुनाह' बहुत मशहूर हुआ और कई भाषाओं में इसका अनुवाद भी हुआ। इसका एक टुकड़ा इस तरह पर है—

मसूद—एक बाजारी औरत के हाथ से जो मुसीबत तुम्हारे बूढे दादा, शरीफ माँ और हसरत नसीब बाप के सर पर पड़ी उसकी दर्दनाक कहानी तुम सुन चुके हो—क्या अब भी तुम एक बाजारी औरत से शादी करोगे ?"

इसी जमाने में मिर्जा रुसवा का नाटक 'लैला मजनूँ' भी बहुत मशहूर हुआ।

१९१७ में अब्दुल माजिद दरियाबादी ने 'गूदे पशेमाँ' लिखा और इशतियाक़ हुसेन कुरैशी ने 'गुनाह की दीवार' लिखा जो काफी पढे गये।

पडित ब्रजमोहन दत्तात्रेय 'कैफी' ने भी अपने दो मशहूर नाटक लिख कर पजाब सरकार से पुरस्कार लिये। यह नाटक 'राम दुलारी' और 'मुरारी दादा' थे।

१९३२ में अनसार नासरी ने आसकर वाइल्ड के 'सलोमी' का अनुवाद किया। शाहिद अहमद ने 'नर्गिसे जमाल" लिखा। 'मिर्ज़ा जगी' लिख कर अजीन वेग चुगताई बहुत मशहूर हुये। सज्जाद हैदर यलदरम ने तुर्की भाषा से एक अनुवाद 'जलालुद्दीन ख्वारजम शाह' उर्दू में किया। इसी के साथ-साथ गाल्सवर्दी के 'स्किन गेम' का अनुवाद 'फरेबे अमल' के नाम से मुशी जगत मोहनलाल 'खाँ' ने किया।

इमतियाज़ अली ताज और अनारकली

आगा हश्र के बाद सब से ज्यादा शोहरत इमतियाज़ अली ताज को हुई। 'अनारकली' को स्वयं आगा हश्र ने भी बहुत पसद किया था। कहानी इसकी इस तरह है। अकबर के दरबार में एक कनीज़ थी जिसका नाम अनारकली था। जहाँगीर उस पर आशिक हो

गया और छुप छुपकर उससे मिलने लगा। एक ऐसी ही तस्वीर को इमतियाज अली ताज अनारकली में खींचता है—

सलीम—"अनारकली! मेरी जान जागो, देखो, तुम्हें तुम्हारा सलीम जगा रहा है, तुम्हारा सलीम।"

अनारकली—"मैं जानती थी, तुम मुझे जगाओगे, इस गर्म नींद से, अपनी ठंडी गोद में, कैसी प्यारी बात, मगर अब तक तुम कहाँ थे? मैं इस तपती और झुलसती हुई नींद में रोती रही, तुम्हें पुकारती रही।"

आखीर में यह बात अकबर तक पहुँचती है। अकबर हुक्म देता है कि अनारकली को जिन्दा दफन कर दिया जाय। जब यह खबर जहाँगीर को लगती है तो वह अपनी माँ से पुकार पुकार कर कहता है, जिसको इमतियाज ने इस प्रकार लिखा है—

सलीम—"वह राह तक रही है, धुँधुली आँखों में इन्तजार है, होंठ पर सलीम है, मुझे वहाँ भेज दो।"

अनारकली नाटक बहुत मशहूर हुआ और हज़ारों बार स्टेज किया गया। अनारकली फिल्म का ज़्यादा हिस्सा इसी से लिया गया है।

'पर्दाये गफलत' डाक्टर आबिद हुसेन का लिखा हुआ है। इस नाटक की बुनियाद लड़कियों की शिक्षा पर है। इस नाटक के दो पात्र अहमद हुसेन और मास्टर जव्वाद खूब खूब करतब दिखलाते हैं।

वर्तमान नाट्यकार

१९२८ में हिन्दुस्तान में फिल्म टाकीज का आरम्भ हुआ। परिणाम-स्वरूप इससे रंगमंचीय नाटकों को नुक़सान पहुँचा। आग़ा हश्र ने फिर से फिल्मी दुनिया के लिये कई दूसरे नाटक लिखे। उन्होंने सबसे पहले सिनेमा के लिये 'चन्डी दास' और 'यहूदी की लड़की' जैसे नाटकों को तैयार किया।

इसके बाद रेडियो का रिवाज हिन्दुस्तात में बढा तो लोगों ने उस के लिए फीचर और छोटे-छोटे नाटक लिखने आरम्भ किये। सआदत हसन मन्टो ने रेडियो स्टेशन पर बाक़ायदा नौकरी इसी के लिये कर ली। 'मन्टो के ड्रामे' नाम की पुस्तक भी प्रकाशित हुई जो ऐसे ही नाटकों का सग्रह है। मन्टो का एक नाटक 'तालीमी फिल्म' बहुत दिलचस्प है।

'तालीमी फिल्म' नाटक का एक टुकड़ा

सलमत—बताना मैं तुम्हारे पास किस लिये आया था ? अरे हाँ सर दर्द की दवा लेने, मुसर्रत को देखा तो क्षण भर के लिये भूल गया कि सर में शिद्दत से दर्द हो रहा है।

हामिद—(मुस्कराते हुये) उनके आने से जो आ जाती है मुँह पर रौनक!

मुसर्रत—खाक़ भी रौनक नहीं, बहुत बुरा हाल है उनका, दर्द के मारे सर फटा जा रहा है, सो उसका एक ही इलाज है। क्यों भई ?

इफ्फत—बिल्कुल।

सलमान—जो बीमार है उसका इलाज तो बताया ही नहीं तुमने।

मुसररत—दर्दे-दिल देखिये।

सआदत हसन मन्टो के अलावा राजेन्द्र सिंह बेदी भी बहुत मशहूर हुये। उनके नाटकों का एक सग्रह 'सात खेल' प्रकाशित भी हुआ है। उपेन्द्र नाथ अश्क अपने 'कैदेहयात' से बहुत मशहूर हुये। सज्जाद ज़हीर और शौकत थानवी अपने 'बीमार' और 'सुनी सुनाई' नाम के नाटक से बहुत मशहूर हुये।

१९४८-४९ में नासीर शमशी के नौ नाटकों का सग्रह 'सहर

होने तक' के नाम से निकला। इसके बाद इन्हीं का 'तेरे कूचे से हम निकले' नाटक प्रकाशित हुआ।

प्रोफेसर मुजीब (दिल्ली) के बड़े अच्छे नाटक होते हैं।

यूँ तो कृष्ण चन्द्र का मैदान नाटकों का नहीं है, लेकिन वह जिस चीज पर क़लम उठाते हैं नई बात पैदा हो जाती है। 'मिस वेली बाटली वाला' उनका मशहूर नाटक है, ज़रा इसको देखिये।

वेला—सुनो! अगर कोई अप्सरा, आसमान से उतर कर जमीन पर आ जावे और तुम्हें उतने रुपये दे दे, जितने तुम्हारे बदन में रोयें हैं, तुम्हारे क़दमों में सर रख दे और अपने होठों से तुम्हारे पाँव चूम ले, अपनी जलती हुई गुलाबी उँगलियाँ तुम्हारे गालों पर रख दे और तुम्हारे सीने को अपनी साँस की खुशबू से बोझल कर दे, लड़खड़ा कर तुम्हारी गोद में गिर जाय, तो तुम उसे क्या कहोगे?

पिलम्बर—मैं कहूँगा, मुझे अफसोस है कि मैं आपकी कोई खिदमत नहीं कर सकता। आपका नाथटब ठीक हो चुका है। और मैं अपनी फूलवती के पास जा रहा हूँ।

१९५५ में डाक्टर मुहम्मद हसन का नाटक सग्रह 'पैसा और परछाईं' नाम से प्रकाशित हुआ है।'

मिर्जा अदीब (एडीटर, अदबे लतीफ लाहौर) भी बड़े अच्छे ड्रामे लिखते हैं। यह अपने नाटकों के कारण ही मशहूर हुये। इनका एक नाटक 'नन्द कुमार' नाम का है। यह वही नन्दकुमार है, जिस पर वारन हैसटिंग्ज़ ने मुकदमा चलाया था और उसकी सारी जागीर छीन ली थी

मिर्जा अदीब का दूसरा नाटक 'आँसू और सितारे' बहुत मशहूर है। इसके पात्रों में डाक्टर और गयास की वार्ता जरा सुनिये—

डाक्टर—फसाद में मरा था आपका बच्चा?

गयास—फसाद से कुछ पहले, इन फसादात में जो कुछ हुआ

उर्दू नाटकों की पूरी सूची प्राप्त नहीं हो सकी है। उर्दू में अब तक दो सौ से ऊपर नाटक रचे जा चुके हैं। इनमें से कुछ का चर्चा पिछले पृष्ठों में आ चुका है। यहाँ भी हम एक अपूर्ण सूची ही प्रकाशित कर संतोष कर रहे हैं।

१. सफेद खून, २. सैदे हवस, ३. असीरे हिर्स, ४. भूल भुलैयाँ, ५. कक दारा, ६. मालिन की बेटी, ७. लैलो निहार, ८. फ़तहो जंग, ९. धूप छाँह, १०. दिलफरोश, ११ जहरी साँप, १२. चन्द्रावली, १३. दो रङ्गी दुनियाँ, १४. जुल्मे वहशी, १५ सर फरोश, १६. गोपी चन्द, १७. राजा भर्थरी, १८. गुलरू जरीथ, १९ हैमलेट, २० अली बाबा चालीस चोर, २१ शहजादा मुमताज, २२. अलाउद्दीन का चिराग़, २३. आबे हिबलीस, २४. सुनहरी फरेब, २५. मीठा जहर, २६. अमरित, २७ खून का खून, २८ गोरख धन्धा, २९. गुलनार फीरोज़, ३० सुन्दर मुख, ३१. ख्वाबे हस्ती, ३२ हरीशचन्द्र, ३३. अमरुज्ज़मा, ३४ जामे जहाँनुमा, ३५. रुक्मिणी मङ्गल, ३६. जजीरे गौहर, ३७. खूबसूरत बला, ३८. सुनहरी खंजर, ३९. सैरे परिस्तान, ४०. राम नाटक, ४१. महाभारत, ४२. ताइदे यज़दानी, ४३. हश्र महशर, ४४. खान्दाने हामान, ४५. शहीदे नाज, ४६. काली नागिन, ४७. इन्दर सभा, ४८. हूरे जन्नत, ४९. क़त्ल नज़ीर, ५०. सिल्वर किंग, ५१. दुश्मने ईमाँ, ५३. सगीन बकावली, ५४. खुद परस्त, ५५. शामे जवानी, ५६ खूनी हीरा, ५७. तस्वीरे वफ़ा, ५८. माहीगीर, ५९ शकुन्तला, ६०. मुरीदे शक, ६१. नूरजहाँ, ६२. लैला मजनूँ, ६३. बुलबुले बीमार, ६४. दिलेर दिलशेर, ६५. दाँव पेच, ६६. इन्कलाबे जमाना, ६७. शीरीं फरहाद, ६८. शहीदे वफा, ६९. प्रहलाद भगत, ७०. आबे इबलीस उर्फ खेले अफ़रीत।

परिशिष्ट ६

हिन्दी नाट्य साहित्य

नाटक शास्त्र

लेखक	पुस्तक	प्रकाशन
१. भरत मुनि	नाट्य शास्त्रम्,	बनारस विद्याविलास प्रेस
२. भरत मुनि	नाट्य शास्त्र, संपा० भोलानाथ शर्मा (हिन्दी अनु० ३ भागों में)	कानपुर, साहित्य वि० १९५४ ई०
३. श्याम सुन्दर दास	रूपक रहस्य	प्रयाग, इ० प्रे०, २००६ वि०
४. सीताराम चतुर्वेदी	अभिनव नाट्यशास्त्रम्	काशी, भारतीय वि० प०, २००२ वि०
५. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	नाटक	प्रयाग, नारायण प्रेस, १९४१ ई०

नाटकों का इतिहास

लेखक	पुस्तक	प्रकाशन
६. जयनाथ नलिन	हिन्दी नाटककार	दिल्ली, आत्मा० एं० स० १९५२ ई०
७. दिनेशनारायण उपाध्याय	हमारी नाट्य परंपरा	प्रयाग, रामनाराण, १९५१ ई०
८. डा० नगेन्द्र,	आधुनिक हिन्दी नाटक	आगरा, स० र० म० २००७ वि०
९. राजेन्द्र सिंह गौड़	हमारी नाट्य साधना	आगरा, मेहरा ए० क०, २०१० वि०
१०. राजेन्द्र सिंह गौड़	हमारे नाटककार (हिन्दी नाट० की सूची स०)	आगरा, मेहरा ए० कं० २०१० वि०

११. रामचरण महेन्द्र — हिन्दी एकांकी और एकांकीकार — आगरा, सर० प्रका०, १९५३ ई०
१२. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र — हिन्दी मे नाट्य साहित्य का विकास — काशी, साहि० सेवक कार्या०
१३. ब्रजरत्नदास — हिन्दी नाट्य साहित्य — काशी, हिन्दी सा० कु०,
१४. शिवनाथ — हिन्दी नाटकों का विकास — प्रयाग, किताब म० १९५१ ई०
१५. डा० सत्येन्द्र — हिन्दी एकांकी — आगरा, सा० र० म०,
१६. सूरज प्रसाद खत्री — नाटक की परख — प्रयाग, साहि० भ० ल०, १९४८ ई०
१७. डा० सोमनाथ गुप्त — हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास — प्रयाग, हिन्दी म०, १९५१ ई०

नाटकों की अलोचना

१८ कृष्ण कुमार सिन्हा — प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी — आगरा, सा० र० म० २००६ वि०
१९ कृष्णानन्द गुप्त — प्रसाद के दो नाटक — लखनऊ, गगा पु० मा०, १९८९ वि०
२०. जगदीश नारायण दीक्षित — प्रसाद के नाटकीय पात्र — कानपुर, साहित्य निबध, १९४
२१. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा — प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन — बनारस, सर० स०, १९४२ ई०
२२. प्रेमनारायण शुक्ल — भारतेन्दु की नाट्य कला — कानपुर, साधना स० २००६ वि०
२३. प्रेमनारायण टडन — अजात शत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कन्द गुप्त — लखनऊ, विद्याम०,
प्रसाद के तीन नाटक, — प्रयाग, रामना०, १९४५ ई०

२४. रामकृष्ण शुक्ल	प्रसाद की नाट्य कला	मुरादाबाद, मानस मुक्ता०
२५. शिखरचन्द जैन	प्रसाद का नाट्य चिंतन	आगरा, सा० र० मं०, १६४१ ई०

हिन्दी के आरंभिक नाटक

२६. अंबिकादत्त व्यास	गो संकट नाटक, ललिता नाटक, देव-पुरुष दृश्य	
२७. अनाथदास	प्रबोध चन्द्रोदय	१६६६ ई०
२८. कार्तिकप्रसाद खत्री	रेल का विकट खेल	हरिश्चन्द्र मेगजीन, १८७४ वि०
२६. काशीनाथ खत्री	ग्राम पाठशाला और निकृष्ट नौकरी नाटक, बाल विधवा संताप नाटक, तीन ऐति-हासिक रूपक	काशी, भारत जी० प्रेस, १८६३
३०. केशवराम भट्ट	सज्जाद सुंबुल, शम-शाद सोसन	
३१. गिरिधर दास (गोपालचन्द्र)	नहुष	१८६८ ई०
३२. प्रतापनारायण मिश्र	कलि प्रभाव (१६४५), गो संकट (१६४३ ई०)	
	भारत दुर्दशा	बंबई व्यंकटेश्वर प्रेस, १६४६ ई०
३३. बदरीनारायण चौधरी	बुद्धि विलास भारत सौभाग्य	प्रयाग, हि०सा० स० १६५२-१६४५

३४. बालकृष्ण भट्ट	पद्मावती (१६३३) पृथु चरित (१६६६)	
३५. रविदत्त शुक्ल	देवाक्षर चरित्र	
३६. राधाकृष्ण दास	दुखिनी बाला (सती प्रताप), महाराणा प्रताप, महारानी पद्मावती	हरिश्चन्द्र च० मे०,
३७. राधाचरण गोस्वामी	अभिमन्यु बध, सती चन्द्रावली अमरसिंह राठौर, तन मन धन गोसाईं जी के अर्पण, सुदामा नाटक	वृन्दावन, कृष्ण चैतन्य पुस्त० १६६६ वि०
३८. राजा लक्ष्मणसिंह	अभिज्ञान शाकुन्तल	आगरा, रत्नालय, १६१६ ई०
३६. श्री निवासदास	रणधीर प्रेम मोहनी (श्री नि० ग्रन्था०)	काशी, ना० प्र० सभा, २०११ वि०
४०. शीतलाप्रसाद त्रिपाठी	जानकी मगल नाटक	कलकत्ता इंडि० मेल, १८६८ वि०
४१. सीताराम लाला	जंगल में मंगल	
४२. हरिश्चन्द्र, भारतेन्दु	भारतेन्दु ग्रंथावली	काशी, ना०प्र० सभा०

हरिश्चन्द्र के अनन्तर

४३. अयोध्यासिंह उपाध्याय	प्रद्युम्न विजय, रुक्मिणी परिणय	काशी, भार० जी० प्रेस १६५०
४४. देवीप्रसाद राय 'पूर्ण'	चन्द्रकला-भानुकुमार	१६६१ वि०

४५. बालमुकुन्द गुप्त	रत्नावली	१९५५
४६, माधव शुक्ल	रामायण, सीय-स्वयंवर	
४७ मोहनलाल विष्णुलाल	प्रह्लाद नाटक	१९२९
४८. रामदास गौड़	ईश्वरीय न्याय	लखनऊ, गंगा पुस्तक माला

आधुनिक हिन्दी नाटक

४९. आनन्दी प्रसाद श्रीवास्तव	अछूत	१९३० ई०
५० इन्द्र बसावड़ा	बड़े मियाँ	सरस्वती प्रेस, बनारस, १९९५ वि०
५१. उदयशङ्कर भट्ट	अंधकार और प्रकाश,	दिल्ली, साहनी, ए०सं० १९५२
५२. उदयशङ्कर भट्ट	अबा	लाहौर मोतीलाल, १९३५ ई०
५३. उदयशङ्कर भट्ट	अमृत और विष	प्रयाग, यूनि० पब्लि०
५४. उदयशङ्कर भट्ट	आदिम युग	दिल्ली, आत्मा० एं० सं०, ४८
५५ उदयशङ्कर भट्ट	कमला	लाहौर, सर० ब्रदस
५६. उदयशङ्कर भट्ट	कालिदास, क्रांतिकारी	दिल्ली, राजकमल, १९५४ ई०
५७. उदयशङ्कर भट्ट	जीवन और संघर्ष	दिल्ली, राजपाल ए०, सं७
५८. उदयशङ्कर भट्ट	तीन नाटक	प्रयाग, यूनि० पब्लि०
५९. उदयशङ्कर भट्ट	दाहर अथवा सिंध पतन	लाहौर, मोती० १९९३ वि०
६०. उदयशङ्कर भट्ट	धूमशिखा	दिल्ली, गौतम बुक०,
६१. उदयशङ्कर भट्ट	पर्दे के पीछे	दिल्ली, मसिजीवी० प्रका०
६२. उदयशङ्कर भट्ट	मत्स्यगंधा	लाहौर, पञ्जाब सं० पु०,

६३. उदयशङ्कर भट्ट	मुक्ति पथ	लखनऊ, अवध० पब्लि० हा०
६४. उदयशङ्कर भट्ट	राधा	बम्बई, हि० ग्र० र० कार्यालय
६५. उदयशङ्कर भट्ट	विक्रमादित्य	लाहौर हिन्दी भ०,
६६. उदयशङ्कर भट्ट	विद्रोहिणी अम्बा	दिल्ली, मसिजीवी प्रका०
६७. उदयशङ्कर भट्ट	विश्वामित्र	बनारस, सर० प्रेस, १६३८ ई०
६८. उदयशङ्कर भट्ट	शक विजय	दिल्ली, १६४६ ई०
६६. उदयशङ्कर भट्ट	सागर विजय	लाहौर, हि० स० पुं०
७० उदयशङ्कर भट्ट	सप्त सरिता	लाहौर, आरि० बुक०, १६४६
७१. उदयशङ्कर भट्ट	समस्याओं का अंत	दिल्ली, राजकमल, १६४८
७२ उदयशङ्कर भट्ट	स्त्री का हृदय	प्रयाग, हि० सा० स०
७३. उपेन्द्र नाथ अश्क	आदि मार्ग	प्रयाग, साहित्यकार संसद
७४ उपेन्द्र नाथ अश्क	कैद और उड़ान चरवाहे, छठा बेटा, जय पराजय, तूफान से पहले, देवताओं की छ या में, पर्व का गाना, पर्दा उठाओ, पर्दा गिराओ, पैंतरे, प्रतिनिधि	प्रयाग, नीलाभ प्रकाशन
	एकाकी, स्वर्ग की झलक अधी गली	लाहौर मोत०, १६३६ ई०
७५ कञ्चनलता सब्बरवाल	लक्ष्मी बाई	कोशाम्बी प्रका०, २००८

७६	कमलाकांत वर्मा	प्रवासी	१९४०
७७	कामता प्रसाद गुरु	सुदर्शन	१९३१
७८	काशीनाथ खत्री	ग्राम पाठशाला	भारत जी० प्रेस, १९४० ई०
७९.	कृष्णकुमार मुखो०	तुलसीदास	१९२९ ई०
८०.	केदारनाथ गुप्त	नाटकमाला	१९९८
८१.	केदारनाथ मिश्र	स्वर्णोदय	
८२.	कैलाशनाथ भटनागर	अँधेरी रात, कुणाल, चाणक्य प्रतिज्ञा	इण्डि० प्रे० १९३७ ई
८३.	कृष्णचन्द्र	सराय के बाहर	दिल्ली, राज० ए०, २०१०
८४.	कृष्णदेव प्रसाद गौड़	अभिनेता	२००६
८५	गणेश प्रसाद द्विवेदी	कलाकार का सत्य	प्रयाग, साहित्य प्रका०, २००८ वि०
८६.	गोपाल दामोदर तामसकर	राजा दिलीप	इण्डि० प्रेस, १९८४ वि०
८७	गोविन्ददास सेठ	एकादशी, कर्तव्य, अष्टदल	जबलपुर, महाको० १९३५ ई०
८८.	गोविन्ददास सेठ	कर्ण	ग्वालियर, विद्या मं०, २००३ वि०
८९	गोविन्ददास सेठ	कुलीनता	बम्बई, हि० ग्र० र० कार्या०,
९०	गोविन्ददास सेठ	गरीबी या अमीरी	प्रयाग, हिन्दु० ए०, २०००
९१	गोविन्ददास सेठ	तीन नाटक	जबलपुर, महाको० सा० मं० ९२,
९२.	गोविन्ददास सेठ	त्याग या ग्रहण	प्रयाग, शांति प्रेस

९३.	गोविन्ददास सेठ	दुख क्यों	आगरा, गयाप्रसाद ए० स० १९४६
९४.	गोविन्ददास सेठ	पञ्चभूति	आगरा रामप्रसाद ए० स० १९९९
९५	गोविन्ददास सेठ	पाकिस्तान	प्रयाग, किताब महल, १९४६
९६	गोविन्ददास सेठ	प्रकाश	जबलपुर, महाकोशल सा० मं०
९७.	गोविन्ददास सेठ	प्रेम या पाप	प्रयाग राम०, १९४६ ई०
९८	गोविन्ददास सेठ	बड़ा पापी कौन	दिल्ली, राजकमल १९४२ ई०
९९.	गोविन्ददास सेठ	महत्व किसे	प्रयाग, साहित्य म०, १९४७ ई०
१००.	गोविन्ददास सेठ	राम से गाधी	दिल्ली, प्रगति प्रका०, १९४८
१०१.	गोविन्ददास सेठ	विकास	प्रयाग, हि० सा० स०, १९४१
१०२	गोविन्ददास सेठ	शशिगुप्त	प्रयाग, रामना०, १९५३ ई०
१०३.	गोविन्ददास सेठ	सन्तोष कहाँ	प्रयाग, कल्याण सा० म०,
१०४	गोविन्ददास सेठ	सप्त रश्मि	प्रयाग, किताबिस्तान, ४१
१०५.	गोविन्ददास सेठ	सुख किसमें	प्रगति प्रकाश०, १९४८ ई०
१०६.	गोविन्ददास सेठ	सेवा पथ	
१०७	गोविन्ददास सेठ	स्नेह या स्वर्ग	प्रयाग, किताब म०, ४६
१०८.	गोविन्ददास सेठ	हर्ष	जबलपुर, महाको० सा० म०
१०९	गोविन्दवल्लभ पत	अगूर की वेटी	लखनऊ, गंगा पु० कार्यालय

११०. गोविन्दवल्लभ पंत	अंतःपुर का छिद्र	१९४० ई०
१११. गोविन्दवल्लभ पंत	ययाति	देहरादून, सा० स०, २००८
११२. गोविन्दवल्लभ पंत	राजमुकुट	लखनऊ, गंगा पु० कार्या०
११३. गोविन्दवल्लभ पंत	वरमाला	लखनऊ, गंगा पु० कार्या० १९२५
११४. गोविन्दवल्लभ पंत	सुहाग बिन्दी	
११५ घनानन्द बहुगुणा	समाज	१९२० ई०
११६. घोटणे वि० द०	मंगल हो तुम्हारा	२००४ वि०
११७. चन्द्रकुमार वत्वाल	प्रणयिनी	
११८. चन्द्रगुप्त विद्यालंकार	अशोक, रेवा	
११९. चन्द्रराय भंडारी	सिद्धार्थ कुमार, १९२२, अशोक १९२३	
१२०. चतुरसेन शास्त्री	उत्सर्ग पगध्वनि	लखनऊ, गंगा पु० मा० कार्या०
		दिल्ली आत्मा० एं०
	मेघनाद	स०, २००६
	राजपूत बच्चे	दिल्ली, गौतम बुक०,
	सीताराम, श्रीराम	२००६
१२१ छविनाथ पांडे	समाज, १९२९ ई०	
१२२. जगदीशचन्द्र माथुर	ओ मेरे सपने	
	कोणार्क	प्रयाग, भारती
	भोर का तारा	भंडार, २००८
१२३. जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी	मधुर मिलन १९२३ ई०	

१२४	जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द	गौतम नन्द	ग्वालियर, साहित्य प्रका०मं०१९५२ई०
		जीवन सगीत	हिन्दी सा० म० (काशी)
		प्रताप प्रतिज्ञा	प्रयाग, हिन्दी भ०, १९५१ ई०
		समर्पण	दिल्ली, आत्मा० ए० स०, २००७ वि०
१२५	जगन्नाथशरण	कुरुक्षेत्र	१९२८ ई०
१२६	जयगोपाल कविराय	पश्चिमी प्रभाव	१९३० ई०
१२७	जयशकर प्रसाद	अजात शत्रु	बनारस, हि० ग्र० म०, १९७९ वि०
		एक घूट	प्रयाग,भारतीभडार, १९९६ वि०
		कामना	प्रयाग, भारती भ०, १९९६ वि०
		चन्दगुप्त	बनारस, सराय गोवर्द्धन
		जनमेजय का नागयज्ञ	बनारस साहि० र० मा०, १९८२
		ध्रुवस्वामिनी	प्रयाग, भारती भडार, १९९० वि०
		राज्यश्री	प्रयाग, भारती भ०,
		विशाष	काशी, हिन्दी ग्र० मं०, १९७८ वि०
		स्कधगुप्त	प्रयाग, भारती मं०,
१२८.	ज्योति प्रसाद मिश्र	इजामत	

दशरथ ओझा	प्रियदर्शी सम्राट अशोक,	
	भारत विजय	बनारस, साहित्य म०, १६५२ ई०
	सम्राट चन्द्रगुप्त	दिल्ली, राज० एं० सं०, १६५२ ई०
	सम्राट समुद्रगुप्त	दिल्ली, राज० ए० स० १६५२ ई०
	स्वतन्त्र भारत	बनारस, साहित्य म०, १६५२ ई०
१ ३०. देवदत्त अटल	शांतिदूत	दिल्ली,आत्माराम ए०स०
	शेषर	दिल्ली,सूरजबलराम शाह्नी ए० सं०
१३१. द्वारिका प्रसाद गुप्त	अज्ञातवास	१६२१ ई०
१३२. द्वारिका प्रसाद मौर्य	आदमी	१६६७ वि०
१३३. घनीराम प्रेम	वीरांगना पन्ना	चांद प्रेस,प्रयाग, १६६१ वि०,
१३४ धन्यकुमार जैन	तपती, माँ, स्वर्गीय प्रहसन	कलकता, २००६ वि०
१३५. नरेन्द्र	नीच	चाँद कार्यालय, प्रयाग
१३६. पदुमलाल पुन्ना लाल बख्शी	उन्मुक्ति का बंधन	१६७३ वि०
१३७. परिपूर्णानन्द	रानी भवानी	
१३८. पृथ्वीनाथ शर्मा	दुविधा (१६३८), अपराधी (१६३६)	
१३६. प्रफुल्लचन्द्र ओझा	चलो खेलें	
१४०. प्रभाकर माचवे	नवधा	२०१० वि०

१४१. प्रेमचन्द	चन्द्रहार	प्रयाग, सर० प्रेस, २००६ वि०
	कर्बला, प्रेम की वेदी	बनारस, सर० प्रेस, १६६० वि०
१४२ प्रेमनारायण टंडन	प्रेरणा	लखनऊ, विद्या म० २००२ वि०
१४३. प्रेमसहाय सिंह	नवयुग	१६३४ ई०
१४४ बद्रीनाथ भट्ट	वेन चरित, दुर्गावती (१६२६ ई०)	
१४५. बलदेवप्रसाद मिश्र	असत्य सकल्प	(१६२५ ई०)
	चार बेचारे	मिर्जापुर बीसवीं पुस्त०,
१४६. बेचन शर्मा उग्र	अन्नदाता	उज्जैन, मानसचन्द बुकडिपो, १६६६ वि०
	आवारा	उज्जैन सत्य साहित्यिक स०, १६४२
	गंगा का बेटा	इन्दौर, स्वरूप ब्र०, १६६६ वि०
	डिक्टेटर	१६३७ ई०
	चुंबन	कलकता, हिन्दी पु० ए०, १६३८ ई०
	महात्मा ईसा	प्रयाग, भारती भं०, १६२२ ई०
१४७. वैकुंठनाथ दुग्गल	रणभेरी	अम्बाला, इंडि० प्रेस, १६५० ई०
१४८ भगवतीचरण वर्मा	बुझता दीपक	प्रयाग, भारती भं०, २००७ वि०

१४६.	भगवतीप्रसाद वाजपेयी	छलना	१६३६ ई०
१५०.	भगवतीप्रसाद पांथरी	काल्पी	बनारस, सर० प्रेस, १६६१ वि०
१५१.	भुवनेश्वर प्रसाद	कारवां	प्रयाग, भारती भ०,
१५२.	मन्मथनाथ गुप्त	माँ का लाल	
१५३.	मार्कण्डेय	पत्थर और परछाइयाँ	नया साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद—२
१५४.	माखनलाल चतुर्वेदी	कृष्णार्जुन युद्ध	कानपुर, प्रताप पु० १६७५
१५५.	मिश्रबन्धु	उत्तर भारत (१०२३) नेत्रोन्मीलन पूर्व भारत (१६२२) शिवाजी	कलकता, साहित्य सं० स० लखनऊ, गगा पु० कार्या०
१५६.	मैथिलीशरण गुप्त	चन्द्रहास तिलोत्तमा अवध	झांसी, साहित्य स०, १६१६ ई० १६२५ ई०
१५७.	मोहनलाल महतो	कसाई	पटना, ज्ञानपीठ, २०१० वि०
१५८.	,,	वे दिन	प्रयाग रामना०, २००७
१५६.	यशपाल	नशे नशे की बात,	विप्लव कार्या०
१६०.	रघुवीरशरण मित्र	वीर बालक	मेरठ, राष्ट्री० सा० प्रका० २००६
१६१.	रसिकेन्द्र	अज्ञातवास	कालपी, रसिकेन्द्र नाटक माला
१६२.	रांगेय राघव	स्वर्गभूमि का पापी	आगरा, राजेन्द्र प्रका०, २००८

१७२, लक्ष्मण स्वरूप	नल दमयन्ती	दिल्ली, चन्द्र ए० क०, १६४१ ई०
१७३ लक्ष्मीकान्त मुक्त	भारत राज्य	दिल्ली, रोशन बुकडि०, १६६८ वि०
१७४. लक्ष्मीधर वाजपेयी	राजकुमार कुन्तल	११८५ वि०
१७५. लक्ष्मीनारायण मिश्र	अशोक वन	हैदराबाद, चेतना प्रका०, २००७ वि०
,,	आधीरात	प्रयाग, भारती भ०, १६६३ वि०
,,	गरुड़ध्वज	आगरा, गया प्रसाद ए० स०, १६४३
,,	दशाश्वमेध	प्रयाग, हिन्दी भ०, १६५० ई०
,,	नारद की वीणा	प्रयाग, किताब महल, २००३
,,	मुक्ति का रहस्य	प्रयाग, साहित्य भ० लि०, १६८६
,,	राक्षस का मंदिर	प्रयाग, साहित्य भ०, लि०, १६३४ ई०
,,	राजयोग	प्रयाग, १६६१ वि०
,,	वत्सराज	प्रयाग, हिन्दी भ०,
,,	वितस्ता की लहरें,	दिल्ली, आत्मा० एं० स०, १६५३ ई०
,,	सन्यासी	प्रयाग, साहित्य भ०

	सिन्दूर की होली	प्रयाग, भारती भंडार, १६३४ ई०
१७६. लक्ष्मीनारायण लाल	ताज महल के आँसू	प्रयाग, अमर प्रका०, १६५०
	पर्वत के पीछे	प्रयाग, सेन्ट्रल बुक०, २००६ वि०
	अंधा कुआं	भारती भण्डार
१७७ लोकनाथ द्विवेदी	वीर ज्योति	गंगा पुस्तकमाला कार्या०, १६६६ वि०
१७८. वृन्दावनलाल वर्मा	काश्मीर का काँटा,	झांसी, मयूर प्रका०,
	केवट	,,
	खिलौने की खोज,	,,
	जहांदार शाह	,,
	झांसी की रानी	,,
	तीन	,,
	एकांकी, धीरे धीरे	,,
	नीलकंठ,	,,
	पीले हाथ	,,
	पूर्व की ओर,	,,
	फूलों की बोली,	,,
	बांस की फांस,	,,
	बीरबल,	,,
	मंगलसूत्र,	,,
	राखी की लाज,	,,
	लगन, लो भाई	,,
	पंचों, सगुन	,,
	हंसमयूर	,,

१७२. लक्ष्मण स्वरूप	नल दमयन्ती	दिल्ली, चन्द्र ए० क०, १६४१ ई०
१७३ लक्ष्मीकान्त मुक्त	भारत राज्य	दिल्ली, रोशन बुकडि०, १६६८ वि०
१७४. लक्ष्मीधर वाजपेयी	राजकुमार कुन्तल	११८५ वि०
१७५. लक्ष्मीनारायण मिश्र	अशोक वन	हैदराबाद, चेतना प्रका०, २००७ वि०
,,	आधीरात	प्रयाग, भारती भ०, १६६३ वि०
,,	गरुड़ध्वज	आगरा, गया प्रसाद ए० सं०, १६४३
,,	दशाश्वमेध	प्रयाग, हिन्दी भ०, १६५० ई०
,,	नारद की वीणा	प्रयाग, किताब महल, २००३
,,	मुक्ति का रहस्य	प्रयाग, साहित्य भ० लि०, १६८६
,,	राक्षस का मदिर	प्रयाग, साहित्य भ०, लि०, १६३४ ई०
,,	राजयोग	प्रयाग, १६६१ वि०
,,	वत्सराज	प्रयाग, हिन्दी भ०,
,,	वितस्ता की लहरें,	दिल्ली, आत्मा० एं० स०, १६५३ ई०
,,	सन्यासी	प्रयाग, साहित्य भ०

		सिन्दूर की होली	प्रयाग, भारती भंडार, १९३४ ई०
१७६.	लक्ष्मीनारायण लाल	ताज महल के आँसू	प्रयाग, अमर प्रका०, १९५०
		पर्वत के पीछे	प्रयाग, सेन्ट्रल बुक०, २००९ वि०
		अंधा कुआं	भारती भण्डार
१७७	लोकनाथ द्विवेदी	वीर ज्योति	गगा पुस्तकमाला कार्या०, १९९६ वि०
१७८.	वृन्दावनलाल वर्मा	काश्मीर का काँटा,	झांसी, मयूर प्रका०,
		केवट	,,
		खिलौने की खोज,	,,
		जहांदार शाह	,,
		झांसी की रानी	,,
		तीन	,,
		एकांकी, धीरे धीरे	,,
		नीलकठ,	,,
		पीले हाथ	,,
		पूर्व की ओर,	,,
		फूलों की वोली,	,,
		बांस की फांस,	,,
		बीरबल,	,,
		मगलसूत्र,	,,
		राखी की लाज,	,,
		लगन, लो भाई	,,
		पचों, सगुन	,,
		हंसमयूर	,,

१७६	वियोगी हरि	प्रवुद्ध यामुन, प्रवुद्ध भारत	लखनऊ, गगा पुस्त० मा० कार्या० ८६
		छद्मवियोगिनी	प्रयाग, साहित्य भ० लि०, ७६
१८०	विराज	सम्राट विक्रमादित्य	दिल्ली, पुस्तक स०,
१८१.	विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'	भीष्म	
१८२.	शभूदयाल सक्सेना	नदरानी तथा अन्य एकांकी	बीकानेर, नव० ग्रन्थ० माला
		राखी	बीकानेर, बाल म०,
		साधना	
१८३.	शभूनाथ सिंह	धरती और आकाश	२०१० वि०
१८४	शारदा देवी	विवाह मडप	/
१८५	शिवदान सिंह चौहान	युग छाया	दिल्ली, राजकमल, २००६ वि०
१८६	शिवनन्दन मिश्र	ऊषा	१६१८
१८७.	शिवनाथ शर्मा	नवीन बाबू	लखनऊ दामोदर प्रेस, १६७१
१८८	शेष कृष्ण	कसबध	
१८६	सत्यनारायण कविरत्न	उत्तर रामचरित, मालती माधव	आगरा, रत्नाश्रम
१६०	सत्यजीवन वर्मा	पति निर्वाचन	(२००४)
१६१	सत्येन्द्र शरत्	गर्मी और रोशनी	(२००१)
१६२	,,	तार के खभे	प्रयाग, सेन्ट्रल बुकडिपो, २००६ वि०

१९३. सत्येन्द्र	कुणाल (एकाकी)	आगरा, रामप्रसाद एं० सं०, १९३७ ई०
	प्रायश्चित्त (एकांकी) मुक्ति यज्ञ, सुधन्वा	आगरा साहित्यरत्न भंडार, १९९५
१९४. सद्गुरुशरण अवस्थी	दो एकांकी नाटक	प्रयाग, भारती भ० १९९७ वि०
	नाटक और नायक (६ भाग में)	प्रयाग, इं० प्रे० लि०, २००७ वि०
	मुद्रिका	प्रयाग, छात्र हि० पु०, १९३९ ई०
१९५. सियारामशरण गुप्त	उन्मुक्त, पुण्य पर्व	झाँसी, चिरगांव, १९९८ वि०
१९६. सीताराम चतुर्वेदी	देवता, बेचारा केशव, सेनापति पुष्यमित्र	काशी, पुस्तक सदन, २००८ वि०
१९७. सुदर्शन	अंजना, छाया, दयानन्द, भाग्यचक्र	बंबई, हिन्दी किताब्स, १९९५ वि०
१९८. सुधीन्द्र	राम रहमान	
१९९. सुमित्रानन्दन पंत	ज्योत्स्ना	लखनऊ, गंगा पु० मा० १९९६ वि०
	शिल्पी	प्रयाग, सेन्ट्रल बुक डिपो, २०१० वि०
२००. सूरजप्रसाद खत्री	सात एकांकी	२००६
२०१. सूर्यकरण पारीख	प्रतिज्ञा पूर्ति	१९८०
२०२. सूर्यनारायण शुक्ल	खेतिहर देश	१९३९
२०३. सोहनलाल द्विवेदी	कुणाल	प्रयाग, इं० प्रे०, २००२ वि०
२०४. हंसकुमार तिवारी	पुनरावृत्ति	

२०५. हरदयाल सिंह दूत वाक्य (२००३)

२०६. हरिकृष्ण प्रेमी बादलों के पार, शपथ दिल्ली, आत्मा०एं० स०
स्वप्नभंग, छाया, उद्धार,
विषपान
मंदिर, आहुति, प्रयाग, हिन्दी भ०,
रक्षाबंधन, शिवासाधना
प्रतिशोध
बंधन लाहौर, अर्चना मं०, ४१
मित्र लाहौर, वाणी म०,
१९४१ ई०

२०७. हरिशंकर शर्मा प्रतापी प्रताप बनारस, पुस्तक कु०,

२०८. हरिश्चन्द्र सेठ पुरु और अलेक्जेंडर (१९४२)

२०९. हीरादेवी चतुर्वेदी रंगीन पर्दा प्रयाग, इ० प्रे०, २००९ वि०

प्रहसन

२१०. अजीमबेग चगताई मिर्जा जंगी प्रयाग, छात्र हि०
तथा अन्य प्रहसन पु० २००२ वि०

२११. गंगाप्रसाद श्रीवस्तव उलट फेर, गड़बड़
झाला, दुमदार
आदमी, भूलचूक,
भड़ामचन्द्र
शर्मा, नोकझोंक

२१२. गोविन्दवल्लभ पंत कंजूस की खोपड़ी (१९२३)

२१३. ठाकुरदत्त शर्मा टाई दुम, भूल-चूक (१९२९ ई०)

२१४. बद्रीनाथ भट्ट	मिस अम्रीका लवड़ धौं धौं विवाह विज्ञापन
२१५. राधेश्याम मिश्र	कौंसिल की मेम्बरी (१९२०)
२१६. सुदर्शन	आनरेरी मजिस्ट्रेट
२१७. हरद्वारप्रसाद जालान	घरकट सूम
२१८. हरशकर शर्मा	पिंजरा पोल

कंपनियों के नाटक

२१९. आगा हश्र काश्मीरी	श्रवणकुमार, सूरदास, गगावतरण, वनदेवी, सीता बनवास, मधुर मुरली, धर्मी बालक, गरीब की दुनिया, भीष्म प्रतिज्ञा, आँख का नशा
२२०. आनन्दप्रसाद खत्री	कलियुग, कृष्णलीला, गौतमबुद्ध, ध्रुव लीला, परीक्षित, भक्त सुदामा, राधामाधव. बिल्व-मंगल, ससार स्वप्न
२२१. गोपालराम गहमरी	बलवीर (१९७०), बभ्रुवाहन (१९४८)
२२२. जमुनादास मेहरा	कन्या विक्रय कृष्ण सुदामा जवानी की भूल देवयानी, विपद

	कसौटी, विश्वामित्र	
२२३. दुर्गाप्रसाद गुप्त	हिन्द, भारत रमणी, महामाया, श्रीमती मजरी	१९८३ वि० कलकत्ता, वेरी ए० क०, १९२९ ई० बनारस, उपन्यास दर्पण कार्या० १९३९
२२४. नारायणप्रसाद 'बेताब'	कृष्ण सुदामा, गोरखधन्धा, जहरी साँप, पत्नी प्रताप, महाभारत, रामायण, शकुन्तला	दिल्ली, रामचन्द्र सदर बा० दिल्ली
२२५. पृथ्वीराज कपूर	कलाकार, दीवार, पठान	बम्बई, पृथ्वी थिये०
२२६ राधेश्याम कथावाचक	रुक्मिणी मगल, वीर अभिमन्यु, कृष्ण-सुदामा, ईश्वर भक्ति, परिवर्तन, कृष्णावतार, श्रवण कुमार, द्रौपदी स्वयवर, उषा-अनिरुद्ध, महर्षि वाल्मीकि, शकुतला	बरेली, राधेश्याम पु०,
२२७. शिवरामदास गुप्त	चिरागे चीन, दूर का चाँद, दौलत की दुनिया, परिवर्तन, पहली भूल	

२२८. हरिदास माणिक पांडव-प्रताप, शालिवाहन,
श्रवण कुमार,
संयोगिता हरण
२२९ हरिकृष्ण जौहर सावित्री-सत्यवान
२३०. हाफिज मुहम्मद जौहरा वदेराम नाटक,

परिशिष्ट ७

संस्कृत तथा अंग्रेजी सहायक ग्रंथों की सूची

संस्कृत

१. अभिधान रत्नमाला [एक संस्कृत शब्द कोष] सम्पादित, संस्कृत-अँग्रेजी कोष के साथ, थामस आलफ्रेण्त, विलियमस और नार्गेट द्वारा, १८६१

२. अभिनवगुप्त—अभिनवभारती, सस्कृत राजकीय विद्यालय, बनारस के सस्कृत भवन पुस्तकालय की गवर्नमेण्ट ओरिएन्टल मैनुसक्रिप्ट लाइब्रेरी से पाण्डुलिपि उद्धृत

३. अमर सिंह—अमर कोष, हिन्दी, मन्नालाल की टिप्पणियों सहित, बनारस

४. अहोवाल पडित—सगीतपारिजात, मलिन्द जी द्वारा सम्पादित, सगीत कार्यालय, हाथरस, १६४१

५ आनन्द वर्धनाचार्य—ध्वन्या-लोक, काशी सस्कृत सिरीज, अलकार विभाग, न० ५, बनारस, १६४०

६. कालिदास—अभिज्ञान शाकुंतल, एम० आर० काले द्वारा टिप्पणियाँ, बम्बई, १६३४

७ कालिदास—मालविकाग्निमित्र, टीका के साथ, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६३०

८. कालिदास—मेघदूत, मल्लिनाथ की टीका के साथ, काशीनाथ द्वारा सम्पादित, द्वितीय सस्करण, पूना, १६१६

९. कालिदास—रघुवश, ६-१०सर्ग, काशी सस्कृत सिरीज नं ८४, १६८७

१० कालिदास—विक्रमोर्वशीय, टीका सहित, चारुदेव शास्त्री द्वारा सम्पादित, लाहौर, १९२९
११. कृष्ण मिश्र— प्रबोध चन्द्रोदय, चन्द्रिका और प्रकाश टीकाओं सहित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९०४
१२. कौटिल्य—अर्थशास्त्र, गणपति शास्त्री की मूल टीका सहित १-१, २; २-३-७
१३. त्रिवेद्रंम् सस्कृत सिरीज सं० ७९ और ८० त्रिवेन्द्रम, १९२४
१४. गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित–आर्यमंजु श्रीमूल-कल्प, १, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सिरीज सं० ७९ और ८०, त्रिवेन्द्रम्, १९२०
१५. डा० जे० एस०स्पीयर द्वारा सम्पादित—अवदानशतक २, ८-१० सेन्टपीटर्सवर्ग १९०९
१६. दामोदरगुप्त—कुट्टनीमतम् के० एम० सिरीज में, भाग ३, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १८८७ तथा टी० एम० त्रिपाठी द्वारा सम्पादित भी, बम्बई, १९२४
१७. दिघ्य निकाय—टी० डवलू० राइस और जे० ईस्टलिन कारपेन्टर द्वारा सम्पादित, भाग १, पाली टेक्सट सोसाइटी, लन्दन, १८९०
१८. दिङ् नाग—कुंदमाला, वेदव्यास की टिप्पणियों के साथ, दी पञ्जाब सस्कृत बुक डिपो०, लाहौर १९३२
१९. धनजय—दशरूपक, धनिक की टीका के साथ, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२८
२०. नन्दकेश्वर—अभिनय दर्पण— मनमोहन घोप द्वारा सम्पादित, कलकत्ता सस्कृत सिरीज न० ५, १९३४
२१. नारद—सगीत-मकरन्द, मगेश राम कृष्ण तैलङ्ग द्वारा संपादित, गायकवाड़ ओरिएन्टल सिरीज़ नं० १६, बड़ौदा, १९२०
२२. पातंजलि—महाभाष्य, कीलहार्न द्वारा सम्पादित, बम्बई, १८८३
२३ बाणभट्ट—हर्ष चरित, पी० वी० काले द्वारा सम्पादित, बम्बई, १९१८

४५. राजशेखर—बाल भारत, दुर्गा प्रसाद और परब द्वारा संपादित, के० एम० न० ४, बम्बई, १८८७
४६. राजशेखर—बाल रामायण, जीवानन्द की टीका के साथ, वाल्मीकि प्रेस, कलकत्ता, १८८४
४७. राजशेखर—विद्धशाल भञ्जिका, जीवानन्द की टीका के साथ, कलकत्ता, १८७३ और बी० आर० आत्र तथा के० आर० गाडबोले द्वारा सस्कृत टीका और आमुख, पूना, १८८६
४८. रामचन्द्र तथा गुण चद्र—नाट्य दर्पण की लेखकों द्वारा ही टीका, गायकवाड़ ओरिएन्टल सिरीज, १९२९
४९ रूपकशतकम् वत्सराज के छः नाटकों का सग्रह, डी० दलाल द्वारा सपादित, गायकवाड़ ओरिएन्टल सिरीज न० ८, सेन्ट्रल लाइब्रेरी, बडौदा, १९१८। इसमें छः निम्नलिखित नाटक सग्रहीत हैं—किरातार्जुनीय (व्यायोग) (पृ० १-२२) कर्पूरचरित (भाण) (पृ० २३-२६) रूक्मिणी हरण (ईहामृग) (पृ० ३७-७४), त्रिपुरदाह (डिम) (पृ० ७५-११६) हास्य चूड़ामणि (प्रहसन) (पृ० ११८-१४८), समुद्र मथन (समवकार) (पृ० १४८-१९२)
५० वात्स्यायन—कामसूत्र, जयमगल की टीका सहित, हरिदास गुप्त कार्यालय, बनारस
५१. वॉन बी० लिन्डर—कौशीतकी ब्राह्मण १, टेक्स्ट जेनाग, १८८७
५२ वॉन लिओपोल्ड वॉन स्रोयेडर—काठक लीपजिग, १९००
५३. वाल्मीकि—रामायण, सटीक, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १८२४
५४. विद्यानाथ—प्रताप रुद्रीय, कुमार स्वामिन् के रत्नपण सहित, चन्द्र शेखर शास्त्री द्वारा सम्पादित, मद्रास, १९१४
५५. विद्यारण्य स्वामी—पचदशी, अंग्रेजी अनुवाद, बम्बई, १९१२
५६ विश्वनाथ—साहित्य दर्पण, हरिदास सिद्धान्त वागीशभट्ट द्वारा टीका, नकीपुर सिद्धान्त प्रेस, बगा० द१३३५
५७. विशाखदत्त—मुद्राराक्षस, शारदारजन रे द्वारा सम्पादित,

हैरिसन रोड, कलकत्ता, १६२६
५८. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, मधुसूदन माधव प्रसाद द्वारा सम्पादित, व्यंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
५६. विष्णु—विष्णु स्मृति, जूलियस जोली द्वारा सम्पादित, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १८८१
६०. वेदव्यास—अग्नि पुराण, बंगवासी स्टीम मेसिना प्रेस, कलकत्ता शाका, १८१२
६१. वेदव्यास—मार्कण्डेय पुराण, कलकत्ता, शक, १८१२
६२. शारदातनय—भाव प्रकाश, गायकवाड़, ओरिएन्टल सिरीज नं० ४५, बड़ौदा, १६३०
६३. शार्ङ्गदेव—सगीत रत्नाकर, मगेश रामकृष्ण तैलग द्वारा मल्लिनाथ टीका १ और २, आनन्दाश्रम सस्कृत ग्रथावली न० ३५, बम्बई, १८६७
६४ शिवपुरी—चतुर्भाणी, प्रकाशक डी० जी० शर्मा और कृष्ण, वाकरगज, पटना, १६२२। इसमें निम्नलिखित नाटक हैं—शूद्रक का पद्मप्राभृतक, ईश्वरदत्त का धूर्तविट-संवाद, वररुचि की उभयाभिसारिका और श्यामिलक की पादताड़ितक
६५. श्रीकुमार—शिल्परत्न, गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित-१, त्रिवेंद्रम् संस्कृत सिरीज, न० ७५ १६२२
६६. श्रीमद्भागवत पुराण, दो खण्डों मे पढित गोविन्द दास व्यास, 'विनीत,' द्वारा बालबोधिनी भाषा टीका के साथ, संवत् १६६१
६७. श्री हर्ष—प्रियदर्शिका, जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सपादित कलकत्ता, १८७४
६८. श्रीहर्षदेव—रत्नावली, एम० आ० काले की टिप्पणियों के साथ, बम्बई, १६२५
६६. शुक्लयजुर्वेद संहिता [वाजसनेय सहिता] उवटाचार्य के मन्त्र भाष्य और महीधर के वेददीपभाष्य के साथ, वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पनसिकर द्वारा सम्पादित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६२६

वाल्यूम, १९४१ में प्रकाशित 'दी ऐनशियेन्ट इंडियन थियेटर' नामक लेख।

९५ गंगानाथ झा—ट्रासलेशन आव काव्य प्रकाश आव मम्मट, इलाहाबाद, १९२५

९६. गुहा-ठाकुर्ता—दी बेंगाली ड्रामा, इटस ओरिजिन ऐन्ड डेवलपमेन्ट, लन्दन, १९३०

९७. चिन्ताहरण चक्रवर्ती—इंडियन हिस्टारिकल क्वाटरली भाग ७, १९३१ और भाग ६, १९३० में प्रकाशित 'सट्टक' और 'भरत-वाक्य'

९८. डी० आर० मनकद—टाइप्स आव संस्कृत ड्रामा, उर्मि प्रकाशन मंदिर, डेंसो हाल कराची, १९३०

९९. डी० आर० मनकद—इंडियन हिस्टारिकल क्वाटरली, भाग ८, कलकत्ता १९३२, भाग ९, १९३३ में प्रकाशित 'हिन्दू थियेटर' नामक लेख

१०० डी० आर० मनकद—ऐनशियेन्ट थियेटर, चारुतर प्रकाशन वल्लभ विद्यानगर, १९५०

१०१ नायडू और पन्तलु—तांडव लक्षण, जी० एस० प्रेस, मद्रास, १९३६

१०२. पिशेल—दि हिमत दे पपेस्पील्स—१९०२

१०३. पी० के० आचार्य—ए डिक्शनरी आव हिन्दू आर्किटेक्चर, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन [यूनिवर्सिटी आव इलाहाबाद] १९२७

१०४. पी० के० आचार्य—डा० एस० के० आयंगर कॉमिमोरेशन वाल्यूम में प्रकाशित 'दी प्ले-हाऊस आव दी हिन्दू पीरियड' लेख

१०५. पी० के० गोदे—'दी भारत आदि-भारत प्राब्लेम' नामक लेख तथा ...रिएन्टल लाइब्रेरी मैसूर की आदि-भारत

की पाण्डुलिपि। एनाल्स आव दी भंडारकर ओरिएन्टल रिसर्च ईन्स्टीच्यूट, पूना, भाग १३, १६३१-३२

१०६. पी० वी० करो—इन्ट्रोडक्शन टु साहित्य दर्पण, दी हिस्ट्री आव अलंकार लिटरेचर, बम्बई, १६२३

१०७. ब्लाख—आर्कियालाजिकल सर्वे आव इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट, १६०३-४ में प्रकाशित 'केव्ज ऐन्ड इन्सक्रिपशन्स इन रामगढ़ हिल्स'

१०८. ब्रजेन्द्र नाथ बनर्जी—बेंगाली स्टेज, रजन पब्लिशिंग हाऊस, १६४३

१०६. मनमोहन घोष—इंडियन हिस्टारिकल काटरली भाग ६, १६३० में प्रकाशित 'प्राब्लेम्स आव दी नाट्यशास्त्र' लेख

११०. मनमोहन घोष—इंडियन हिस्टारिकल काटरली भाग ६, १६३३ में प्रकाशित 'हिन्दू थियेटर' नामक लेख

१११. मनमोहन घोष—इंगलिश ट्रांसलेशन आव दी नाट्यशास्त्र, अध्याय १ से २७ तक, रायल एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, कलकत्ता, १६५१

११२. मुल्कराज आनन्द—दी इंडियन थियेटर, डेनिस डॉबसन लि०, लन्दन

११३. मोनियर विलियम्स—ए संस्कृत इंगलिश डिक्शनेरी, आक्स-फोर्ड क्लेअरडन प्रेस, १८६६

११४. मैक्डोनेल—ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, लन्दन १६०५

११५ रिजवे—दी ड्रामा ऐन्ड ड्रामेटिक डांसेज आव नान-यूरोपियन रेसेज़, कैम्ब्रिज, १६१५

११६. रिजवे—जर्नल आव रायल एशियाटिक सोसाइटी आव ग्रेट ब्रिटेन ऐन्ड आयर लैंड, १६१६ मे प्रकाशित 'कल्ट आव दी डेड' नामक लेख

११७. लूडर्स—सित्ज़ुगशेरिश्ते देर कोनिगल अकाढमी देर विसेनशेफन ज़ू बर्लिन—१६१६
११८. लेवी—ल, थियेट्रे इंडियेन, पेरिस, १८६०
११६. विन्डिश—देर ग्रीशे ईंफ्लस इम इन्दिशेन ड्रामा—१८८२
१२०. विन्दरनिट्ज—सम प्राब्लेमस आव इडियन लिटरेचर, कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, १६२५
१२१. विल्सन—सलेक्ट स्पेसिमेन्स आव दी थियेटर आव दी हिन्दूज़, भाग १, १८२७
१२२. वी० राघवन—दी नम्बर आव रसाज, अडयार, मद्रास, १६४०
१२३. वी० राघवन—सम कांसेप्ट्स आव अलकार शास्त्र, अडयार, मद्रास, १६४२
१२४. वी० राघवन—मद्रास की पत्रिका त्रिवेणी, १६३२-३५ में प्रकाशित 'ऐनिशियेन्ट इडियन थियेटर आर्किटेक्चर' लेख
१२५. वी० राघवन—जर्नल आव ओरिएन्टल रिसर्च, मद्रास, भाग ७ और ८, १६३३ और १६३४ में प्रकाशित 'नाट्य धर्मी ऐन्ड लोक धर्मी'
१२६ वी० राघवन—इडियन हिस्टारिकल क्वाटरली, भाग ६ कलकत्ता, १६३३ में प्रकाशित 'हिन्दू थियेटर' नामक लेख
१२७. वी० एस० आप्टे, दी प्रैक्टिकल सस्कृत-इगलिश डिक्शनरी बम्बई, १६२४
१२८. वी० एस० अग्रवाल—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, कार्तिक सवत् १६६७ में प्रकाशित 'स्टडी आव राजघाट ट्वायज' नामक लेख
१२६. सूयलर—बिबलिओग्राफी आव दी सस्कृत ड्रामा, भारत में नाट्य साहित्य पर प्राक्कथन, कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस, इंडो-इरानियन सिरीज, भाग ३, १६०६
१३०. स्टेलाक्रैमिश—ट्रान्सलेशन आव विष्णु—धर्मोत्तर, पार्ट ३,

ए ट्रेटाइज आव इंडियन पेन्टिंग ऐन्ड इमेज मेकिंग', कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, १९१८
१३१. सी० ओ० हैस—'ट्रांसलेशन आव दी दशरूप' कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस, १९१२
१३२. हरप्रसाद शास्त्री एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल के जर्नल में प्रकाशित लेख 'दी ओरिजिन आव इंडियन ड्रामा', न्यू सिरीज, भाग ५, १९०९
१३३. हेघ—ऐटिक थियेटर, तीसरा संस्करण